श्रीमद् कुन्द कुन्ददेव कृत नियमसार

नियम देशना

भाग-२

देशनाकार

श्रमणाचार्य विशुद्धसागर जी

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित

नियमसार

पर

नियमदेशना

भाग-2

(गाथा 77 से 133)

(प्रवचनांश विदिशा वर्ष 2004)

देशनाकार

आचार्य विशुद्धसागर

प्रकाशक :

श्रमण संस्कृति सेवासमिति

❖ ઇન્ડિયા : 'ગાયત્રી' ઇલેક્ટ્રોનિક્સ ઇલેક્ટ્રિકલ્સ ઇલેક્ટ્રોનિક્સ ઇલેક્ટ્રોનિક્સ ઇલેક્ટ્રોનિક્સ

❖ ઈ-મેઈલ : (૬-૫૫૫) ૫૬૪૬૫૫૬૬

❖ વેબસાઇટ : ૫૬ ૬૫૫૬૬૬૬૬ ઇલેક્ટ્રોનિક્સ

❖ ટેલિફોન : ૫૬૬૬૬૬

शुभाशीष

श्रमण संस्कृति में श्रमणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिन्होंने मनोयोग से जिनेन्द्र वाणी को अक्षुण्य बनाये रखा है।

श्रमणाचार्य की परम्परा में प. पू. श्रमणाचार्य श्री कुंद कुंद देव ने आगम, सिद्धान्त और अध्यात्म का अमृत रस प्रदान किया है। कहीं उनकी स्वतंत्र अध्यात्म शैली रही है, तो कहीं आगम शैली रही है, तो कहीं सिान्त शैली रही है फिर भी सभी में उनकी अध्यात्म विधा ही प्रधान रही है, पर सभी में अपूर्व ही सामंजस्य रहा है।

आज उन्हीं कृति 'नियमसार' पर श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर जी द्वारा उपदिष्ट प्रवचनों को 'नियम देशना' के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। मेरा उन्हें व उनके इस कार्य के लिए शुभाशीष।

ओम नमः
2/2/2/2539
जयपुर

प्राक्-प्रमेय

श्रुत की आराधना ही अभक्षण-ज्ञानोपयोग है, जो सातिशय-पुण्य तीर्थंकर-प्रकृति के आस्रव में एक महत्वपूर्ण आधारशिला रखता है। वैसे भारतीय तत्व-मनीषा में सभी दर्शनों ने श्रुतका अपने-अपने ज्ञान के अनुसार कथन किया है, परन्तु जैनदर्शन अपनी सर्वोत्तम आध्यात्म-विधा के लिए विश्वगुरुता को प्राप्त है। सच यह है कि जिनागम एक ऐसा दर्पण है जिसमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तथा ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक के सारे पदार्थ प्रत्यक्ष स्पष्ट दिखाई देते हैं। अखिल विश्व के प्राणीमात्र को तत्वों का सच्चा ज्ञान कराती जिनवाणी जसवंत हो।

आचार्य श्री कुंद कुंद देव प्रमुख ग्रंथ श्री 'नियमसार' जी आध्यात्म से सराबोर कराता हुआ, शाश्वत सत्यं-शिवं-सुन्दरं सुखधाम के दर्शन कराता है। इस नियमसार ग्रंथ मुख्य रूप से श्रमणों के आचार का वर्णन किया गया है। आचार्य श्री ने प्राकृत भाषामय 187 गाथाओं के माध्यम से मोक्षाभिलाषी साधकों के लिए पाथेय-प्रदान किया है। समयसार ग्रंथ को पढ़ने के पहले यदि नियमसार का अध्ययन किया जाये, तो समय को बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। मुनिश्रेष्ठ पद्मप्रभमलधारी देव ने इन गाथाओं पर अलंकारों से अलंकृत 'तात्पर्य वृत्ति' नाम की 311 कलशों से युक्त संस्कृत टीका लिखकर मुमुक्षु जीवों पर लोकोत्तर उपकार किया है। आध्यात्मिक, भवभीरू, आगमवेत्ता, महान्, संयम-साधक,रत्नत्रय रूपी इन दोनों चैतन्य-तीर्थों को मेरा त्रययोग, त्रयभक्ति सहित अनन्तशः नमोऽस्तु! वंदना!

इतिहास-प्रसिद्ध धर्मनगरी-भेलसा (विदिशा) में ग्रीष्मकाल की तपती दोपहरी में त्रय-श्रमणों (मुनि विशुद्धसागर जी, मूनि विश्व वीरसागर व मुनि विजय सागर जी) का मंगल प्रवेश होने पर मुमुक्षु श्रावकों के विनम्र आग्रह पर ग्रंथ नियतसार की वाचना वीर निमार्ण

संवत् 2030 ईस्वी सन् 2004 के फरवरी के पावन दिवस से प्रारंभ हुई, जो शीतकाल के मध्य तक (लगभग नौ महिने) अविरल चलती रही। श्रमण परम्परा के समुज्जवल नक्षत्र, रत्नत्रय की साक्षात् पूर्ति, श्रमणाचार्य श्री विशुद्ध सागर जी महाराज ने प्राचीन जैन बड़ा मंदिर (किले अंदर) विदिशा में धर्मवत्सल विद्वानों और संयमी श्रावकों को अपनी अमृतमयी वाणी जो टीकात्मक प्रवचन दिये, वे अपने आप में अनुपम, अनूठे हैं। उन प्रवचनों को मैंने संकलित कर ''निमदेशना'' के रूप में सुधि-पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का उपक्रम किया है। इसे ग्रंथरूप प्रदान करने के

पीछे मात्र यही मनोभावना है कि सुधिजनों को जीवन निमार्ण के विचारमोती प्राप्त हों और भव्यजन अपने विवेक से उपादेय विचारों को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करन अपना जीवन सफल बनायें।

आचार्य श्री कुंद कुंद देव ने नियमसार में आध्यात्मिक-दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है तथा मुनिवर पद्मप्रभलधारी देव ने इसको 12 अधिकारों में निबद्ध किया है। प्रथम के चार अधिकारों (जीव अधिकार, अजीव अधिकार, शुद्धभाव अधिकार, व्यवहार चारित्र अधिकार) में व्यवहार-रत्नत्रय के स्वरूप का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है और इन्हीं चार-अधिकारों के अन्तर्गत हुये प्रवचनों को 'नियम देशना' भाग 1 में संकलित किया गया है।

प्रथम जीवाधिकार में कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले तीर्थंकर महावीर को नमस्कार कर छह द्रव्यों से सम्यत्त्वके विषयभूत जीव तत्त्व का निरूपण किया है। इस अधिकार में 1 से 19 तक गाथाएँ हैं।

द्वितीय अजीवाधिकार में अजीव तत्त्व का विवेचन करते हुये पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन द्रव्यों के स्वरूप का तथा उनके भेद प्रभेदका विस्तृत निरूपण किया गया है। इस अधिकार में क्र. 20 से 38 गाथाएँ हैं।

तृतीय शुद्धभावाधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसमें शुद्ध नय की अपेक्षा से जीव को शुद्ध, सिद्ध सदृश बतलाते हुये गाथा 46 में महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। यह गाथा आचार्य कुंद कुंद देव प्रणीत अन्य ग्रंथों समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, षट्प्राभृत आदि में भी आई है। इस अधिकार में क्र. 37 से 55 तक गाथाएँ हैं।

चतुर्थ व्यवहार चारित्र अधिकार में व्यवहार नयाश्रित चारित्र के अन्तर्गत पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्ति का विस्तृत निरूपण किया गया है। अनंतर पाँच गाथाओं में पाँच परमेष्ठी के लक्षणों का विवेचन किया गया। इस अधिकार में क्र. 56 से 76 तक गाथाएँ हैं।

तीर्थंकर भगवंत के श्रीमुख से प्रवाहित श्रीवाणीरूप गंगा को गणधररूपी कुंड ने धारण किया, जिसे आचायों ने निबद्ध किया। निरंतर ज्ञानाराधना एवं संयमसाधना में लीन आचार्य भगवंतों की अनुकम्पा से इस विषमकाल में पतितपावनी जिनवाणी की शीतलधारा प्राप्त हो रही, यह हमारा भाग्योदय है। ऐसे ही श्री कुंद कुंद देव की आचार्य परम्परा में दैदीप्यमान रत्न श्रमण शिरोमणि गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज, जिनकी धर्मतरु छाया का सम्बल पाकर यह जीवन पुष्प खिला, उनकी अनुकम्पा से यह रत्नत्रय ज्योति प्रज्जलित हुई और 'नियमदेशना' का संग्रहण/सम्पादन कार्य करने में समर्थ्य हो सके। आचार्य श्री के चरण कमल में कोटिशः नमोऽस्तु।

नियमदेशना भाग-1 के प्रकाशन संकलन में पंडित जी विदिशा, इंजी, दिनेश जैन भिलाई, श्री नरेन्द्र जैन ज्वैलर्स विदिशा एवं श्री नीरज जैन छीपीटोला आगरा ने सराहनीय सहयोग प्रदान किया उनके लिए आशीर्वाद है। वे सभी आगे भी इसी तरह जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सहयोग करते रहें ताकि आचार्यों की लुप्त होती वाणी धरोहर के रूप में सुरक्षित बनी रहे।

इस ग्रंथ के सम्पादन एवं प्रूफ देखने में यद्यपि सावधानी बरती गई है, फिर भी अशुद्धियों का रह जाना असंभव नहीं है, सुधिजन उन्हें सूचित करते हुए सुधारकर ही ग्रहण करें। सब सुखी रहें, सबका कल्याण हो, इस मंगल भावना के साथ-

इति अलम् शुभम् भूयात्

वर्षायोग, आगरा — श्रमण मुनि विश्ववीरसागर

धन्यतेरस (कार्तिक कृष्ण-13)

वीर निर्वाण संवत् 2038

संपादकीय

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन
अध्यक्ष - अखिल भारतीय दि. जैन शास्त्रि परिषद्

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने नियमसार ग्रन्थ की रचना केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कथित विषय वस्तु के आधार पर की है जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा भी है-

णमिऊण जिणं वीरं अणंत परणाण दंसण सहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलि सुदकेवली भणिदं॥

अनन्तवर ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले जिनवीर को नमस्कार करके केवली, श्रुतकेवली के द्वारा कहे गये नियमसार ग्रन्थ को कहूँगा।

यहां आचार्य कुन्दकुन्द ने पूर्ण विनय प्रगट करके केवली श्रुतकेवली प्रणीत तत्व की प्ररूपणा का संकल्प लिया हैं, नियम से तात्पर्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र से है। इन्हीं रत्नत्रय के सार महत्व का प्रतिपादन किया जायेगा जो केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित है। आचार्य श्री विशुद्धसागरजी महाराजजी ने इस नियमदेशना में केवली श्रुतकेवली के भाव को स्पष्ट करते हुये समझाया है- जो सम्पूर्ण रुप से प्रत्यक्ष केवल ज्ञान को धारण करने वाले होते हैं वह केवली हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य श्रुत को धारण करने वाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इस केवली श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित समस्त भव्य जीव समुदाय के लिये हितकर नियमसार नामके परमागम को मैं कहूंगा। इस प्रकार विशिष्ट इष्ट देवता के स्तवन के उपरान्त श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रतिज्ञा की है।

आचार्य प्रवर ने अपने ग्रन्थ की प्रमाणिकता के लिए श्रुतकेवली और केवली भगवन्त को नमस्कार किया है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने चिन्तनमात्र को आगम नहीं स्वीकार किया किन्तु जिनश्रुत केवली वाणी को ही आगम स्वीकृत किया है। अर्थात् जिनेंद्र की वाणी से प्रगट हुआ तत्त्वबोध और उसके आधारपर ही उसे प्रमाणिक माना है। तत्त्वार्थ के प्रतिपादन हेतु शौरसेनी भाषा का आश्रय लिया। इनकी अनेक रचनाओं में समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय को समाज ने विशेष महत्त्व प्रदान किया फिर भी वर्ण्य और प्रौढ़ताको को देखकर नियमसारका महत्व परमागम के समान है और महत्ता भी प्राभृतत्रयी जैसी है।

अध्यात्म विन्दुओं को समझनपे के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। मोक्षमार्ग में नियम से

करणीय ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना पर ग्रन्थ में विशेष बल दिया गया है। इनसे विपरीत आचरण को हेय बतलाया गया है। जैसा कि आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराजजी ने नियमदेशना में कहा है कि यहाँ पर शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र उन्मार्ग हैं, कुमार्ग है भव को बढ़ाने वाले हैं। भवनाश का हेतु तो शुद्ध रत्नत्रय धर्म ही है। यहाँ शुद्धरत्नत्रय को मोक्षमार्ग कह रहे हैं और मुक्ति उसका फल है। वीतराग सर्वज्ञदेवके शासन में पूर्वाचार्यों ने इस प्रकरण में दो प्रकार का कथन किया है। परम निरपेक्ष रूप निज परमार्थ तत्त्व का सम्यकश्रद्धान, उसी परमार्थ तत्त्व का सम्यक् परिज्ञान, उसी परमार्थ तत्त्व का सम्यक् अनुष्ठान रूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मोक्ष का उपाय है और शुद्ध रत्न का फल आत्मस्वरूप की उपलब्धि है।

नियमदेशना अनूठी है क्योंकि इसके माध्यम से देशनाकार ने लोक के प्रत्येक प्राणी को संस्कार, सदाचार और विशुद्ध चारित्र की प्रेरणा दी है। धर्म और धर्मात्मा के महत्व को पदे पदे स्पष्ट किया है। रत्नत्रय का स्वरुप और उसके फल को विस्तार से समझाया है। इस देशना में आचार्य विशुद्धसागरजी की कोशिश रही है कि ये येन केन प्रकारेण संसार वीध्सयों में भटके हुए प्राणियों को सत्मार्ग पर लगाया जाय। विशेष रूप से धनांध लोगों को धन की मूर्च्छा से हटाकर धर्म के दिव्य प्रकाश से प्रकाशित किया जाए। वे कहते हैं कि आचरण निर्मल होगा तो हे ज्ञानी। विभूति अपने आप सामने खड़ी हो जायेगी। इसलिये धर्म धन का नहीं धर्म भावना का है। अच्छा सोचने के लिए कौन सा खर्च चाहिये पड़ेगा। एक व्यक्ति किसी के प्रति अच्छा विचार करता है तो उसे अच्छा ही फल मिलता है। इस प्रकार इस नियमदेशना में उत्तम कार्यों की ही प्रेरणा दी है।

विषय स्पष्टता की दृष्टि से नियमदेशना अप्रतिम है। जैसे कोई व्यक्ति कहता है कि धन संपत्ति या वस्तुओं का संग्रह है और कर रहा हूँ फिर भी मेरी उसमें मूर्च्छा नहीं है अतः मैं दोषी नहीं हूँ। उसे समझते हुए कहा है कि भो ज्ञानी। जहाँ जहाँ परिग्रह होगा वहाँ नियम से मूर्च्छा होगी परन्तु जहाँ पर द्रव्य नहीं है, वहाँ मूर्च्छा हो भी सकती है, और नहीं भी हो सकती हैं। परन्तु यदि आपने परद्रव्य को स्वीकार किया है तब द्रव्य सम्बन्धी मूर्च्छा आपको नियम से होगी। मूर्च्छा द्रव्य के प्रति ही होती है। जब परद्रव्य नहीं है तो मूर्च्छा किसकी ? इसलिये परद्रव्य छोड़ना चाहिए। परद्रव्य के अभाव में मूर्च्छा नहीं हो सकती हैं क्योंकि मूर्च्छा महत्वही ममत्व है और ममत्व तो परपदार्थ में ही होता है। इस प्रकार से समझाकर साधु के स्वरुप को प्रतिपादित किया है जो वर्तमान में प्रासंगिक भी है। क्योंकि वर्तमान में साधुसंधों में भी परिग्रह चल रहा है। एकल विहारी बनकर मोटरगाड़ी रखना और उसमें पूरी गृहस्थी साथ लेकर चलना प्रचलन सा होता जा रहा है।

नियमसार पर प्रस्तुत नियमदेशना में देवमूढ़ता को बताते हुए आज के मनुष्यों की बुद्धि पर तरस खाते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर जी महाराज कहते हैं कि भो ज्ञानी। आज प्राणी मूसल, घिनौची,

कुआँ, चक्की, पत्थर, नदी, तालाब, बावड़ी, सरोवर, खेत खलिहान यहाँ तक घूरे (कूड़ा घर) की भी आरती उतारते हैं, आराधना कर लेते हैं। परमात्मा के नाम पर देवमूढ़ता में जीने वाले जीवों की संख्या कोटिकोटि है। सामान्य लोक में प्रसिद्ध पुरुषों को ही लोग परमात्मा के रूप में देखते हैं। यह प्रज्ञा की न्यूनता की चरम सीमा है। लोक में पूजे जाने वाले परमात्मा के नाम से परमार्थ के कारण भूत तो है ही नहीं परन्तु संसार के सुख के कारण भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव भय से स्नेह से रण आदि से परमार्थगुणों से शून्य व्यक्ति की कभी आराधना नहीं करता। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण ही जिनसूत्र और उसके धारक होते हैं। जैसा कि कहा गया है।

सम्मस्स णिमित्तं जिण जाणऊ पुरिसा।
अंतर हेऊ मणिदा दंसणमोहस्स खय पहुदी॥ नियमसार॥53॥

अर्थात् जिनसूत्र और उसके जानने वाले पुरुष सम्यक्त्व के निमित्त है और दर्शन मोहनीय का क्षय, उपशम आदि अंतरंग हेतु कहे गये हैं।

इस ग्रन्थ में निश्चयतप, व्यवहार तप आवश्यक में निश्चय आवश्यक, व्यवहार आवश्यक, पिश्चय भक्ति, व्यवहार भक्ति, द्वैत भक्ति, अद्वैत भक्ति का व्याख्यान महत्वपूर्ण है। द्वादश अधिकारों में 187 गाथाओं में निबद्ध है। ग्रन्थगत अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं। 1 जीवाधिकार, 2 अजीवाधिकार, 3 शुद्धभावाधिकार, 4 व्यवहारचारित्राधिकार, 5 परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार, 6 निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार, 7 परमलोचनाधिकार, 8 शुद्धनिश्चयप्रायश्चिताधिकार, 9 परमसमाधिअधिकार, 10 परम भक्ति अधिकार, 11 निश्चय परमावयकाधिकार, 12 शुद्धोपयोगगाधिकार। इन अधिकारों में ध्यान, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकों का विस्तार से वर्णन हैं। जिसका क्रमबार संक्षिप्त निरूपण प्रकार है।

1) जीवाधिकार -

19 गाथाओं मे निबद्ध यह अधिकार ज्ञेय विशेष जीव के स्वरुप पर सम्यक् प्रकाश डालता है। मंगलाचरण में भगवान महावीर को प्रणाम कर गाथा उत्तरार्ध्द या प्रतिज्ञा सूत्र में नियमसार को केवली-श्रुतकेवली प्रणीत कहा है। समय प्राभृत को आ0 कुन्दकुन्द ने श्रुतकेवली प्रणीत निरुपित किया है। इसका सहस्य खोज का विषय है। नियमसार के विषय को उठाते हुए आ0 प्रवर न मार्ग और मार्ग के फल के रुप में रत्नत्रय और मोक्ष को निरुपित किया है। साथ ही मोक्ष के उपाय नियम से कर्तव्यरूप रत्नत्रय को नियम शब्द से व्याख्यायित किया है। इसके अनन्तर व्यवहार सम्यक्दर्शन का स्वरुप उसके विषयभूत आप्त/परमात्मा आगम एवं गुरु का वर्णन है। तत्वार्थों का नाम निर्देश करने के पश्चयत् जीव का लक्षण उपयोग, स्वभावज्ञान, स्वभाव दर्शन, विभाव ज्ञान विभाव दर्शन, स्वभाव पर्यायों का विवरण तथा जीव की मनुष्यादि विभाव पर्यायों आत्मा के कर्तृव्य और भोक्तृवका वर्णन किया है। अन्त में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों से जीव का सविशेष उल्लेख है।

2) अजीवाधिकार –

नामानुसार ही अधिकार में 18 गाथा सूत्रों के द्वारा द्रव्य के भेदों–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकश एवं काल का विवेचन है। पुद्गल द्रव्य के भेद, स्कन्ध के छः भेद, कारण और कार्य परमाणु का लक्षण स्वभाव–विभाव पर्यायों का सम्यक् निरुपण है। इसके अनन्तर धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों की परिभाषा, व्यवहार एवं निश्चय काल का स्वरुप, धर्मादि चार द्रव्यों की शुद्ध लक्षण रूपता का उल्लेख है। अस्तिकाय का लक्षण, द्रव्यों की प्रदेश संख्या, तथा द्रव्यों के मूर्तिक–अमूर्तिक, चेतन, अेचतन विभाग निरुपित है।

3) शुद्धभावाधिकार –

(सम्यग्ज्ञानाधिकार) इस अधिकार में भी 18 गाथायें है। इसमें आ0 कुन्दकुन्द ने शुद्धभाव का मूल कारण हेयोपादेय तत्वों का वर्णन करने के पश्चात् निर्विकल्प आत्मतत्त्व का स्वरुप छ गाथाओं में विस्तार से किया है। जीव का शुद्ध स्वरुप, परद्रव्य की हेयता, स्वद्रव्य की उपादेयतस, समयक् दर्शन–ज्ञान के लक्षण उनकी उत्पत्ति के कारणों का उल्लेख किया है। गाथा संख्या 52 दृष्टव्य है।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥52॥

4) व्यवहार चारित्राधिकार –

21 गाथाओं में निबद्ध यह अधिकार श्रमण के व्यवहार चारित्र का कथन करता है। इसमें पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों का स्वरुप विशद रूप से विवेचित किया गया है। गुप्तियों का वर्णन निश्चय नय की दृष्टि से, परमेष्ठियों का स्वरुप सम्यक् रीत्या वर्णित है अन्त में व्यवहार चारित्र का समारोह एवं उससे साध्य निश्चय चारित्र कथन करने की प्रतिज्ञा है।

5) परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार –

इस अधिकार में 18 गाथायें है। शुद्धयाश्रित, स्वावलम्बित निश्चय प्रतिक्रमण का इनमें वर्णन है। यहाँ यह उल्लेख है कि आत्मध्यानस्थ मुनि को परमार्थ प्रतिक्रमण होता है। निषेध परक दृष्टि को प्रधान कर साधु को स्वयं को निरंतर पर–नारकादि विभाव पर्यायों से रहित स्वीकार करना चाहिए। निश्चय प्रतिक्रमण ध्यान स्वरुप होने से शब्द जाल से परे हैं। व्यवहार प्रतिक्रमण का स्वरुप जिनवाणी से जानकर उसका पालन भी साधनरूप से अवश्य करणीय है, उसी के निश्चय प्रतिक्रमण की पात्रता आती है।

6) निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार –

12 गाथाओं में ग्रथित यह अध्याय प्रत्याख्यन के पात्र, आत्मा ध्यान की विधि, ज्ञानी जी की भावना (एकत्व आदि रूप), आत्मगत दोषों से मुक्ति का उपाय, निश्चय प्रत्याख्यान नियमाक अधिकारी श्रमण आदि विषयों का सागोपांग वर्णन करता है।

7) परमालोचना अधिकार –

छः गाथाओं के द्वारा इस अधिकार में एलाचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मध निश्चय परमालोचना है, यह महामुनियों के ही संभव है। इसमें आलोचना के चार रुप–आलुंछन, अविकृतिकरण तथा भावशुद्धि का स्वरुप वर्णित किया गया है।

8) शुद्ध निश्चय प्रायश्चिताधिकार –

इस अध्याय का विस्तार मात्र 9 गाथाओं में के द्वारा इसमें निर्टिष्ट किया गया है कि ध्यानी महामुनि ही निश्चय प्रायश्चित का पात्र है। निश्चय प्रायश्चित स्वरुप कषायों पर विजय प्राप्ति का उपाय, पात्रता, तपश्चरण से ही कर्मक्षय– कारणत्व का निरुपण प्रस्तुत अधिकार में है। साथ ही तप और प्रायश्चित की एकार्थता का कारण एवं ध्यान की सर्वस्वता का निरुपण है। कायोत्सर्ग का अधिकरण भी इसमें वर्णित है।

9) परम समाधि अधिकार –

इसमें 12 गाथाओं में महामुनि की ध्यान परम समाधिरुपता का निरूपण है। इयमें अनेक सूत्रों द्वारा स्थायी समाधि का वर्णन किया है। पूर्ण समता, ध्यान तथा स्थाई सामायिक एकार्थवाची रूप में वर्णित है। इसमें गाथा नं. 125 से 133 तक अनुष्टुप छन्द हैं।

10) परम भक्ति अधिकार –

6 गाथा सूत्रों में आ. कुन्दकुन्द ने इस अधिकार में यह स्पष्ट किया है कि भक्ति के बिना श्रावक या श्रमण किसी को भी सिद्धि नहीं है। निश्चय भक्ति मुनि को ही होती है। इसमें योग भक्ति और योग का लक्षण प्रकट किया है।

11) निश्चय परमावश्यक अधिकार –

इस अधिकार के अन्तर्गत 18 गाथायें विशिष्ट पद्धति से आवश्यक पर प्रकाश डालती है। आवश्यक शब्द की निरुक्ति, आवश्यक का पात्र कौन नहीं, आवश्यकता का पात्र, शुद्ध निश्चय आवश्यक प्राप्ति का उपाय आवश्यक करने को प्रेरणा आदि विषय इसमें समाविष्ट हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा के लक्षण, प्रतिक्रमणादि क्रियाओं की सार्थकता, विवाद की वर्जनीयता, सहज तत्त्वाराधना

की विधि आदि का भी इसमें प्रकटीकरण किया गया है। यह भी स्पष्ट किया है कि समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग का यथार्थ पालन करने वाला ही यथार्थ श्रमण है।

12) शुद्धोपयोगाधिकार –

21 गाथाओं से समन्वित इस अधिकार में शुद्धोपयोग का लक्षण, उससे साध्यरूप निर्वाणपद का वर्णन किया गया है। इसमें दार्शनिक पद्धति के दर्शन होते हैं। प्रथम गाथा बहुत ही महत्वपूर्ण है।

दृष्टव्य है –

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलीणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥159॥

केवलज्ञानी परमात्मा व्यवहार नय से सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा हैं एवं निश्चयनय से वे अपनी आत्मा को ही जानते व देखते हैं। यहाँ यह प्रकट होता है कि सर्वज्ञता ही आत्माज्ञता है और आत्मज्ञता ही सर्वज्ञता है। यथार्थतः केवली आत्मा से तन्मय होकर जानते हैं। तन्मयता ही निश्चयनय का विषय है। उसी प्रकार यथार्थतः केवली समस्त विश्व को अतन्मय होकर जानते हैं। अतन्मयता अध्यात्म शैली में व्यवहार नय का विषय है। इसका स्पटीकरण यह है कि जब केवली अपनी आत्मा को देखते जानते हैं उस समय उनकी आत्मा मं समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है या उनका ज्ञान विश्वाकार परिणत होता है।

इस अधिकार में केवलज्ञान केवलदर्शन की युगपतता, ज्ञानदर्शन के स्वरुप की दार्शनिक समीक्षा, प्रत्यक्ष परोक्षज्ञानों का स्वरुप, ज्ञानदर्शन के स्वपर प्रकाशक पने की सिद्धि, केवलज्ञानी के बन्धाभाव, कर्मक्षयसे मोक्षप्राप्ति, शुद्धोपयोग युक्त कारण परमतत्त्व, निर्वाणस्थान, सिद्धि व सिद्धका स्वरुप, निर्वाण और सिद्ध की एकता एवं मुक्तजीव के लोकाकाश तक ही गमन का कारण आदि का विवेचन है, अंतिम पांच गाथाओं में उपसंहार प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने लघुता प्रदर्शन एवं धर्मदेषी जनों से सावधान रहने का संकेतकर ग्रन्थ को सम्पूर्ण किया है।

उक्त विवेचन के संदर्भ में आचार्य श्री चिशुद्धसागर महाराजजी ने स्पष्ट किया है कि आचार्य भगवान् ने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को सार कहा हैं। इससे विपरीत जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र है वे असार हैं। कुछ विद्वानों के मत में विपरीत से तात्पर्य भेदरत्नत्रय से है क्योंकि व्यवहारसविकल्पक होता है।

व्यवहार निश्चयपरक व्याख्यानपूर्वक अपूर्व प्रस्तुति सम्पन्न नियमसार के रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का कालत्रयी व्यक्तित्व रहा है। उनके समय की धार्मिक औश्र सामाजिक स्थिति को समझने के लिए उनके काल जानकारी आवश्यक है।

आचार्य कुन्दकुन्द के काल निर्धारण सम्बन्धी अनेक दृष्टि में रखकर डॉ. जयोति प्रसाद जैन ने सारांश रूप में लिखा है – ''साहित्यिक एवं शिलालेखीय अनुश्रुतियों में कुन्दकुन्द का उल्लेख सदैव उमास्वामी और समन्तभद्र के पूर्व हुआ है। उमास्वामी प्रणीत तत्वार्थसूत्र के सप्रसिद्ध टीकाकार देवनन्दि पूज्यपाद (लगभग 500 ई.) समन्तभद्र का तो नामोल्लेख करते ही हैं और उनके उद्धरण भी देते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रथों से भी उद्वरण देते उद्धाहरण देते है। आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती जैनाचार्यों एवं ग्रन्थकारों की निर्णीत तिथियाँ यह प्राय सुनिश्चित कर देती है कि स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी प्रथमशती ईसा के मध्य से पूर्व ही हुए होंगे। प्रो. ए. चक्रवर्ती ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय ईसा की प्रथम शती निर्धारित किया है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने विभिन्न मतों तथा प्राप्त सघन श्रोतों की विशद समीक्षा करके प्रायः उसी समय का समर्थन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु कौन थे ? इस विषय में इतिहासकारों ने उल्लेख नहीं किया है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहा है। और अगली गाथा में उन्होंने भद्रबाहु को अपना गमक गुरु बताया है। लगता है कि भद्रबाहु को गमक गुरु इसलिये कहा कि वे अंतिम श्रुत केवली थे, उन्हें ग्यारह अंग और चौदहपूर्व का ज्ञान था। उन्हें भगवान की वाणी का, पूर्णरूप उनके द्वारा उनके द्वारा बताये हुए मार्ग ज्ञान था, जिसे आचार्य कुन्दकुन्द ने पूरी तरह ग्रहण किया और अपने ग्रन्थों मे उसी मार्ग का प्रतिपादन किया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है यह प्रसिद्धि है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव के द्वारा 84 पाहुडों का सृजन किया गया था। उनमें से समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसाणुपेक्खा, दंसणपाहुड, श्रुतभक्ति,चारित्र पाहुड, सूत्रपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, लिंगपाहुड, सील पाहुड, सिद्धभक्ति, चारित्र भक्ति, योग भक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाण भक्ति, पंचगुरु भक्ति, थोस्सामि धुदि ये कृतियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। इनका स्वाध्याय करके श्रावक और श्रमण आत्महित साध रहे हैं। इतिहास कारों ने यह उल्लेख किया है कि षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर कोई विद्वान आचार्च कुन्दकुन्द देव की कृतियां मानते हैं। किन्तु ये कृतियां इनकी है, इस विषय में प्रामाणित तथ्य नहीं मिलते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकर की वाणी को मुख्यात दी है, उन्होंने 'केवली पण्णतो घम्मो सरणं पव्वज्जामि' अर्थात् केवली प्रणीत धर्म की शरण को स्वीकार करता हूँ। यदि ग्रन्थ में केवलीप्रणीत धर्म वर्णित है तो वह वंदनीय है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है- श्रुत की अर्चना, पूजा-वंदना और नमस्कार करने से सब दुःखों और कर्मों का क्षय होता है। तथा बोधिलाभ, सुगतिगमन, समाधिमरण और जिनगुण संपत्ति भी प्राप्त होती है। अतः मैं अरिहन्त के द्वारा कहे गए, गणधर के द्वारा गूथें गए महासागर प्रमाण श्रुतज्ञान को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ। समयसार में वे लिखते हैं – समयपाहुड, को पढ़कर

जो उसके अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सुख अर्थात मोक्ष प्राप्त करेगा। यहाँ तक ही नहीं, उन्होंने भक्ति से ज्ञान प्राप्त होने की बात भी लिखी है। जैन सिद्धान्त में 5 प्रकार के ज्ञान माने गये हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। ज्ञान की भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होते है। अन्यथा नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द का यह भी कथन है कि विनय के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की महत्ता मानते हुए आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने कहा कि आचार्य प्रवर अपने ग्रन्थों में अध्यात्म की प्रधानता से प्रतिपादन किया है। जो शुद्ध रत्नत्रय है वही मोक्ष का उपाय है और स्वात्माका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, अन्य नहीं हैं। यथार्थ में स्वात्मा का ज्ञान ही निश्चय ज्ञान है। परज्ञेयों का जहाँ किंचित मात्र भी प्रवेश नहीं है ऐसा स्वात्मज्ञान ही ज्ञान है। अन्य पर दृष्टि नहीं है, अन्य दृष्टि नहीं है। स्वात्मा का श्रद्वान ही सम्यग्दर्शन है। जो अन्य पर दृष्टि है, वह भी परमार्थ भूत से सम्यक् नहीं है। निश्चय से स्वात्मा का ज्ञान, स्वात्मा पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, वही है सम्यग्ज्ञान। स्वात्मा में रमण ही शील है अन्य कोई शील शील नहीं है। इस प्रकार से स्वात्मरूप में स्थिरता ही सम्यग्चारित्र है। यह रत्नत्रय ही मोक्ष प्राप्ति का मुख्य है। इसी की आराधना कल्याण कारी है।

रत्नत्रय की मुख्यता से प्रतिपादन कसने वाले आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में केवली कवलहार, सचेलकता, स्त्रीमुक्ति आदि श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन है तथा इनके ग्रन्थों में दार्शनिक रूप की जो विवेचना है वह अन्य ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती है। सप्तभंगी का रूप भी आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अधिक विकासमान है। उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराओं ने आचार्य की दार्शनिक धारा को स्वीकार किया है। यह बात अक्षरशः अ सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म दृष्टियों के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभूति परक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्वों को तर्कसुसंगत परिधान पहनाया। आचार्य श्री विशुद्धसागरजी ने आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी में अगाध श्रद्धा के फलस्वरुप समयसार के साथ साथ नियम सार पर देशना की प्रस्तुति कर लोक में रहकर भी लोकोत्तर कार्य किया क्योंकि यह ग्रन्थ अपने मोक्ष मार्गीय विषय प्रतिपादन करने वाला विशिष्ट ग्रन्थ है। श्रमण चर्चा के लिये परिज्ञान कराने वाला श्रेष्ट ग्रन्थ रत्न है।

(1) सद्दवियारो हू ओ भामा सुत्तेसु च जिणे कहियं।
सो तह कहिय णाय सीसणय भद्दबाहुस्स।।
वारस अंगवियाणं चउदस पुठवं विडल वित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भयवयो जय ओ।। बोध पाहुड 62-62

नियमदेशना—एक विहंगम दृष्टि

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित नियमसार ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय इन सबके बीच की कड़ियों को जोड़ने वाला ग्रन्थ है। आचार्य भगवन् ने 28 मूलगुणों को अध्यात्म में समाविष्ट किया है। षट् आवश्यकों को अध्यात्म से जोड़ा है। स्वच्छन्द क्रिया का नाम नियमसार नहीं है, शुद्ध क्रिया का नाम नियमसार है।

आचार्य भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में अध्यात्मिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। आचार्य भगवन् के प्रति यह कहना कि उन्होंने मात्र निश्चय नय का कथन किया है, यह निराधार है। जिस ग्रन्थ में जिसकी प्रधानता है, उसका विशेष रूप से कथन किया है परन्तु लोप किसी का नहीं किया है। रयणसार में व्यवहार-निश्चय दोनों का साथ-साथ कथन किया है। नियमसार के बारह अधिकारों में प्रथम के चार अधिकारों में व्यवहार का कथन एवं शेष आठ अधिकारों में निश्चय का कथन किया है। उन्होंने नय के दो भेद व्यवहार नय और निश्चय नय किये हैं। कुछ आचार्यों ने निश्चय नय के पुनः दो भेद किये हैं शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। व्यवहार नय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित, उपचरित भेद किये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी इन प्रभेदों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। उन्होंने बिना लाग लपेट के अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को निश्चयनय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहार नय का विषय कहा है।

आचार्य विशुद्ध सागर महाराज ने नियमदेशना प्रथम भाग में चार अधिकारों में व्यवहार नय से जीव, अजीव, व्यवहार चारित्र आदि का कथन किया। आचार्य महाराज नियमदेशना भाग-2 प्रारम्भ करते हुये कह रहे हैं कि परमार्थ शब्द ही अपने आप कह रहा है निश्चय प्रतिक्रमण और जब तक परमार्थ दृष्टि नहीं बनेगी तब तक व्यवहार दृष्टि नहीं है। व्यवहार क्रिया, व्यवहार चारित्र उसे ही स्वीकार किया है जिसमें निश्चय चारित्र की प्राप्ति का लक्ष्य है। आचार्य श्री कहते हैं व्यवहार निश्चय का हेतु है और निश्चय मोक्ष का हेतु है। कारण में कार्य का उपचार करने से व्यवहार भी मोक्ष का हेतु है। बिना व्यवहार के निश्चय के पास जीव कभी नहीं पहुँच सकता है।

आचार्य श्री रागदृष्टि से छुड़ाने का उपाय बताते हुये कह रहे हैं कि जब मैं स्वयं का कर्त्ता नहीं हूँ, फिर मैं पर का कर्त्ता कैसा ? ये कर्तृत्व भाव जब तक विद्यमान रहेगा, तब तक त्रिकाल में शांति सम्भव नहीं है। कोई कहता है कि मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ। आचार्य महाराज कहते हैं कि परद्रव्य का सहयोग हो गया तो सुखी मानता है, परद्रव्य का वियोग हो गया तो दु:खी मानता है अपने आपको। पर तू तो अपने आप में पूर्ण था। विभाव की प्राप्ति का जब तक अभाव नहीं करोगे तब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी।

आचार्य महाराज कह रहे हैं प्राप्ति का उद्देश्य अप्राप्त का ही होता है। शुद्ध स्वरूप के कथन का उद्देश्य अशुद्ध को शुद्ध करके दिखाना नहीं है। शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के कथन का उद्देश्य अशुद्ध सत्ता में शुद्ध सत्ता का ज्ञान कराके, अशुद्ध को छोड़ने का और शुद्ध सत्ता प्राप्ति का लक्ष्य बनाने का है। जो उद्देश्य है वही अध्यात्म है, ध्येय है। कितने स्वगत, परगत तत्व का ज्ञान हो जाये लेकिन जब तक स्वयं ध्यान नहीं कर रहा है, निर्वाण की प्राप्ति त्रैकालिक संभव नहीं है।

आचार्य श्री कह रहे हैं आत्म तत्त्व को छोड़कर जितने परिणाम हैं, सब अनाचार हैं। शुद्धात्मरूप परिणमन ही सदाचार है। वह सदाचार ही प्रतिक्रमण है अर्थात् आत्म आराधना ही प्रतिक्रमण है और आत्म विराधना ही अप्रतिक्रमण है। तीन गुप्तिधारी परम तपोधन ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं। आचार्य श्री निश्चयनय के प्रति फैले भ्रम का निवारण करते हुये कह रहे हैं कि जिन्होंने निश्चयनय की बात को निश्चय मान लिया है, वह तत्व की बहुत बड़ी भूल है। निश्चय चर्चा का विषय नहीं है, वह तो लीनता का विषय है और अज्ञानी चर्चा का विषय बना करके व्यवहार धर्म की ओर जा रहा है। निश्चयनय की बात निश्चय नहीं है और व्यवहारनय की बात व्यवहार नहीं है। निश्चयनय, व्यवहारनय भाषा है।

आचार्यश्री कहते हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को जो सम्पूर्ण रूप से स्वीकारता है और मिथ्या दर्शनज्ञान चारित्र को सम्पूर्ण रूप से छोड़ता है वह साधु प्रतिक्रमण रूप होता है। आचार्य श्री ध्यान की उपादेयता महिमा को बताते हुये कह रहे हैं कि जो ध्यान नहीं करके मात्र स्वाध्याय में लगा है उसको परम शुद्धात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि स्वाध्याय से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होती है। ध्यान ही बंधक है, ध्यान ही अबंधक है। धर्म्य, शुक्लध्यान अबंधक है और धर्म्यध्यान के भेष में कहीं आर्त्त-रौद्रध्यान है तो बंधक है।

आचार्य श्री कह रहे हैं जो निर्ग्रन्थ मुनिराज सम्पूर्ण जल्पों अर्थात् विकल्पों को छोड़ देता है और आने वाले शुभ और अशुभ कार्यों का विचार भी नहीं करता है मात्र अपनी आत्मा में, ध्यान में लवलीन होता है उस साधु के निश्चय प्रत्याख्यान होता है। निश्चय प्रत्याख्यान में साधु बाहर के सभी विकल्पों का त्याग करके, बाहरी पदार्थों पर दृष्टि नहीं ले जाके, अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके अपनी आत्मा का ध्यान करता है। योगी मन, वचन काय सम्बन्धी सम्पूर्ण पाँचों इंद्रिय सम्बन्धी इच्छाओं पर नियन्त्रण करता है और मोहरूपी इच्छा विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से ही छूटती है। आचार्य महाराज कह रहे हैं यदि वास्तव में कोई आत्मिक आनंद का स्थान है तो वह त्याग है। जिसका व्यवहार प्रत्याख्यान है उसको निश्चय प्रत्याख्यान हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है किन्तु जिनके निश्चय प्रत्याख्यान है उनको व्यवहार प्रत्याख्यान हो चुका है, क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता है। उपसंहार करते हुये कह रहे हैं निज तत्व ही निश्चय प्रत्याख्यान है स्वभाव लीनता की अविचल स्थिति ही प्रत्याख्यान है।

आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज कह रहे हैं कि निश्चय आलोचना के पूर्व व्यवहार आलोचना पूर्ण कर लेना। बिना व्यवहार आलोचना के निश्चय आलोचना संभव नहीं है। ये जीव जब तक निज निन्दा नहीं करेगा तब तक लोक निन्दा से नहीं बच सकता है। निज निन्दा करेगा तो पर निन्दा से भी बचेगा, लोक निन्दा से भी बचेगा। एक क्षण भी उसका निज आलोचना के बिना नहीं जायेगा। जो आलोचना गुरु के चरणों में की जा रही है, वह कोई लेन-देन की क्रिया नहीं है, आत्मशोधन की प्रक्रिया है।

आचार्यश्री कहते हैं कि प्रपंच मोक्ष नहीं है। मोक्ष तो छोड़ो मोक्षमार्ग भी नहीं है। पंचम भाव की ओर चलना है तो चारों भाव औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक को छोड़ दो। यति का शरीर ही मोक्ष मार्ग का उपदेश देता है। भो ज्ञानी! आलोचना तो करना परन्तु आलोचना में संक्लेशता नहीं लाना। मोह का अभाव, मंदता होने पर आलोचना समतापूर्वक होती है। भो ज्ञानी! कर्म आपको संभलने का मौका देता है। अबाधा काल का अर्थ ही है कि आप संभल जाओ। अन्त में आचार्यश्री कहते हैं कि जो साधु व्यवहारचर्या में पूर्णरूपेण निष्णात हैं वे ही निश्चय आलोचना को प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिससे चित्त की शुद्धि हो उसका नाम प्रायश्चित है। विकल्पों का समापन होना प्रायश्चित है। गुरु चरणों में पहुँचकर दोष बताना, अपनी आलोचना करना, दंड स्वीकारना ये व्यवहार प्रायश्चित है। काम क्रोधादि भावों का क्षय ही मुनियों का उत्कृष्ट प्रायश्चित है। जो परमसंयमी परमयोगी निजस्वरूप में रमण कर रहे हैं उनके ही निश्चय प्रायश्चित है और वही मोक्ष का हेतु हैं। आचार्य महाराज कह रहे है कि निश्चय प्रायश्चित समस्त आचरणों में परम आचरण है। भैया परभाव का अभाव किये बिना निज भाव की लीनता नहीं होती है। यों ही बैठे बैठे मुख से कह दिया कि ''आत्म स्वभावं परभाव भिन्नं'' तो उससे परभाव की भिन्नता नहीं होती है। मुख की मिश्री और मुख में मिश्री, इन दोनों के स्वाद में बहुत अन्तर है।

आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज परम समाधि का स्वरूप कह रहे हैं जो वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है उसकी परमसमाधि होती है यही स्वरूपाचरण चारित्र है। समता की अनुगामिनी समता है तो समाधि है और समता नहीं है तो त्रैकालिक समाधि नहीं है। निर्विकल्प समाधि में विराजने वाला द्वैत-अद्वैत भाव से मुक्त होता है। समता का अर्थ मात्र क्रोध आने का अभाव नहीं लोकेषणा, तीव्र उत्साह का अभाव होना समता है। समता अर्थात् चारों कषायों की भद्रता, मंदता। जहाँ आर्त्तरौद्रध्यान है वहाँ शांत होने पर भी समता संज्ञा नहीं है। जो षट्काय के सम्पूर्ण जीवों के प्रति साम्यभाव से युक्त है वह सामायिक चारित्रधारी होता है। भैया! बिना युक्ति के निर्दोष संयम का पालन सम्भव नहीं है।

आचार्य विशुद्ध सागर जी महाराज ने उपर्युक्त सभी कथनों को समयसार, प्रवचनसार, कीर्तिकेयानुप्रेक्षा, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, इष्टोपदेश, आत्मानुशासन, परमात्मप्रकाश आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के उद्धरणों से पुष्ट किया है। निश्चय व्यवहार नय, क्रमबद्धपर्याय आदि के विषय में जो जनसामान्य में भ्रान्तियाँ फैली है, उद्धरणों के माध्यम से दूर करने का अनुपम, हृदयग्राही प्रयास किया है। आचार्यश्री की वाणी अन्तरंग से प्रस्फुटित होने के कारण श्रोता के अन्तरंग की सीधे स्पर्श करती है। आचार्य श्री की नियमसार पर नियमदेशना आप सबको भवसागर के निर्मम जाल से निकालने में सहायक बने यही मंगल भावना है।

पुनश्च यह ग्रन्थ आचार्यश्री के प्रवचनांशों पर आधारित है इसमें प्रमादवश अशुद्धि रहना स्वाभाविक है। सुधी, विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि जहाँ उन्हें त्रुटि परिलक्षित हो सूचित करने का प्रयास करे। यह उनकी जिनवाणी के प्रति महती सेवी होगी।

नमोस्तु शासन जयवन्त हो, जयवन्त हो वीतराग श्रमण संस्कृति। आचार्य श्री जयवन्त हो जिससे हम सब अज्ञ जनों को उनकी अमृतमयी देशना में निरन्तर रसाबोर होने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे।

चरणानुरागी
इंजी दिनेश जैन
भिलाई मो. 9303806982
email : JGudia2012@gmail.com

मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ओंकाराय नमोः नमः ॥

अविरल-शब्दघनौघ-प्रक्षालित-सकलभूतल-कलङ्का।
मुनिभि-रुपासित-तीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितम्॥

अज्ञान-तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्री परमगुरवे नमः परम्पराचार्यगुरवे नमः। सकलकलुष विध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं भव्य-जीवमनः प्रतिबोधकारक-मिदं शास्त्रं श्री नियमसार नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थ कर्तारः श्री सर्वज्ञदेवास्तदुत्तर ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः, प्रतिगणधर देवास्तेषां वचनोऽनुसारमासाध्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचितं तस्य भाषा टीकां आचार्य श्री विशुद्धसागरेण विरचित एषः नियमदेशना नाथ ग्रन्थः। श्रोतारः सावधानतया श्रुणवन्तु।

मङ्गलं भगवान वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यौ, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलं॥

सर्वमङ्गल-माङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानम् सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं॥

❖❖❖❖❖

नियमसार

उत्थानिका : शुद्ध आत्मा के संपूर्ण कर्तृत्व का अभाव दिखा रहे हैं। अब पांच रत्नों का अवतार होता है।

गाथा : **णाहं णारयभावो, तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।**
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥ 77॥
णाहं मग्गणाठाणो, णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥ 78॥
णाहं बालो बुढ्ढो, ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥ 79॥
णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥ 80॥
ण हं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥ 81॥

संस्कृत छाया : **नाहं नारकभावस्तिर्यङ्-मानुष-देव-पर्यायः।**
कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्॥ 77॥
नाहं मार्गणास्थानानि नाहं गुणस्थानानि जीवस्थानानि वा।
कर्त्ता न हि कारयिता, अनुमंता नैव कर्तृणाम्॥ 78॥
नाहं बालो वृद्धो न चैव तरुणो न कारणं तेषाम्।
कर्त्ता न हि कारयिता, अनुमंता नैव कर्तृणाम्॥ 79॥
नाहं रागो द्वेषो न चैव मोहो न कारणं तेषाम्।
कर्त्ता न हि कारयिता, अनुमंता नैव कर्तृणाम्॥ 80॥
नाहं क्रोधो मानो न चैव माया न भवामि लोभोऽहम्
कर्त्ता न हि कारयिता अनुमंता नैव कर्तृणाम्॥ 81॥

अन्वयार्थ : (अहं) मैं (नारकभावः तिर्यङ्मानुषदेवपर्यायः न) नारक पर्याय, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्याय रूप नहीं हूँ (कर्त्ता न हि कारयिता) मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ, कराने वाला नहीं हूँ और (कर्तृणां अनुमंता न एव) करने वालों का अनुमोदन करने वाला भी

नहीं हूँ। (अहं मार्गणास्थानानि न) मैं मार्गणास्थान रूप नहीं हूँ, (अहं गुणस्थानानि वा जीवस्थानानि न) मैं गुणस्थान अथवा जीवसमास रूप नहीं हूँ (कर्त्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव) मैं उनका करनेवाला, कराने वाला और करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूँ

(अहं बालः वृद्धः न) मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ, (तरुणः एवं च न) और तरुण भी नहीं हूँ (न तेषां कारणं) उनका कारण भी नहीं हूँ (कर्त्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव) मैं उनका करने वाला नहीं हूँ, कराने वाला भी नहीं हूँ और करते हुए की अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूँ।

(अहं रागः द्वेषः न) मैं रागरूप नहीं हूँ, द्वेषरूप नहीं हूँ (न च मोहः एव) और मोहरूप भी नहीं हूँ (तेषां कारणं) उनका कारण भी नहीं हूँ (कर्त्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव) उनके करने वाला, करानेवाला और करते हुए की अनुमोदना करने वाला मैं नहीं हूँ।

(अहं क्रोधः मानः न) मैं क्रोधरूप नहीं हूँ, मानरूप नहीं हूँ (अहं माया च एव लोभः न मावामि) मैं मायारूप नहीं हूँ और मैं लोभरूप भी नहीं हूँ (कर्त्ता न हि कारयिता कर्तृणां अनुमंता न एव) मैं इनका करने वाला, करानेवाला और करते हुए की अनुमोदना देने वाला भी नहीं हूँ।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्दस्वामी ने नियमसार ग्रन्थ में व्यवहार चारित्र अधिकार के अंतर्गत गुप्ति, समिति आदि का कथन किया। अब परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार आरंभ कर रहे हैं। 'परमार्थ' शब्द ही अपने-आप में कह रहा है निश्चय प्रतिक्रमण और जब तक परमार्थ-दृष्टि नहीं बनेगी, तब तक व्यवहारदृष्टि नहीं है। व्यवहार क्रिया, व्यवहार चारित्र उसे ही स्वीकार किया है, जिसमें निश्चयचारित्र की प्राप्ति का लक्ष्य है। यदि व्यवहार-क्रिया व्यवहार तक ही सीमित है, तो उसे माँ जिनवाणी व्यवहार ही नहीं स्वीकार करती है, क्योंकि व्यवहार तो निश्चय का हेतु है। निश्चय मोक्ष का हेतु है। कारण में कार्य का उपचार करने से व्यवहार को भी मोक्ष का हेतु कहा है।

आचार्यों की लघुता और गुरु के प्रति आस्था देखने योग्य है। दीक्षाप्रदायी गुरु के प्रति बहुमान तो होता ही है, परन्तु उस काल में विशेष विद्यावान, तत्त्वज्ञ मुनिराजों के प्रति भी आचार्यों ने बहुमान दिया है। आचार्यों ने प्राचीन आचार्यों का भी स्मरण करके उनका गुणानुवाद किया है एक तो लघुता की दृष्टि से, दूसरे उपकारी के उपकार को नहीं भूला जा सकता। भले साक्षात् ज्ञान प्राप्त न हुआ हो, परन्तु परम्परा से तो प्राप्त हो रहा है, उनके उपकार को भी स्वीकार किया है।

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये, स्मरेभकुम्भस्थल भेदनाय वै।
विनेयपङ्केज-विकास-भानवे, विराजते माधवसेन सूरये॥ 108 कलश॥

यहाँ टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव श्रीमाधवसेन आचार्य को नमस्कार कर रहे हैं। आचार्य माधवसेन तर्क व्याकरण के टीकाकर्त्ता हैं। इन्होंने 'गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड' पर भी अपनी लेखनी चलाई है। श्रीपद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि जो संयम और ज्ञान की मूर्ति हैं, जो काम रूपी गज के गंडस्थल का भेदन करने में समर्थ हैं, शिष्यरूपी कमलों के विकास के लिये सूर्य के समान शोभायमान हैं, ऐसे माधवसेनसूरि को मेरा नमस्कार हो।

यहाँ अधिकार 'अथ' शब्द से प्रारंभ किया है। 'अथ' शब्द के दो अर्थ हैं, एक प्रारंभ करना, दूसरा 'अथ' शब्द अपने आप में मंगलभूत है। अथ यानि सम्पूर्ण व्यवहारचारित्र के फल की प्राप्ति के प्रतिपक्षभूत शुद्ध निश्चयात्मक जो परमचारित्र का वर्णन करने में कुशल/परायण परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार को कहते हैं। इस अधिकार को प्रारंभ करते हुये आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पाँच गाथायें लिखी हैं, जिसे पद्मप्रभमलधारिदेव ने पंचरत्न की संज्ञा प्रदान की है।

प्रतिपक्ष से तात्पर्य है उससे विपरीत। निश्चय से विपरीत व्यवहार, व्यवहार से विपरीत निश्चय। हेतु भी है, प्रतिपक्ष भी है। हेतु है, पर एक नहीं है। कारण तो है, पर एकत्व नहीं है। कारण-कार्य प्रतिपक्ष ही होते हैं। यदि प्रतिपक्ष नहीं होंगे, तो कारण-कार्य भाव एक ही हो जायेगा। भो ज्ञानी! कारण तो कारण है और कार्य कार्य है। इसलिये प्रतिपक्ष है, पर साध न है। "शब्दानाम् अनेकार्था" एक शब्द के अनेक अर्थ निकलते हैं। प्रतिपक्ष का अर्थ विरोध ी भी होता है, परन्तु ये विरोध करने वाला विरोधी नहीं है। चूँकि परस्पर में एकत्व नहीं है, पर एकरूप नहीं है। परन्तु उसको साधन का साधन है। व्यवहार तो निश्चय का प्रतिपक्ष है, क्योंकि निश्चय के पास ले जाने वाला है। बिना व्यवहार के निश्चय के पास जीव कभी नहीं पहुँच सकता।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने इन पाँच गाथाओं में पूरे अधिकार का सार भर दिया है। बड़ी सहजता से देखना, उन्होंने निश्चयनय की दृष्टि से कथन किया है, पर व्यवहारनय का अभाव नहीं किया, मात्र गौण किया है। इन पाँच गाथाओं में रागदृष्टि से छुड़ाने का उपाय बताया है, कर्तृव्य का बोध कराया है। जब मैं स्वयं का कर्त्ता नहीं हूँ, फिर मैं पर का कर्त्ता कैसा? ये कर्तृत्व-भाव जब तक विद्यमान रहेगा, तब तक शांति त्रिकाल में संभव नहीं है। नानारूपता, नाना विकल्पता, नाना सम्बन्ध, ये सब भी कर्तृत्व-भाव के कारण हैं। मैं दु:खी हूँ, मैं सुखी हूँ, अरे मूर्ख! तू कहाँ दु:खी है? कहाँ सुखी है? परद्रव्य का सहयोग हो गया

तो सुखी मानता है, परद्रव्य का वियोग हो गया तो दु:खी मानता है अपने-आप को। पर तू तो अपने-आप में पूर्ण था।

एक जीव को हजारों के बीच तिलक लगाकर कुर्सी पर बैठा दिया। वह अपने आप को सुखी मान रहा था। लेकिन वास्तव में मिला क्या था? उसके पेट में दाना नहीं डाला, उसको पानी नहीं पिलाया आपने, फिर भी वह अपने आपको सुखी मान रहा था। अहंकार का पोषण कितना सुख और आनंद दे रहा था? उस व्यक्ति को कुछ क्षण बाद आपने कहा कि अब आप नीचे आ जाइये, तो वह अपना अपमान मान रहा था। भो ज्ञानी! जिनवाणी कह रही है कि हमने आपको ऊपर बिठालने के लिये ही नीचे उतारा है और ऊपर बिठालने के लिये भी ऊपर बिठाया है। जिनवाणी कह रही है अपमान-ही-अपमान होता रहे, तो वह अभ्यस्त हो जाता है। सम्मान-ही-सम्मान होता रहे, तो वह अभ्यस्त हो जाता है। अपमान, सम्मान युगपत करो, जिससे वह अपने-आप को समझ सके,।

कुर्सी से उतारा, कुर्सी पर बिठाया, भो ज्ञानी! तू उतरा कब? तू बैठा कब? तेरा चतुष्टय जैसा कुर्सी पर था, वैसा ही कुर्सी के नीचे भी। तेरे ज्ञान में कहाँ अंतर हुआ? तेरे दर्शन में कहाँ अंतर हुआ? तेरा स्वभाव ज्ञानशरीरी था, उसका अभाव कहाँ हुआ? इस पुद्गल पर पुद्गल को रखने पर तूने मान-सम्मान मान लिया। ये चिन्तन जब योगी करता है, तो मनीषियो! सहज, भूमि पर भी बैठ जाता है। किसी ने ऊपर बिठाल दिया तो भी सहज है, नीचे बैठ गया तो भी सहज है। ध्यान रखना, आसन बैठने का तो है, राग करने का नहीं है। यदि उसमें राग हो गया, तो अभाव में तुम्हें रोना ही पड़ेगा। हे योगी! जब तू गृह त्याग करके निकला है, संपूर्ण आसन/सिंहासनों का त्याग करके निकला है, पुन: तुम्हें चौकी, पाटे मिलना प्रारंभ हो गये, यदि उन्हें तूने निजरूप मान लिया, तो तेरा त्याग कहाँ गया?

आचार्य भगवन् कह रहे हैं-मैं नारकी नहीं हूँ। नरकपर्याय तो पौद्गलिक है। मैं चैतन्य हूँ। मनुष्य, देव आदि पर्याय मैं नहीं हूँ। मैं इनका कर्त्ता भी नहीं हूँ। मैं मनुष्यत्व का कर्त्ता नहीं हूँ। मैं तिर्यंचत्व का कर्त्ता नहीं हूँ। और देवत्व का कर्त्ता नहीं हूँ। मैं कराने वाला भी नहीं हूँ और मैं इनका अनुमोदन करने वाला भी नहीं हूँ। जो सामने दिख रहा है, उसे तूने अनंतकाल से देखा है। भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी दिखा रहे हैं। जो तूने आज तक नहीं देखा है, उसे मैं समासरूप नहीं हूँ। मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ, कराने वाला भी नहीं हूँ। गुणस्थान भी पौद्गलिक है, मार्गणास्थान पौद्गलिक है, जीवसमास भी पौद्गलिक है। मैं तो अशरीरी चैतन्य आत्मा हूँ। ऐसा योगी बढ़ रहे गुणस्थान को भी अपना गुणस्थान नहीं मानता। यदि गुणस्थान मेरा धर्म होता, तो सिद्ध कौन होता? धर्म वह होता है, जो त्रैकालिक होता है। जिसमें

तात्कालिकता होती है, वह धर्म से परे होता है। इसलिये जीव का धर्म मनुष्यगति कहीं भी लिखा नहीं मिलेगा। आगम में आपको जीव का धर्म तिर्यंच, देव, नारकी, गुणस्थान, मार्गणास्थान कहीं लिखा नहीं मिलेगा। ज्ञान-दर्शन जीव का धर्म है। अग्नि लाल, पीली, काली है, ये अग्नि का धर्म नहीं है। अग्नि का धर्म तो उष्णता है। पानी बर्फ है या गर्मपानी है, यह है नहीं है, क्योंकि शीतलता पानी का धर्म है।

भो ज्ञानी! धर्म उपाधिरूप नहीं होता है, धर्म आधि सत्य नहीं होता है, धर्म व्याधिरूप भी नहीं होता है। धर्म तो उपाधि, आधि व व्याधि से रहित स्वभावरूप होता है। धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव, वह त्रैकालिक ही होता है। पर्याय तात्कालिक ही होती है। यह जीव तात्कालिकता के पीछे त्रैकालिकता को भूल बैठा है। तात्कालिक जो अवस्थाएँ हैं, वह मधुर होती हैं, मनोहर होती हैं; परन्तु ध्यान रखना, यह स्वभाव नहीं है।

भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि मार्ग, मार्गी, मार्गणा इन विकल्पों में जीकर हम समय को खोना नहीं चाहते हैं, हम समय को ही समझना चाहते हैं। समय अर्थात् समयसार, समय अर्थात् धर्म, समय अर्थात् जिनशासन, समय अर्थात् आत्मा। समय का जिसे भान हुआ है, वही जीव समयसार का ज्ञान करता है। जिसे समयसार का ज्ञान है, वही समय को समझता है। जो समय को समझ लेता है, वही समयसार को पा लेता है। पर ध्यान रखना, जितनी बार समय शब्द का उपयोग किया है, उतने बार अर्थ अलग-अलग हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जब तुम अपने स्वयं के शरीर के कर्त्ता नहीं हो, तो पर-शरीरों के कर्त्ता कैसे हो सकते हो? मैं बाल, वृद्ध नहीं हूँ। ज्ञानी! पर्यायों में जाओगे तो खिन्नता आयेगी। जब मेरी मृत्यु ही नहीं है, तो मुझे भय किस बात का? जब मेरे में कोई व्याधि ही नहीं, तो पीड़ा किस बात की? मैं बाल नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं, मैं मुर्दा नहीं। ये सब परिणमन पुद्गल के हैं। मैं तो चैतन्य-स्वरूप हूँ। वस्त्र के रंगे होने पर देह रंगी नहीं होती। वस्त्र के जीर्ण होने पर शरीर जीर्ण नहीं होता। मनीषियो! देह के जीर्ण होने पर आत्मा जीर्ण नहीं होती। देह के शीर्ण होने पर आत्मा शीर्ण नहीं होती। ये तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी है। ऐसा चिंतन करके श्रमण/योगी जंगल में जीते हैं, उपसर्ग-परीषह सह लेते हैं। यदि शरीर पर दृष्टि जा रही है, तो जीवनभर साधु बनकर जी लोगे, परन्तु एक क्षण को भी साधुस्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाओगे क्योंकि उसमें भी मान-सम्मान झलकेगा। यदि तुझे अपना शरीर दिख रहा है और यहाँ कह रहे हो कि मैं बाल नहीं, बूढ़ा भी नहीं हूँ। बोले-'महाराज! क्या करूँ? शरीर ढल गया है, बालक सम्मान नहीं रखते हैं'। ज्ञानी! तू किसका सम्मान करा रहा है? धिक्कार हो, जिस कर्म को छोड़ने की बात की जाती है, तू अब बूढ़ा होकर

अभिनंदन-ग्रन्थ छपा करके पुद्गल को हेय कहता है? जीवनभर जिस जीव ने आत्मतत्त्व को निहारा हो, वो अंतिम समय में इस वय कर्म के धर्म को निज धर्म मानकर ग्रन्थ छपाने में लगा है। उसमें तेरे चित्र भी जायेंगे, किसके चित्र? पर्याय की पर्याय के चित्रों के छपने में चैतन्य आनंद मना रहा है। इसका तात्पर्य है कि तूने शब्दों में समयसार समझा है। समय को समझ लिया होता, तो पर्याय की पर्याय में इतना लीन न होता।

कभी-कभी लगने लगता है कि अस्सी साल का हो गया, नब्बे साल का हो गया, अब शरीर हिल रहा है, परिणाम डगमगा रहे हैं, किसमें जा रहे हैं? अरे! मैं इतना बड़ा विद्वान्, इतना बड़ा त्यागी, समाज ने ये नहीं सोचा कि कुछ अभिनंदन भी होना चाहिए। किसका? शरीर नोकर्म है, कर्म है। जो सम्मान आपका होगा, यदि उस सम्मान में दूसरे का चित्र छप जाये, उस समय बताना कैसा लगेगा? पूर्ण समझ कर समझना है। जब तू कर्म मान रहा है, फिर कर्म का सम्मान? और कहता क्या है कि इन्होंने जीवन भर आत्मा को समझा है, आत्मा को संबोधन दिया है, इसलिये मैं उनके कर्म को सम्मान दे रहा हूँ। जिसने जीवन भर आत्मा को सम्मान दिया है, अब तुम उसके कर्म को सम्मान दे रहे हो। मुमुक्षु! बिल्कुल नहीं। ये कर्म का सत्कार आगम में नहीं है। यहाँ आत्मा का सत्कार है, कर्म का सत्कार नहीं है। शुद्धात्मा का सत्कार बेनरों पर नहीं होता है। निज की लीनता ही शुद्धात्मा का सत्कार है।

भो ज्ञानी! किसी जीव ने तरुण-अवस्था में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। वय धर्म जो है वह प्रकट होगा। यदि शारीरिक परिणमन में और देह के धर्म में परिणाम हो गये, तो तुम एक-क्षण मात्र भी साधु नहीं बच सकते। क्या कहता है कि मेरा दोष नहीं है? इस अवस्था में ऐसे भाव बनते ही हैं। भो ज्ञानी! फिर श्रमण किसे कहेंगे? कहीं वृद्ध-अवस्था आ गई, वृद्ध-अवस्था का परिणमन सभी जानते हैं, एक धागा भी पड़ा होगा तो उठा लेंगे। बोलेंगे कि काम में आयेगा। हाँ, स्वभाव है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जब तुमको तरुणाई सताये, जब तुमको वृद्धत्व सताये, जब तुमको बालत्व सताये, आप क्या कहेंगे? यह देह का धर्म है, ये आत्मधर्म नहीं है। मैं तरुण हूँ ही नहीं, मैं वृद्ध हूँ ही नहीं, मैं बाल हूँ ही नहीं, तो ये कौन है? पुद्गल है। मैं तो अखण्ड पिण्ड, ज्ञानघन, परमज्ञायकस्वभावी भगवान्-आत्मा हूँ। यदि ऐसा चिन्तवन करता है, तब कहीं अपने स्वभाव में रह पाता है। यदि ये चिन्तवन नहीं करेगा, तो किसी-न-किसी विभाव में जायेगा या सामाजिक प्रपंचों में पड़ेगा, पर साधुता के प्रपंचों को भूल जायेगा।

भो ज्ञानी! आपने अध्ययन किया, सोचा कि सर्विस लग जायेगी। नहीं था पुण्य का योग, अतः कभी अध्ययन के बाद सर्विस नहीं लगती है, तो फिर तराजू पकड़ते हो। विद्यार्थी का

भेष था, जिनागम का अध्ययन किया। जिनागम के अध्ययन के बाद जब अपने स्वरूप पर लक्ष्य नहीं पहुँचता है, तो समाज की तराजू पकड़ लेता है कि मेरा पूरा संयम का जीवन समाज के पीछे चला गया। जबकि ये आत्म-सुधारक का वेश था, ये समाजसुधारक का वेष बिल्कुल नहीं था।

मैं उसका कर्त्ता भी नहीं हूँ, मैं कराने वाला भी नहीं हूँ, मैं इनकी अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूँ। ज्ञानी! सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही है। इतना सोचने के बाद अपने में रह लेना, टेड़ी खीर है। मैं क्रोध, मान, माया, लोभ भी नहीं हूँ। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी, जो कर्तृत्व भाव है, उसका अभाव बता रहे हैं। शुद्ध आत्मा कर्तृत्वभाव से रहित है।

भो ज्ञानी! आप नारकी नहीं होना चाहते हो, तो बहु आरंभ-परिग्रह छोड़ देना। बोले-नारकी नहीं बनना चाहता हूँ और भावना ये है कि तीनों लोकों में जितना द्रव्य है, सब मेरे घर में आ जाये। उस भावना में मालूम कितना पाप छिपा हुआ है? जब सारे लोक का द्रव्य तेरे घर में आ जायेगा, तो संसार के जीव भूखे मरेंगे कि नहीं? उनकी हिंसा कहाँ जायेगी? उस भावहिंसा के कारण तू नरक जा रहा है, द्रव्य से नरक नहीं जा रहा है, परन्तु वह द्रव्य तो हिंसा का कारण है।

आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में नरक का हेतु "बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः लिखा। जीव दूसरों का घात कर रहा है, नष्ट कर रहा है, उनको नरक जाने का हेतु नहीं बता रहे हैं, बहुत आरंभ-परिग्रह को नरक का हेतु बता रहे हैं। कारण क्या है? अरे भाई! जब घात करने जायेगा, तो मारेगा बाद में, परन्तु तू द्रव्य को इकठ्ठा कर रहा है, तो बिना मारे ही मार रहा है। स्व जीव का भी घात कर रहा है, पर जीव का भी घात कर रहा है।

मनीषियो! कहीं भी व्याख्यान करने जाओ, तो ऐसा व्याख्यान करना कि विश्व में बहुत सारा द्रव्य है। द्रव्य के होने या न होने से नरक आयु का बन्ध नहीं होता है। द्रव्य के जुटाने में जो हिंसा हो रही है, द्रव्य के संग्रह में जो राग की तीव्रता (मूर्च्छा) हो रही है, वह नरकायु के बन्ध का कारण है। इसलिये आचार्य महाराज ने कहा कि यदि मेरे बहुत आरंभ-परिग्रह के भाव हैं तो मैं नरक-पर्याय को प्राप्त होता हूँ।

मनीषियो! संसारी जीव के बहुआरंभ-परिग्रह व्यवहार से होता है, इसलिये वहाँ नरक-आयु के हेतुभूत होने से संपूर्ण मोह, राग, द्वेष पाया जाता है, क्योंकि ये जीव अनादिकाल से कर्म से बंधा हुआ है। शुद्ध निश्चयनय से जीवास्तिकाय के नरकादि-आयु का बंध नहीं है।

भो चेतन! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि नरक में जायेगा, तो अशुभ परिणामों से ही जायेगा; तिर्यंच होगा, तो अशुभ परिणामों से ही होगा। जब अशुभ परिणामों से ही होना है,

तो फिर एक ही गति में क्यों नहीं जाता? नारकी को नारकी होना चाहिये था। इसलिये आचार्य महाराज ने कषाय को जोड़ दिया कि क्रोध से युक्त अशुभ-परिणाम बहु-आरंभ-परिग्रह की दृष्टि से जीव को नरकायु के आस्रव का हेतु हैं। माया कषाय से युक्त जो जीव के अशुभ परिणाम हैं, वह तिर्यंच आयु के आस्रव के हेतु हैं। पुण्य भी किया और साथ में माया भी की और मनुष्यायु का आस्रव भी किया, फिर भी वह पुरुष नहीं बनेगा, वह स्त्री बनेगा। एक तो माया परिणामों से तिर्यंच बन रहा है और उसमें भी माया की, तो तिर्यंचनी-अवस्था प्राप्त करेगा। उस जीव के माया में महामाया के परिणाम हैं, परन्तु निश्चयनय से वे भी तिर्यंच पर्याय के परिणमन से रहित हैं।

भो ज्ञानी! विभाव की प्राप्ति का जब-तक अभाव नहीं करोगे, तब-तक स्वभाव की प्राप्ति संभव नहीं है। मनुष्य नामकर्म के योग से, द्रव्य-भाव कर्म का अभाव होने से, शुद्ध निश्चयनय से, मेरे मनुष्य पर्याय भी नहीं है। मनुष्यपर्याय कैसे प्राप्त होती है? अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह से। पर इसके साथ मृदुभाव का भी ध्यान रखना। देखो, भिखारी के पास कौनसा विशेष आरंभ और विशेष परिग्रह है? परन्तु मृदुभाव नहीं है। यदि मृदुभाव नहीं है, तो मनुष्यायु का आस्रव नहीं होगा।

भो ज्ञानी!जितनी पर्याय का कथन चल रहा है, ये सारी-की-सारी पर्यायें पौद्गलिक हैं चाहे मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच की हों, पर उस पर्याय में जिसका परिणमन हो रहा है, वो पौद्गलिक नहीं है, वो जीव है। इसलिए ये आश्चर्य मत करना कि चेतन पुद्गल में कैसे घुलमिल गया? आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' में पद्मरागमणि का दृष्टान्त दिया है। यदि पद्मरागमणि को दुग्ध के बर्तन में रख दिया जाय तो बर्तन जितना बड़ा/छोटा होगा, मणि का प्रकाश भी उतना बड़ा/छोटा होगा। इसी प्रकार आत्मा जितने बड़े शरीर में प्रवेश कर जाती है, उतनी बड़ी दिखती है। वास्तव में आत्मा स्वप्रदेश में प्रतिष्ठित है। आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, वो त्रैकालिक है। पर्याय के प्रभाव से जिस गति में पहुँचती है, उस गतिरूप झलकने लगती है। इसलिए आत्मा का धर्म स्वदेह-प्रमाण है। आत्मा का एक निश्चित आकार नहीं दिया है और निश्चित आकार दे देंगे तो आत्मा कूटस्थ हो जायेगा।

भो ज्ञानी! जब **'तत्त्वार्थ सूत्र'** के अनुसार चर्चा करोगे, तो चार गतियाँ कहोगे एवं 'समयसार' के अनुसार कहोगे, तो कुछ है ही नहीं। परन्तु 'नियमसार' कह रहा है कि है भी और नहीं भी है। दोनों बातें कर रहे हैं। आपका स्वाध्याय करना, जिनवाणी को पढ़ना, इसका उद्देश्य मात्र ज्ञान करना ही है, कि और कुछ है? भो ज्ञानी आत्माओ! सम्यग्दृष्टिजीव स्वाध्याय ज्ञान की प्राप्ति के लिये कभी नहीं करता, पर स्वाध्याय से ज्ञान प्राप्त होता है। वह स्वयं

के अर्थ के लिये और अशुभ से बचने के लिये स्वाध्याय करता है। शास्त्र में क्या लिखा है, ये अभव्य जीव भी जान लेता है और मिथ्यादृष्टि जीव भी जान लेता है। सम्यग्दृष्टि जीव समय (आत्मा)को, अपने-आपको कैसे करके भी जानना चाहता है। नहीं तो भव्य और अभव्य के ज्ञान में कोई अंतर नहीं रहेगा।

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति॥ स. सा. 317॥

जिस प्रकार से गुड़ से युक्त दूध पिलाने पर सर्प निर्विष नहीं होता है, उसी प्रकार से अध्ययन करके भी अभव्य जीव कभी भव्यता को नहीं प्राप्त होता है। अतः ये मान कर मत बैठ जाना कि जिसको जिनवाणी का विशेष ज्ञान है, तो उसका कल्याण हो ही जायेगा। उसके मुख से सुनने वाला तो कल्याण कर रहा है, परन्तु उसके मन में श्रद्धान नहीं है, तो उसकी सीमा लोक-प्रशंसा तक है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञान के लिये अध्ययन नहीं करता है, वो वास्तव में आत्मज्ञानी बनने के लिये अध्ययन करता है। जीव का अध्ययन कर लेना, श्रुत की सेवा कर लेना मोक्षमार्ग नहीं है। इसके साथ जो श्रद्धान बैठा है, वह मोक्षमार्ग है। सम्यग्दृष्टि का अध्ययन 'ज्ञान' के लिये नहीं है, 'ध्यान' के लिये है। पढ़नेवाला अजैन आपको पूरा न्याय-दर्शन पढ़ा देगा और उसमें जो जैनत्व का पोषण है, वह भी बता देगा, पर उसे निजी श्रद्धा नहीं होगी।

विद्यालय में कोई जैनदर्शन का विषय हो, तो जो जैन छात्र है वह श्रद्धा से अध्ययन कर रहा है और एक अजैन छात्र है 'वह परीक्षा का विषय है', ऐसा सोचकर अध्ययन कर रहा है। अध्ययन दोनों कर रहे हैं, पर उनमें अंतर बहुत है। अभव्य जीव यह सोचकर अध्ययन कर रहा है कि मुझे जैन-आगम का गहरा ज्ञान प्राप्त करना है और भव्य यह सोचकर अध्ययन कर रहा है कि मुझे आत्मा की गहराई की प्राप्ति के लिये आगम को जानना है। इतना अंतर है। एक जानकारी के लिये करता है और दूसरा श्रद्धा के साथ करता है। एक के साथ सम्यक्त्व जुड़ा हुआ है, दूसरे के साथ मात्र 'ज्ञान' शब्द है। वह ज्ञानी तो हो सकता है, पर सम्यग्ज्ञानी नहीं हो सकता है, क्योंकि उसे श्रद्धान नहीं है।

भो ज्ञानी! जो आत्मतत्त्व का उपदेष्टा होगा, वह आपको खुश करने के लिये व्याख्यान नहीं करेगा। वो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही व्याख्यान करेगा। कभी किसी सभा में जाना और किसी को खुश करने के उद्देश्य से चर्चा करोगे तो सत्य नहीं कह पाओगे। वक्ता का कर्त्तव्य है कि सभा को देखकर कथन करे, परन्तु ऐसा नहीं कि खुश करने के लिये हम कुधर्म की प्रशंसा कर दें। आप कुदेव की आलोचना न करें, आप तो सुदेव का व्याख्यान

करो। आप विधि पक्ष को समझाओ, निषेध की आवश्यकता नहीं है। यदि कहने की आवश्यकता ही पड़ जाये, तो कहो कि इस विषय में बौद्ध का ऐसा कहना है, चार्वाक का ऐसा कहना है, नैयायिक का ऐसा कहना है और जैनदर्शन ऐसा मानता है। यही आपको उपादेय है। हमारे आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ लिखे, पर किसी को बुरा नहीं कहा। न्यायशास्त्रों में मात्र दर्शन की चर्चा है और दर्शनग्रन्थ का तात्पर्य स्वयं का मण्डन और पर का खण्डन है। प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्याय कुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थों में परमत के खण्डन के साथ-साथ जैन दर्शन में जो बीच-बीच में मिथ्यात्व प्रारम्भ हुये हैं, उनका भी खण्डन है और स्पष्ट शब्दों में लिखा है जैनाभास, श्रमणाभासदि।

भो ज्ञानी! श्रमण तो थे, पर श्रमण की चर्या नहीं थी, तो श्रमणाभास। अहिंसा की बात करते हो और चामरी गाय की पूँछ के बाल रखते हो, अब अहिंसा की प्राप्ति कैसे होगी? चामरी गाय को बाल बहुत प्रिय होते हैं। वे हमें हिंसा से प्राप्त होते हैं। मध्यकाल में दिगम्बर आम्नाय में एक गोपुच्छ संघ भी बन गया था। श्वेताम्बर परम्परा में अभी भी चालू है। प्रतिमा के सामने के चंवर भी गाय की पूँछ से बनाये जाते थे। यदि एक हाथ की दूरी पर भी रोम (बाल) पड़ा हो, तो वहाँ जिनवाणी रखने-पढ़ने का निषेध है आगम में। जहाँ बाल का निषेध ा है, वहाँ अरिहन्त प्रतिमा के सामने बालों की पिच्छी टंगी हो, तो कहाँ है आगम की अहिंसा का पालन? आपको अपने विवेक का उपयोग करना है। विवेक से कार्य करना है कि क्या करना है, क्या नहीं करना है। आगम में उक्त हिंसक उपकरणों का पूर्ण निषेध है।

भो ज्ञानी! जब भी आध्यात्मिक ग्रन्थों की चर्चा होगी, वहाँ न आपको कोई दर्शन दिखेगा, न कोई विरोध दिखेगा। वैराग्य की बातें सर्वत्र एक ही हैं। चाहे वह दिगम्बर आम्नाय हो, श्वेताम्बर आम्नाय हो, तेरहपंथ हो, बीसपंथ हो, न्याय सबका एक-सा होगा, क्योंकि न्याय तो न्याय है। न्याय में ही तर्क लगेगा, क्योंकि सिद्धान्त में तर्क नहीं लगता। "सिद्धान्त अतर्क-गोचराः" आगम अतर्कगोचर है। जिसमें ऊहापोह हो, दो बातों का कथन हो, वही तो तर्क है। प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, अष्टशती, अष्टसहस्री आदि दिगम्बर आम्नाय के न्याय के बेजोड़ ग्रन्थ हैं। 'अष्टसहस्री' के रचनाकार आचार्य विद्यानन्द जी ने इसे कष्टसहस्री स्वयं कहा है। न्याय के अन्दर जो साहित्यिक शब्द हैं, बहुत कठिन हैं। इसलिये न्यायशास्त्र को नीरस कहा जाता है। न्याय और व्याकरण दोनों नीरस हैं, क्योंकि न तो इसमें कथा-कहानी कही जाती है, न कोई आत्मा परमात्मा की बात की जाती है।

भो ज्ञानी! सम्यग्दर्शन का अर्थ लगाते हैं श्रद्धा। जबकि 'दृश' धातु का अर्थ 'देखना' होता है। लेकिन "धातुनामनेकार्थाः", धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। 'प्रकरणवशात् सर्वाशये'

यहाँ पर देखने का प्रकरण नहीं है, मोक्षमार्ग का प्रकरण है, इसलिये दर्शन का उपयोग 'श्रद्धा' अर्थ में किया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। भैया! व्याकरण की भाषा में भी सिद्धान्त समझाना पड़ेगा। इस भाषा का उपयोग आचार्य पूज्यपाद स्वामी, अकलंक देव ने 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में किया है पूरे व्याकरण के हिसाब से। अतः आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के लिये व्याकरण भी आवश्यक है। तत्त्व को दृष्टि बनाकर चलना अलग विषय है और उसके सिद्धान्तों का कथन अलग है। यदि आचार्यों को व्याकरण का ज्ञान नहीं होता, तो आपके पास ग्रन्थ कहाँ से आते? अपन अपनी कमजोरी मानें कि हमारा क्षयोपशम इतना नहीं है। अब उम्र भी इतनी नहीं बची कि व्याकरण सीखूँ, तो आपको यही कहा जायेगा कि आपका जितना काल बचा है, उतना आप तत्त्व को समझ लो। परन्तु आपके द्वारा जैनदर्शन की रक्षा नहीं हो पायेगी, निज की रक्षा तो हो जायेगी।

हमारे आचार्यों ने दो प्रकार से चर्चा की है। निज की दृष्टि से तो ठीक है कि पाँच समिति, तीन गुप्ति से मोक्ष हो जायेगा, परन्तु जैनशासन की प्रभावना की दृष्टि से आप चर्चा करोगे तो कोई बाहर का दर्शनाचार्य आपके सामने आ गया, तो आप दर्शनपक्ष की चर्चा नहीं कर सकोगे और आप अपने दर्शन पक्ष से असफल हो जाओगे। सिलवानी-चातुर्मास के समय वहाँ किसी कार्यक्रम में बनारस आदि से वैदिक दर्शन के विद्वान् आये हुये थे। उन्होंने समाचार भेजा कि महाराज से मिलना चाहते हैं, दर्शन करना चाहते हैं। हमने सहजता से कह दिया कि आ-जाओ। आने के साथ ही उन्होंने सीधा प्रश्न किया कि मैंने जैनदर्शन को बहुत सुना है, समझा है, पर मैं जाननना चाहता हूँ कि स्याद्वाद कौनसी वस्तु है? क्योंकि सबसे ज्यादा चर्चित विषय यही है। चर्चा हुई। अंत में उन्होंने कहा, महाराज श्री! ठीक है। मैंने कहा-देखो, भाई! स्याद्वाद तो स्याद्वाद है, संशयवाद नहीं है। जिसने स्याद्वाद को नहीं समझा, वो ही सबसे बड़ा संशयवादी है। महावीर स्वामी ने कहा है, इसलिये यह जैनदर्शन का सिद्धान्त है। इसलिये आप मानो या न मानो, परन्तु तुम्हारी लोकव्यवस्था, यहाँ तक कि घर की व्यवस्था, स्याद्वाद के अभाव में नहीं बनती है। भाई! आप बताओ कि आप पिता हो या पुत्र हो? वे धीरे-से बोले-मैं पिता भी हूँ, पुत्र भी हूँ। पुत्र की अपेक्षा से मैं पिता हूँ और पिता की अपेक्षा से पुत्र हूँ। मैंने कहा-बस, यही तो स्याद्वाद कहता है। पुत्र ही नहीं होता तो पिता ही नहीं होता। पुत्र भी है और पिता भी है। इसी का नाम तो अनेकांत-स्याद्वाद है।

भो ज्ञानी! जिस दिन हमारे जैनदर्शन से अनेकान्त-स्याद्वाद निकल जायेगा, भारतीय संस्कृति अपने-आप में अधूरी हो जायेगी। जितना जैन वाङ्मय देश में है, उतना कहीं नहीं

है। जितना भी है, अल्प है परन्तु अगाध है। द्वादशांग की अपेक्षा से अल्प है, फिर भी अगाध है। 'स्याद्वाद' संयुक्त शब्द है। स्याद् यानि कथंचित्, अपेक्षा, अपेक्षाकृत और वाद अर्थात् वचन। बोलने की शैली का नाम स्याद्वाद है। कोई भी पदार्थ अनेक धर्मों से युक्त है। अनेक-धर्मात्मक पदार्थ को हम एकसाथ नहीं कह सकते हैं, इसलिये स्याद्वाद शैली का आलम्बन लेते हैं। पदार्थ अनेक-धर्मात्मक हैं, वस्तु अनेक-धर्मात्मक है। स्याद्वाद 'वस्तु' नहीं है, स्याद्वाद 'व्यक्ति' नहीं है। वस्तु और व्यक्ति को समझने का जो आलम्बन है, वो स्याद्वाद शैली है। अनेकान्त 'वस्तु' है और स्याद्वाद 'शैली' है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। बिना वाच्य के वाचक नहीं और बिना वाचक के वाच्य नहीं। वाच्य-वाचक सम्बन्ध अनेकान्त-स्याद्वाद है। गुण अभिन्न होते हैं, इस कारण पदार्थ अनेक-गुणात्मक है। पदार्थ अनेक-धर्मात्मक है, वह पदार्थ में ही घटित होगा। शैली कोई गुण-गुणी नहीं है। शैली अत्यन्त भिन्न है। गुण-गुणी में अभेदपना होता है। वाच्य अपने आप में अभेद है और वाचक में भेद है। विशेष्य, विशेषण, विशेषक। व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है, तभी हम स्याद्वाद को समझा पायेंगे। पदार्थ/वस्तु 'विशेष' है, अनेकान्त 'विशेषण' है, स्याद्वाद 'विशेषक' है।

प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति ये व्याकरण के शब्द दर्शन में आ गये। अध्यात्म के शब्द में ज्ञेय, ज्ञायक, ज्ञप्ति! पदार्थ एक है। इसलिये आगम की भाषा भिन्न है और अध्यात्म की भाषा भिन्न है। परन्तु पदार्थ एक है और अज्ञानी लड़ रहे हैं, किसके पीछे? कोई अध्यात्म की भाषा को आगम में लगा रहा है, कोई आगम की भाषा को अध्यात्म में लगा रहा है। पर वास्तविकता को नहीं समझ रहा है। एक अध्यात्मवादी से पूछेंगे-कुर्सी पर कौन बैठा है? बोलेगा आत्मा। एक बेटे से पूछेंगे, बोलेगा पिताजी। पोते से पूछा, बोला-दादाजी। मित्र से पूछा, बोले-मित्र और शत्रु आ गया, उससे पूछा, बोले-शत्रु। तो कुर्सी पर कौन बैठा था? आत्मा थी, कि जीव था, कि आदमी था? और जब हम अनेकान्त से पूछेंगे, सात तत्त्वों से पूछेंगे, नौ पदार्थों से पूछेंगे, कि बताईये, कुर्सी पर कौन था? जीव-पदार्थ। बस, जीव-पदार्थ कह दिया तो सब-कुछ हो गया। उस जीव-पदार्थ में अनेक धर्म हैं।

"नययोगान् न सर्वथा" नय के योग से सब-कुछ थे, किन्तु सर्वथा एक भी नहीं है। कथंचित् ऐसा, कथंचित् वैसा। भैया! वस्तु जो है, सो है। 'जीव अन्य है, पुद्गल अन्य है', सार इतना ही है।

भो ज्ञानी! जीव मानते हो, तो नियम से मनुष्य भी हो, तिर्यंच भी हो, देव भी हो, नारकी भी हो। यदि जीव मानते हो, तो हमारी बात सिद्ध हो चुकी है, क्योंकि जीव जो जीता है, जी रहा है, जीवेगा। किससे ? भावप्राणों से। और जो द्रव्य भावप्राण हैं, वो पर्यायजन्य हैं,

इसलिये ये सब पर्याय है। आप तो कहते हैं कि आत्मा है। जीव व आत्मा में भेद है। समझना जीव शुद्ध व अशुद्ध का भेद नहीं करता है। जी रहा है, जिया था, किससे? दस प्राणों से। इसका तात्पर्य यह कि अशुद्ध है और सामान्य से भेद नहीं किये। जब विशेष की चर्चा होगी, तब भेद ही आता है। शुद्ध, खाली-सा, अत्यंत पृथक् वो आत्मा है। आत्मा में कोई मिश्रण नहीं है, जीव में मिश्रण है। प्राणी में मिश्रण है। जो दस प्राणों से जीता था, जी रहा है, जीवेगा, वह प्राणी है। परन्तु आत्मा कब जीवित थी, कब जी रही है, कब-तक जीवेगी? वो त्रैकालिक है। आत्मा त्रैकालिक है। सामान्य रूप से जीव, आत्मा, प्राणी आदि सब एक हैं।

भो ज्ञानी! आध्यात्मिक लोग खाली आत्मा भी नहीं बोलते और जीव भी नहीं कहते। बोले-यह जीवात्मा है। शुद्ध प्राणों से जी रहे हैं, इसलिये ऐसा कहने में कोई दिक्कत नहीं है। भावप्राणों से जी रहे है। निश्चय-नय से चैतन्य प्राण ही प्राण हैं। व्यवहारनय से पांच इंद्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छवास, ये दस प्राण हैं। इन प्राणों से जो जी रहा है, वह जीव है। इन प्राणों के वियोग का ही नाम मरण है। इन दस प्राणों से जन्म कहा जाता है और वास्तव में जो आत्मा है, वह त्रैकालिक है। शुद्ध निश्चयनय से परम-भाव-स्वभाव ये आत्मा के है। गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान आदि ये आत्मा के परमभाव नहीं हैं। और क्या कह रहे हैं? मनुष्य या तिर्यंच पर्याय शरीर और उम्र के द्वारा उत्पन्न विकार हैं। किसका विकार है? शरीर और आयु के द्वारा उत्पन्न हुये विकार को उसे बाल, यौवन, वृद्ध आदि, अनेक प्रकार के स्थूल कषायादि भेद जो हैं, वे शुद्ध निश्चयनय से मेरे में नहीं पाये जाते हैं। परन्तु अशुद्ध निश्चयनय से दिख तो रहे हैं, सामने दिख रहे हैं। यदि नहीं मानोगे, तो अठारह दोषों में एक दोष वृद्धत्व भी है। "जरा" अरिहन्त देव के नहीं होती है, परन्तु आप सबकी है। इस प्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से मेरे में संपूर्ण राग, द्वेष, मोह नहीं पाया जाता है।

भो ज्ञानी! प्राप्ति का उद्देश्य अप्राप्त का ही तो होता है। शुद्ध स्वरूप के कथन का उद्देश्य अशुद्ध को शुद्ध करके दिखाना नहीं है। शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के कथन का उद्देश्य अशुद्ध सत्ता में शुद्ध सत्ता का ज्ञान कराके, सत्ता के कारण को छोड़ने का उद्देश्य है और शुद्ध-सत्ता प्राप्ति का लक्ष्य बनाने का जो उद्देश्य है, वही अध्यात्म है और ध्यान-शास्त्र की भाषा में जिसे ध्येय कहेंगे। वही हमारी ध्येयभूत वस्तु है। कितने ही स्वगत, परगत तत्त्व का ज्ञान हो जाये, लेकिन जब तक ध्यान पर दृष्टि नहीं है, स्वयं ध्यान नहीं कर रहा है, तो भो ज्ञानी! निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं है। अंतिम साधना, चरम साधना ध्यान ही है। इसलिये शुद्ध की

प्राप्ति के लिये सिद्ध का ही ध्यान करना चाहिये। परन्तु अशुद्ध को जाने बिना आप शुद्ध को समझ नहीं पायेंगे, इसलिये अशुद्ध का भी ध्यान करना चाहिये। अशुद्ध का ध्यान क्यों करना है ? ये हेयभूत है, आप कह रहे हैं कि दिख रहा है, पर वास्तव में दिख नहीं रहा है। ये तो आप चर्म-चक्षुओं से जान रहे हो, देख नहीं रहे हो। यदि देख लिया होता आपने अशुद्ध दशा को, उसकी व्याख्या समझ में आ गई होती, तो आज ही शुद्धदशा की प्राप्ति में लग गये होते। इस जीव को अशुद्ध दशा ही तो नहीं दिख रही है। आज तक आप लोगों ने मृत्यु को नहीं देखा। आप कहोगे-महाराज! हमने तो रोज देखा है। अरे! देखा है, ये तो दुनियाँ ने देखा है, जैसे देखने की बात आप कर रहे हो, ऐसा सभी ने देखा है, भैया! आजतक आपने-अपने सिर के बाल नहीं देखे, काले हैं कि सफेद? चंद्रप्रभ स्वामी ने देखा था दर्पण में कि बाल सफेद हो गया, ओह! यम का दूत आ चुका है, वैराग्य हो गया।

आपने बाल तो देखे हैं, पर जिनवाणी जिस दृष्टि से दिखाना चाहती है, उस दृष्टि से नहीं देखे। भैया! बाल सफेद हो गये, तो काले करवा लिये। दाँत घिस गये, तो बत्तीसी लगवा ली। आँखों की व्यवस्था लेन्स लगवा कर कर ली, परन्तु वश नहीं चल रहा है, नहीं तो यमराज अर्थात् आयुकर्म को पकड़ लेते और कहते कि बताओ, कितना धन चाहिये? वो तो अच्छा है कि तुम्हें आयुकर्म नहीं दिख रहा है, पर वो अपना काम कर रहा है। नहीं तो उसके यहाँ भीड़ लगी होती। मनुष्य इतने बुद्धिशाली हैं कि दूसरे के अंगों को भी अपने शरीर में लगवा लेते हैं। वे स्वयं जीना पसंद करते हैं, पर ये ध्यान नहीं रखते कि दूसरे जीव का घात हुआ है कि नहीं?

भो ज्ञानी! पुद्गल पुद्गल को पकड़ेगा, कैसे? वैज्ञानिकों ने जो भी खोज की है, वह पुद्गल की है। वह हमेशा कहता है कि इतनी खोज की है, और आगे जारी है। इसका तात्पर्य हुआ कि अभी अधूरा है। वीतराग-विज्ञान ये कहता है कि आगे-पीछे कुछ नहीं। जो है, सो ज्ञेय है। आगे कुछ है ही नहीं। भो ज्ञानी! जितनी खोज होगी अणु-परमाणु की, वो कभी भी जिनवाणी के बाहर नहीं जायेगी। सब यहीं से होगी। ये मत सोचना कि भौतिक-विज्ञान का भगवान् महावीरस्वामी को ज्ञान नहीं था। उनको भौतिक-विज्ञान उपादेय नहीं था, उनको आत्मज्ञान उपादेय था, इसलिये उन्होंने अपने ज्ञान का उपयोग आत्मज्ञान में किया।

भो ज्ञानी! हमारे आचार्यों ने आयुर्वेद के उदाहरण दिये। यान, वाहन सबके उदाहरण दिये। जब आवश्यकता पड़ती है, तभी तो पदार्थ उत्पन्न होता है। उस समय आवश्यकता नहीं थी। अब आप कहो कि ऐसी गाड़ियाँ पहले चलती थी क्या? उस समय भी विद्याधरों के विमान विद्या के द्वारा चल रहे थे। उस समय आवश्यकता ही नहीं थी, तो क्यों उसका उपयोग करते?

एक बात बताना, घर में कोई नई वस्तु की आवश्यकता पड़ जाये, तो वो तुम्हारे ज्ञान में पहले से थी कि नहीं थी? थी। पर उसकी उस समय आवश्यकता नहीं थी, आवश्यकता पड़ गई, तो प्रकट हो गई।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने पूरी कथा को अपनी व्यथा में मिला करके पूरा कथन कर दिया, अन्त में बोले-सब समझ लो, जान लो और सुनो, ये तुम्हारा स्वभाव नहीं है। कितनी सहजता में कह रहे हैं कि ठीक है, गमन कर रहा है, करने दो; ठहरा है, ठहरने दो; दृष्टान्त दे रहा है, देने दो; अपना क्या जाता है?

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : भेदविज्ञान से क्रम से निश्चय चारित्र होता है

गाथा : **एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्तं।**
तं दिढकरणणिमित्तं, पडिक्कमणादी पवक्खामि॥ 82॥

संस्कृत छाया : **ईदृग्भेदाभ्यासे मध्यस्थो भवति तेन चारित्रम्।**
तद्दृढीकरणनिमित्तं प्रतिक्रमणादिं प्रवक्ष्यामि॥ 82॥

अन्वयार्थः (ईदृग्भेदाभ्सासे) इस प्रकार के भेद का अभ्यास हो जाने पर (मध्यस्था भवति) जीव मध्यस्थ होता है, (तेन चारित्रं) इसलिये चारित्र होता है (तद्दृढीकरण निमित्तं) उस चारित्र को दृढ़ करने में निमित्तभूत (प्रतिक्रमणादिं) प्रतिक्रमण आदि को(प्रवक्ष्यामि) मैं कहूँगा।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने पंचरतन स्वरूप गाथाओं की टीका करते हुए संकेत दिया कि मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि जीव की विभाव-अवस्था है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। इन सबसे रहित चैतन्य विलास स्वरूप जो आत्मा की शुद्ध अवस्था है, वही वास्तविक अवस्था है। उसी बात को समझा रहे हैं कि मैं शरीरगत, बाल-वृद्धावस्थागत भेद को प्राप्त नहीं हूँ। क्यों? बाल अवस्था, वृद्ध अवस्था ये पर्यायजन्य हैं, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। मैं रागादिक भेदभाव से, कर्म के भेद को भी नहीं करता हूँ। मैं भावकर्मात्मक कषाय चतुष्क को भी नहीं करता हूँ। क्योंकि सहज चिद्विलासात्मक आत्मा का ही सहज प्रकार से चिन्तन करता हूँ। मैं शरीर का चिन्तन नहीं करता हूँ, एकमात्र चैतन्यविलास चिद्रूप का ही चिन्तन करता हूँ। इस प्रकार से पांच रत्नों का उपन्यास वर्णन जो था, ऐसे सम्पूर्ण विभाव पर्यायों का संन्यास के विधान से कथन किया है, यानि उसके त्याग का कथन किया है।

ये जितने शरीरधर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं। अज्ञानी जीव शरीरधर्म को आत्मधर्म मान लेता है, उस शरीरधर्म के पीछे पता नहीं कितनों को अपने से भिन्न देखता है और कितने जीवों को अपने से अभिन्न देखता है। वास्तविकता को नहीं समझ पा रहा है। कितने लोगों को आप समझाते हो, परन्तु जिसे समझाना चाहिये, उसे नहीं समझा पा रहे हो।

भो ज्ञानी! जो तेरा मन दौड़ रहा है चारों ओर, इसको क्यों नहीं समझाता है? अत्यन्त भिन्न को तू समझा रहा है, जिससे तेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है और जिससे प्रयोजन सिद्ध होने वाला है, उसे तू समझाता नहीं है। संसार में दूसरे चाहे आ जायें, चाहे चले

जायें, वे तेरा कल्याण नहीं करेंगे, परन्तु जो तेरा मन का संकल्प-विकल्प दौड़ रहा है, इसको वश में कर लो यदि वास्तव में मुमुक्षु हो तो। अन्यथा भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग की चर्चायें ग्रन्थों में बहुत लिखी हैं और जीव बहुत करता रहता है और करते-करते अनंत पर्यायें व्यतीत हो चुकी हैं, परन्तु पर्याय में कोई परिवर्तन नहीं आया। क्यों नहीं आया? क्योंकि हमने समझाया तो है, समझे नहीं हैं। इस जीव ने समझाया तो है, पर समझा नहीं है। समझा होता, तो आज यहां नहीं होता। भो ज्ञानी! क्रोध, मान, माया आदि जीव का स्वभाव नहीं। अनेक प्रकार के विकल्प रूप जो विभाव पर्यायें हैं, निश्चय से मैं उनका कर्त्ता नहीं हूँ। मैं उनकी अनुमोदना करने वाला भी नहीं हूँ। मैं नरकपर्याय को भी नहीं करता हूँ। मैं तो सहज चैतन्य-विलास आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं तिर्यंचपर्याय को भी नहीं करता हूँ, मैं सहज-चिद्-विलासात्मक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं मनुष्यपर्याय को भी नहीं करता हूँ, सहज-चिद्-विलासात्मक आत्मा का ही चिन्तन करता हूँ। मैं चौदह मार्गणास्थान के भेद को भी नहीं करता हूँ, सहज आत्मा का चिन्तन करता हूँ। मैं मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान के भेद को भी नहीं करता हूँ, मैं सहज आत्मा का चिन्तन करता हूँ। इस प्रकार मैं एकेन्द्री आदि जीवस्थान के भेद को भी नहीं करता हूँ, मात्र सहज चिन्तन करता हूँ।

इस प्रकार से आचार्य महाराज ने सम्पूर्ण विभाव पर्यायों का कथन किया और अन्त में दृष्टि रखी है कि हे योगी! तू पर्यायजन्य धर्म को छोड़ दे। इसका तात्पर्य ये मत लगा लेना कि पर्याय को छोड़ दो। पर्याय है, तभी तो चिन्तन चल रहा है। पर्याय के अभाव में चिन्तन नहीं चल रहा है। परन्तु पर्याय तेरा स्वभाव नहीं है। आगे ये पर्याय प्राप्त न हो, इसलिये आप इस पर्यायजन्य विभावधर्म का भी चिन्तन करें और स्वभावधर्म का भी चिन्तन करें। विभाव का चिन्तन हेयदृष्टि से करें और स्वभाव का चिन्तन उपादेयदृष्टि से करें, क्योंकि हेय का ज्ञान नहीं होगा तो उपादेय का भी ज्ञान नहीं होगा। "बिन जाने तें दोष गुणन को, कैसे तजिये गहिये" (छहढ़ाला)।

जबतक दोष व गुण दोनों का अनुभव नहीं होगा, ज्ञान नहीं होगा, तबतक दोषों को छोड़ नहीं सकेंगे और गुणों को ग्रहण नहीं कर सकेंगे। इसलिये आचार्यमहाराज ने पर्यायजन्य और स्वभावजन्य दोनों धर्मों का कथन किया। भो ज्ञानी! इन पाँच गाथाओं के आधार को समझ करके अंतरंग में जो तेरा वास्तविक स्वरूप है, उस पर दृष्टिपात कर। ये व्यवहारधर्म पर्यायजन्य है, रहेंगे और हुये हैं। उनकी प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करना है। पुरुषार्थ तो आपको उसे छोड़ने का करना है। ये तो आपको बहुत काल से प्राप्त होते रहे हैं। अब पुरुषार्थ ऐसा करना है कि इसकी प्राप्ति न हो, परन्तु जिसे आजतक प्राप्त नहीं किया है, उस अशरीरी भगवान् आत्मा की प्राप्ति हो, ये आचार्यमहाराज का उद्देश्य है। लक्ष्य का ज्ञान हो जाता है, तो उसकी ओर

कदम बढ़ाना जीव प्रारंभ कर देता है। अतः जबतक स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, तब तक जीव को पता ही नहीं है कि स्वरूपदृष्टि भी कोई दृष्टि है।

भो ज्ञानी! इतना ध्यान रखना कि वस्तुव्यवस्था क्रम से है, अक्रम कथन नहीं है। न तो अक्रम कथन है, न अक्रम आत्मा की वृत्ति ही है। ये भी ध्यान रखना कि आत्मा का विकास क्रमिक है, क्योंकि ऐसा नहीं होता है कि तेरहवाँ गुणस्थान पहले हो जाये, फिर बारहवाँ, दसवाँ हो। जो व्यवस्था है, वह व्यवस्था है। यहाँ टीकाकार कलश में समझा रहे हैं :

भव्यः समस्त विषयाग्रहमुक्तचित्तः
स्वद्रव्यपर्ययगुणात्मनि दत्तचित्तः।
मुक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति पञ्चरत्नात्॥ कलश 109॥

यहाँ पाँच रत्नों का सार बता रहे हैं। पहला प्रश्न है कि जो भी जिनेन्द्र की देशना है, वह भव्य जीव के लिये है। अभव्य देशना को सुनता व समझता तो है, परन्तु उसके लिये देशना नहीं है। क्यों? क्योंकि प्रयोजन तो उर्वरा भूमि के लिये है। अभव्य जिनागम को समझ भी लेगा, पढ़ भी लेगा, पर भव्यता प्रकट होगी क्या? पं. दौलतरामजी भी 'छहढाला' में कह रहे हैं

"ताही सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपनो कल्याण"

हे भव्य! तू जिनेन्द्र की वाणी को सुन। कैसे? मन को स्थिर करके। क्यों सुने? यदि अपना कल्याण चाहते हो तो। पर का कल्याण नहीं, अपने कल्याण की दृष्टि रखो। ज्ञानियो! जिनेन्द्र की वाणी को वाणी समझना। किस वस्तु की कीमत कहाँ पर है? जहाँ श्रद्धान है। और जिसे श्रद्धान नहीं है, वहाँ उसकी कोई कीमत नहीं है। उसमें भी संकेत कर दिया है कि भव्य के लिये समझा रहे हैं। जिसने सम्पूर्ण विषय के आग्रहों से चित्त की चिन्ता को छोड़ दिया है, ऐसा भव्य और जिनका जरा-सा भी विषय के प्रति आग्रह होगा, वह विषय को समझते हुए भी विषयी जीव प्रतिक्षण दो धाराओं में झुलसता है। प्रथम धारा उसकी विषय की प्राप्ति है। जबतक प्राप्ति नहीं होती है, तबतक उसे आकांक्षा झुलसाती है। सेवन के बाद फिर पश्चाताप में झुलसता है कि हाय! मैंने यह क्या कर लिया?

आरंभे तापकान् प्राप्तावतृप्ति प्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः॥ इष्टोपदेश 17॥

हे सुधी!ये विषय जब तक प्राप्त नहीं होते हैं, आरंभ में संताप देते हैं। प्राप्त होने पर जब तृप्त नहीं होते हैं, तो कष्ट देते हैं और अंतरंग में कठिनाई से छूटते हैं। हे सुधी! ऐसे

काम की सेवा तू क्यों कर रहा है? "काम क्रोध रहितोऽहं" ये कुछ कठिन है। "शुद्धोऽहम्" ये बहुत सरल है। इसमें तुझे कुछ भी करना नहीं पड़ रहा है। मैं काम-क्रोध से रहित हूँ "ब्रह्म-स्वरूपोऽहम्"। अहो! जब ब्रह्मस्वरूप है, तो अब्रह्म का कोई प्रवेश नहीं है।

भो ज्ञानी! विकारों की पुष्टि पूरी कर ली, शरीर डगमगाने लगा, इन्द्रियों ने काम करना छोड़ दिया, अब तू कहने लगा "ब्रह्मस्वरूपोऽहम्"। जब इंद्रियों के वेग बढ़ रहे थे, अवस्था भी थी, उस समय कहना था। श्रावक के लिये यह वैराग्य उत्पत्ति हेतु है और साधु के लिये स्थिति हेतु है। अभ्यास दशा में वह आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करता है। जो निर्विकल्प चिन्तन कहा जाता है, वो भी सविकल्प ही है। ये भी ध्यान रखना। निर्विकल्प स्वरूप का इसलिये कथन किया है। अभ्यास करें उन सूत्रों का, परन्तु उन सूत्रों का क्रम से ही ध्यान करें। अब्रह्म में जी रहा है जीव और वहाँ कह रहा है "सिद्ध स्वरूपोऽहम्" "विकारभाव-रहितोऽहम्"।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, शब्दशक्ति अनुपम होती है। बेटा जब आता है, 'पिताजी' बोलकर चिल्लाता है, तब आपके अन्दर कुछ संचार होता है। शिष्य प्रेम से पुकारता है गुरुदेव, तो 'गुरुदेव' के अन्दर एक अलग-सी धारा बहती है। आवाज का प्रभाव तिर्यंचों में भी होता है। बछड़ा अपनी माँ की आवाज को सुनकर पुलक उठता है। जो जीव शान्त बैठा हो, कोई उसके सामने अश्लील शब्दों का उपयोग करने लग जाये, तो उसके शरीर में विकार प्रारम्भ हो जाता हैं। ये शब्दशक्ति की बात है। अशुभ वचनों से विकार होने लगता है, जबकि वचन बोलने वाला भिन्न था। व्यक्ति को छोड़ दो, आप कोई ऐसी केसिट लगा करके बैठ जाओ, वो भी आपके परिणामों को विचलित कर देती है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य पर कितना प्रभाव छोड़ रहा है?

"शुद्ध-बुद्ध चैतन्य-स्वरूपोऽहम्, भिन्नत्व-स्वरूपोऽहम्"। शुद्ध-बुद्ध शब्द कुछ सहज है और भिन्न शब्द कठिन है। मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ, यह कुछ कठिन है। ध्यानसूत्र माला फेरने के विषय नहीं है। ध्यानसूत्र तो ध्यान में रखने के ही विषय हैं।

अहो ज्ञानी! करणानुयोग तो समझने का विषय है। उससे परिणामों को तोलो।द्रव्यानुयोग आपको जीने का विषय दे रहा है कि ऐसे जियो। सुमेरु तो सुमेरु है, आप उसे राई कहो तो कहते रहो, लेकिन सुमेरु तो सुमेरु है। ऐसे ही आत्मा का जो वस्तुधर्म है, वो तो वास्तव में ब्रह्मस्वरूप है। ये तभी लगाना, जबकि विकार सामने खड़े हों। जब क्रोध आ रहा हो, तब कहना—"क्रोधभाव-रहितोऽहम्"। जहाँ चार जीवों का सम्मान चल रहा हो, वहाँ धोखे से आपका नाम छूट जाये, तब कहना "मान-भाव-रहितोऽहम्"।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि इन पाँच गाथाओं को पढ़ने मात्र से मोक्ष नहीं होगा। इन गाथाओं में जो विषय प्रतिपादित है, उस विषय के अनुरूप परिणति करने पर शीघ्र ही जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 82वीं गाथा में कह रहे हैं कि इस प्रकार से जो जीव भेदविज्ञान का अभ्यास कर लेता है, वह मध्यस्थ हो जाता है अर्थात् राग-द्वेष से रहित हो जाता है। न किसी को अच्छा न किसी को बुरा। वह विचार करता है "जो है, सो है", तब उसका आचरण पवित्र होता है। वह चारित्र को प्राप्त कर लेता है। चारित्र प्राप्त होने के बाद उसमें दृढ़ता बनी रहे, निरन्तरता बनी रहे, उसके निमित्तभूत जो प्रतिक्रमण आदि आवश्यक हैं, आचार्यभगवान् उसके विषय में कथन कर रहे हैं। भेदविज्ञान से ही क्रम से निश्चय चारित्र होता है।

भो ज्ञानी! जिनवाणी में कहा गया है कि जैसा श्रद्धान है, जिस गुणस्थानजन्य है, उस गुणस्थान-जन्य तो आचरण नियम से होगा। ध्यान रखना, आचरण और गुणस्थान का एक मेल-मिलाप है। चतुर्थ गुणस्थान होगा, तो नियम से सम्यक्त्वाचरण होगा और पंचम गुणस्थान होगा तो संयमासंयम चारित्र नियम से होगा। छठवाँ गुणस्थान होने पर संयमाचरण नियम से होगा और सप्तमगुणस्थान होगा, तो स्वरूपाचरण नियम से होगा, क्योंकि आचरणप्रधान गुणस्थान है। द्रव्यानुयोग की भाषा में देशव्रती और अविरत सम्यग्दृष्टि भी चिन्तन करेगा कि भगवन्! तेरे जैसी स्वरूप की सिद्धि मुझे कब होगी? क्योंकि जब तक स्वरूप की सिद्धि दृष्टि में नहीं आयेगी, तब तक चौथा, पाँचवाँ, छटवाँ गुणस्थान भी नहीं है। क्योंकि संयम तो स्वरूप की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है।

भो ज्ञानी! प्रत्येक जीव का लक्ष्य मोक्ष है। उस मोक्ष प्राप्ति तक जितना तुम चिन्तन कर सको, कर लो। मोक्षप्राप्ति तक चाहे आप ध्यानसूत्र का चिन्तन करो, चाहे आप समयसार का चिन्तवन करो, चाहे करणानुयोग की कर्म-प्रकृतियों का चिन्तन करो। वो तो आपका मन न भटके, विषयों में न जाये, इसलिये विषय दिया है। ये मत मान लेना कि द्रव्यानुयोग के चिन्तन से ही मोक्ष होगा। ये कभी मत मान लेना कि प्रथमानुयोग के चिन्तन से या करणानुयोग अथवा चरणानुयोग के चिन्तन से मोक्ष होगा। ये तो चिंतन आपको इसलिये दिये हैं कि हमारा चित्त चलायमान न हो।

भो मनीषियो! आगम में दस प्रकार के सम्यक्त्वों का कथन है। दस प्रकार के सम्यक्त्वों में प्रथमानुयोग के चिन्तन से भी सम्यक्त्व होता है। द्रव्यानुयोग के भी चिन्तन से सम्यक्त्व होता है। चरणानुयोग, करणानुयोग के चिन्तवन करने से भी सम्यक्त्व होता है और निज आत्मा

के चिन्तन करने से भी सम्यक्त्व होता है। स्वरूप तेरा ऐसा ही है, परन्तु वर्तमान का स्वरूप ऐसा नहीं है। इसको समझकर वर्तमान के रूप में परिवर्तन लाओ। रूप से तात्पर्य परिणति से है। स्वरूप की प्राप्ति स्वरूप के रटने से नहीं होगी। भैया! आपको वस्तुव्यवस्था बता दी है, अब आपको इसके अनुसार प्रवृत्ति करनी पड़ेगी। गुणस्थानक्रम से आस्रव सामने आयेगा, चारित्र सामने आयेगा, नियम से आयेगा। ध्यान रखना, परिणामों में निर्मलता है तो आप किसी के गाल पर चाटा नहीं मार सकते, आपके परिणाम विशुद्ध होंगे, तो आपका हाथ नहीं उठ सकता। हाथ उठ रहा है और आप कहो कि मेरे परिणामों में नहीं था, तो ज्ञानी! ये छल की बातें हैं।

सहज-प्रवृत्ति के दुरुपयोग का ही परिणाम है कि सबकुछ कर दो, वो तो सहज है। भो ज्ञानी! सहजस्वरूप जो है, वो दूसरों को सताना नहीं है। सहजस्वरूप निज का निज में रमण है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अपने हिसाब से ही समझे। चिन्तन जो है, वो निर्ग्रन्थस्वरूप के प्रति श्रद्धान बनाने का विषय था और सग्रन्थ ने निर्ग्रन्थस्वरूप मान लिया। भो ज्ञानी! गुणस्थान तेरा चौथा ही रहेगा। उससे तुम निर्ग्रन्थ गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर पाओगे। अरहन्तों का स्वरूप कह करके अरहंतस्वरूप का चिन्तन किया गया है, न कि तू अरहन्त बन गया है। रूपस्थ आदि ध्यान में अरिहन्त का ध्यान होता है कि मैं ही अरिहन्त हूँ, फिर भी तू अरिहन्त नहीं है, क्योंकि जो वस्तु होती है, उसका चिन्तन नहीं होता है। जो जैसा नहीं होता है, उसकी प्राप्ति के लिये चिन्तन होता है। जो जैसा होता है उसका चिन्तन नहीं होता है, उसमें रमण होता है।

भो ज्ञानी! क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव जब भी उपदेश देगा, वो यही कहेगा कि इनको स्वच्छ निर्मल जल पिलाओ। ये कभी नहीं कहेगा कि अनछना पानी पिलाओ। अभक्ष्य का सेवन करने का उपदेश कभी नहीं देगा। कुछ लोगों की आदत होती है कि स्वयं का रात्रिभोजन का त्याग है तो बच्चों को भेज दो। जब अपना त्याग है, तो बच्चा किसका है? अहो! जिसका चरणानुयोग ही असफल है उसका करणानुयोग नियम से असफल होगा। बिना अंतरंग परिणामों के न तुम संयम पाल रहे हो, न किसी जीव पर दया कर पा रहे हो।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि पूर्व में जो पंचरत्न रूप गाथायें कही गई थी, उनके मनन-चिन्तन से जीव और कर्मों का भेद मालूम होता है। जीव तो जीव है और कर्म अजीव हैं, पुद्गल हैं। इस भेदविज्ञान का निरन्तर अभ्यास करने से महामुनि संपूर्ण प्रकार के विकल्पों से रहित होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में ही रत्नत्रय की एकाग्रता रूप, अभेदरूपता के कारण निश्चय चारित्र होता है।

भो ज्ञानी! भेदविज्ञान की प्रशंसा करते हुए आचार्यभगवन् अमृतचन्द्रसूरि 'समयसार' कलश में कह रहे हैं

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन॥ स. सा. कलश 131॥

आज तक जितने सिद्ध हुये हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं। जितने संसार में नजर आ रहे हैं, जो भी कर्मों से आबद्ध हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही हैं। इसी बात को पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से कह रहे हैं

इति सति मुनिनाथस्योच्चकैर्भेदभावे,
स्वयमयमुपयोगाद्राजते मुक्तमोहः।
शमजलनिधिपूरक्षालितांहः कलङ्कः
स खलु समयसारस्यास्य भेदः क एषः॥ कलश 110॥

भेदविज्ञान की महिमा पर आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं और कह रहे हैं, जो मुनिनाथ इस प्रकार के उत्कृष्ट भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं, वे भेदविज्ञान के उपयोग से स्वयं ही मोह रहित हो जाते हैं। भेदविज्ञान का उद्देश्य ही मोह-रहितता को प्राप्त करना है। जीव के संसार में भटकने का कारण मोह है। भो ज्ञानी! यदि किसी प्रकार का दाग लग जाये तो जल से प्रक्षालित करने पर, धोने पर साफ हो जाता है, धुल जाता है। उसी प्रकार समता रूपी जल से अनादिकाल से लगा हुआ मोह-रूपी कलंक धुल जाता है। जीव भेदविज्ञान से मोहरहित दशा को प्राप्त कर लेता है। जब योगी भेदविज्ञान के द्वारा आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करता है, तब उनके उपयोग में मोह-भाव नहीं रहता है। भो ज्ञानी! गजकुमार मुनिराज के सिर पर सिगड़ी रखी जा रही है और वे विचार कर रहे हैं कि जो जलाया जा रहा है, वह मैं नहीं हूँ। जिसको जलाया जा रहा है, उसको एक दिन जलना ही था। ये तो अच्छा है कि मैं स्वयं देख पा रहा हूँ। ऐसे ही भेदविज्ञान से युक्त मुनि उपसर्ग/परीषहों को सहन कर निर्वाण दशा को प्राप्त कर पाने में समर्थ होते हैं। यह भेदविज्ञान समयसार का चमत्कारी भेद है। इसके बिना सिद्धि की प्राप्ति संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! यद्यपि मोहनीय कर्म का बंध और उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है और सत्व ग्यारहवें गुणस्थान तक। फिर भी उपयोग में मोह नहीं करने के कारण, भेदज्ञान रूपी कषायों की उपशमता के कारण कार्यकारी नहीं हो पाता है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : निश्चय प्रतिक्रमण तथा निश्चयचारित्र स्वरूप परम-अपेक्षा-संयमधारी मुनिराज के निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप होता है।

गाथा : **मोत्तूणवयणरयणं, रागदी भाववारणं किच्चा।**
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं॥ 83॥
आराहणाइ वट्टइ, मोत्तूण विराहण विसेसेण।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिक्कमणमओ हवे जम्हा॥ 84॥
मोत्तूण अणायारं, आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ 85॥

संस्कृत छाया : **मुक्त्वा वचनरचनां रागादिभाववारणं कृत्वा।**
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु भवतीति प्रतिक्रमणम्॥ 83॥
आराधनायां वर्तते मुक्त्वा विराधनं विशेषेण।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्॥ 84॥
मुक्त्वानाचारमाचारे यस्तु करोति स्थिरभावम्।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्॥ 85॥

अन्वयार्थः (वचनरचनां मुक्त्वा) वचनरचना रूप प्रतिक्रमण को छोड़कर (रागादिभाववारणं कृत्वा) रागादिभावों का निवारण करके (यः) जो साधु (आत्मानं ध्यायति) आत्मा को ध्याता है (तस्य तु) उसके (प्रतिक्रमणं भवति इति) प्रतिक्रमण होता है।

(विशेषेण) विशेषरूप से (विराधनं मुक्त्वा) विराधना को छोड़कर (आराधनायां वर्तते) जो आराधना में वर्तन करता है (सः प्रतिक्रमणं) वह जीव प्रतिक्रमण कहलाता है (यस्मात्) क्योंकि वह (प्रतिक्रमणमयं भवेत्) प्रतिक्रमणमय हो जाता है।

(यः तु अनाचारं मुक्त्वा) जो साधु अनाचार को छोड़कर (आचारे स्थिरभावं करोति) आचार में स्थिरभाव को करता है (सः) वह साधु (प्रतिक्रमणं उच्यते) प्रतिक्रमण कहलाता है (यस्मात्) क्योंकि वह (प्रतिक्रमणमयो भवति) प्रतिक्रमणमय होता है।

नियमदेशना

मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी आराधना की और प्रतिक्रमण की चर्चा कर रहे हैं। कर्मबन्ध जहाँ है, वहाँ अपराध है। उस अपराध के प्रति जो शोधनपूर्वक भावना है, उसका नाम प्रतिक्रमण है। जहाँ कर्म का निर्बन्धन है, वहाँ आराधना है, प्रतिक्रमण है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि निरपराध उसे ही कहा जायेगा, जो शुद्धात्मा का सेवी है। जो शुद्धात्मभाव से परे हैं, वे सब अपराधी हैं।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि साधु शब्दरूप प्रतिक्रमण प्रतिदिन पढ़ता है, जिससे कि जो अतिक्रमण हुआ है उसका निस्तार हो अर्थात् संपूर्ण पापों के क्षय करने में कारणभूत हो। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र में उत्ताल-तरंगें उठती हैं, वैसे ही जो परम तपोभूत योगी है, उनके अंदर वैराग्य की लहरें उठती हैं। उनका ध्यान प्रतिक्रमणसूत्रों के उच्चारण की ओर नहीं रहता है। वे संसार के मूलभूत-कारण जो राग, द्वेष, मोहादि भाव हैं, उनका निवारण करके निज आत्मस्वरूप में रमण करते हैं और निजानंद, स्वानन्द का अनुभव करते हैं। ऐसे योगी के निश्चितरूप से वचन के विषयभूत-व्यापारों से रहित निश्चय-प्रतिक्रमण होता है।

भो ज्ञानी! साधु को नियमित रूप से दैवसिक, रात्रिक और ईर्यापथिक ये तीन प्रतिक्रमण करने होते हैं। पन्द्रह दिन में पाक्षिक, चार महीनों में चातुर्मासिक तथा साल में आषाढ़ सुदी पूर्णिमा को संवत्सरिक प्रतिक्रमण करना पड़ता है। प्रमाद के कारण जो दोष हो जाते हैं, उनकी शुद्धि के लिये साधु प्रतिक्रमण करते हैं।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव भी अपनी टीका में इसका संकेत कर रहे हैं–

अतितीव्रमोह संभव पूर्वार्जितं तत्प्रतिकम्य।
आत्मनि सद्बोधात्मनि नित्यं वर्तेऽहमात्मना तस्मिन॥111 कलश॥

अतितीव्र मोह के कारण जो पूर्व में कर्म उपार्जित किये थे, उनका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। भो ज्ञानी! मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले जो मोह, राग-द्वेष आदि परिणाम हैं, इन परिणामों के कारण प्रतिक्षण अभिनव कर्म आते रहते हैं, इन अभिनव कर्मों को प्रतिक्रमण के द्वारा दूर करके मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही निवास करता हूँ। यही निश्चय प्रतिक्रमण है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने भी आत्मा की आराधना में लगे हुए जीव को ही प्रतिक्रमण-स्वरूप कहा है। जो जीव निरन्तर अपनी आत्मा में वर्तन करते हैं, वे निरपराधी हैं। भो ज्ञानी! जो आत्मा की आराधना से रहित हैं, वे सापराधी हैं। इसी बात को टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से कह रहे हैं

अपगत-परमात्मध्यान-संभावनात्मा
नियतमिह भवार्तः सापराधः स्मृतः सः।
अनवरतमखण्डाद्वैत-चिद्भावयुक्तो
भवति निरपराधः कर्मसंन्यासदक्षः॥ कलश 112॥

जिस जीव ने परमात्मा के ध्यान की संभावना को छोड़ दिया है, जो परमात्मा के ध्यान की सम्यक्भावना से रहित है, नियति है कि वह संसार में नियम से भव से पीड़ित होता है, वह सापराधी है। जो जीव हमेशा अद्वैत चैतन्यभाव से युक्त हैं, वे कर्म के त्याग में कुशल होने के कारण निरपराधी हैं। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अभी तो अपने घर से संन्यास लिया है, कर्म से संन्यास कहाँ हुआ है? कर्म से संन्यास यदि किसी का है, तो भो ज्ञानी! सिद्ध भगवान्-आत्मा ही कर्म-संन्यासी हैं। आप तो गृह के संन्यासी हो, जन-परिजन के संन्यासी हो, परन्तु सिद्ध भगवान कर्म से ही संन्यासी हैं। वह जीव निरपराध है, जिसने कर्म का संन्यास अर्थात् क्षय कर लिया है। जबतक कर्मबन्ध है, तबतक जीव अपराधी है।

आचार्यमहाराज पुनः कह रहे हैं कि जिस जीव ने अनाचार को छोड़ दिया है और स्थिरभाव हो करके आचरण को कर रहा है, वह साधु प्रतिक्रमण कहलाता है। वो ही प्रतिक्रमणरूप है, प्रतिक्रमणमय है। यह निश्चय प्रतिक्रमण की बात कह रहे हैं। जबतक अनाचारभाव है, तब तक अप्रतिक्रमण भाव है। अब हम चिन्तवन करें कि कहाँ-कहाँ हमारा अतिचार होता है। जिनवाणी कहती है कि पानी छान कर पीयें। भो ज्ञानी! उसमें भी आपका अनाचार चल रहा है। छन्ना तो लगा दिया, पर बिलछानी कब की? क्या आपने जीवों को अपने स्थान तक भेजा है? भो ज्ञानी! जहाँ दया ही नहीं है, करुणा ही नहीं है, वहाँ शुद्धदशा कैसे बनेगी? अंतरंग में करुणाभाव है, तो आपकी चर्या भी दया से युक्त होगी। अनुकम्पा अंतरंग का विषय है, दया चर्या का विषय है। अनुकम्पा होती है तो जीव दया करता है।

भो ज्ञानी! षट्-आवश्यक कर्त्तव्य चल रहे हैं, रोज पूजा कर रहे हो, रोज दान कर रहे हो, स्वाध्याय कर रहे हो, घर से कहकर आये हो कि मंदिर में बैठूँगा और आपने रास्ते में किसी से चर्चा में पंद्रह मिनट लगा दिये, तो आपने मायाचारी नहीं की क्या? बताइये, मंदिर में कितनी देर रहे आप? अहो! जीव पर तो दया की, पर स्वयं पर दया नहीं कर रहे। हम स्वयं पर दया करा रहे हैं और स्वयं पर दया उसी की है, जो जीव पर दया कर रहा है।

जिनवाणी कहती है कि मुमुक्षुजीव जीव पर दया कर रहा है; जीव पर दया करने के लिये नहीं, निज पर दया करने के लिये कर रहा है। चींटी की रक्षा आपने की है, पर चींटी की रक्षा के लिये नहीं की। चींटी की रक्षा आप करो या न करो, आप अपनी रक्षा करने लगो तो चींटी की रक्षा होना प्रारंभ हो जायेगी। यदि चींटी पर पैर रखेगा, तो चींटी का घात होगा और कर्म का बन्ध उसे होगा, जिसने घात किया है। कर्मबन्ध से बचना चाहते हो तो चींटी की रक्षा आपको करना ही होगी।

अहो ज्ञानी! समयसार आत्मा की शुद्ध अवस्था का कथन कर रहा है और चरणानुयोग आत्मा की प्राप्ति का कथन कर रहा है। शुद्ध-आत्मा की प्राप्ति तभी होगी, जब आप अशुद्ध

भावों से दूर हों। आप अशुद्धभावों से दूर नहीं होंगे, तो शद्ध भावों की प्राप्ति कभी नहीं होगी। इसलिये अपने अंतरंग से कहने लग जाना कि मैं वास्तव में अनाचारी हूँ। सदाचारी बनने का प्रयास करना। कोई व्यक्ति नौकरी में है, उसने थोड़ा भी समय इधर-उधर किया, तो अनाचार हुआ। आपने एक घंटे की सामायिक में बैठने का नियम लिया और दो मिनट दूसरे चिन्तन में लगा दिये, तो अतिचार हुआ, सामायिक कहाँ हुई? आपने बैठने का नाम सामायिक कहा है। रविवार का दिन था, बोले-महाराजजी! आज सामायिक का दिन है। मैंने कहा-अच्छा, करो सामायिक! मालूम चला कि वहाँ समाचार पत्र आदि रखे थे और सब पढ़ रहे हैं। मैंने उनसे पूछा, भैया! क्या हो रहा है? बोले-आज सामायिक का दिन है, सामायिक कर रहे हैं। भवन में जाकर बैठ गये, यहाँ से कहीं नहीं जायेंगे। इसका नाम सामायिक नहीं है। सामायिक में कथा नहीं पढ़ी जाती है। सामायिक में स्वयं की व्यथा का चिन्तवन किया जाता है।

भो ज्ञानी! मन नहीं लग रहा है तो उन्होंने दूसरे काम करना प्रारंभ कर दिये, लेकिन जिनवाणी कहती है कि ये अनाचार है। अहो! ये सामान्य संयमी की बात नहीं कर रहे हैं, ये परम उपेक्षा संयमी की चर्चा है। भो ज्ञानी! जिनके शरीर पर सांप रेंग रहे हैं, पर खड़े हुये हैं और जब तक वो सांप चला नहीं जायेगा, तब तक गमन भी नहीं करेंगे। पैर में काँटा चुभ गया, तो निकाल भी नहीं रहे और निकलवा भी नहीं रहे। सहजता में कोई निकाल गया तो ठीक। ऐसे उत्तम-संहनन से युक्त उत्तम संयमी/परम उपेक्षा संयमी, इन्हें जिनकल्पी मुनि कहते हैं। पंचमकाल में यह संयम संभव नहीं। वर्तमान में उपेक्षा संयम नहीं होता है। जब तक वर्तमान का राग नहीं हटेगा, तब तक उपेक्षासंयम तो दूर, सामायिक संयम का भी जन्म नहीं होगा। निश्चय प्रतिक्रमण कहो अथवा परम उपेक्षा संयम कहो, एक ही बात है।

भो ज्ञानी! कल्पना करना कि किसी ने वार कर दिया तलवार का, वे अंतरंग में झांक कर देख रहे हैं। बाहर में वेदना तो है, पर वेदन नहीं है। क्योंकि जो निज के वेदन में लगा हुआ है, उसे बाहर की वेदना नहीं है। एकसाथ दो वेदन कैसे होंगे? वसूले से छिल गया शरीर, पर क्या सोच रहे थे? रोष करेंगे तो शरीर क्या साबुत हो जायगा? नहीं होगा। प्रतिकार करेंगे, तो मुनिराज नहीं बचेंगे। शरीर तो क्षीण हो ही रहा है, तो मैं अपनी साधना को क्षीण क्यों करूँ? शरीर तो छिल ही चुका है, अब तो प्राण बचने वाले नहीं हैं, तो रोष करके अपनी साधना को क्यों नष्ट करूँ? ऐसा धैर्य धारण करके वो मुनिराज खड़े थे। यह था निश्चय प्रतिक्रमण। ज्ञान भी हो रहा है, उपयोग में गया है क्योंकि जड़ है मेरा शरीर, उसे छीला जा रहा है। वह जान भी रहे हैं कि ये मेरा स्वभाव नहीं है। जिसे छील रहा है, वो मेरा धर्म नहीं है-ये दृष्टि जा रही है। परम समता का स्रोत फूट रहा है। देखो, भैया! एक ही स्थान पर समता और एक ही स्थान पर विषमता। उसने मुझे वसूले से छील दिया, मैंने क्या दोष किया

था? ऐसा चिन्तवन आया तो नियम से विषमता आ जायेगी। जब आप अपने-आपको निर्दोष सिद्ध करना चाहेंगे, वहीं कषाय प्रारंभ हो जायेगी और जहाँ अपने को दोषी स्वीकार कर लेंगे, वहीं से समता प्रारंभ हो जायेगी।

भो ज्ञानी! किसी से सहयोग लेने की भावना उत्पन्न होगी तो आप परावलम्बी भी हो गये। फिर आप प्रपंच रचोगे, तो आप साधु-स्वभाव से भी च्युत हो गये। लेकिन होगा कुछ नहीं। यदि प्रताड़ित करने वाले का परम पुण्य का योग है, तो आपको सहयोग भी कहीं नहीं मिलेगा। इसलिये इसका दोष नहीं और मारने वाला तो अज्ञानी था, कसाई था, पर हम तो साधु हैं। इसका कोई दोष नहीं है, ये तो इसकी कषाय का दोष है, अतः मुझे अपनी साधना में रहना चाहिये। ऐसी भावना आयेगी, तो समता रहेगी। भाई! प्रश्न है कि तुम कर भी क्या सकते हो? जब वसूले से छीला जा रहा था, तो वसूला छुड़ा लेते। यदि तीव्र कर्म का उदय है, तो छुड़ाते समय वसूला गिर भी सकता था। परिणाम यह निकलता कि उपसर्गजयी नहीं कहलाते, युद्धजयी कहलाते। युद्ध में तुम जीत गये, तो साधु नहीं, योद्धा थे।

साधक समताशील है, साधक शत्रुताशील नहीं है। मित्र से मित्रता करना बहुत सरल है, परन्तु शत्रु को मित्र स्वीकार कर लेना, ये वाणी में नहीं, भावों में है। देखो, जितने लोगों ने जिन पर उपसर्ग किये हैं, उन्हीं के चरणों में बैठकर सम्यक्त्व प्राप्त किया है। चाहे कमठ हो, चाहे कपिल ब्राह्मण हो, चाहे अन्य हो। चाहे वो सियारनी हो। बाद में उन्हीं मुनिराज के चरणों में समता से युक्त रहे, तो स्वयं के संयम में वृद्धि हुई और दूसरे को सम्यक्त्व की उत्पत्ति हुई, क्योंकि उनकी समता को देख करके सामने वाले को पश्चाताप का आँसू टपक गया। आपको कोई गाली देता रहे तब आप शान्त बैठ जाओ। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, अकेले में आयेगा और क्षमा मांग जायेगा। वो आपके सामने आये या न आये, परन्तु अंतरंग में क्षमा आ जायेगी।

भो ज्ञानी! 'नियमसार' में जो साधुस्वरूप की चर्चा की जा रही है, वो वास्तव में बहुत विशाल है। जब कोई साधक नगर में पधारे, तो उनके आशीर्वाद और ज्ञान के तो पिपासु रहना, लेकिन उनके द्वारा किसी निर्देशन के पिपासु मत रहना, क्योंकि आप उनको अपना निर्देशक बना लोगे तो अपना निर्देशन भूल जाओगे। क्योंकि आपको प्रलोभन देने का बहुत अच्छा ज्ञान है, महाराज श्री! ऐसा नहीं, ऐसा हो जाये। भो ज्ञानी! वो यदि इस कार्य में संलग्न हो गये, तो जिसका निर्देशन करने इस वेष को स्वीकार किया था, वो निर्देशन उनका समाप्त हो जायेगा। इसलिये आप कहना कि आप मुझे वो भाव बताओ जिस भाव ने आपको निर्वस्त्र कर दिया।

करगुवाँ में एक श्वेताम्बर साधु आये। उनका चातुर्मास झांसी में हुआ था। स्वाध्याय चलता तो वे भी आ जाते। एक दिन पूछने लगे-महाराजश्री! एक बात मैं पूछना चाहता हूँ, आप

ठंड-गर्मी सहन कर लेते हो, यह तो हम समझ रहे हैं, पर जब मच्छर काटते होंगे, आप नींद कैसे लेते होंगे? मैं जब सामायिक करता हूँ, तो चादर ओढ़ कर बैठता हूँ, पर आप लोग तो ऐसे ही बैठे रहते हो। भो ज्ञानी! ये भेदविज्ञान वाणी का विषय नहीं है, बुद्धि का विषय है। वो भले ही श्वेताम्बर साधु थे, पर दिगम्बरत्व के प्रति श्रद्धा थी अंतरंग में। सोनागिरि में पंडित ज्ञानचंदजी एक महीना रुके और कहा कि बहुत अच्छा लगा। मैंने उनसे कहा-इतना अच्छा लगा है और इतना अच्छा मानते हो, तो स्वीकार क्यों नहीं कर लेते हो? ध्यान देना, अच्छा लग रहा है, अच्छा मान रहा है, पर स्वीकार क्यों नहीं कर पा रहा है? क्योंकि पक्ष की गाँठ बहुत प्रबल है, जो सत्य को समझते हुये भी सत्य पर चलने नहीं देता है। इसलिये माँ जिनवाणी कह रही है कि मोक्षमार्ग पक्ष से अतिक्रान्त (रहित) होता है, समयसार पक्षपात से अतिक्रान्त है और जिसके अन्तरंग में अल्प भी पक्षपात होगा वो एक दूसरे से मिल भी नहीं पायेगा। बोले कि हमारा मंदिर, हमारी धर्मशाला, हमारा भवन, तुम कहीं नहीं बैठ सकते हो। हमारा कुछ नहीं है, यदि ऐसा बनकर जियोगे, तो तुम्हें कहीं तनाव नहीं है।

भो ज्ञानी! धर्म पक्षपात से रहित है। पक्षपात मनुष्य के द्वारा खड़ा किया गया है, भगवान् के द्वारा नहीं। आपको धर्म में जितने पक्ष मिलेंगे, ये व्यक्तिगत ही हैं। धर्म अखण्ड है। वस्त्र उतारकर देखो, प्रकृति है। प्रकृति स्वभाव से ही होती है, जबकि विकृति को उत्पन्न किया जाता है। विकृति को हटा दो तो प्रकृति स्वतः प्राप्त है। उपेक्षा-संयम यही कह रहा है। परम उपेक्षा संयम यानि स्वभाव में लीनता ही आचार है और जब भी पर में दृष्टि चली गई तो अनाचार है। भो ज्ञानी! समयसार का ब्रह्मचारी कौन होगा? जितने परद्रव्य हैं, उन पर दृष्टि जाना व्यभिचार और निज-आत्मा में लीन होना ब्रह्मचर्य है। इसी प्रकार निज आत्मलीनता ही आचार है और पर पदार्थ में चले जाना अनाचार है।

भो ज्ञानी! पंचमकाल में एकल-विहार को स्वीकार नहीं किया है। जिनागम कहता है कि जितने भी हों, एक से अधिक हों। मेरा शत्रु भी क्यों न हो, परन्तु एकल-विहार न करे। ऐसा वट्टकेर स्वामी ने 'मूलाचार' जी में लिखा है। एक मुनि एक आर्यिका हैं, तो भी एकल-विहार। एक मुनिराज एवं एक अथवा हजार क्षुल्लक हों, तो भी एकल-विहार। जिनागम में समलिंग को ही एकल-विहार का अभाव कहा है। समलिंग यानि मुनि-मुनि ही होना चाहिये। क्योंकि छुल्लक, ऐलक जी उत्कृष्ठ श्रावक हैं। ठीक है, आप गुरु-आज्ञा में चल रहे हो, पर हमें वर्तमान दशा नहीं देखना है। ये आगम की गद्दी पर आगम को ही देखना है। आगम कह रहा है कि समलिंगी यानि मुनि-मुनि। श्रावक और गृहस्थ, इनका तो नाम ही नहीं है। यानि जिनवाणी ये कहती है कि यदि उत्कृष्ट श्रावक के साथ भी हैं, तो वो तो श्रावक ही है। आप उसको डाँट-फटकार कर बैठा दोगे, वो प्रार्थना ही तो कर सकता है

और मुनिराज होंगे, तो वो कहेंगे महाराज! ऐसा नहीं, ऐसा करो, तो आपके संयम की रक्षा है। अत: एकलविहारी का अर्थ ये मत मान लेना कि ये ऐलक जी हैं, ये क्षुल्लक जी हैं, तो एकल विहार टल गया। ठीक है, कोई नहीं है तो कम-से-कम पिच्छिधारी तो साथ है, ये वर्तमान की व्यवस्था है। लेकिन आगम की व्यवस्था यही है कि मुनि-मुनि ही होना चाहिये।

भो ज्ञानी! ग्रन्थों का लेखन काल को लेकर नहीं किया जाता है। ग्रन्थों का लेखन सामान्य कथन है। आगम में जो उद्दिष्ट त्याग का कथन किया है, उसको आप लोग उल्टे अर्थ में लगाते हो। आगम का कथन स्पष्ट है। ये नहीं है कि हमने घर में चौका लगाया है तो महाराज के उद्देश्य से लगाया है। 'मूलाचार' ये कहता है कि श्रावक को ये मालूम होना ही नहीं चाहिये कि मेरे घर में किन मुनिराज का आहार होगा और मुनिराज को ये मालूम नहीं होना चाहिये कि आज मेरे आहार किसके यहाँ होंगे। यदि हम अकेले विहार करेंगे, तो किसी भी अवस्था में उद्दिष्ट त्याग व्रत का पालन नहीं होगा। कई बार क्या होता है कि साधक भी साधक की वैयावृत्ति कर देता है, उसको संभाल लेता है और कहीं अकेले हैं और परिणाम उथल-पुथल हो गये, तो हमें श्रावक का सहारा लेना पड़ेगा। आवश्यक नहीं है कि श्रावक स्थितिकरण, उपगूहन से युक्त हो। बाद में चर्चा करेंगे कि भैया! महाराज तो ऐसा कह रहे थे। उनके सिर में दर्द हो रहा था, सो वे अपने मुख से कहने लगे कि सिर दबा दो। इससे अरिहन्त भेष की अवहेलना होती है। वह जीव जिनशासन, गुरु और धर्म की अवहेलना का हेतु बन जाता है। इसलिये आगम में एकल विहार का निषेध किया है।

भो ज्ञानी! आगम में एकल-विहारी की प्रशंसा भी बहुत की है। 'छहढ़ाला' में एक पंक्ति दौलतराम जी ने लिखी भी है :

तप तपै द्वादश, धरैं वृष दश, रत्नत्रय सेवैं सदा।
मुनि साथ में वा एक विचरैं, चहैं नहिं भव-सुख कदा।।

एकल-विहारी आगमबली हो, श्रुतबली हो और उत्तम संहनन से युक्त हो, चिर दीक्षित हो, ऐसे तपोबली मुनिराज एकल-विहार कर सकते हैं। परन्तु वर्तमान में संहनन-बली नहीं हैं।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि वे तपोधन एकाकी बैठे हुये हैं, कोई प्रयोजन नहीं है। उनके शरीर से मृग खुजली खुजा रहा है, वे पाषाणवत् ध्यान में लवलीन हैं। कोई विकल्प नहीं, कोई चिन्ता नहीं। ऐसे योगी उत्तम प्रतिक्रमण-स्वरूप हैं।

अथ निजपरमानन्दैक-पीयूषसान्द्रं,
स्फुरितसहज-बोधात्मानमात्मानमात्मा।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानंद-भक्त्या,
स्नपयतु बहुभिः किं लौकिककालापजालैः॥ कलश 113॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि निज परम आनंद अमृत से गीले हुये हैं, भीगे हुये हैं, जो स्फुरायमान सहजबोध स्वरूप आत्मा को आत्मा के अपने परिणामों के द्वारा सद्भाव से युक्त हैं। निज समभाव निज परिणाम से उद्गम मय निज परिणामों के उपशमरूपी नीर से गीले हैं, परिणामों में जो कषाय की मंदता है, उपशमता है, वही एक प्रकार का निर्मल जल है। उस जल से प्रक्षालन करने से आत्मा निर्मल हो जाती है। आप अपने निजानन्द-घट में उत्पन्न हुए नीर से ही अपने-आपका प्रक्षालन करो, यही प्रतिक्रमण है।

भो ज्ञानी! इसलिये ध्यान रखना, जब भी भाव विचलित हों, तब विचारना कि दोष मेरा ही है। भो योगी! तीन बातें आज सीख कर जाना। एक तो आप माँ बन जाओ। दूसरा दोष मेरा है। माँ बन जाओ से तात्पर्य जो राग माँ को बेटे के प्रति होता है, वो किसी को नहीं होता है। प्रत्येक जीव को आप पुत्रवत् देखो। अपने ही अंतरंग में मातृभाव को जन्म दो। निज-दोषों को दोष मानो और ये समझना कि हमारे जीवन में बहुत-कुछ था संत नहीं बन पाये हम, पर संत-स्वभाव आ गया है। तीसरी बात, दूसरे की सुनने की शक्ति लाओ। दूसरे की सुनना सीखो। हम उत्तर देना ज्यादा पसंद करते हैं, पर सुनना पसंद नहीं करते। यदि आप पर कोई कुपित भी हो रहा हो, यदि आप उसको सुन लो तो आधा-कोप तो उसका यूँ ही उतर गया।

भो ज्ञानी! देखो, ऊपर से पानी का बहाव और आप तो पूरा नल खोल दो तो तुम्हारा घर नहीं भरेगा। और आपने छेड़ दिया ऊपर और तुम कहीं नल खोलोगे तो फिर बहुत तेजी से पानी आयेगा। ऐसे ही आपने किसी की कषाय को छेड़ दिया, तो फिर कषाय का बहाव बढ़ता है। वो कषाय करे, आप तो मुस्कराते रहो, फिर देखो कि आनन्द आता है। क्रोधी के ऊपर क्रोध मत करो। उसके क्रोध को शांति से सहन कर लो। पानी का काम क्या होता है? कितने ही बड़े-बड़े अंगारे हों, पानी पटक दो आप। आप तो पानी बन जाओ, सामने वाला अंगारा वो बुझता ही चला जायेगा।

भो ज्ञानी! इतना याद रखना कि दोष मेरे हैं, दूसरे को सुनने की सामर्थ्य रखो। बस, सुन लो, उत्तर मत दो। देखना, बड़ा आनंद आयेगा। जो प्रतिक्रमण समरसीभाव की चर्चा कर रहे हैं, वो बन पाये या न बन पाये, पर व्यवहार प्रतिक्रमण तो घटित हो ही जायेगा।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : यहाँ उन्मार्ग के परित्याग और सर्वज्ञ वीतराग देव के मार्ग के स्वीकार करने को कह रहे हैं।

गाथा : **उम्मग्गं परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभावं।**
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ 86॥

संस्कृत छाया : **उन्मार्गं परित्यज्य जिनमार्गे यस्तु करोति स्थिरभावम्।**
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्॥ 86॥

अन्वयार्थ : (यः तु) जो साधु (उन्मार्गं परित्यज्य) उन्मार्ग को छोड़ करके (जिनमार्गे स्थिरभावं करोति) जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग पर स्थिरभाव करता है (सः प्रतिक्रमणं मुच्यते) वह साधु-प्रतिक्रमण कहलाता है (यस्मात् प्रतिक्रमणमयो भवेत्) क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय होता है।

मनीषियो! आत्मतत्त्व को छोड़करके जितने परिणाम हैं, सब संसार के कारण हैं। शुद्धात्मरूप परिणमन ही सदाचार है। वह सदाचार ही प्रतिक्रमण है यानि आत्म-आराधना ही प्रतिक्रमण है और आत्म-विराधना ही अप्रतिक्रमण है। इस बात को आचार्य पद्मप्रभमलध ाारिदेव कलश के माध्यम से कह रहे हैं :

मुक्त्वानाचारमुच्चैर्जननमृतिकरं सर्वदोषप्रसङ्गं।
स्थित्वात्मन्यात्मनात्मा निरुपमसहजानंददृग्ज्ञप्तिशक्तौ।
बाह्यचारप्रमुक्तः शमजलनिधिवार्बिन्दुसंदोहपूतः
सोयं पुण्यः पुराणः क्षपितमलकलिर्भाति लोकोद्यसाक्षी॥ कलश 114॥

जो जन्म-मरण को प्रकट करने वाले सम्पूर्ण दोषों से रहित है, आत्मा को आत्मा में स्थिर करके योगी बाह्य आचारों से रहित हो चुके हैं। वे ही पुण्य-पुरुष हैं जिन्होंने अनाचारों को छोड़ दिया है और निज-आत्मा में लवलीन हैं, ऐसे योगी ही निश्चय प्रतिक्रमण-स्वरूप हैं।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी यहाँ कह रहे हैं कि जो योगी उन्मार्ग को छोड़ करके, जो जिनेन्द्रदेव का मार्ग है, उस मार्ग में स्थिर भाव रखता है, उसे ही प्रतिक्रमण कहा है। वही प्रतिक्रमण मय है और जो जिनेन्द्रमार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में लीन है वह अप्रतिक्रमण है।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग स्वतंत्रता का मार्ग है, शांति का मार्ग है, स्वच्छंदता का मार्ग नहीं है। 'प्रवचनसार' जी में योगी को लक्ष्य लेकर "आगम चक्खू साहू" सूत्र दिया है। हे योगी! तुम लोक में स्वतंत्र हो, लोक की वृत्ति में स्वतंत्र हो, परन्तु यदि जिनेन्द्र के वेष को स्वीकार

किया है, अब आप स्वतंत्र भी नहीं हो, स्वच्छन्द भी नहीं हो। साधना भी तुम्हारी स्वतंत्र नहीं है। आपके मन की साधना नहीं है। नहीं तो आपकी प्रत्येक साधना मोक्षमार्ग बन जायेगी। कोई गड्ढे में सिर के बल खड़ा हुआ है, कोई नदी में तैर रहा है, कोई सिर पर सिगड़ी रखे ही खड़ा है। कोई कुछ भी कर रहा है, साधना तो कर रहा है, पर ये साधना नहीं है। ये मनमानी है। नग्न होकर मनमानी कर सकते हो, पर ये साधना नहीं है, उन्मार्ग है। हमारे यहाँ अट्ठाईस मूलगुणों का विधान है। जिनेन्द्रदेव ने तेरह प्रकार के चारित्र का कथन किया है। इसके अनुसार प्रवृत्ति है, उसका नाम साधना है। साधना के लिये मूलाचार है, श्रावकाचार है।

मनीषियो! ध्यान रखना, जब भी आप चर्या की चर्चा करें, हमारी वृत्ति मूलाचार के अनुसार हो सकती है, पर हमारी वृत्ति के अनुसार मूलाचार नहीं हो सकता। बात को समझना, यदि आप श्रावक-चर्या का पालन नहीं कर रहे हो, तो श्रावकाचार में दोष नहीं है। यदि आप अपने घर का श्रावकाचार बनाके वृत्ति करने लगे, तो भो ज्ञानी! तुमने श्रावकाचार में दोष कर दिया। यदि कोई मुनि मुनिचर्या का पालन मूलाचार के अनुसार नहीं कर पा रहा है, तो कोई दिक्कत नहीं है, परन्तु अपनी चर्या को मूलाचार कहने लगे, तो भो ज्ञानी! बड़ा अनर्थ हो जायेगा।

मध्यकाल में मुनि का आचरण की न्यूनता हुई तो कालदोष के कारण कुछ लोगों ने वस्त्र स्वीकार कर लिये, परन्तु उन्होंने अपने-आपको मुनि नहीं कहा, भट्टारक थे। वे अपने आपको निर्ग्रन्थ मुनि कहने लगते तो आज वीतराग मार्ग दूषित हो जाता। उन्होंने अपने आप को भट्टारक ही कहा। भिन्न-व्यवस्था ही बनाकर चले, क्योंकि उन्हें भी विश्वास था कि ये वेश राजमार्ग नहीं है। परन्तु संस्कृति की रक्षा के लिये उन्होंने यह धारण किया, लेकिन वो मुक्ति का हेतु नहीं है। मुक्ति का साक्षात् हेतु दिगम्बर मार्ग ही है।

भो ज्ञानी! आपको हर प्रकार से बताया जा रहा है, चाहे वह दर्शन के क्षेत्र में हो, चाहे वो चारित्र के क्षेत्र में हो, उन्मार्ग कभी भी स्वीकार नहीं किया जायेगा। आप ज्ञानी हैं, जनसामान्य नहीं जानता है। ऐसा नहीं है कि आपने पढ़ा, वो ठीक है। अब अपना चिन्तन सुनाना शुरू कर दिये और उसका प्रभाव ये हुआ कि लोग मूल-आगम को भूल गये, आपके चिन्तन को आगम स्वीकार करके जीने लगे। आपने जैन शासन की प्रभावना नहीं की, ये आपने व्यक्तिगत अपना प्रभाव दिखाया है। व्यक्तिगत-प्रभाव बहुत काल तक नहीं रहता, कुछ दिन चलता है, परन्तु उसके सामने ही निन्दा शुरू हो जाती है। ये ध्यान रखना। इन श्रावकों को सामान्य मत समझा करो। कभी-कभी वक्ता से श्रोता ज्यादा अनुभवी होता है। आपका वक्तव्य पूर्व के वक्ताओं से मेल नहीं खा रहा, तो मिलान भी कर लेता है। प्रारंभ में आपको

प्रोत्साहन भी देगा। जब देखेगा कि आगम से मेल नहीं खा रहा है, पूर्व वक्ता से मेल नहीं खा रहा है, तो आपके ज्ञान को उन्मार्ग कह देगा और तुम्हारे सामने तुम्हारी ही अवहेलना प्रारंभ हो जायेगी। इसलिये ज्ञान में भी उन्मार्ग होता है।

आगम में तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। ये श्रद्धान भी व्यवहार सम्यक्त्व है। निश्चय से, सिद्धान्त अपेक्षा से, कर्म की प्रकृति का क्षय, उपशम क्षयोपशम और अध्यात्म से निज-आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है। ये कथन वाला नहीं, अनुभव वाला है। यदि इन सब विषयों को गौण करके ये कहे कि तेरे चरणों का जो श्रद्धान करे, तो वीतराग मार्ग को प्राप्त कर ले। मनीषियो! ये श्रद्धा का विषय उन्मार्ग हो गया। व्यक्तिगत श्रद्धा को आगम में नहीं कहा। यदि कोई कहे कि इन मुनिराज के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, तो जिनवाणी तुम्हें स्वीकार नहीं करेगी, क्योंकि आपने व्यक्तिगत पकड़ लिया है किसी के श्रद्धान से ये तो सम्यक्त्व में उन्मार्ग हो गया। बोले-इस प्रतिमा पर श्रद्धान करोगे तो सम्यक्त्व होगा। इस निर्ग्रन्थ मुद्रा पर श्रद्धान करोगे तो सम्यक्त्व होगा। इस ग्रन्थ पर श्रद्धान करोगे तो सम्यग्दर्शन हो जायेगा। ऐसा नहीं है। वो सम्यक्त्व का उन्मार्ग ही है।

मनीषियो! वीतराग वाणी पर श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व का हेतु है। जिसको श्रद्धान नहीं है, वो कितने ही संपर्क में रहें, सम्यक्त्व नहीं हो सकता है। इसलिये संगति भिन्न है और श्रद्धा भिन्न है। संगति अनेक बार हो सकती है, पर श्रद्धा अनेक बार नहीं होती, एक बार होती है। इसलिये जिनमार्ग पर चलें, ये बहुत अच्छा है, पर जिनमार्ग में उन्मार्ग को प्रवेश न दिलाएँ।

भो ज्ञानी! जिनमार्ग में दो मार्ग हैं, राजमार्ग (उत्सर्ग) और अपवाद मार्ग। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने जो चर्या का पालन किया है, वह राजमार्ग है। जो पंचमकाल के साधक साधना कर रहे हैं, वह अपवाद मार्ग है। जैसे कि आप भवन आदि में भी चातुर्मास कर सकते हो। राजमार्ग यह है कि ग्रीष्म-काल में पर्वत की चोटी पर बैठना चाहिये था। अपवाद मार्ग यह है कि छाया में बैठकर साधना कर रहे हो। राजमार्ग यह है कि शीतकाल में नदी के किनारे बैठना, अपवाद मार्ग यह है कि आप सुरक्षित स्थान पर बैठकर साधना कर सकते हो, क्योंकि तुम्हारे पास सामर्थ्य नहीं है। लेकिन अपवाद मार्ग यहीं तक था। जो अपवाद मार्ग है, वो भी आगम में कथित है। परन्तु ग्रीष्म-काल में कूलर, पंखा लगाके बैठना, ये अपवाद मार्ग नहीं है, शिथिलाचार है। अपवाद मार्ग है कि शीतकाल में हम नदी किनारे नहीं बैठ पा रहे हैं, क्योंकि संहनन नहीं है, शक्ति नहीं है। तो बन्द कमरे में बैठकर साधना करें, लेकिन हीटर लगा करके बैठ गये, तो ये अपवाद मार्ग नहीं है, शिथिलाचार है। साधुओं को जंगलों में रहना था जोकि आज नगरों में रह रहे हैं, ये अपवाद मार्ग है।

भो ज्ञानी! गुणभद्रस्वामी ने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिखा है कि अब सिंह जंगलों को छोड़कर नगर की ओर आ रहे हैं। उनका उद्देश्य यही था कि अब जंगल में साधना संभव नहीं है। ये अपवादमार्ग है। परन्तु अपवादमार्ग शिथिलाचार नहीं है। शिथिलाचार में मानसिक चारित्र के प्रति उत्साह नहीं होता है और अपवाद मार्ग में चारित्र के प्रति उत्साह होता है, परन्तु शक्ति हीनता के कारण कर नहीं पा रहे। शिथिलाचारी संयम के प्रति अनुत्साहित है और अपवाद-मार्गी अपनी असर्मथता के कारण इसे नहीं कर पा रहा है। अंतर समझना। उत्सर्गमार्ग, अपवादमार्ग और शिथिलाचार तथा चौथा है उन्मार्ग अर्थात् जो मार्ग ही नहीं है। अपवाद में पूरा मार्ग है, पर शक्ति की हीनता है। राजमार्ग वास्तविक स्वरूप है। उन्मार्ग तो विपरीत है।

आप दिगम्बर मुनि हो, किसी देवी-देवता का पूजन पाठ करवा रहे हो, वस्त्र-आभूषण पहना रहे हो, भो ज्ञानी! उस विषय के आप तो स्वयं त्यागी थे आप तो उतारने वाले हो, पहनाने वाले तो हो ही नहीं। ये मुनिमार्ग नहीं है। अपवाद भी नहीं है, शिथिलाचार भी नहीं है। ये तो मिथ्यामार्ग है। देवी-देवता की उपासना करवाना, उनके मंत्र-तंत्र बताना, ज्योतिष आदि में फंस करके अपने स्वरूप को भूल जाना, ये उन्मार्ग है, ये विपरीत मार्ग है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'प्रवचनसार' की चरणानुयोग चूलिका में लिख रहे हैं, जो कहते हैं कि पंचमकाल में साधना नहीं है। ध्यान से सुनना। डली का सोना शुद्ध सोना है और कुण्डल का सोना अशुद्ध सोना है, मिलावट है, लेकिन सोना है। जब तक डली नहीं मिल रही है, कुण्डल को मत फेंक देना। ऐसे ही भो चेतन! जब तक तू चतुर्थकाल का साधु नहीं बन पा रहा है, तब-तक पंचमकाल की साधना मत छोड़ देना, क्योंकि सोना तो सोना है। कुण्डल में सोना है,अंगूठी में सोना है, ऐसे ही पंचमकाल की साधना भी साधना ही है। इसलिये उन्मार्ग में मिथ्यात्व है, शिथिलाचार में सम्यक्त्व में दोष है, परन्तु अपवाद में सम्यक्त्व में भी दोष नहीं है, चारित्र में भी दोष नहीं है, शक्ति की कमी है। अपवाद में चारित्र में दोष नहीं है। शिथिलाचार भी नहीं है। वो तो शक्ति की क्षीणता के कारण उत्तम तपस्या नहीं कर पा रहे हैं, परन्तु मूलगुणों का बराबर पालन करेंगे।

अरे शंकालुओ! श्रद्धालु बनो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा, शंकालु बनने से कभी कल्याण नहीं होगा। शंका करोगे तो पेट कभी नहीं भर पाओगे। थाली पर बैठना, क्या मालूम इसमें क्या मिला दिया है? शंका कर-करके देव से छूटे, गुरु से छूटे, जिनवाणी से छूट गये और घर में शंका शुरू हो गई सो भोजन से दूर हो गये, पता चला कि ऊपर चले गये। शंका एक बीमारी है। महाव्रती भी निशंक होकर तुम्हारे घर में जाता है। यदि उनके मन में आये कि क्या मालूम तुमने क्या बनाया? उसको जिनवाणी में अंतराय लिखा है। यदि मन में शंका

आ जाये, तो मुनि आहार नहीं कर सकता। क्या मालूम ये सामग्री शुद्ध है या अशुद्ध? ये शंका यदि आ गई, तो अंतराय आ गया। बत्तीस अंतरायों में एक अंतराय है शंका।

भो ज्ञानी! शंका श्रावक भी नहीं करता है, शंका साधु भी नहीं करता है। सम्यक्त्व के गुण श्रावक और साधु के बराबर होते हैं। यदि वो शंका करने लगे श्रावक-धर्म पर, तो यति-धर्म भी नहीं पल सकता है। श्रावक यतिधर्म पर शंका करने लगा, तो आपका किंचित् मात्र भी धर्म नहीं पलेगा आप यदि प्रतिमाधारी हो, व्रती हो, अतिथि संविभाग नामक तुम्हारा व्रत है और बारह व्रतों में एक व्रत भी यदि कम है, तो तुम व्रती नहीं हो। आपके नगर में मुनिराज आये और आप प्रतिमाधारी हो, आपका कर्त्तव्य बनता है, कोई व्यवस्था करे या न करे, आप पहले पड़गाहन करेंगे और मन में आ गई शंका कि क्या मालूम ये शुद्ध महाराज हैं कि अशुद्ध, सही हैं कि नहीं? महाराज शुद्ध हों या अशुद्ध, लेकिन तुम्हारा व्रत तो समाप्त हो गया।

भो ज्ञानी! सुबह नौ बजे आये मुनिराज। उनको पड़गाहन करोगे, आहार दोगे कि पहले उनकी परीक्षा करोगे? पहले आहार देंगे, पहले परीक्षा नहीं करेंगे। उनको ऋषिराज कहके, उनको नवधाभक्ति से आहार देंगे, क्योंकि उनके व्रत उनकी दृष्टि में हैं, परन्तु तुम्हारा व्रत तो नहीं टूटा। अतिथि-संविभाग नामक आपका व्रत था। नवधा-भक्तिपूर्वक, सात गुणों से युक्त होकर श्रावक पात्र को दान देता है निशंकित होकर। भगवन्! ऐसी आराधना की है, मुनि को दान दिया है, मेरा ऐसा काम बन जाये। अरे! आपने तो भगवान् की भक्ति को बनिया की दुकान बना ली। इतना-सा दिया और कितना माँग रहे? भो ज्ञानी! आप न भी माँगते, तो आपको मिलना ही था। इसलिये यहाँ कह रहे हैं कि कांक्षा मत करो, निष्काम दृष्टि से आराधना करो।

भो ज्ञानी! निर्विचिकित्सा यानि ग्लानि नहीं करना। धर्म-धर्मात्मा को देखकर, उनके शरीर को देख करके। बोले-पसीना बह रहा है, दातौन नहीं करते, मुख से दुर्गन्ध आ रही है। ग्लानि से भर गया, तो आपका निर्विचिकित्सा अंग चला गया। आपको कोई जरा-सी त्रुटि दिख गई, बोले-अब तो हमारी श्रद्धा हट गई, सब मुनि-महाराज ऐसे ही हैं। परन्तु आपके सम्यक्त्व का तीसरा गुण कैसा है? एक वो था जिसके ऊपर पूरा वमन कर दिया। राजा उदयन से पूछो? देव मुनि के वेश में आया परीक्षा करने। बड़ा सम्यग्दृष्टि है, दानी है, सब कहते हैं। सब कह रहे थे कि पड़गाहन करो, पड़गाहन करो और दुर्गन्ध के कारण कोई पड़गाहन नहीं कर रहा था। जैसे ही उसके भवन के सामने से निकले मुनिराज, तो भो स्वामी! नमोस्तु-नमोस्तु, अत्रो-अत्रो, तिष्ठो-तिष्ठो। पड़गाहन कर लिये, आहार दिये। वो कोई मुनिराज तो थे नहीं,

देव था। विक्रिया से, जितना भोजन बना था, सब खा गया। राजा फिर भी ये नहीं कह रहा था कि सब खा गये। बोला-धिक्कार हो मुझे, मेरे पास इतनी सामग्री क्यों नहीं रही जो मैं मुनिराज की क्षुधापूर्ति कर पाता और जैसे ही पूरा भोजन किया, पूरा-का-पूरा राजा के ऊपर वमन कर दिया। यदि आप होते तो क्या कहते? महाराज! भोजन तो हमारा था, पर पेट तो आपका था, तनिक विचार करके लेते। ऐसा बोलते। सामने न बोलते तो पीठ-पीछे बोलते। लेकिन राजा क्या कह रहा था? कि मेरे से कौन-सा अभक्ष्य चला गया जिससे मुनिराज को वमन हो गया। इतनी दुर्गन्ध छोड़ी कि पूरी-की-पूरी गली खाली हो गई। परन्तु राजा-रानी वैय्यावृत्ति में लगे हुये थे। देव अब अपने असली रूप में आ गया और कहने लगा, 'धन्य हो आपके निर्विचिकित्सा अंग को।' जिसके अंतरंग में ऐसी निर्मल दृष्टि है, वही वैय्यावृत्ति करने में श्रेष्ठ है। जिसके निर्विचिकित्सा अंग नहीं है, वो वैय्यावृत्ति नहीं कर सकेगा। क्योंकि उसे तो अच्छा रूप दिखेगा तो बैठेगा और रूप नहीं दिखा तो भाग जायेगा। उसे रत्नत्रय दिखेगा ही नहीं। जिसे रत्नत्रय दिखेगा, वो रूप को देखेगा ही नहीं, वो तो रत्नत्रय के स्वरूप को देखेगा।

अन्य-दृष्टि-प्रशंसा, ये और कठिन है। वहाँ इतनी बढ़िया मूर्ति बनी हुई है, बढ़िया झांकी सजी हुई है, इतना अच्छा मंदिर है, अच्छे ज्ञानी प्रवचनकार आये हुए हैं, सुन तो सकते हैं। भो ज्ञानी! आपने तो सुन लिया, पर चार और जो साथ में गये थे, उनको मिथ्यादृष्टि बना कर चले आये। क्या मालूम कौन-सी बात, किसके मन में लग जाये। तुम कुदेव की आराधना कर रहे हो, उपासना कर रहे हो और कहीं भाग्य से तुम्हारा काम बन रहा है। लेकिन किसी को सुनाना मत, क्योंकि संसार बड़ा विचित्र है। वो सोचता है कि यहाँ की आराधना से वास्तव में हो गया। पर ये नहीं सोचता कि कर्म-सिद्धान्त क्या कह रहा है?

ये कर्म के परवश हैं। सुख भी सान्त होने वाले हैं, दु:ख भी सान्त होने वाले हैं, सम्यग्दृष्टि ऐसा सोचता है। सुख-दु:ख सब पाप के बीज हैं, इसमें कोई आस्था नहीं है। मिथ्यादृष्टि कहता है कि वे अच्छे हैं, एक बार तो चलो, देखो कि क्या चमत्कार है, तुमने उसके सम्यक्त्व का नाश करा दिया। अन्य-दृष्टि-प्रशंसा और अन्य-दृष्टि-संस्तव में अन्तर है। जो मुख से कह रहा है कि बहुत बढ़िया है, वो संस्तव हुआ। जो प्रशंसा मुख से नहीं करता, परन्तु हाथ से संकेतों से करता है, अंगुली दिखा रहा है कि बहुत बढ़िया है, यह अन्य-दृष्टि-प्रशंसा हुई।

आचार्य मानतुंग स्वामी कह रहे हैं कि क्षीरसागर की अपेक्षा से खारा-सागर श्रेष्ठ है, क्योंकि खारे समुद्र में पहुँच करके कम-से-कम क्षीरसागर की याद तो आती है। पर जो क्षीरसागर को प्राप्त कर लेता है, वो खारे सागर को भूल जाता है। हे नाथ! वे मिथ्यादृष्टि

इसलिये अच्छे लगते हैं कि कम-से-कम उनके पास जाता तो आपको याद करके वापिस आपके पास आ जाता है। परन्तु आपके पास जो आ जाता है, फिर वह कहीं नहीं जा पाता है। हे नाथ! इस विश्व में जितने प्रशस्त-परमाणु थे, वे सब आपने प्राप्त कर लिये, अब तो लगता है कि कोई परमाणु बचा ही नहीं है। जितने प्रशस्त परमाणु होते हैं, सब उनके ही पलड़े में होते हैं। ऐसे सर्वज्ञ-शासन को छोड़कर जो अन्य मिथ्यात्व आदि की प्रशंसा कर रहा है, उससे कुन्दकुन्द स्वामी, पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि मिथ्यात्व मल है, कीचड़ है, जो उससे मुक्त हैं, शुद्ध निश्चयदृष्टि से ये ही शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टि है।

भो ज्ञानी! जितने लोग शुद्ध-आत्मा की बातें कर रहे हैं, कोई कहीं कोई कहीं पूजने जा रहा है, फिर भी परेशान है। जिनवाणी कह रही है कि अरहंत-देव के चरणों में भी तुम आकांक्षा मत रखो पर तुम अरहंत भगवान् के मंदिर में देवी को पूज रहे हो, अपनी मनोकामना की बात कर रहे हो। यहाँ कोई निर्ग्रन्थ योगी दिख जाये तो मिथ्यात्व हो जायेगा? मुनि को नमस्कार कर लिया तो मिथ्यात्व हो गया और देवपूजा करने में सम्यक्त्व हो गया। तत्त्वज्ञानियो! करुणा करना उन जीवों पर, जो सुन रहे हैं, पर कर्म-सिद्धान्त को भूल गये। जो कर्म का विपाक है, किसी को नहीं छोड़ता। इसका खुलासा कार्तिकेय स्वामी ने किया है बिना भय के। उन्हें डर नहीं लगा कि हम देवों की बात कह देंगे तो देव हमें उठाकर पटक न दें। उन्होंने नाम ले-लेकर कथन किया है। क्षेत्रपाल, पद्मावती, भैरों आदि-आदि। कोई किसी को लक्ष्मी नहीं दे सकता। कोई किसी का अपकार नहीं कर सकता।

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥ का. अनु. 319॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा॥ का. अनु. 322॥

जिस देश में, जिस काल में जैसी होनहार निश्चित होगी, उसे इन्द्र व जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते। ये कार्तिकेय स्वामी ने 'कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा' में लिखा है। लेकिन आपने अनर्थ कर दिया, इसे संयम में लगा दिया। जब होना होगा , तब संयम हो जायेगा, कोई टाल नहीं सकता। मालूम वे गाथायें सम्यक्त्व की घोषणा के लिये थी? भो ज्ञानी! वहाँ तू पद्मावती, धरणेन्द्र, क्षेत्रपाल आदि को पूज रहा है। जब तेरे आयु-कर्म का नाश होगा, तो अरहन्त-देव भी नहीं बचा सकते हैं। आचार्यमहाराज के उद्देश्य को पकड़ो। आगे-पीछे की गाथायें भी पढ़ लो।

भो ज्ञानी! सम्यग्दृष्टि वज्रकर्ण राजा से पूछो कि श्रीराम ने उसके उपसर्ग को दूर किया, परन्तु उसने राम को नमस्कार नहीं किया। राम मुस्कराकर कहते हैं कि मैंने आपका उपसर्ग

दूर किया, परन्तु आपने नमस्कार नहीं किया। उसने कहा, मेरा नियम है कि मैं देव-शास्त्र गुरु को ही शीश झुकाता हूँ, और किसी को नहीं झुकाता हूँ। अब बताओ भैया! सम्यक्त्व नहीं है तो, काहे का शुद्धात्मा?

भो ज्ञानी! योगीन्दु देव ने 'परमात्म प्रकाश' में बड़ी गहरी बातें लिखी हैं।

देवहँ सत्थहँ मुणिवर हँ जो विदेसु करेइ।
णियमँ पाउ हवेइ तसु जँ संसारु भमेइ।। प. प्र. 2/62।।

देव , शास्त्र, गुरु से जो विद्वेष करता है, निश्चय से चतुर्गति में भ्रमण करेगा। भो ज्ञानी! ध्यान रखना, सम्यक्त्व की रक्षा करो। तुम्हारे लाभ-अंतराय कर्म का क्षयोपशम होगा, तो सब मिल जायेगा और वीर्य-अंतराय कर्म का क्षयोपशम होगा, तो ताकत भी आ जायेगी। भोग-अंतराय कर्म का क्षयोपशम होगा, तो द्रव्य भी मिल जायेंगे और नहीं हो तो तुम कितनी भी पूजा कर लेना, फिर भी कुछ नहीं मिलेगा।

एक वैद्य के यहाँ बालक गया। उसकी आँख में कंकड़ चला गया था। वैद्य ने सोचा कि मरीज आ नहीं रहे हैं, चलने दो दुकान। उसने कपड़ा लेकर धीरे से सहला दिया और फूंक दिया, तो आराम मिला। वह चाहता तो कंकड़ निकाल सकता था। आठ दिन तक उनकी दुकान चलती रही। भाग्य से एक दिन वे बाहर चले गये, उनका बेटा भी डाक्टर था। मरीज ने कहा कि आठ दिन से परेशान हूँ, आपके पिताजी का इलाज चल रहा है। उसने पलक उठाकर देखा, वहाँ कंकड़ था। उसने धीरे-से चिमटी से निकाल दिया, उसकी आँख ठीक हो गई, बहुत खुश हुआ। दूसरे दिन वैद्यजी आ गये। उन्होंने पूछा कि आँख वाला एक मरीज आता था, उसका क्या हुआ? बेटे ने कहा कि वो आया था, उसकी आँख में कंकड था, सो मैंने उसको निकाल दिया। अरे पागल! तूने व्यापार बन्द कर दिया। तो भैया! ऐसा ही है। बोले, इनको तो प्रेत लगा है, आठ रविवार आना पड़ेगा। ये नहीं कह रहे हो कि आपको कर्मों का भूत चढ़ा है और उसको उतारने की शक्ति हमारे पास नहीं है। अरहंतदेव की भक्ति करो, तो तुम्हारे कर्म के भूत उतर जायेंगे, तो सब ठीक हो जायेगा। भगवान् के दर्शन नहीं करना चाहते हैं, परन्तु ये चाहते हैं कि कोई हमें पुड़िया दे दे, तो हम पूरे तर जायें।

भो ज्ञानी! मित्र उसे कहते हैं, जो मिथ्यात्व से बचा ले। आप यदि मित्र हो, तो उसे समझाओ कि तुम कहाँ चक्कर में पड़े हो? अरहंत की उपासना करो, उससे निघत्ति निकाचित कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। कर्त्ता मत बनो। इतना ध्यान रखना कि सम्यक्त्व की रक्षा करो। भैया! लोगों ने रट लिया है कि आपको एक समय का भी सम्यग्दर्शन हो गया, तो नियम से मोक्ष जाओगे, भले ही अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन लग जाये। भो ज्ञानी! जैसे ही मिथ्यात्व नष्ट

होगा, ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जायेगा और जो तुम्हारा समीचीन आचरण है, वो सम्यक्त्वाचरण हो जायेगा, लेकिन स्वरूपाचरण नहीं होगा। ग्रन्थों में लिखा है कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव को सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है। सम्यग्दृष्टि को स्वरूप का ज्ञान होता है, श्रद्धान होता है, परन्तु संयमीरूप स्वरूपाचरण नहीं है, उसकी भावना है। ऐसा 'परमात्म प्रकाश' की टीका में ब्रह्मदेव सूरि ने भी लिखा है। उन्होंने राम, सगर, पाण्डव आदि का दृष्टान्त देकर कहा है कि जैसी भेदाभेद रत्नत्रय की आराधना, स्वरूप की लीनता तूने अनुभव की है, ऐसी उन्होंने की है, लेकिन अविरत दशा में श्रद्धारूप की है और व्रतदशा में आचरणरूप की है। इसलिये अरहन्त की आराधना करो, पंचपरमेष्ठी की आराधना करो।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज के निश्चय प्रतिक्रमण के उत्तम फल को बताते हुये कलश लिख रहे हैं

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्रसंघातमत्ताः।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते॥ कलश 115॥

जो योगी विषय-सुखों से विरक्त है, इंद्रियों के विषयों से विरक्त है, उदासीन है, जिसका अनुराग शुद्ध तत्त्व में है, जिसका मन सदैव तपश्चरण में लगा रहता है, जो शास्त्रों के स्वाध्याय में आनंदित रहता है, भो ज्ञानी! वह सभी प्रकार के संकल्प-विकल्पजालों से मुक्त रहता है, ऐसा परम तपोधन महायोगी मुक्तिरमा का वरण क्यों नहीं करेगा? अवश्य करेगा। सांसारिक भोग-विलास को छोड़कर जिसको मात्र आत्मस्वरूप ही दिखता है, वही मुक्तिरमा को पाने का अधिकारी है।

भो ज्ञानी! अतः आप सब भी प्रारंभ में उभयचारित्र में बार-बार विचरण करो, जिससे कि केवल निवृत्तिरूप निश्चय चारित्र को प्राप्त कर निश्चय चारित्रमय निज आत्मा में लीन हो जाओ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : नि:शल्य भाव से परिणत महातपोधन त्रिगुस्तिधारी ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप हैं।

गाथा : **मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।**
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ 87॥
चत्ता अगुत्तिभावं तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ 88॥

संस्कृत छाया : **मुक्त्वा शल्यभावं नि:शल्ये यस्तु साधुः परिणमति।**
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्॥ 87॥
त्यक्त्वा ह्यगुप्तिभावं त्रिगुप्तिगुप्तो भवेद्यः साधुः।
स प्रतिक्रमणमुच्यते प्रतिक्रमणमयो भवेद्यस्मात्॥ 88॥

अन्वयार्थ : (यः तु साधुः शल्यभावं त्यक्त्वा) जो साधु शल्यभाव का त्याग करके (नि:शल्ये परिणमति) नि:शल्य भाव में परिणमन करता है (सः प्रतिक्रमणं उच्यते) वह प्रतिक्रमण कहा जाता है (यस्मात्) क्योंकि (प्रतिक्रमणमयो भवेत्) वह प्रतिक्रमणमय होता है।

(सः साधु) जो साधु (हि अगुप्ति भावं त्यक्त्वा) निश्चित रूप से अगुप्ति भाव का त्याग करके (त्रिगुप्ति गुप्तोः भवेत्) तीन गुप्तियों से गुप्त सहित सुरक्षित होते हैं (सः प्रतिक्रमणं उच्यते) वे साधु प्रतिक्रमण कहलाते हैं (यस्मात्) क्योंकि (प्रतिक्रमणमयः भवेत्) वे प्रतिक्रमणमय हो जाते हैं।

नियमदेशना

मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में परमार्थ-प्रतिक्रमण का कथन कर रहे हैं। जीवन में कोई भी वाहन-चालक ये नहीं सोचता कि मेरी गाड़ी गिर जाये या खराब हो जाये। लेकिन संभावना रहती है कि गाड़ी चलेगी तो खराब होगी ही। उसको चलाने के पूर्व आप नट, बोल्ट, पेंचकस रख लेते हो। ऐसे ही जिनवाणी माँ कह रही है कि संयम को स्वीकार किया है और रत्नत्रय वाहन को लेकरके मोक्ष-भवन की ओर जा रहे हो। मार्ग में कहीं गड़बड़ी हो जाये तो उसके लिये पेंचकस के रूप में ये प्रतिक्रमण हैं। यदि बीच में कोई गड़बड़ी हो, तो आप सुधार कर लो, क्योंकि दोष लग सकते हैं, इसलिये प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त है।

आचार्यमहाराज ने कथन किया है कि कर्मरूपी कीचड़ से मुक्त होने के कारण ये आत्मा शुद्ध स्वभाव से युक्त है। ये कथन व्यवहारनय से है। भो ज्ञानी! मिथ्या, माया और निदान ये तीन प्रकार के शल्य कहे गये हैं। वास्तव में ये उपचार से कथन है। जब योगी इन तीन शल्यों से रहित होता है, तभी नि:शल्य-रूप-अवस्था में स्थित हो जाता है। इन शल्यों से रहित होने पर नि:शल्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे स्वरूप को प्राप्त करना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है। उसे ही निश्चय प्रतिक्रमण कहा जाता है, क्योंकि योगी उस दशा में प्रतिक्रमणमय हो जाता है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के भावों को कलशों के माध्यम से पुष्ट कर रहे हैं।

शल्यत्रयं परित्यज्य नि:शल्ये परमात्मनि।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम्॥ कलश 116॥
कषायकलिरञ्जितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमण कारणं स्मरशराग्निदग्धं मुहुः।
स्वभावनियतं सुखं विधिवशादनासादितं,
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः॥ कलश 117॥

टीकाकार कह रहे हैं कि जब-तक जीव शल्य से रहित नहीं होगा तब-तक शुद्ध-आत्मा की भावना नहीं कर पायेगा। आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है "नि:शल्यो व्रती"। ये जीव काम-क्रोध कषाय के वशीभूत होकर अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। बड़े-बड़े शूरवीर भी काम के वशीभूत होकर पतन को प्राप्त हो जाते हैं। भो ज्ञानी! इस जीव की आत्मा कषाय के रंग से रंगी हुई है। कर्म-किट्टिमा के कारण मलिन है। दर्पण यदि मल से आच्छादित हो, धूल से आच्छादित हो, तो चेहरा नहीं दिखता है। अनादि काल से यह चित्त काम-कषाय आदि से आच्छादित होने के कारण स्वभाव में नहीं जा पा रहा है। विभाव के कारणों को आचार्यमहाराज छोड़ने का संकेत दे रहे हैं। इन विभाव भावों को छोड़ देने पर जो स्वाभाविक सुख है, उसकी प्राप्ति हो पायेगी। हे योगी! तुम इन कषायादि को छोड़कर निज-आत्मा के सुख का आनंद लो और परमसुख को प्राप्त करने का अनुभव करो।

भो ज्ञानी! जो शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य-दृष्टि-संस्तव, अन्यदृष्टि प्रशंसा इन पांच दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है, वो शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव होता है। भगवान् जिनेन्द्र के शासन को छोड़ करके, वीतराग मार्ग को छोड़करके शेष सभी उन्मार्ग हैं। जिनमार्ग

में प्रवर्तन करके भी यथार्थ मार्ग पर नहीं चल रहा है, वो भी उन्मार्ग है। सर्वज्ञ भगवान् की वाणी कुछ है और आप अपने मन से विपरीत कथन कर रहे हो, विपरीत आचरण कर रहे हो, तो आपका आचरण भी उन्मार्ग है। अरहंतदेव के शासन में वीतराग मुद्रा की आराधना होती है। तुम सरागी देवी-देवताओं की उपासना कर रहे हो। अरहंत को गौण करके, क्षेत्रपाल पद्मावती आदि को प्रधान करने में तल्लीन हो रहे हो, भो ज्ञानी! ये उन्मार्ग है। मुमुक्षु जीव पंच-परमेष्ठी की आराधना करता है। मोक्षमार्ग तो अरहंत की आराधना से ही मिलेगा, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी की उपासना से ही मिलेगा। उनके स्थान पर आप अन्य की आराधना करते हो, वह सांसारिक प्रयोजन है, वह कोई मोक्षमार्ग नहीं है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, आप उनसे दु:ख ही माँग रहे हो, क्योंकि संसार का सुख भी मिल जायेगा, पर जिनवाणी कहेगी कि आपने सुख नहीं बढ़ाया है, दु:ख ही बढ़ाया है। परमार्थ में तूने क्या किया है? कषाय बढ़ाई है, संसार बढ़ाया है। तेरे पुण्य के योग से व्यतंर आदि के सहयोग से तुझे संपत्ति माना कि मिल भी गई, तो क्या मोक्षमार्ग प्रशस्त हो गया?

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार जी में सोना बनाने की विधि लिखी है। परन्तु साथ में ये भी लिखा है कि आपके पुण्य का योग होगा तो सोना बनेगा। ऐसे ही आप किसी की भी आराधना करो, यदि स्वयं का पुण्य का योग नहीं है, तो संपत्ति मिलने वाली नहीं है। भो चैतन्य आत्मा! पुण्य का योग होगा, तो कार्य की सिद्धि होगी। पुण्य का द्रव्य तेरे पास होगा, तो उदय में आ जायेगा। ये निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध है। जब पुण्य का द्रव्य प्रबल हो जायेगा और कर्म की संतति अल्प रह जायेगी, तो ज्ञानी! मोक्ष भी तेरा हो जायेगा। यही राजमार्ग है। "पुन्न फला अरहन्ता" अरिहन्त पद की प्राप्ति पुण्य का फल है और उस योग से जब आपको मोक्ष होगा, तो पुण्य का द्रव्य भी क्षीण हो जायेगा। अंतिम समय में पाप को नहीं छोड़ा जाता, पुण्य तो छूट जाता है।

भो ज्ञानी! चाहे औदारिक शरीर में हो, चाहे परम औदारिक शरीर में हो, परन्तु जब-तक तुम शरीर में हो, तब-तक आस्रव-बंध है। अरिहन्त अवस्था में भी आस्रव है। भो ज्ञानी! स्वतंत्र होने की भावना भाओ, परन्तु पुण्य को मत छोड़ बैठना, पाप को बुद्धिपूर्वक छोड़ देना। पाप के योग से, पाप के संचय से दुर्गति होगी। व्यक्ति सोचता है कि पाप पहले भोग लेता हूँ और पुण्य का द्रव्य हमारे पास ज्यादा है तो अपन आराम से भोगते रहेंगे। यमराज ने कहा-जाओ छिपकली बन जाओ। पहले पाप का फल भोग लो जो कम है, फिर पुण्य का फल भोगना। मनीषियो! जैसे ही छिपकली की पर्याय में आया, अब वहाँ जितना पुण्य का द्रव्य था, उसने जीवों को खाकरके पूरा समाप्त कर लिया और जैसे ही छिपकली की पर्याय पूर्ण कर ली,

बोला-साहब! अब हमें पुण्य के उदय से बताओ, कहाँ जाना है? बोले-भैया! तुम्हारा पुण्य सब समाप्त हो गया। तुमने पाप का फल पहले भोगने को कहा था, तो छिपकली बन गये। तुमने जाकर जीव खाये, उसका परिणाम यह हुआ कि तुम्हारा पुण्य का द्रव्य भी नष्ट हो गया। यदि आप कहीं पुण्य का फल पहले मांग लेते, जैनकुल में जन्म ले लेते, भगवान् की पूजा करते, तो जितना तुम्हारा पाप का द्रव्य था वो नष्ट हो जाता। फिर आपको पुण्य-ही-पुण्य का पूरा संचय होता।

भो ज्ञानी! पुण्य का फल भोगने की बात मत करो। पुण्य के योग से मनुष्य बन गया। पुण्य के योग से जैनकुल में जन्म ले लिया और फिर पुण्य के योग से पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्ध कर लिया। भो ज्ञानी! अब यदि भोग में लग जायेगा, तो नियम से नीचे जायेगा। ज्ञानी! तुम पहले पाप को छोड़ दो। जब आपकी शक्ति वृद्धि को प्राप्त होगी तो पुण्य व पाप उभय से छूटकर तू सिद्धत्व को प्राप्त कर लेगा। पुण्य को धर्म मानने में दिक्कत नहीं है, पर पुण्य के फल को धर्म बिल्कुल मत मानो। देवपूजा आदि पुण्य-क्रिया है, इनसे जो परिणामों की निर्मलता होती है वह धर्म है। कषायों की मंदता धर्म है। पुण्य-क्रिया शुभ उपयोग के लिये की जाती है। शुभोपयोग तुम्हारा धर्म है और अशुभोपयोग तुम्हारा अधर्म है। शुद्धोपयोग उससे आगे का बड़ा धर्म है।

'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पुण्य के फल को अरिहन्त पद की प्राप्ति कहा है जो औदयिक है। पुण्य के उदय से ही अरहन्त पर्याय की प्राप्ति होती है। उपादान दृष्टि से जीव के निज की सत्ता में अनन्त-चतुष्टय जब भी प्रगट होंगे तो पुण्य के योग से ही प्रकट होंगे। सत्ता भी अब आपकी प्रकट होगी। आप अपने-आप में ज्ञानी हो, आपकी उपादान की सत्ता है। जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सुनने के पावन परिणाम, ये तेरे पुण्य का योग है। जब-तक पुण्य-पाप रहेगा, तब तक अरिहन्त भगवान् का समवसरण नहीं लग सकता। परन्तु जो लगा है, पुण्य से ही लगा है। स्वयं का विकल्प रहेगा, तब तक समवसरण नहीं लगेगा।

भो ज्ञानी! समवसरण यह कह रहा है कि साधु की वृत्ति निस्पृह होती है। पुण्य का योग कितना प्रबल है, इतना विशाल समवसरण लगा हुआ है, फिर भी चार अंगुल ऊपर हैं। ये आपकी निवृत्ति दशा का परिणमन है। ये ध्यान रखना, प्रवृत्ति व निवृत्ति युगपत् होती है। भो ज्ञानी! जब अशुभ से निवृत्ति होती है, तो शुभ में प्रवृत्ति होती है और शुभ में प्रवृत्ति होती है, तो अशुभ की निवृत्ति स्वयमेव होती है और ऐसे ही जब शुद्ध में प्रवृत्ति होती है, तो शुभ की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है।

भो ज्ञानी! मन कहता है कि धर्म में जीऊँ, पर धर्म की क्रिया करने के लिये मेरे पास समय नहीं है। अब बताइये धर्म क्या है? पुण्य नहीं है, तो बताइये, धर्म कौन-सी वस्तु है? आप बाजार से फल खरीदने जाते हैं, कि रस खरीदने जाते, कि छिलका खरीदने जाते, कि दल खरीदने जाते? लोगों ने पुण्य को ऐसे समझ लिया है जैसे बिल्कुल वास्तव में पाप ही हो। पुण्य जब पाप है, तो पाप क्या है? जब बाजार में जाता है व्यक्ति और अनार फल को खरीदता है। ज्ञानी! जब तू फल खरीदेगा, तो छिलका खरीदेगा, उसमें दल होगा, बीज होगा। तो फल कौन-सा है? यदि आप कहो कि रस फल नहीं है, दाना फल नहीं है, छिलका फल नहीं है, पर इन सबसे रहित फल भी नहीं है। इन सबके सहयोग का नाम फल है। इसी प्रकार से पुण्य-क्रिया धर्म नहीं है, परन्तु पुण्य-क्रिया के बिना धर्म होता भी नहीं है। बात को समझना। ये छिलके आदि फल नहीं है, रस नहीं हैं, पर इन सबके बिना रस होता भी नहीं है। रस तो रस है, छिलका छिलका है, दाना दाना है, बीज बीज है। ऐसे ही क्रिया तो क्रिया है, धर्म धर्म है, परन्तु धर्म क्रिया के अन्दर है, क्रिया धर्म नहीं है।

भो ज्ञानी! आप यहाँ पर आये, स्वाध्याय सुन रहे हैं, जिनवाणी सुन रहे हैं। पुण्य चल रहा है। पुण्य-क्रिया चल रही। ये स्वाध्याय की पुण्य-क्रिया में जो हमारे कषायों की मंदता आ रही है, इसका नाम धर्म है। हमारे परिणामों में निर्मलता आ रही है, इसका नाम धर्म है। जो क्रिया चल रही है, वो पुण्य-आस्रव है। भो ज्ञानी! कषायों की मंदता के बिना धर्म प्रारंभ होगा नहीं और जब पूर्ण धर्म की बात आयेगी तो तू अकषाय भाव को प्राप्त करेगा। परन्तु मार्ग, मार्ग है और मार्गी, मार्गी है। ये रत्नत्रय मार्ग है और रत्नत्रय से युक्त मोक्षमार्गी है। वो ही यथार्थ धर्म है। उस धर्म के लिये इस धर्म की आवश्यकता है। सम्यक्त्व के बिना धर्म नहीं होगा, पुण्य होगा। सम्यक्त्व के अभाव में जो भी आप पूजन-पाठ करोगे, वो मात्र पुण्यास्रव का कारण होगा। परन्तु सम्यग्दृष्टि जो भी क्रिया करे, उसकी पुण्य-क्रिया भी कर्म निर्जरा का हेतु बनेगी। इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव का शुभास्रव संसारसुखों का ही हेतु है। सम्यग्दृष्टि जीव का शुभास्रव परम्परा से मोक्ष का हेतु है।

भो ज्ञानी! आगम में 'प्रवचन' उसे कहा है, जिससे सम्यक्त्व में वृद्धि हो। यदि आप कहीं के उदाहरण खोज कर लाये हो तो जिसकी वहाँ दृष्टि नहीं थी, उसकी दृष्टि वहाँ पहुँच गई, तो सोचेगा कि अरे! वो पुस्तक तो हमें भी पढ़ना चाहिये। उसके अंदर श्रद्धा दौड़ गई और कहीं वो पढ़ने बैठ गया, अपने आप को नहीं संभाल सका, तो मालूम चला कि जिनसूत्र को भूल करके उन्मार्ग में चला गया। आगम में इसीलिये पहले ही शर्त रखी है शिष्यों से कि बेटा! स्वसमय का अध्ययन करो। स्वसमय यानि जिनागम। परसमय यानि परागम। परागम

पढ़ने के पूर्व स्वआगम का ज्ञान होना चाहिये। स्वआगम का ज्ञान नहीं है और परागम पढ़ने बैठ गये, तो तुम्हारी श्रद्धा डावाँडोल हो जायेगी। यदि आपको रामायण पढ़ना है, तो पहले 'पद्मपुराण' पढ़लो अन्यथा रावण के दस सिर बताते रहोगे।

जब तक स्वसमय का ज्ञान जीव को नहीं होता, और परसमय में चला गया, तो उसके परिणाम सम्यक्त्व से उन्मुख हो जाते हैं। अरिहन्त तीर्थंकर सौ इन्द्रों से पूज्य होते हैं। ऐसे सर्वज्ञ को छोड़कर भूत-प्रेतों के पाँव पड़ रहे हो, कैसे पागल हो? ध्यान रखना भैया! जिन जीवों का पुण्य अति क्षीण हो चुका है, ऐसे लोग ही ऐसी आराधना करते हैं और उनकी आराधना करके व्यंतर आदि की पर्याय को प्राप्त करते हैं।

भो ज्ञानी! भगवान् के एक हजार आठ नाम कहे गये हैं वे प्रत्येक भगवान् हमारे सर्वज्ञ हैं। सिद्धान्त कहता है कि सामंजस्य बैठायेंगे, पर सिद्धान्त को हटा करके नहीं, सिद्धान्त को रख कर। सभी प्राणियों में मैत्रीभाव है, पर सम्यक्त्व का अभाव करके नहीं। जो मिथ्यात्व में जी रहा था, उसको निकाल करके तुमने सन्मार्ग पर रख लिया और आप सामंजस्य के चक्कर में अपने सम्यक्त्व को खो बैठे। भो ज्ञानी! ऐसे सामंजस्य की कोई आवश्यकता नहीं। भगवन्! मुझे सम्यक्त्व सहित नरक पसंद है, सम्यक्त्वरहित मैं स्वर्ग में निवास नहीं करना चाहता हूँ। क्योंकि सम्यग्दृष्टि नारकी मोक्षमार्गी है और मिथ्यादृष्टि देव संसारमार्गी है। अध्यात्मग्रन्थों में जो भी शुद्धदशा की चर्चा है, वो व्यवहारचारित्रपूर्वक ही है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी तीन गुप्तियों से युक्त साधु की चर्चा कर रहे हैं। जो साधु मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त हैं तथा निर्विकल्प परम समाधि से सहित हैं, वे उस अपूर्व स्वानन्द का अनुभव करते हैं। यहाँ पर आचार्यभगवान् तपश्चरण को कमलयुक्त सरोवर की संज्ञा दे रहे हैं और अतिनिकट-भव्य मुनिराज को सूर्य कह रहे हैं। जैसे सूर्य के निकलने पर सरोवर के कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं, विकसित हो जाते हैं, उसी तरह मुनि के ध्यान में अवस्थित होने पर तप विकसित हो जाता है। वे अपनी तपरूपी किरणों से आत्मारूपी कमल को विकसित कर देते हैं। 'छहढाला' में दौलतराम जी ने कहा भी है—

मन, वचन, काय की गुप्ति को ही त्रिगुप्ति कहा है। अज्ञानी जीव जितने कर्मों को लाखों वर्षों की तपस्या में खपाता है, उतने कर्मों की क्षपणा त्रिगुप्तिधारी मुनि पल भर में ही कर देता है। यहाँ पर छठवें गुणस्थानवर्ती साधु को 'भो ज्ञानी' के अर्थ में नहीं लिया है। अध्यात्म की विवक्षा से ज्ञानी 'संज्ञा' प्रारम्भ होती है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से बता रहे हैं–

अथ तनुमनोवाचां त्यक्त्वा सदा विकृतिं मुनिः
सहजपरमां गुप्तिं संज्ञानपुंज्जमयीमिमाम्।
असतु परमां भव्यः शुद्धात्मभावनया समं
भवति विशदं शीलं तस्य त्रिगुप्तिमयस्य तत्॥ कलश 118॥

जो योगी मन, वचन और काय की विकृति को हमेशा के लिये छोड़ देते हैं और सम्यग्ज्ञानरूपी परम गुप्ति को धारण करते हैं, उनका पवित्र शील होता है। जिनका मन, वचन, काय की क्रिया पर पूरा नियंत्रण होता है, वे ही अपने उपयोग को शुद्ध आत्मतत्त्व में स्थिर कर पाते हैं।

भो ज्ञानी! त्रिगुप्ति के बिना शुद्धध्यान की सिद्धि असंभव है और ध्यान की सिद्धि के बिना कर्मों की निर्जरा करना संभव नहीं है। कर्मों का अभाव हुये बिना सिद्धपद की प्राप्ति नहीं है।

आचार्यभगवन् पुनः कह रहे हैं कि निश्चय प्रतिक्रमण ही शुद्धोपयोग है। जहाँ विकल्प हैं, वहाँ द्रव्य प्रतिक्रमण है। जहाँ परिणति निजात्मभूत है, तो भाव-प्रतिक्रमण है और पूर्ण विकल्प से रहित अवस्था निश्चय प्रतिक्रमण है। निज-आत्मा में लीनता, इसका नाम निश्चय प्रतिक्रमण है और त्रिगुप्ति के अभाव में निश्चय प्रतिक्रमण नहीं होता है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : ध्यान के भेदों का स्वरूप, जीव के पूर्वापर परिणामों का स्वरूप

गाथा : **मोत्तूण अट्टरुद्दं, झाणं जो झादि धम्मसुक्कं वा**
सो पडिकमणं उच्चइ जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु॥ 89॥
मिच्छत्त-पहुदिभावा, पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्त पहुदिभावा, अभाविया होंति जीवेण॥ 90॥

संस्कृत छाया : **मुक्त्वार्त्तरौद्रं ध्यानं यो ध्यायति धर्मशुक्लं वा।**
स प्रतिक्रमणमुच्यते जिनवरनिर्दिष्ट सूत्रेषु॥ 89॥
मिथ्यात्व प्रभृतिभावाः पूर्वं जीवेन भाविताः सुचिरम्।
सम्यक्त्व प्रभतिभावाः अभाविता भवन्ति जीवेन॥ 90॥

अन्वयार्थ : (यः) जो (आर्त्तरौद्रं मुक्त्वा) आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़करके (धर्मशुक्लं वा ध्यायति) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है (सः) वह साधु (जिनवरनिर्दि ष्ट सूत्रेषु) जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सूत्रों में (प्रतिक्रमणं उच्यते) प्रतिक्रमण कहा जाता है।

(जीवेन) जीव ने (पूर्वं सुचिरं) पूर्व में चिरकाल तक (मिथ्यात्वप्रभृतिभावाः भाविताः) मिथ्यात्व आदि भाव भावित किये हैं किन्तु (सम्यक्त्व प्रभृतिभावाः) सम्यक्त्व आदि भाव (जीवेन) जीव ने भावित नहीं किये हैं।

नियमदेशना

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ध्यान के विषय में कथन करते हुए कह रहे हैं कि चार प्रकार के ध्यान हैं आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। आदि के जो दो ध्यान हैं, मोक्ष के हेतु नहीं हैं, परन्तु अन्त के जो दो ध्यान हैं, वे मोक्ष के हेतु हैं। धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान ये उपादेय हैं। उनमें शुक्लध्यान परम उपादेय है। आर्त्त और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं। एक समय में एक जीव के एक ही ध्यान होगा। आप स्वयं चिन्तन करें कि हमारा कौन-सा ध्यान चल रहा है। धर्मस्थल पर पहुँच कर भी मंदिर की व्यवस्था में चला गया। आपकी इच्छानुसार व्यवस्था नहीं हुई, आप पूजन करना चाहते थे, लेकिन आपको धोती सूखी नहीं मिली, दुपट्टा फटा था, अनिष्ट संयोग। आप मंदिर में अपने कपड़े टाँग कर गये थे, कोई ले गया, इष्ट वियोग। इसलिये जिनागम कहता है कि मंदिर में हल्के होकर आओ।

एक भैया की घड़ी मंदिर में गुम हो गई, बोले-बताओ, महाराज! धर्म में कैसे मन लगे हमारी तो घड़ी गुम गई? इसलिये जिनवाणी कहती है कि सहज बनके आओ। ऐसी सामग्री लेकर मत आओ कि तुम्हारा धर्म्यध्यान छूटा तो छूटा, आर्त्तध्यान बना और अति तीव्रता हो गई तो रौद्र में परिणत हो गया।

आचार्यमहाराज शुक्लध्यान के विषय में कह रहे हैं कि

निष्क्रियं करणातीतं ध्यानध्येयविवर्जितम्।
अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं तच्छुक्लं योगिनो विदुः॥ नि. सा.॥

जो निष्क्रिय हो, इंद्रिय व्यापार से रहित हो, अंतर्मुख अवस्था में हो, जिसमें ध्यान ध्येय का विकल्प न हो, उसका नाम शुक्लध्यान है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न वक्ति
व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्ग-
स्तत्त्वं जिनेन्द्र तदहो महदिन्द्रजालम्॥ कलश 119॥

जिन जीवों ने निश्चयनय की बात को निश्चय मान लिया है, त त्त्व की बहुत बड़ी भूल है। निश्चय की चर्चा को निश्चय मान लेना बहुत बड़ी तत्त्व की भूल है। निश्चय चर्चा का विषय बनता ही नहीं है। निश्चय तो लीनता का विषय है और अज्ञानी चर्चा का विषय बना करके अपने व्यवहार धर्म की ओर जा रहा है। इसलिये निश्चयनय की बात निश्चय नहीं है। निश्चयनय भाषा है। और व्यवहारनय की बात व्यवहार नहीं है, व्यवहारनय भाषा है। व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म तो बहुत भिन्न हैं। रत्नत्रय का बुद्धिपूर्वक जो पालन है, वो व्यवहारधर्म है। रत्नत्रय का अबुद्धिपूर्वक निर्विकल्प पालन चल रहा है, आपका वो निश्चयधर्म है और जीवों ने क्या मान लिया है, निश्चय को नय मानकर चले तो निश्चय वाले हो गये और व्यवहार की बात करे सो वो व्यवहार वाले हो गये। पर वास्तव में तुम निश्चय वाले भी नहीं हो, व्यवहार वाले भी नहीं हो।

भो ज्ञानी! जो कहता है कि मैं शुद्ध हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं निरंजन हूँ, मैं परमार्थ स्वरूप हूँ, ये भी व्यवहार ही कहता है। जब तक मिश्री को तोड़ रहे हो, तब तक स्वाद नहीं आ रहा है और जो यह कह रहा है कि मिश्री के स्वाद को मैं ले रहा हूँ, तब तू स्वाद नहीं ले रहा है। जो स्वाद ले रहा है, उस समय मिश्री के स्वाद को कह नहीं सकता है। पानी पीते-पीते पानी का स्वाद बता सकते हो? मुँह में पूरा पानी भर लेना, एक बूँद भी खाली स्थान नहीं

छोड़ना। जब कहोगे, तो पानी बाहर आ जायेगा। जब पानी अंदर जायेगा, तो तुम्हारा मुख बन्द हो जायेगा। ऐसे ही जो स्वानुभूति में लीन है, वो स्वानुभूति को कहता नहीं है और जो स्वानुभूति को कह रहा है, वो स्वानुभूति में लीन होता नहीं है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जैसे इन्द्रजाल को समझना कठिन होता है, ऐसे ही जिनेन्द्रदेव के नय को समझना बहुत कठिन होता है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी 'पुरुषार्थ-सिद्धियपाय' में कह रहे हैं–

इति विविध भंग गहने सुदुस्तरे मार्गमूढ़दृष्टीनाम्।
गुरवो भवंति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः॥ पु. सि. 58॥

ऐसे वीतरागी महान आचार्य के मन में भी आया कि तत्त्व का ज्ञान समझने के लिये, विविध प्रकार के भंग (नय) को समझने के लिये गुरुचरणों का आशीर्वाद लेना आवश्यक है। ऐसा आचार्यमहाराज के मन में भी झलका। पर ये सत्य नहीं है कि कोई सोचे कि अपन पढ़कर सीख लेंगे। अध्ययन आप करते हो पूरे ग्रन्थ का और एक घंटे का उपदेश, दोनों में बहुत अन्तर होता है। क्योंकि ग्रन्थ जो कहता है, वो सीधा कहता चला जा रहा है और ग्रन्थ को निर्ग्रन्थ कह रहा है, तो ग्रन्थ में और क्या-क्या होना चाहिये, वो सामने आ रहा है। इसलिये आचार्यमहाराज ने शब्द रखा "गुरवो भवन्ति शरणं"। यदि लोक में कोई शरण है, तो वे गुरु हैं।

भो ज्ञानी! जिनदेव ने अपनी वाणी में जिन तत्त्वों का कथन किया है, उन तत्त्वों के अनुसार तेरी दृष्टि नहीं है, तो तू जैनजाति का है, लेकिन जैनदृष्टि का नहीं, इसलिये मार्ग-मूढ़ है। अपन तो ये समझते हैं कि हमने तो ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' का ये सूत्र कितना गहरा है "बंधेधिकौ पारिणामिकौ च"। लोग लड्डू बनाते हैं, उसमें शीरा (चासनी) ज्यादा होता है या आटा ज्यादा होता है? यदि आटा ज्यादा हो गया, तो कसार बनेगा, लड्डू नहीं बनेगा। और शीरा ज्यादा हो गया, तो हलुआ बन जायेगा, लड्डू नहीं बनेगा।

भो ज्ञानी! बताओ, परिणमन क्या कर रहा है? उनके जेब का 50 का नोट आपकी जेब में आ गया। द्रव्य अपनी सत्ता को नहीं खो रहा है। परन्तु इनको हर्ष-विषाद दिला करके कर्म का बन्ध करा रहा है। जो आपने सेवन किया, वो सीधा जाकर आपकी थैली में रख गया। इस बर्तन का उस बर्तन में। बड़े गहरे में समझना। अब बताओ, क्या हुआ? क्षेत्र परिवर्तन, परिणाम का परिवर्तन हुआ कि नहीं? यहाँ आपका पुद्गल का क्षेत्र परिवर्तन हो रहा है और चेतन का भाव-परिवर्तन शुरू हो गया। एक हर्षित हो रहा है और दूसरा विलख रहा है। आर्त्त-रौद्र ध्यान में चला गया और यहीं धर्म्यध्यान भी है। क्या है? कुछ भी तो नहीं है। अपने

चतुष्टय में तो है। जिसको चखा नहीं, जिसको खाया नहीं, जिसको पिया नहीं, उसका इतना आनन्द, इतना विषाद?

भो ज्ञानी! तुम्हारे सारे कार्य थ्रेसर की मशीन की तरह चल रहे हैं। बटन चटका है और काम अनेक हो रहे हैं। ऐसे ही ज्ञान-दर्शन की धारा एक है, पर तेरे उपयोग के कारण, योग की चंचलता के कारण कर्म तेरे साथ सात रूप आ ही रहे हैं और कहीं आयु का बन्ध भी आ गया, तो आठ एकसाथ होंगे। अधिकता किसकी रहेगी? जिसके प्रति राग ज्यादा होगा, उसका बन्ध ज्यादा होगा। जैसे आपने किसी औषधि का सेवन किया। जिस रोग की औषधि उसका तो दमन करेगी, परन्तु वह सात धातु रूप परिवर्तित भी होगी। रोग तो ठीक होगा सो तो ठीक है, लेकिन जो भी द्रव्य सेवन करोगे, पत्थर भी खाओगे तो सप्त धातु बनेंगी। ये विज्ञान कहेगा, जबकि वीतराग विज्ञान ने तो कह ही दिया है। नमक खाते हो, वो भी तो द्रव्य है। बाहर वाला नमक पृथ्वी है, पत्थर है, उससे भी सप्त धातुयें बनती हैं। व्यक्ति मात्र पानी-ही-पानी पिये, तो भी सप्त धातु बनेंगी।

भो ज्ञानी! द्रव्य का परिणमन देखो और परिणामी का परिणमन देखो। घास में दूध है। जब तुझे घास में दूध दिख सकता है, तो वीतराग जिनमुद्रा में भगवान् कैसे नहीं दिख सकते हैं? किसी ने कह दिया कि लाओ घास, निकालो दूध, फिर क्या कहोगे? जिस दिन अच्छी हरी घास मिल जाये तो दूसरे दिन गाय का दूध अच्छा मिलता है। आपकी आत्मा में भगवान् हैं कि नहीं, दिखाओ कहाँ हैं? तो जैसे घास का दूध घास से नहीं निकाला जाता, ऐसे ही शरीर में बैठा परमात्मा शरीर से नहीं दिखाया जाता है। घास में दूध तो है, पर गाय को खिलाना पड़ेगी, तब वो दूध निकलेगा। बिना ध्यान के तुम भगवान् को निकालना चाहते हो। ध्यान रखो कि कितना ही विज्ञान होगा, घास से दूध नहीं निकाल पायेगा, ऐसे ही आत्मतत्त्व में ध्यान क्यों नहीं लगाते हो?

भो ज्ञानी! जो मूढ़ जीव हैं, उनके लिये कोई शरणभूत है, तो गुरु, "गुरुवो भवंति शरणम्" जो नयचक्र के संसार को जाननेवाले हैं। पर ध्यान रखो, कौन-से गुरु सर्वज्ञ होते हैं। जो भगवान जिनेन्द्र के नयचक्र के संचार के प्रबुद्ध ज्ञाता हैं। यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यदि नयचक्र को समझना है, तो ज्ञाता की शरण लेनी पड़ेगी। अभिमन्यु ने गर्भस्थ अवस्था में चक्रव्यूह में प्रवेश सीख लिया था, पर निकलना नहीं सीखा था। तो क्या प्रवेश करने से रक्षा हो गई? ऐसे ही जिनवाणी का पढ़ना तो सीख लिया, पर जिनवाणी के नय की व्यवस्था को लगाना नहीं सीखा, तो तू संसार के चक्र से नहीं निकल सकता। नयों का चक्र कितना

बड़ा है? "जावदिया वयणवहा, तावदिया चेव होंति णयवाया॥ 3/47॥ जितने वचनवाद हैं, उतने नयवाद हैं। इतने नयवादों के चक्र को जो समझ लेगा, भो ज्ञानी! वो इस गहन अटवी से पार हो जायेगा। इसलिये नय का ज्ञान अध्यात्मशास्त्र को समझने के लिये आवश्यक है।

भो ज्ञानी! जो वैशेषिक मान्यता है कि भगवान्/परमात्मा सदा कर्ममलों से अस्पृष्ट हैं, क्योंकि अनुपाय सिद्ध हैं अर्थात् उपायपूर्वक तपस्या आदि करके मुक्त नहीं हुये हैं, इस मान्यता पर आचार्य श्री विद्यानंद कहते हैं–

नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद्विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथानुपपत्तित्तः॥ आ. प. 9॥

कोई भी सर्वज्ञ हमेशा से कर्मों से अस्पृष्ट नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से अनुपाय सिद्ध प्रतिपन्न नहीं होता है। कोई ये कहे कि सर्वज्ञ कर्मों से रहित हैं, तो ये सही नहीं है। जब सर्वज्ञ कर्मों से रहित नहीं हैं, तो असर्वज्ञ आत्माओ! आप कर्म से रहित कैसे? बात को पकड़ना। जब तक सर्वज्ञ सबको सर्व का ज्ञान करा रहा है, तब तक सर्वज्ञ भी निकलंक नहीं है। जिस दिन सर्वज्ञ का कहना बन्द हो जायेगा, जिस दिन सर्वज्ञ का चलना बन्द हो जायेगा, जिस दिन सर्वज्ञ के योग का अभाव हो जायेगा, तब भो देव! आप निष्कलंक होंगे। अभी तो आप सर्वज्ञ ही हो, अभी चार घातिया कर्मों का घात किया है, चार अघातिया कर्म-कलंक लगे हैं, अभी निष्कलंक कहाँ हुये हो? इसलिये निकल-परमात्मा सिद्ध-भगवान् हैं और सकल-परमात्मा अरहन्त-भगवान्। क्या कह रहे हैं? जब तक कर्म के अभाव का उपाय नहीं करेंगे, तब तक निष्कलंक नहीं होंगे। आपने कर्म के अभाव का उपाय किया ही नहीं और अपने आपको निष्कलंक घोषित कर भी दिया तो आप निष्कलंक संज्ञा को तो प्राप्त हो जाओगे, पर निष्कलंक स्वभाव को प्राप्त नहीं होगे। निष्कलंक तो किसी बेटे का नाम भी रखा जा सकता है। लोग अपने घर का नाम सर्वज्ञ भवन रखे हैं, तीर्थंकर भवन भी रखे हैं, तो उस भवन में रहने वाले सर्वज्ञ या तीर्थंकर हैं क्या? नाम-निक्षेप का कोई काम नहीं है। यहाँ जो चर्चा चल रही है, वो नाम-निक्षेप की नहीं है, वो भाव-निक्षेप की है। ये चर्चा द्रव्यनिक्षेप की भी नहीं है, स्थापना निक्षेप की भी नहीं है। ये चर्चा तो भाव-निक्षेप की ही है।

भो ज्ञानी! सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय में होता है और चौदहवें गुणस्थान में व्युपरत-क्रिया-निवर्तीनि शुक्लध्यान होता है। जो कर्म की अवस्था है, पुण्यप्रकृतियाँ हैं, उनकी क्षपणा तो सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान से कर रहा है। पुण्य का क्षय देखों। जो विशाल वस्तु होती है, उसके लिये विशालता ही चाहिये। पाप का क्षय तो

धर्म्यध्यान से और दो शुक्लध्यान से हो जाता है, पर अघातिया का क्षय करने के लिये उनको सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति और व्युपरत-क्रिया-निवर्तीनि यानि शुक्लध्यान के दो अंतिम पायों की आवश्यकता पड़ती है। इसको टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से कह रहे हैं—

सद्बोधमण्डनमिदं परमात्मतत्त्वं
मुक्तं विकल्पनिकरैरखिलैः समन्तात्
नास्त्येष सर्वनयजातगत प्रपञ्चो
ध्यानावली कथय सा कथमत्र जाता॥ कलश 120॥

जो परमात्मतत्त्व है, वह सद्बोध मंडल है, वो सम्यग्ज्ञान के आभूषण से मंडित है। जिसमें सभी प्रकार के योग चारों तरफ से छूट गये हैं, विकल्पों का खजाना सम्पूर्ण रूप से जिनका समाप्त हो गया है, जिनके नयों का जो प्रपंच है, जाल है वो भी निकल चुका है। जब कोई विकल्प ही नहीं बचा, फिर किसका ध्यान, कौन ध्येय, कौन ध्याता, क्या फल? ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प नहीं है, तो शुद्ध दशा। जब तक मुझे ये लग रहा है कि मुझे ध्यान करना है, तब-तक तुम ध्यान में नहीं रहोगे, क्योंकि विकल्प है। ध्यान का विकल्प भी ध्यान से दूर किये है। जब धर्म का विकल्प धर्म्यध्यान से दूर कर सकता है, तो आर्त्त-रौद्र ध्यान का विकल्प भी तुझे शुद्धात्मा में कैसे भेज सकता है?

भैया! एक मिनट के लिये सोच लो कि अच्छा खाने को मिले, तो कैसा लगता है? अच्छा पीने को मिले, तो कैसा लगता है? जब इंद्रिय-भोगों की अनुभूति इतना तृप्त कर रही है, जबकि पुद्गल का पुद्गल से सेवन चल रहा है, तो आत्मा से आत्मा के द्रव्य की अनुभूति कैसी होगी ? एक समय को योगी बनके अनुभव करना। ठंड के मौसम में दूसरे के चादर को ओढ़ लिया। ठंड से तो बचाव हुआ है, पर ये दूसरे का है, ये जो विकल्प है, ठंड से ज्यादा कष्ट दे रहा है क्योंकि मेरा नहीं है। ऐसे ही भो चैतन्य! इंद्रियभोग का स्वाद आनंद तो देता है। आनंद न देता, तो आज तक तुम भोगते कैसे रहे? परन्तु पर का स्वाद पररूप होता है। जब निज का बोध होता है, तब लगता है कि स्वाद मेरा नहीं है।

भो ज्ञानी! जहाँ विकल्प अखिल रूप से नष्ट हो चुके हैं, वहाँ ध्यानसमूह का भी विकल्प नहीं है। ऐसा निर्विकल्प निर्ग्रन्थ योगी निज आत्मानुभूति का अनुभव करता है। ऐसा विकल्प तुम्हारा नष्ट हो गया, तो समझ लेना कि मैं आत्मानुभूति का पात्र बन चुका हूँ। अन्यथा शब्दों का आनंद लूटो। पर ये सत्य है कि जब एक कामी अपने अनुकूल कामिनी की बात सुनता है तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं, तब फिर जब मिलन होगा, तो कितनी अनुभूति उसको

होगी? अन्यथा में मत चले जाना। एक कामी कामिनी की चर्चा में प्रसन्न हो रहा है, डूबा हुआ है। जब उसकी कामिनी का मिलन होगा तो उसकी अनुभूति क्या होगी? ऐसे ही योगी अपनी निज कामिनी की कामना में इतना आनंदित हो रहा है, जब निज कामिनी के साथ सम्मिलन हो जायेगा, वरण हो जायेगा, तो भो चैतन्य! उसकी अनुभूति उसी से पूछना, बेघरों से मत पूछना। इसलिये भो ज्ञानी! या तो कुंवारे हो या फिर विधुर हो तो रत्नत्रय से कुँआरे या कोरे हो और जब तक रत्नत्रय से कोरे हो, तब तक निज आनंद का अनुभव संभव नहीं दिखता है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 90वीं गाथा को बड़े गहन रूप से लिखा है। ज्ञानियो! मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये बन्ध के हेतु हैं। पहला शत्रु कौन है? मिथ्यात्व। अपन लोगों के साथ मिथ्यात्व की बड़ी अनुकम्पा है। यदि अनुकम्पा न होती उसकी, तो आज पंचमकाल में इधर बैठने को कैसे मिल रहा होता? सिद्धशिला पर बैठे होते।ये मिथ्यात्व की ही करुणा है कि आपको पंचमकाल में बैठा दिया। परन्तु सम्यक्त्व की अनुकम्पा मत भूल जाना। हमारी अनुकंपा तुम्हारे ऊपर हो जाती तो हम तो आपको सिद्धों के बीच बैठाते। आप सोच लो कि कौन-सी अनुकम्पा चाहते हो? सम्यक्त्व की। तो भैया! दुनियाँ के बाहरी चबूतरों पर सिर टेकना बन्द कर दो। भैया! परेशानी भी आ सकती है और कुछ लोग भयभीत भी हो जाते हैं। जब-जब तुम धर्म करोगे, तब परेशानियाँ आना ही चाहिये और आती ही हैं। बात को समझना। जिनवाणी को सुनो, तो समझो भी। जो कर्म दस वर्ष बाद पकने वाला था, तुमने धर्म किया, तपस्या की तो वह जल्दी पक गया, तो उदय में आ गया, तो तुम घबरा रहे हो। अरे! खुश हो जाओ कि विवेक के साथ पककर आ गया है। आपने जो तपस्या की है, धर्म किया है, संयम के मार्ग पर बढ़े हो। सबसे बड़ी तपस्या तो वो है कि दुनियाँ के राग को छोड़ा है। जिनवाणी में तपस्वी मात्र उसे नहीं कहा है जिसने बहुत उपवास किये हों। जिनवाणी कह रही है कि जिसने बहुत राग मोह को छोड़ा है, उसका नाम तपस्या है।

भो ज्ञानी! पहले राग को छोड़ो। ये राग तुम्हें शुद्धोपयोग में नहीं ले जाने दे रहा। ये तो तुम्हें शुभोपयोग में भी नहीं ले जाने दे रहा। यदि अहम् का भाव है कि मैं मुनि, मैं मुनि, तो भी यह संसार में रुलायेगा। 'समयसार' में लिखा है कि द्रव्यलिंग, पाखंडलिंग ये मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो स्वरूप की लीनता है। पर अज्ञानियों ने क्या समझ लिया? फिर मुनि बनो ही मत। ज्ञानी! ऐसा नहीं है। बनना तो यहाँ पड़ेगा ही, पर उसमें भी राग मत करो। अहो! जिस वीतराग वाणी में मुनिपद के राग को छुड़ाया गया हो, तो विषयों के पद के राग को उपादेय कैसे कह सकते हो?

भो ज्ञानी! ऐसे ही साम्य परिणाम रहे, कषाय में मंदता रही, तो आप स्वर्ग तो चले जाओगे। स्वर्ग तो मिथ्यादृष्टि भी चला जाता है छोटे-मोटे नहीं, ग्रैवेयक तक। पर ध्यान रखना, ग्रैवेयक में जाने वाला नियम से संयमी होगा। असंयमी मिथ्यादृष्टि का परिणमन भवनत्रिक तक ही है। यदि भूत बनकर घूमने की इच्छा होये, तो आपकी जैसी इच्छा। लेकिन भैया! व्यंतर बहुत घातक वस्तु कहलाती है। स्वयं पिरता है और दूसरों को पेरता है और कहलाता देव है। 'भगवती आराधना' में इसे देवदुर्गति कहा है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, तुम तनक-सा भी धर्म कर रहे हो, तो उसमें छल-कपट मत करना, भले ही तुम कम-कम करना। देखो, हीरे-जवाहरात की दुकान है तो घाटा होने पर दिवालिया होने में देर नहीं लगती। अब तुम भीख माँग नहीं सकते हो, क्योंकि तुम सर्राफ कहलाते हो। ठेले वाला आदि तो भीख भी माँग सकते हैं। ज्ञानी! गहन बात को समझना। जिनवेश को प्राप्त करके, धर्मात्मा के वेश को स्वीकार करके, साधुसंत के चादर को ओढ़ करके भी शील का चादर तेरे पास नहीं है, कषायों की मंदता का चादर नहीं है, इंद्रियसंयम, प्राणीसंयम, वाणीसंयम नहीं है, तो ध्यान रखो, तुमने अपने सोने-चाँदी की दुकान में स्वयं आग लगा डाली। जो आस्रव तुमको होगा, वो असंयमी को नहीं होगा। तुम्हारे आस्रव की गुणवत्ता भिन्न होगी, तुम्हारे बन्ध की गुणवत्ता भिन्न होगी और तुम्हारे विपाक की दशा भिन्न होगी।

भो ज्ञानी! 'अष्ट पाहुड' में क्यों नहीं लिखा आचार्यभगवन् ने कि गृहस्थ निगोद में जायेगा? सीधे ये लिख दिया कि सुई की नोक के बराबर भी, संयम के उपकरण के सिवा, परद्रव्य को स्वीकारते हो, तो निगोद के पात्र हो। ये आचार्य कुन्दकुन्द लिख रहे हैं। इसलिये धर्म-धर्मात्मा का भी मद मत करना। इस मद में भी तुम नीचे ही जाओगे। अग्नि चाहे चंदन की हो, चाहे बबूल की हो, चाहे नीम की हो, अग्नि जलायेगी ही। हमारे महाराज ऐसे हैं, हमारे गुरुजी तो ऐसे हैं, ऐसे भाव भी तुम्हारे मन में आ गये, तो अभिमान के भाव आ गये। तो जो जैसे हैं, उनका तो परिणमन वैसा हो रहा है, पर आपका परिणमन ठीक नहीं है। इसलिये 'तत्त्वसार' में कहा है कि कहीं इनके अहम् में आकर तुम निज को मत भूल जाना, क्योंकि पंच-परमेष्ठी भी परगत-तत्त्व हैं।

ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ गुणइ अप्पाणं।
जो जीवो संवणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ।। त. सा. 55।।

अरे जीव! पूर्व में भी तुमने चिरकाल से अच्छी तरह किसको भाया? काम, भोगादि को। काम, भोगादि को सुना है, अनुभव किया है, परिचित है। परन्तु जो सम्यक्त्व प्रवृत्ति के परिणाम हैं, इनसे तू अभावित रहा। इसलिये गौतम स्वामी ने मुनियों के प्रतिक्रमण में लिखा है कि

जिसे मैंने आज तक भाया है, अब मैं उसे भाना नहीं चाहता हूँ। जिसे आज तक नहीं भाया है, उसे अब मैं भाना चाहता हूँ। भो मनीषियो! आपने किसे भाया?

भो ज्ञानी! कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' की गाथा संख्या 90 में उपदेश देते हुये कहा कि इस जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्व की भावना के वशीभूत होकरके तत्त्व को भी अतत्त्वदृष्टि से देखा है और अतत्त्व को तूने तत्त्व की दृष्टि से देखा है। सद्शास्त्र में तूने कुशास्त्र दृष्टि को रखा है और कुशास्त्र में तुमने सद्शास्त्र दृष्टि को रखा है। शास्त्र वही है, जो शास्ता ने कहा है। शास्त्र वही है, जो गुरु ने कहा है। ग्रन्थ का पारायण करने के पूर्व ग्रन्थ में क्या है, इस बात को जानना आवश्यक है। एक बार जब भी दृष्टि में चला गया, तो उसको बदलना बड़ा कठिन हो जाता है। समीचीन ज्ञान जिनको नहीं हुआ है और विपरीत ज्ञान हो गया, तो उसको बदलना अत्यंत कठिन हो जाता है। आचार्य अकलंकदेव ने 'राजवार्तिक' में लिखा है :

पराभिप्राय निवृत्य शक्यत्वात्॥ त. वा. 7॥

दूसरे के अभिप्राय को बदलना बड़ा अशक्य होता है। जिनके सिद्धान्त को आप स्वीकार कर रहे हो, वे भी आपको समझाने आ जायें, तो उनकी बात को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं, क्योंकि हमारी दृष्टि ऐसी बन चुकी है। शास्त्र में कभी दो-दो बातें मिल जाती हैं। आचार्यों ने संगठन को, समुदाय को व्यवस्थित रखने के लिये कौन-से शब्द का, शैली का प्रयोग किया? यदि हम कहते हैं कि ऐसा नहीं, ऐसा ही है, तो विवाद ही खड़ा होगा। आचार्यों ने बड़ा सहज शब्द रख दिया। उत्तरवर्ती आचार्यपरम्परा, दक्षिणवर्ती आचार्यपरम्परा, ऐसी दो परम्परा। जहाँ दो प्रमाण मिलते हों, दोनों स्वीकार कर लो। जब प्रत्यक्ष ज्ञानी से मिलेंगे, तो निर्णय हो जायेगा। आप इस बात को लेकर संकल्प-विकल्प मत करो, क्योंकि आगम के अध्ययन का उद्देश्य कषायों की मंदता का है। अब आप यह मत कह देना कि कषायों की मंदता हो जायेगी तो ग्रन्थ पढ़ने की क्या आवश्यकता है? जिसमें देव और गुरु का स्वरूप है, उसको समझना आवश्यक है, नहीं तो अदेव को देव मान लोगे और अगुरु को गुरु मान लोगे। लोक में 363 मिथ्यामत चले हैं, ये किस कारण चले हैं? भक्ति के उद्वेग से प्रकट हुये हैं। जिनकी भक्ति से 363 मिथ्यामत चले, वे भी समझाने आये, पर सामान्य व्यक्ति बनकर नहीं, तीर्थंकर बनकर आये, फिर भी लोगों को संभाल नहीं पाये, समझा नहीं पाये, क्योंकि होनहार थी। इस होनहार का कर्त्ता होनहार नहीं है। होनहार का कर्त्ता तेरे भाव हैं। तेरी विपरीत बुद्धि, अविद्या-परिणाम, निज तत्त्व में मिथ्यात्व-प्रकृति-परिणाम, मिथ्यात्वरूप परिणाम, जीव ने पूर्व में अच्छी तरह से, चिरकाल से, लम्बे समय से इसी को भाया है। एक प्रकार का मिथ्यात्व नहीं है, ये पाँच प्रकार का होता है। 363 भी मिथ्यात्व के भेद हैं।

हे भगवान् महावीर स्वामी! आपका महामस्तकाभिषेक करेंगे। क्यों करेंगे? हे प्रभु! मेरा शरीर बिल्कुल सुरक्षित रहे, मेरे जन-परिजन स्वस्थ रहें। भो ज्ञानी! तू तीनलोक के नाथ के चरणों में कर्म को स्वस्थ रहने की बात कर रहा है। अध्यात्म की भाषा, भक्ति की भाषा में भी कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है:

दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाओ, सुगई गमणं,
समाहि मरणं, जिनगुण संपत्ति होउ मज्झं।

मेरे दु:खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, मुझे आरोग्य की प्राप्ति हो। क्यों? बोधि की प्राप्ति तभी होगी, जब शरीर का आरोग्य होगा। दृष्टि-दृष्टि में देखना अन्तर। एक जीव कह रहा है कि मेरा शरीर स्वस्थ रहे, जिससे मैं कर्मनिर्जरा कर सकूँ और दूसरा जीव कह रहा है कि मेरा शरीर स्वस्थ रहे, पर वह कर्मबन्ध कर रहा है। कुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं कि जिससे बोधि की प्राप्ति हो, बोधि का लाभ हो, समाधिपूर्वक मरण हो और मिथ्यादृष्टि कह रहा है कि भगवन्! आपकी शांतिधारा कर रहा हूँ जिससे कि शरीर स्वस्थ रहे, क्योंकि इंद्रियाँ काम नहीं करेंगी तो भोग कैसे भोगूँगा? दृष्टि देखना, दोनों शांतिधारा कर रहे हैं। एक की धारा शांतिरूप ही है और दूसरे की धारा वर्तमान में साता का उदय हो तो शांति महसूस करेगा। पर है असाता का उदय, तो कर्मबन्ध होगा। किसको? जो माँग रहा है कि मेरा शरीर स्वस्थ रहे। आया था अकर्म के लिये और कर्म बाँध रहा है। ऐसी वस्तु की प्राप्ति हो जिससे अभिनव आस्रव हो। किसी ने माँगा कि मेरा शरीर सुन्दर हो। आपने भगवान् से क्या माँगा?कर्म मांगा है। कर्म-नोकर्म की प्रकृतियों में एक शुभ-नामकर्म है। वर्ण नामकर्म भी है, जिससे सुन्दर शरीर, गोरा वर्ण मिलता है। जो कह रहा था "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ", वह कर्म के क्षय की बात कर रहा था।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने भव्य के दो भेद कहे हैं। आसन्न भव्य और दूरांदूर भव्य। जिनकी भवावली अत्यन्त नजदीक है, वे आसन्न भव्य या निकट भव्य और जिनकी भवावली अत्यन्त दूर है, वे दूरांदूर भव्य। जिनवाणी में स्पष्ट लिखा है कि जो अरहन्त के प्रवचन सुन रहा है, जिसकी तत्त्व में प्रीति है, निर्ग्रन्थ गुरुओं के प्रति आस्था है, उसे अभव्य क्यों कहें? वो तो भव्य है। ऐसा श्रावकाचार में कथन है। परन्तु देव, शास्त्र, गुरु के प्रति मायाचारी से रहित वास्तविक श्रद्धान होना चाहिये।

न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥ वृ. स्व. स्तो.॥

हे प्रभु, हे वीतरागी! मेरे पूजा करने से आप प्रसन्न नहीं होते हो और निन्दा करने से आप बैर धारण नहीं करते हो। आप वीतरागी हो। जिनदेव न किसी का इष्ट करते हैं, न

किसी का अनिष्ट करते हैं। जीव की निज की परिणति ही इष्ट और अनिष्ट करती है। दुनियाँ के गुरु श्राप और वरदान दे सकते हैं, परन्तु जो दिगम्बर वीतरागी गुरु होंगे, सच्चे गुरु होंगे, तो वे किसी को श्राप भी नहीं देते, वरदान भी नहीं देते, मात्र आशीर्वाद देते हैं।

हे ज्ञानी! यदि आप आसन्न भव्य हो, तो निश्चल भाव से श्रद्धा करो, यही मापदंड है। कर्मप्रकृति को देख नहीं सकते, क्योंकि ये आपके ज्ञान का विषय नहीं है, पर अन्दर का आह्लादपना तो आप माप सकते हो स्वयं का कि हमारा अंतरंग श्रद्धान कैसा है? अंतरंग श्रद्धान में गड़बड़ी आ रही है तो समझ लो कि हमारा पुण्य क्षीण हो रहा है। जिनवाणी में स्पष्ट लिखा है कि ऐसे-ऐसे परिणाम होंगे तो ऐसी-ऐसी दुर्दशा होगी। क्षपणासार, लब्धिसार ग्रन्थ में परिणामों की व्याख्या है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने चार 'सामान्य' प्रत्यय गिनाये हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। क्योंकि प्रमाद को कषाय में ग्रहण कर लिया है। उमास्वामी महाराज ने पांच प्रत्यय गिनाये हैं। 'समयसार' में तेरह प्रत्यय गिनाये हैं, तेरह कारण दिये हैं, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्यय होते हैं। तेरहवें गुणस्थान में योग खड़ा हुआ है। 14वें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है। इसलिये यहाँ कह रहे हैं कि सामान्य प्रत्यय चार अथवा पाँच हैं। प्रत्यय यानि हेतु, कारण, निमित्त। संसार में भटकाने के पाँच कारण हैं।

भो ज्ञानी! स्त्री अब्रह्म नहीं है, पुरुष अब्रह्म नहीं है। स्त्री अब्रह्म होती, तो आर्यिका की वंदना कौन करता? वो भी तो स्त्री है। पुरुष अब्रह्म है, तो मुनिराज कौन होता? अब्रह्म कोई है, तो आपकी नोकषाय, वेदकर्म का उदय है। सिद्धान्त समझना। नोकषाय की मंदता को विचलित करने वाला कोई है तो स्त्री पुरुष का सम्पर्क है। भावसंयम तो उसी दिन चला गया था जब तुम्हारे परिणाम विकृत हुये। सोना कितना ही कठोर हो, वज्र ही क्यों न हो, अग्नि की शक्ति धन्य है कि सबको पिघलाना जानती है। ऐसे ही मनीषियो! नारी की शक्ति धन्य है, सबको पिघलाना जानती है। यदि आप सोने के सुन्दर आभूषण कुंडल को सुरक्षित रखना चाहते हो तो कान को अग्नि से दूर रखना। वो पिघले या न पिघले, गर्म हो जायेगा तो तुम्हारा कान तो जला ही देगा। सोने के आभूषण पहननेवाला तेज धूप में बैठ जाये, तो धूप स्वतः ही गर्मी प्रकट करा रही है, इसलिये वो सोने का आभूषण गर्म हो गया। संपर्क ही जिसका जला रहा है, तो संयोग होने पर उसका क्या होगा?

भो ज्ञानी! आस्रव के कितने प्रत्यय हैं? 57 आस्रव को रोक लोगे, तो संवर के 57 नहीं आयेंगे और आस्रव को नहीं रोक पाओगे, तो 57 आयेंगे। जब तक संवर नहीं होगा, तब

तक निर्जरा भी कार्यकारी नहीं होगी। मोक्षमार्ग में निर्जरा प्रयोजनभूत है। कौन-सी? संवर सहित निर्जरा। अकाम निर्जरा कार्यकारी नहीं, अविपाक निर्जरा कार्यकारी है। अकाम निर्जरा तो तूने अनन्त बार की। सकाम निर्जरा तो व्रतीभाव से युक्त जीव के होती है। भावव्रती कौन? जो द्रव्यव्रत सहित होगा। महाराज जी! आप द्रव्यव्रती हो और हम भाव करने के कारण भावव्रती हैं। भो ज्ञानी! ऐसे भावव्रती नहीं होता। जो द्रव्यव्रती है, वो भावव्रती हो, यह आवश्यक नहीं है। पर जो भावव्रती है, वह द्रव्यव्रती होगा ही।

भो ज्ञानी! 'नियमसार' सुनना सरल है, पर समझना इतना सरल नहीं है तथा पालना भी कठिन है। संसार का जो सुख है, उसे लाना पड़ता है, जुटाना पड़ता है, कमाना पड़ता है; पर आत्मा का जो सुख है, कहीं से लाना नहीं पड़ता, स्वाधीन है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को संपूर्णतया स्वीकार करने और मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र को संपूर्णरूप से छोड़ने पर वह साधु प्रतिक्रमणरूप होता है।

गाथा : **मिच्छादंसणणाणचरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।**
सम्मत्तणाणचरणं, जो भावइ सो पडिक्कमणं॥ 91॥

संस्कृत छाया : **मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं त्यक्त्वा निरवशेषेण।**
सम्यक्त्वज्ञानचरणं यो भावयति स प्रतिक्रमणम्॥ 91॥

अन्वयार्थ : (मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रं) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को (निरवशेषेण) संपूर्णरूप से (त्यक्त्वा) छोड़कर (सम्यक्त्वज्ञानचरणं) सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को (यः) जो साधु (भावयति) भावित करता है (सः प्रतिक्रमणं) वह साधु प्रतिक्रमणरूप है।

नियमदेशना

भव्य बंधुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में भव्य-अभव्य का कथन करते हुये यह संकेत दिया कि इस जीव ने अनादि से मिथ्यात्व को भाया और सम्यक्त्व की भावना से रहित होकरके मिथ्यात्व का ही सेवन किया। गुणभद्र स्वामी ने भावना का लक्षण करते हुये बताया—

भावयामि भवावर्त्ते भावनाः प्रागभाविताः।
भावये भाविता नेति भवाभावाय भावनाः॥

जिसके भाने से भव का विनाश हो, वो ही भावना है। ऐसी भावना को भाना ही मोक्षमार्ग है। यदि वो भावना नहीं है, तो मोक्षमार्ग में स्थित होकर भी मोक्षमार्गी नहीं है। पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में बहुत सुन्दर संकेत कर रहे हैं—

अथ भवजलराशौ मग्नजीवेन पूर्वं
किमपि वचनमात्रं निर्वृतेः कारणं यत्।
तदपि भवभवेषु श्रूयते वाह्यते वा
न च न च बत कष्टं सर्वदा ज्ञानमेकम्॥ कलश 121॥

इस कलश में बहुत खेद के साथ टीकाकार लिख रहे हैं कि इस भवसागर के जल में डूबे हुए जीव ने, पूर्व में भी जो निर्वाण के कारण हैं ऐसे वचनों को सुना बहुत बार और धारण भी किया, परन्तु ज्ञान के स्वरूप को नहीं समझा, मात्र बाहरी चारित्र धारण किया,

परन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा। आत्मज्ञान और अनात्मज्ञान के भेद को नहीं समझा। करनी तो की, परन्तु सारी करनी मिथ्यात्व रूप की है। इसलिये आचार्य-महाराज कह रहे हैं कि खेद है। खेद किस बात का? एक ज्ञानस्वरूप को प्राप्त नहीं किया। ज्ञानस्वरूप से तात्पर्य भावस्वरूप से है। भाव-भासना और भावलिंग को अंगीकार नहीं किया। कभी-कभी क्या होता है कि बहुत सारी क्रिया जीव करता रहता है लेकिन भाव-भासना के अभाव में कर्मनिर्जरा नहीं होती है, एकदम भारभूत होता है। ध्यान से समझना। भावात्मक दृष्टि के अभाव में चाहे वो भक्ति की क्रिया करे, चाहे संयम की क्रिया करे, परन्तु उसको भार-सा लगेगा, आनंद नहीं आयेगा। यदि भाव-भासना से युक्त होगा तो कितना ही कष्टप्रद भी काम होगा, वह फूल-सा लगेगा। ये अंतरंग की परिणति है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 91 में सहज दशा के बारे में, प्राणी के प्रति करुणाभाव से कथन कर रहे हैं कि यदि जीव मिथ्यात्व से बच जाये, तो हम संभाल लेंगे उसके चारित्र को, पर मिथ्यात्व को समझना कठिन होता है। चारित्र में अतिचार लग गये, अनाचार भी लग गये, फिर भी संभाल लेंगे, परन्तु सम्यक्त्व ही छूट गया, तो सबकुछ छूट गया, सब कुछ चला गया।

दंसण मूलो धम्मो। धर्म का मूल दर्शन है। जब दर्शन सम्यक् है, तो ज्ञान सम्यक् है और ज्ञान के साथ जो चारित्र है, वह सम्यक् है। परमार्थ में लोकव्यवहार का कोई स्थान नहीं है। ये परमार्थदृष्टि है। ये लोकोत्तराचार की चर्या है, लोकाचार की नहीं है। इसलिये छोड़ दो। किसको? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को। तो क्या करें? आप कितना ही प्रतिक्रमण कर लो, दिन में करो, रात को करो, पाक्षिक करो मासिक करो, युग प्रतिक्रमण करो, भो ज्ञानी! पर सम्यक्त्व के अभाव में कोई भी प्रतिक्रमण नहीं होगा। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को जो भावता है, वो ही प्रतिक्रमण है। निश्चय से आत्मा की मुनिदशा ही प्रतिक्रमण है। शरीर की नहीं, आत्मा की मुनिदशा। आत्मा की मुनिदशा हो जाये, लेकिन शरीर मुनि न बने, यह कभी संभव नहीं है।

प्रतिक्रमण आदि जो षट् आवश्यक कर्त्तव्य हैं, ये श्रावक के नहीं, साधु के ही हैं। श्रावक के षट् आवश्यक भिन्न हैं। प्रतिक्रमण शब्द से यहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त जीव का है। 'नियमसार' में पूरा महाव्रतों का ही कथन चल रहा है, अणुव्रतों की चर्चा इसमें नहीं है। क्योंकि इसमें एक शब्द जोड़ दिया है, निरवशेष। यह शब्द कह रहा है कि असंयम को पूर्णरूप से छोड़ो। इसलिये निरविशेष रूप से मिथ्यात्व को, अश्रद्धान को, अज्ञान को, अचारित्र को छोड़कर जो भावता है, वही प्रतिक्रमण है अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र को भाता है। भो ज्ञानी! यहाँ ज्ञान से आत्मज्ञान ही लेना, शेष सब अज्ञान है।

आचार्य महाराज लिख रहे हैं कि इस जीव ने भवसागर में डूबते हुये अनेक बार निर्वाण की बातें सुनी, निर्वाण की प्राप्ति का चारित्र भी स्वीकार किया, परन्तु निर्वाण प्राप्ति के परिणामस्वरूप आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं किया। यहाँ आत्मज्ञान से तात्पर्य है शुद्धोपयोग की दशा, निर्विकल्प दशा। क्षायोपशमिकज्ञान से निर्विकल्प दशा होगी, परन्तु जो क्षायोपशमिक द्रव्यश्रुत है, उसकी चर्चा यहाँ नहीं है, ये भावश्रुत की चर्चा है। क्षायोपशमिक ज्ञान मोक्षमार्ग में कारण तो है, सहयोगी है, परन्तु वो मोक्ष को दे ही देता है, ऐसा नियम नहीं है। पर जब भी मोक्ष की प्राप्ति होगी, क्षायोपशमिक ज्ञान से ही होगी, क्योंकि बिना क्षयोपशमिक ज्ञान के क्षायिक ज्ञान प्रकट नहीं होगा, क्योंकि शुक्लध्यान जो होता है वो भी श्रुत का ही विकल्प होता है। श्रुतज्ञान केवलज्ञान का हेतु होता है।

भो ज्ञानी! जब भी आप दया की बात करोगे तो श्रुतज्ञान से करोगे। सोलहकारण भावना, वैराग्य भावना आदि भाओगे तो श्रुतज्ञान से भाओगे। संयम को स्वीकारोगे, संयम का पालन करोगे, सब श्रुतज्ञान से ही करोगे। 'क्षयोपशम' सामान्य शब्द है और क्षयोपशम ज्ञान का तात्पर्य है ढका हुआ ज्ञान। उपशम अभावरूप नहीं है, ढके रूप है। उपशम दबा हुआ है। यहाँ कर्म की प्रकृतियां ढकी हुई हैं, परन्तु अभावरूप नहीं है और ढके होने के कारण कुछ प्रगट है। इसलिये क्षायोपशमिक ज्ञान क्षायिकज्ञान का हेतु है और क्षायिकज्ञान निर्वाण का हेतु है। कारण का कारण,हेतु का हेतु। प्रकट दिख रहा मटमैला पानी। मिट्टी मिश्रित है, पर शीतल है। शीतल स्वभाव नहीं होगा, जल नहीं होगा, तो फिर निर्मली की कोई आवश्यकता नहीं है। चारित्र, दर्शन, ज्ञान आदि निर्मली का कार्य कर रहे हैं। समल पानी ही निर्मल होता है। समल आत्मा ही निर्मल परमात्मा होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' में नमस्कार किया, किसको? जो ध्रुव है, अचल है, अनुपम है।

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।

उस आत्मा को नमस्कार किया है। वे सभी सिद्ध हैं। वर्तमान परिपेक्ष्य में सव्वसिद्धे बहुत उपयोगी है। कुन्दकुन्द स्वामी ने णमोकार का यहाँ ध्यान रखा "णमो लोए सव्व सिद्धाणं", नहीं तो ये जीव पंचमकाल के हैं, बोले, जितने हमारे तीर्थंकर के शासनकाल में सिद्ध हुये, महावीर स्वामी के शासन के सब सिद्धों को नमस्कार हो। 'णमो लोए सव्व साहूणं' अंतदीप है। 'लोए' शब्द सबमें लगेगा। णमो लोए सव्व अरहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। गाथा में बार-बार लगाने से छंद भंग होता है, इसलिये अंतदीप रख दिया।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पहले कहा 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' संपूर्ण सिद्धों को नमस्कार हो। वे अचल, अनुपम और ध्रुव हैं। इसमें रहस्य है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहीं नहीं लिखा कि भद्रबाहु स्वामी की परम्परा से प्राप्त हुआ जो ज्ञान है मुझे आत्म तत्व का, उसको मैं कहूंगा। 'नियमसार' में केवली, श्रुतकेवली शब्द जोड़ने का अभिप्राय यह है कि जो केवली ने कहा, वो श्रुतकेवली ने कहा, वो ही मैं कह रहा हूँ। अपरवर्ती आचार्यों ने कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन का कथन किया है। जयसेन स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' की टीका में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है। श्रुतसागर सूरि ने 'अष्टपाहुड' की टीका में उल्लेख किया है। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी ये उल्लेख नहीं किया कि हमने विदेह गमन करके वहाँ भगवान् सीमंधर स्वामी की देशना सुनकर ग्रन्थों का लेखन किया। उन्होंने भगवान् महावीर स्वामी का नाम लिया है, भद्रबाहु स्वामी का नाम लिया है।

भो ज्ञानी! जो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र का निर्विशेष रूप से त्याग करके, सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र को संपूर्ण रूप से धारण करता है, ऐसे परम 'मुमुक्षु' जीव के ही निश्चय प्रतिक्रमण होता है। लोग मुमुक्षु शब्द को लेकर ऐसे विवाद में पड़ गये कि अपनी आत्मा की शांति को खो बैठे। शब्द को नहीं पकड़ना था, शब्द कहाँ लिखा है इसकी खोज पहले करनी चाहिये थी। यदि हमने जिनवाणी के एक शब्द की भी अवहेलना की, तो निधत्ति-निकाचित कर्म का बन्ध होगा। और उस शब्द के उपहास में हम निमित्त बने, तो भी बन्ध होगा। दोनों दृष्टि देखना। 'मुमुक्षु' शब्द वीतरागी रत्नत्रयधारी योगी के लिये टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने 'नियमसार' में जगह-जगह प्रयोग किया है। भो ज्ञानी! विश्व में जितने जीव मोक्षमार्ग पर चल रहे हैं, वे सब मुमुक्षु हैं।

भो ज्ञानी! कोई मुनिराज आये और आप भो मुमुक्षु आत्मा नमोऽस्तु बोलो, तो वे कहेंगे कि क्या कह रह हो? लगता है कि सोनगढ़ी बैठा है। भो ज्ञानी! वो सोनगढ़ी नहीं बैठा, वो आपकी आत्मा के वास्तविक स्वरूप की बात कर रहा है। भगवन्! आप भी तो मुमुक्षु हो। हम लोग तो मुमुक्षु हैं, इसीलिये हमने आपको नमस्कार किया। कैसे? भो मुमुक्षु चैतन्य आत्मा! आपको बारम्बार नमोऽस्तु। उसने कोई पाप नहीं किया। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि ऐसे परम मुमुक्षु जीव के निश्चय प्रतिक्रमण होता है।

भो ज्ञानी! भगवन्त अरहन्त परमेश्वर के मार्ग के प्रतिकूल जो मार्गाभास है, उस मार्ग पर श्रद्धान कर लेना, तो मिथ्यादर्शन है। जो अरिहंत भगवान् ने नहीं कहा ऐसे कुतत्त्व पर श्रद्धान कर लेना, मार्गाभास को स्वीकार कर लेना, इसका नाम मिथ्यादर्शन है। आगम में आप्त

के मार्ग को मोक्षमार्ग कहा है और अनाप्त के द्वारा कहे हुए मार्ग को जिनागम मार्गाभास कहता है। रथ्या पुरुष का अर्थ होता है पागल पुरुष। ये शब्द 'न्यायदीपिका' का है। पागल पुरुष कभी सत्य को सत्य कहता है और असत्य को असत्य कहता है, तो कभी असत्य को सत्य और सत्य को असत्य कहता है।

उमास्वामी महाराज ने लिखा है कि पागल के समान, उन्मत्त के समान ये वीतराग मार्ग मनमाने का मार्ग का नहीं, उन्मत्तता का मार्ग नहीं। यह निर्मल दशा का मार्ग है। जिनवाणी में लिखा है कि आपको प्रमाद आ रहा हो तो स्वाध्याय मत करना। यदि आपने गरिष्ठ भोजन किया है, तो मेरा अध्ययन मत करना, क्योंकि आपको प्रमाद चढ़ेगा और अर्थ का अनर्थ करोगे और प्रचार होगा कि जिनवाणी में ऐसा लिखा है।

भो ज्ञानी! एक सज्जन बोले कि मैं आपके यहाँ चातुर्मास कर सकता हूँ, परन्तु आप वेदी में विराजमान भगवान् पार्श्वनाथ के फणों को काटो। अरे भाई! तुम्हारा सम्यक्त्व इतना निर्मल हो गया कि समन्तभद्र स्वामी को तुमने मिथ्यात्व में डाल दिया। वे बोले कि यह तो उपसर्ग की प्रतिमा थी और केवली पर उपसर्ग होता नहीं है, इसलिये फण की कोई आवश्यकता नहीं है। भो ज्ञानी! हम फण की पूजा नहीं करते। हम पूजा भगवान् पार्श्वनाथ की करते हैं। वो तो फण इसलिये दिखाया गया है कि प्रभु! आप पर ऐसा घोर उपसर्ग हुआ, आप फिर भी विचलित नहीं हुए। साधना के मार्ग को दिखलाया गया है। आचार्य समंतभद्र स्वामी 'स्वयंभूस्तोत्र' में स्तवन करते हुए कह रहे हैं–

वृहत्फणामण्डल मण्डपेन यं,
स्फुरत्तडित्पिङ्ग रुचोपसर्गिणम्।

और आप कह रहे हो कि मैं वेदी पर दर्शन नहीं करूँगा। लगता है कि तुम्हारी दृष्टि में वीतराग छवि नहीं आई। तुम्हें तो मात्र फण-ही-फण दिख रहा है।

भो ज्ञानी! वे फिर बोले कि बाहुबली भगवान् की प्रतिमा है उस पर छेनी चलाओगे क्या ? ध्यान रखना, जिस प्रतिमा को हजार वर्ष हो गये हों, जो प्रतिमा सौ वर्ष से पूजी जा रही हो, प्रतिष्ठा भी न की गई हो, तो भी प्रतिष्ठित है। जिनागम कहता है यदि अंगुली टूटी है, नासिका टूटी है और प्रतिमा प्राचीन है, तो पूजनीय है। "शिरोहीनं यं न वंदनीयं", सिर से हीन है, तो वंदनीय नहीं है। फण से खंडित प्रतिमा को खंडित मानकर विसर्जित मत कर देना।

भो ज्ञानी! कहीं-कहीं तो कुदेवों के पूजन में सम्यक्त्व झलक रहा है। कहीं-कहीं इतने सम्यग्दृष्टि बन गये कि पार्श्वनाथ, बाहुबली की प्रतिमा को नमस्कार करने में सम्यक्त्व में दोष लग रहा है और चोला चढ़ाने में पुण्य लग रहा है। बड़ी विडम्बना है। बाहुबली भगवान्

की पूजा करने में मिथ्यात्व दिख रहा है और साक्षात कुदेवों पर चादर चढ़ा रहे, चोला चढ़वा रहे, पन्नी चिपकवा रहे हैं, इसमें इन्हें सम्यक्त्व झलक रहा है, बड़ा आश्चर्य है। इसलिये मनीषियो! तत्त्व को समझो, तत्त्वज्ञानी को समझो।

एक नगर में क्षुल्लक जी आये तो लोग बोले, हम तो महाराज को नमोस्तु करते हैं, क्षुल्लक को इच्छामि नहीं करते हैं। उसी दिन शाम को एक बड़े नेता आ गये, सो माला लिये-लिये घूम रहे हैं। भो ज्ञानी! एक नेता को नमस्कार में, माला डालने में तेरा सम्यक्त्व झलकेगा क्या? और धर्मात्मा की वंदना करने में तुझे पाप लगता है। जीव की कितनी बड़ी मूढ़ता है।

भो ज्ञानी! कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु अनायतन हैं और इनके सेवक भी अनायतन हैं। यदि इनमें से किसी का भी आदर किया, तो तुम्हारे सम्यक्त्व में दोष लगेगा कि नहीं? लगेगा। ये एक पक्ष हुआ। अब दूसरा पक्ष। देव, शास्त्र, गुरु और इनके आराधक की अविनय करने से आपके सम्यक्त्व में वृद्धि होगी कि हानि होगी? सम्यक्त्व में दोष लगेगा कि नहीं? लगेगा। इसीलिये कहा है "न धर्मो धार्मिकैर्बिना"। कोई धर्मात्मा है और आपने उसका अनादर किया, तो सम्यक्त्व में दोष लगेगा ही।

एक सज्जन आये, बोले, महाराज! आप करो कछु। पूरो डूबो जा रओ। कोई पूजा ही नहीं करता। हमने पूछा क्यों? बोले, ये जो विराजे हैं। भो ज्ञानी! जो पूज्य के चरणों में बैठे हो, वे स्वयं पूजा कर रहे हैं। बताओ, कब उन्होंने तुमसे कहा कि मेरी पूजा करो? कभी नहीं कहा। प्रत्येक तीर्थंकर के यक्ष-यक्षिणी हुआ करते हैं। वे अपनी पूजा की बात नहीं करते, वे स्वयं भी भगवान् जिनेन्द्र की आराधना करते हैं और जिनेन्द्रदेव की आराधना करने वाले पर खुश रहते हैं। ये उस जीव की स्वयं की अज्ञान दशा है जो भक्त को ही भगवान् मान बैठे। भक्त में भगवत्ता है, इसे जिनवाणी मानती है, पर भक्त भगवान् है, इसे जिनवाणी नहीं मानती। वे सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उनका अनादर करना भी मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व में दोष है।

भो ज्ञानी! टीकमगढ़ पंचकल्याणक में समवसरण में एक प्रश्न आया कि आज भगवान् जिनेन्द्र के शासन में मत-भिन्नता क्यों है? हमने कहा कि जिनेन्द्र के शासन में न मत-भिन्नता कभी हुई है, न होगी। ये लोगों के मन-भिन्नता ने मत-भिन्नता खड़ी की है। जिनेन्द्र का शासन तो पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य का कथन पूर्व से करता चला आ रहा है, कर रहा है, करेगा। ये आपकी निजी भूल है कि आपने उसकी निज की स्वछंदता को जिनेन्द्र शासन में व्रती बना दिया। पांच अणुव्रत, पांच महाव्रत हैं, वो नियत हैं। सम्यक्त्व नियत है। तीन काल नियत हैं। इस नियति को जैनदर्शन बढ़े आदर के साथ मानता है। छह द्रव्य, सात तत्त्व, छह लेश्या आदि सब नियत हैं और यहाँ तक कि इस गुणस्थान में इतने जीव

होंगे, ये भी नियत है। व्यक्ति नियत नहीं है। मुनिराज कितने हैं? तीन कम नौ कोटि। यह अधिकतम संख्या है।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन की मीठी गाली है 'मिथ्यादृष्टि' किसी को कह देना। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु ये तीन मिलाकर छह अनायतन हो गये। देव, शास्त्र, गुरु का भक्त व्यवहार सम्यग्दृष्टि तो है। अब उस सम्यग्दृष्टि में व्रती भी है, अव्रती भी है और देशव्रती भी है। जो जैसा है, ठीक है, लेकिन अविनय का पात्र नहीं है। यदि आपके अन्दर देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा है, तो समन्तभद्र स्वामी उन्हें सम्यग्दृष्टि ही कहेंगे। परन्तु उमास्वामी के सूत्र की चर्चा करेंगे तो कहेंगे कि 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' जब नेमिचंद्र स्वामी से गोम्मटसार जीवकाण्ड कर्मकाण्ड में पूछोगे, तो कहेंगे कि सात प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम जिसने किया, वो सम्यग्दृष्टि। इसलिये आप निर्णय नहीं दे सकते हो कि ये सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि। हाँ, यदि द्रव्य सम्यक्त्व का सेवन कर रहा है, तो आपको सम्यग्दृष्टि कहना पड़ेगा और द्रव्य मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है, तो मिथ्यादृष्टि ही कहना पड़ेगा। मनीषियो! भाव को तो भगवान् ही बतायेगा। इसीलिये अविनय मत करना।

भो ज्ञानी! जब घर का कोई बर्तन फूट जाता है तो उसको सुधरवाते हो, कपड़ा फट जाये तो थिगड़ा लगवाते हो। ऐसे ही किसी द्रव्य को फेंक दिया तो उसका अभाव कर दिया। यदि किसी में अपने को दोष दिख गया, तो आपको सुधारने का प्रयास करना चाहिये। जब देख लिया कि सुधरने का अवसर नहीं है, तो अलग करते हो। घर के फूटे बर्तन के सुधरने की संभावना न रहने पर ही बदलते हो। जैनदर्शन को समझने के लिये धैर्य बहुत जरूरी है। धैर्य के अभाव में आप न तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर पाओगे, न ज्ञान को प्राप्त कर पाओगे, न चारित्र को प्राप्त कर पाओगे। धैर्य बहुत जरूरी है। बड़ा आश्चर्य है कि निगोदिया जीव को तो भगवान्-आत्मा कहते हो और जो देव, शास्त्र, गुरु की आराधना कर रहा है, उसे आप कह रहे हो अनायतन। जो सम्यक्त्व से सहित है, वो आयतन और सम्यक्त्व से रहित है, वह अनायतन।

भो ज्ञानी! जो तीर्थंकर भगवान् के यक्ष-यक्षिणी होते हैं, वो जन्म से मिथ्यादृष्टि होते हैं, क्योंकि वे भवनत्रिक देव हैं और भवनवासी नियम से मिथ्यादृष्टि होते हैं। लेकिन देवों में अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त करने की योग्यता होती है। इसलिये जो देव अरहन्त की उपासना कर रहे हैं वे मिथ्यादृष्टि नहीं हैं, सम्यग्दृष्टि हैं। परन्तु जो उनको भगवान् मानके पूज रहा है, वो अवश्य ही मिथ्यादृष्टि है। जब तक उनकी आयु है, वो उसी पर्याय में रहेंगे, लेकिन आगे वे नियम से उत्कृष्ट जाति के मनुष्य बनेंगे। ऐसा नहीं है कि सम्यक्त्व हो गया तो पर्याय

बदल जाये। उनको वो पर्याय तो पूरी करनी ही पड़ेगी। जो आयु संबंधी बन्ध किया है, उतना भोगना ही पड़ेगा। फिर वहाँ से च्युत होकर उत्कृष्ट जाति के मनुष्य बनेंगे। ये आगमिक व्याख्या है।

भो ज्ञानी! जिनवाणी में कहा गया है कि "देवाश्चतुर्णिकाया:।" चार निकाय के देव होते हैं। यदि कोई बोलता है कि हम देव-मेव को नहीं मानते, तो आप आगम से बाह्य हो। यदि तुम अरहन्त देव को मान रहे हो, लेकिन उनकी वाणी को नहीं मान रहे हो, तो तुम सम्यग्दृष्टि नहीं हो, क्योंकि जिनवाणी में लिखा है "देवाश्चतुर्णिकाया:।" बोले कि देव तो सभी मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। ज्ञानी! ये आपने किस ज्ञान से जाना? और कैसे कह रहे हो? व्यक्ति कितनी ऊँचाइयों को प्राप्त कर सकता था, पर कभी-कभी पक्ष में आकरके नीचे गिर जाता है। ज्ञानी! ज्ञान कम हो, पर जितना हो, निष्पक्ष हो, निर्मल हो।

भो ज्ञानी! भगवान् अरहंतदेव शत इंद्रों से वंदनीय हैं। बोले कि देवमेव हम नहीं मानते। ज्ञानी! तो फिर देवाधिदेव की सिद्धि नहीं होगी। आपको नगर का अध्यक्ष बना दिया, उसके साथ आपके कोई सदस्य तो होंगे कि नहीं? नहीं तो आप अध्यक्ष किसके हो? किन्हीं मुनिराज को आचार्य बना दिया और कोई मुनिराज उनके साथ नहीं हैं, तो आचार्य किसके? ऐसे ही देवाधिदेव शब्द कह रहा है कि देव हैं तभी तो देवाधिदेव हैं। कोई कहे कि मेरी माँ बाँझ है, तो तू कहाँ से आ गया? कोई कहे कि मेरे पिताजी बालब्रह्मचारी हैं, तो तू कहाँ से आ गया? इधर तुम देवाधिदेव कह रहे हो, और उधर तुम कह रहे हो कि देव नाम की कोई वस्तु नहीं है। भो ज्ञानी! जो देवों के द्वारा वंदनीय होता है, उनका नाम देवाधिदेव होता है।

भो चैतन्य! पर्याय की अशुद्धता देख रहे हो, यहाँ पर्याय का विषय नहीं चल रहा है। यहाँ तो आत्मा सम्यग्दृष्टि कि मिथ्यादृष्टि का विषय है। जो तीन मूढ़ताओं से रहित है, आठ अंगों से सहित है, अष्टमद से रहित है, देवशास्त्रगुरु का भक्त है, वो अनायतन नहीं, आयतन है, सम्यग्दृष्टि है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण का स्वरूप

गाथा : **उत्तमअट्ठं आदा, तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्मं।**
तम्हा दु झाणमेव हि, उत्तम अट्ठस्स पडिकमणं॥ 92॥

संस्कृत छाया : **उत्तमार्थं आत्मा तस्मिन् स्थिता ध्नन्ति मुनिवराः कर्म।**
तस्मात्तु ध्यानमेव हि उत्तमार्थस्य प्रतिक्रमणम्॥ 92॥

अन्वयार्थ : (उत्तमार्थः) उत्तम अर्थ-पदार्थ (आत्मा) आत्मा है (तस्मिन् स्थिताः मुनिवराः) उस उत्तमार्थ में स्थित हुए मुनिवर (कर्म ध्नंति) कर्म का घात कर देते हैं (तस्तात् तु) इसलिये (ध्यानं एव) ध्यान ही (हि) निश्चित रूप से (उत्तमार्थस्य) उत्तमार्थ का (प्रतिक्रमणं) प्रतिक्रमण है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि परम शुद्ध निश्चयनय से यह जीव प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण भाव से ही रहित है। शुद्ध निश्चयनय से परम तपोधन की आत्मा ही प्रतिक्रमण है। इसका पूर्व सूत्र में संकेत दिया था। पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि वास्तव में प्रतिक्रमण जो है, परम शुद्ध प्रतिक्रमण है, वो व्यवहारचारित्र से परे है। और जब व्यवहार चारित्र से परे है, तो व्यवहार चारित्र के विकल्पों से दूर हो जाओ। आचार्यमहाराज का उद्देश्य तपोधन को विकल्पों से छुड़ाकर ऊपर ले जाने का है, पर अज्ञानी जीवों ने व्यवहार चारित्र को छोड़ने का उपदेश समझ लिया। व्यवहार चारित्र को छोड़ देगा, तो निश्चय चारित्र को प्राप्त होगा। उद्देश्य यह नहीं है कि व्यवहार संयम को छोड़ दो। उद्देश्य यह है कि तुम व्यवहार के विकल्पों में मत उलझे रहो। निश्चय स्वरूप में जाने का प्रयास करो, तो व्यवहार का विकल्प अपने आप छूट जायेगा। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि शुभ उपयोग भी छोड़ने योग्य है। ये शुभ उपयोग को भी हेय कह रहे हैं और आपको अशुभ उपयोग भी हेय नहीं दिख रहा है। इसी बात को यहाँ समझा रहे हैं

त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग—
रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी।
शुद्धात्म तत्त्वनियतं निजबोधमेकं
श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे॥ कलश 122॥

छोड़ दो। किसको ? सम्पूर्ण विभाव को। वो संपूर्ण विभाव कब छूटेंगे? जब सम्पूर्ण व्यवहार छूट जायेंगे। व्यवहार का भी विवाद है, निश्चय का भी विवाद है, तो भी तुम्हारे विवाद नहीं छूट रहे। चाहे निश्चयपक्ष को लेकर विवाद करना, चाहे व्यवहारपक्ष को लेकर विवाद करना, परन्तु विवाद दोनों हैं।

भो ज्ञानी! जब तक दमन नहीं किया कषायों का, तब तक संयम संभव ही नहीं है। व्यवहार मार्ग के रत्नत्रय को भी छोड़ दो। इसका तात्पर्य ये मत समझ लेना कि किसी ने मुनिदीक्षा ले ली है तो उसको छुड़ाने की बात कह रहे हैं। जो आपके भाव आ रहे हैं कि मैं मुनि हूँ, ये मुनि का भाव भी तुझे मुनि बनकर रहने नहीं दे रहा है। इसलिये गृहीलिङ्ग और पाखंडी लिङ्ग यानि द्रव्य निर्ग्रन्थलिङ्ग और द्रव्य श्रावकलिङ्ग ये दोनों ही मोक्ष नहीं दिला सकते हैं। इन दोनों लिंगों के साथ परिणामों की जो विशुद्धता है, वो मोक्ष का हेतु है।

यदि आप यह कहो कि मैंने भेष मात्र को स्वीकार कर लिया तो मोक्षमार्गी हो गया, बिल्कुल नहीं। हे मतिमान! हे बुद्धिमान! निज-तत्त्व-वेदी! अपने निजतत्त्व का वेदन कर। तू कहाँ पड़ा है? तूने जैनकुल में जन्म ले लिया तो जैनकुल झलक रहा है। किसी दूसरे कुल में जन्मा होता तो उसकी प्रशंसा करता। प्रशंसनीय कौन है, वहाँ तो तेरी दृष्टि नहीं जा रही है। यहाँ जन्म तो यहाँ कहने लगेगा, वहाँ जन्म तो वहाँ कहने लगेगा, परन्तु जन्म सत्य नहीं है, ये प्रशंसा सत्य नहीं है, ये पर्यायजन्य प्रशंसा है।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग तत्त्व कैसा? शुद्धात्म तत्त्व वो कैसा? नियत है। 'नियत' क्यों जोड़ दिया? क्योंकि जब भी तू सिद्ध बनेगा, तो शुद्धात्मतत्त्व की भावना से ही बनेगा। इसलिए शुद्धात्म तत्त्व नियत है। बिना शुद्धात्मतत्त्व की भावना के और बिना शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति के शुद्धात्म नहीं बन सकता। मोक्ष का साक्षात कारण है एकमात्र निज का बोध। ज्यादा जानने से विकल्प ज्यादा होते हैं। ज्यादा जानकारी नहीं रखना चाहिये यदि मुमुक्षु बनना चाहते हो तो, अन्यथा तुम्हारा समय उसी में जायेगा। इसीलिये मुमुक्षु जीव उतना ही सुनता है, उतना ही जानता है, जिससे मोक्षमार्ग प्रशस्त हो।

आचार्यमहाराज अब जिस प्रतिक्रमण की व्याख्या कर रहे हैं, वो अंतिम प्रतिक्रमण की व्याख्या है। जब साधक समाधि के सम्मुख होता है, तो अंतिम प्रतिक्रमण, उसका नाम उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। आगम में सात प्रकार के प्रतिक्रमण का कथन है। दैवसिक, रात्रिक, ईर्यापथ, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक (संवत) और उत्तमार्थ। प्रतिदिन प्रातः में, रात्रि में दोपहर में आहार के बाद ईर्यापथ, संध्या बेला में दैवसिक, 15 दिन में पाक्षिक, चार मास में चातुर्मासिक, वर्ष में दीपावली के बाद की चतुर्दशी को वार्षिक और समाधि के समय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण।

कदाचित ऐसे दोष हों जिसे आपने प्रमादवश या लज्जावश निवेदन न किया हो, जीवन भर रखा हो और कहीं शल्य सहित मृत्यु हो गई, तो कुमरण हो गया। बोले कि यदि मैं दोष निवेदित कर दूँगा तो गुरु क्या सोचेंगे? इतना बड़ा दोष तुम कर सकते हो, संघ में तुम्हारी बड़ी प्रशंसा थी, चारित्र की सराहना की जाती थी। आपने लज्जावश उस दोष को छुपाकर रखा। परन्तु जब तक वो दोष छिपा रहेगा, तब तक आस्रव चलता ही रहेगा। माना कि आप घोर तपस्या कर रहे हो कि मेरा दोष शांत हो जाये, परन्तु मन का विकल्प शान्त नहीं होगा, क्योंकि आलोचना नहीं हुई है। अन्त में जब बारह वर्ष की यम सल्लेखना लेते हैं, तो आचार्यपरमेष्ठी उनको उत्तमार्थ प्रतिक्रमण करवाते हैं और जो दोष आपने छुपाकर रखे थे, उनको निकलवा लेते हैं। वे कहते हैं कि अब काँटा निकल गया, अब तुम निशल्य होकर समाधि को प्राप्त हो सकते हो।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 92 में इसी उत्तमार्थ प्रतिक्रमण की चर्चा कर रहे हैं। यहाँ पर उत्तमार्थ शब्द क्यों कहा? अर्थ यानि पदार्थ। यदि विश्व में कोई उत्तम पदार्थ है, तो उसका नाम है आत्मा। उस निज आत्मतत्त्व की प्राप्ति के अर्थ जो प्रतिक्रमण हो रहा है, उस प्रतिक्रमण का नाम है उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। भो ज्ञानी! जिसने तत्त्व को नहीं समझा, वो क्रियाकाण्ड कह रहा है और अध्यात्म कह रहा है कि ये क्रियाकाण्ड नहीं है। आत्मा का शोधन जिसमें किया जा रहा है, उसका नाम प्रतिक्रमण है। जैसे गेहूँ में से कंकड़ बीनते हो, कचड़ा साफ करने के लिये, तभी आटा अच्छा बन पाता है। भो ज्ञानी! प्रतिक्रमण यही तो कह रहा है कि तेरे अन्दर यहाँ-वहाँ की कषाय के जो कंकड़-पत्थर पड़े हैं, उनका शोधन चल रहा है। आपको लग रहा है कि क्षपक पड़ा हुआ है, परन्तु परिणाम खड़े हुये हैं। अब शरीर से कुछ कर पाओ या न कर पाओ, पर परिणति मेरा कुछ बिगाड़ न पाये। अंतिम समय चल रहा है, वहाँ जो भी साधना है, परिणामों को संभालना ही साधना है। जिसने पूर्व में शरीर की साधना की है, वे ही अन्त में परिणामों को संभाल सकते हैं। और पूर्व में शरीर की साधना नहीं की है, तो तुम्हारे परिणमों की साधना संभव नहीं है। युद्ध हो या न हो, योद्धा शस्त्र तैयार रखता है, कि कब शत्रु आ जाये।

आचार्य शिवकोटि ने 'भगवती आराधना' में लिखा है कि हे योगी! मृत्यु हो या न हो, परन्तु मृत्यु से लड़ने का पुरुषार्थ तुम हमेशा करते जाना, यानि परिणामों की संभाल प्रतिक्षण करते जाना। भो ज्ञानी! मुनि क्या कर रहे हैं? कर्मों का हनन कर रहे हैं, इसलिये ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। ध्यान से बड़ा कोई प्रतिक्रमण नहीं है। जब भी निर्वाण होगा, ध्यान से ही होगा। आत्मा की अंतिम साधना ध्यान ही है। कितनी ही बाह्य साधना होती रहे, पर

अंतरंग में ध्यान साधना नहीं है, तो कर्मनिर्जरा संभव नहीं है। 'भगवती आराधना' में मुनि के सल्लेखना काल में 48 मुनियों की चर्चा की है। निर्यापकाचार्य मुनिराज मुख्य होंगे। एकल विहारी मुनि सल्लेखना नहीं कर सकता। दो मुनि भी सल्लेखना नहीं कर सकते। एक क्षपक और एक निर्यापकाचार्य, आगम कहता है कि सल्लेखना का अधिकार नहीं है। विषमता को मत देखना, यह राजमार्ग की चर्चा चल रही है। एक समाधि के लिये उत्कृष्ट रूप से अड़तालीस मुनि और कम-से-कम चार मुनिराज होना चाहिये। यदि एक क्षपक और एक निर्यापकाचार्य हैं, तो पता लगा कि क्षपक की समाधि तो बाद में हुई, सेवा करते-करते निर्यापकाचार्य की पहले हो गई। क्योंकि चर्या को जायेंगे नहीं, तो बिना चर्या के कितने दिन रह पायेंगे? आपने दिन भर सेवा की और चर्या के लिये क्षपक को छोड़ कर चले गये, यदि इसी समय कहीं प्राणान्त हो गया, तो भो ज्ञानी! तेरी पूरी मेहनत चली गई। एक समय के लिये भी समाधिस्थ साधु को अकेला नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि परिणामों को संभालने की आवश्यकता है। ऐसे काल में मुनियों को रात्रि में बोलने का भी निषेध नहीं है।

भो ज्ञानी! जब तक स्वयं आगम का अध्ययन नहीं होगा, युक्ति और साम्यभाव नहीं होगा, तबतक आप किसी की सल्लेखना नहीं करा पाओगे। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यदि तुझे नित्य मरण से भय है, तो प्रतिक्षण हे तपोधन! तू निज आत्मतत्त्व को देख। ऐसे तपोधन कर्म का विनाश करते हैं। मृत्यु से भय विरागी और रागी दोनों कर रहे हैं, पर दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। रागी इसलिये डर रहा है कि क्या मालूम ऐसे भोग भोगने को फिर मिलेंगे कि नहीं, इसलिये वो भयभीत है। विरागी इसलिये डर रहा है कि मेरा पुरुषार्थ कमजोर न पड़ जाये, असमय मृत्यु न हो जाये, बस, मैं अपने आप में रहूँ।

भो चैतन्य! वीतरागी को न तो मरण से भय है, न जन्म से भय है। यदि आप मुनिराज बन गये और पुण्य के योग से लम्बी आयु मिल गई, जैसे कुन्दकुन्द स्वामी को मिली। लम्बी आयु न मिलती तो ऐसे ग्रन्थों का सृजन कैसे होता? चौरासी पाहुड लिखे हैं। पापी को जरा सा कष्ट हुआ तो सोचता है, कि लम्बी आयु न मिलती तो जल्दी चले जाते। भो ज्ञानी! तुम्हें कष्ट भी हो रहे हों, तो भी ऐसा मत सोचना। अच्छा तो है कि अभी मैं जागृत हूँ, इसलिए जितने कर्म उदय में आ रहे हैं, आ जाने दो। अगली पर्याय में तो नहीं आयेंगे।

भो ज्ञानी! योगी मरण से भयभीत क्यों हो रहा है? जितनी लम्बी आयु मिली है, उतने लम्बे समय तक मुझे रत्नत्रय धर्म की आराधना का मौका मिल रहा है, स्वात्मानुभूति के अनुभव का सुख मिल रहा हो वहाँ स्वर्ग में जल्दी जाकर बैठ जाओगे तो क्या होगा? देवियों के पीछे भागना पड़ेगा। यहाँ तो संयम में जी रहे हैं, वहाँ असंयम में जीना पड़ेगा। सो मरण करके

क्या असंयमी बनना चाहते हो? इसलिये ध्यान रखना, जो आप लोग धर्म में जीवन व्यतीत कर रहे हो, कभी भी मत सोचना कि जल्दी मर जाऊँ। ये भी मत सोचना कि और जी जाऊँ। क्योंकि जीने की भावना भी सल्लेखना का अतिचार है और मरने की भावना भी अतिचार है। मित्रों का राग, आगामी भोगों की आकांक्षा/सुखानुबन्ध (वर्तमान में जो सुख मिल रहे हैं उनकी भावना भाना) ये सल्लेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं।

भो ज्ञानी! सल्लेखना का अर्थ मृत्यु कर लेना नहीं है। साम्य भाव से जीवन जीते-जीते प्राणों का विसर्जन होना सल्लेखना है। नहीं तो अकालमरण हो जाये तो कुमरण हो जायेगा। सल्लेखना आत्मघात नहीं है। जब देख लिया कि अब बचने वाला नहीं हूँ, तो पंचपरमेष्ठी की आराधना करते-करते प्राणों का विसर्जन करने का नाम सल्लेखना है।

'कल्याणकारक' आयुर्वेद के ग्रन्थकर्त्ता कह रहे हैं कि यदि आपका मानसिक विकल्प शांत है और क्षयोपशम निर्मल है, तपश्चरण में कोई कमी नहीं है, ऐसा जीव साम्यभाव से जीवन जी रहा है। तो उसको मृत्युबोध हो जाता है। अगली पर्याय में पिछली पर्याय का जातिस्मरण हो जाता है। भो ज्ञानी! जब साधक सबके बीच में भी रहकर अपने आपको सबसे भिन्न मानकर जीता है, तभी अंदर का ज्ञान होता है। बहुत अंतर हो जाता है। अंदर जीना चाहो तो बाहर के लोगों को भले तुम एक दिखो, पर अंदर से भिन्न ही रहना पड़ेगा। जब तक आप भिन्न नहीं रहोगे, रचे-पचे रहोगे, तो अंदर का भान होता ही नहीं। चाहो तो उपयोग बाहर में लगा लो, चाहो तो उपयोग अन्दर में लगा लो। 1994 में सोनागिर में आचार्य सुमतिसागर के मन में भाव आया कि आहार करूँ। शुद्धि लेकर मंदिर पहुँचे। दूसरे क्षण में भाव आया कि नहीं, आहार नहीं, अब आत्मज्ञान का आहार करूँगा। उन्होंने संघस्थ साधुओं को आहार के लिये भेज दिया। कुछ गये, कुछ रुक गये। उन्होंने आश्रम में एक स्थान पर कमंडलु के जल से भूमिशुद्धि की और बैठ गये। उनकी समाधि हो गई। जब सुना कि ऐसी समाधि हुई, हृदय गद्गद् हो गया। भगवन्! सभी जीवों की ऐसी निर्विकल्प समाधि हो।

भो ज्ञानी! संसार में ऐसे भी जीव हैं, जिन्होंने जीवन भर उपवास किया और अंतिम समय में मुख में ग्रास रखकर चले गये। जिन-जिन को समाधि करना हो, उनको रसना इंद्रिय पर नियंत्रण करना चाहिये। वासनायें नहीं सताती, पर सबसे ज्यादा रसना इंद्रिय परेशान करती है। इसलिये आगम में श्रावकों को भी रसी से भोजन करने को कहा है, जिससे भोजन के प्रति गृद्धता कम होती जाये, अन्यथा अंत समय में रसना इंद्रिय बहुत परेशान करती है। मुनियों का रस परित्याग नाम का व्रत है, तप है बारह तपों में। जैसे-जैसे वृद्ध अवस्था आते जायेगी, शरीर सिकुड़ता जायेगा और भोजन के प्रति लालसा बढ़ती जायेगी और ऐसे में जीव का आयुबंध

का काल आ गया, तो भोजन में ही कीड़ा बन जाओगे। भो ज्ञानी! रसना पर नियंत्रण बहुत जरूरी है।

भो ज्ञानी! जब भूख/रसना सताती है, तो आत्मा का ज्ञान भी समाप्त हो जाता है। कोई कहे कि णमोकार सुनाऊँ, तो आप कहेंगे कि हल्ला मत करो। सागर की घटना है। एक वृद्ध अस्सी साल के थे। उनका अंतिम समय चल रहा था, पर वे आलू खाते थे। उनसे कहा कि आलू छोड़ दो। बोले कि अभी कौन मर रहे हैं? देखो जीव की दशा। बहुत मनाया, पर पूर्णरूप से नहीं छोड़ा। ये ध्यान रखना कि अंतरंग की लिप्सा तुम्हारे अशुद्धि-विशुद्धि का ज्ञान करा देती है। जब विशुद्ध भाव उत्पन्न होते हैं, तो किसी के न कहने पर भी छोड़ने का भाव स्वयं हो जाता है। जो व्यक्ति कहता है कि बाहर का तो खाना ही पड़ता है, तो सल्लेखना तो संभव नहीं दिख रही है। ऐसा करके तुम चाहो कि मृत्युबोध हो जाये, ये संभव नहीं। इसके लिये बहुत निर्मलता चाहिये।

भो ज्ञानी! हार्ट अटेक हुआ। जीव न कुछ कह सका, न सुन सका और चला गया। मृत्यु में तीव्र वेदना तो होती ही है। उस वेदना में संक्लेश भावों से मर गया। ये दशा होती है जीव की। इसलिये भैया! संभलकर जीना।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि विकल्प से रहित, संपूर्ण इंद्रियों के अगोचर रूप से, निश्चय से, परमशुक्लध्यान ही निश्चय प्रतिक्रमण है, ऐसा जानना चाहिये। जो निश्चय प्रतिक्रमण है, वे ग्रन्थ आश्रय नहीं है, निर्ग्रन्थ आश्रय है। धर्म्य-शुक्ल ध्यान होने से वह अमृतस्वरूप होता है। परन्तु जो व्यवहार प्रतिक्रमण हुआ है, वह व्यवहार धर्म्यध्यान है, वह विषकुम्भ है। इस पंक्ति को सुनकर छोड़ मत देना। भो ज्ञानी! जब तुम निश्चय में चले जाओगे, तब व्यवहार विषकुंभ है, अभी तो अमृतकुंभ ही है। 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं–

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सो ही अद्ठविहो होइ विसकुम्भो॥ स. सा. 306॥

व्यवहार प्रतिक्रमण निश्चयनय की भाषा में विषकुंभ है। परन्तु पद्मप्रभमलधारिदेव को लगा कि ये जीव अज्ञानतावश कहीं विषकुंभ न मान बैठे, तो तुरन्त ही उन्होंने आचार्य अमृतचंद्र स्वामी का कलश दे दिया–

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रणमेव सुधा कुतः स्यात्
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतत्यधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः
॥ स. सा. कलश 189॥

जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा गया है, तो अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकेगा? जिस आगम में शुभ उपयोग को हेय कहा गया है, उसमें अशुभ उपयोग को उपादेय कैसे कहा जायेगा? वो शुद्धोपयोग के लक्ष्य की बात है। इसी प्रकार से यहाँ प्रतिक्रमण को विषकुंभ कहने का तात्पर्य अप्रतिक्रमण में चले जाना नहीं है। प्रतिक्रमण से ऊपर उठकर शुद्धोपयोग में जाओ, ये कह रहे हैं।

भो ज्ञानी! तुम प्रमाद करके नीचे गिरना चाहते हो विषकुंभ कह करके। तुम निष्प्रमादी हो करके उर्ध्वगमन करो अप्रतिक्रमण भाव में जाकर के। नीचे मत गिरो। प्रतिक्रमण अमृतकुंभ है, विषकुंभ नहीं है। शुद्धोपयोग की अपेक्षा से विषकुंभ कहा है।

भो ज्ञानी! जीव अपनी ना-समझी के कारण क्या-क्या करता है। पूछा, प्रतिक्रमण हो गया? बोले, प्रभु! आपने 'समयसार' में कहा था कि प्रतिक्रमण विषकुंभ है, इसलिये मैंनें नहीं किया। पूछा, क्या कर रहे हो? बोले, चर्चा कर रहे हैं कि नमक नहीं मिला, मिर्च ज्यादा थी। हे ज्ञानी! प्रतिक्रमण तुम्हारे लिये विषकुंभ नहीं, अमृतकुंभ ही है। नमक, मिर्च की बातों से कौन शुद्धोपयोग की बातें होती हैं? ध्यान रखना, ये दशा-दशा की व्यवस्था है, सापेक्ष कथन है, निरपेक्ष कथन नहीं है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : एक ध्यान ही उपादेय है

गाथा : **झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं।**
तम्हा दु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिकमणं॥ 93॥

संस्कृत छाया : **ध्याननिलीनः साधुः परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम्।**
तस्मात्तु ध्यानमेव हि सर्वातिचारस्य प्रतिक्रमणम्॥ 93॥

अन्वयार्थ : (ध्यान निलीनः) ध्यान में अतिशय रूप से लीन हुए (साधुः) साधु (सर्वदोषाणां) संपूर्ण दोषों का (परित्यागं) परित्याग (करोति) कर देते हैं (तस्मात तु) इसलिये (ध्यानं एव) ध्यान ही (हि) निश्चितरूप से (सर्वातिचारस्य) सर्वातिचार का (प्रतिक्रमणं) प्रतिक्रमण है।

नियमदेशना

भो ज्ञानियो! कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय प्रतिक्रमण की चर्चा में कहा कि सल्लेखना ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। जब प्रतिक्रमण करते हैं, तब कहते हैं कि सम्पूर्ण अतिचारों की विशुद्धि के प्रयोजन से मैं प्रतिक्रमण कर रहा हूँ सम्पूर्ण अतिचारों का विशोधन तो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण में ही संभव है। पूरी पर्याय में, साधक अवस्था में जितने मानसिक, वाचनिक, शरीरिक दोष लगे हों, कृत-कारित-अनुमोदित हों, समरंभ-समारंभ-आरंभजन्य हों, अतिक्रम-व्यतिक्रम रूप हों, अतिचार रूप हों, अनाचार रूप हों, जितने दोष हैं, सम्पूर्ण दोषों का प्रतिक्रमण हो रहा है। वह सर्वातिचार रहित प्रतिक्रमण है। इसे ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण कहते हैं।

भो ज्ञानी! शोधन हो गया दोषों का, तो समाधि है। शोधन नहीं हुआ, तो समाधि नहीं है। मरण तो हो जायेगा, मरण को कोई टाल नहीं सकता, पर समाधि टल जायेगी। परिणामों का शोधन है, तो समाधि है और परिणामों का शोधन नहीं है, तो मृत्यु हो जायेगी। इसलिये आचार्यमहाराज बार-बार कह रहे हैं कि हे योगी! भावों पर जाओ। भाव निर्मल हैं, तो भव निर्मल रहेगा और भाव निर्मल नहीं हैं, तो वर्तमान का भव तो बिगड़ेगा ही, भविष्य भी बिगड़ गया। क्यों बिगड़ गया? क्योंकि वर्तमान में तूने इंद्रियसुखों को स्वयं छोड़ा, इसलिये वर्तमान के सुख तो तू भोग नहीं पाया किन्तु वर्तमान में परिणति निर्मल नहीं है, इसलिये भविष्य तेरा अच्छा नहीं होगा। भाव को सुधारने भगवान् नहीं आयेंगे, स्वयं को ही समझाना पड़ेगा। इसलिये भव सुधारने की भावना है तो भाव सुधारो। इसी बात को पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं और ध्यान की ओर प्रेरित कर रहे हैं।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम्।
बुद्ध्वा धीमान् सहज परमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे॥ कलश 123॥

भो ज्ञानी! आत्मा के ध्यान से भिन्न अन्य सभीकुछ घोरसंसार का मूलकारण है। आर्त्त-रौद्रध्यान जो है, संसार का कारण ही है। द्रव्य के प्रति जो ध्यान है, वो बन्ध का हेतु है। द्रव्य स्वतंत्र है। एक ही द्रव्य का ध्यान करके एक सिद्धत्व की ओर जाता है और दूसरा नरक-निगोद जा रहा है। एक जीव ने निर्ग्रन्थ मुद्रा को स्वीकार करके जीवद्रव्य का ध्यान किया ब्रह्मस्वरूप और दूसरे जीव ने उसी जीवद्रव्य को स्त्रीरूप मान कर ध्यान किया। मार्ग में पड़े मृतक वैश्या के शरीर को देखकर एक श्वान सोचता है कि ये भीड़ चली जाती तो मेरा भोजन हो जाता। एक कामी पुरुष निकलता है, यदि ये जीवित होती, तो मुझे शरीरसुख देती। एक योगी निकलता है, अहो! ऐसी सुन्दर निर्मल पर्याय को प्राप्त कर जीव ने यों ही गवाँ दिया। यदि योगसाधना कर लेती, आर्यिकाव्रत को स्वीकार कर लेती, तो स्त्रीपर्याय का छेद कर लेती। ज्ञानी! द्रव्य कितने थे? एक। भूखे ने भोजन की दृष्टि से देखा तो भूख का कष्ट भोगना पड़ा। कामी ने कामिनी की दृष्टि से देखा तो उसने नरक की यात्रा की। एक जीव उसी द्रव्य को देखकर सोच रहा था कि कल्याण कर लिया होता तेा आज ये परिणमन नहीं होता, ये स्वर्ग की यात्रा थी। द्रव्य कितने हैं? एक। पर दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

भो ज्ञानी! इसलिये द्रव्य को संसार का मूल नहीं कहा। द्रव्य संसार का मूल नहीं है। आत्मा के ध्यान से भिन्न जो ध्यान है, वो घोरसंसार का मूल है। जिसे किया जा रहा है, वह ध्यान है। जिसका किया जा रहा है, वह ध्येय है। जो कर रहा है, वो ध्याता है। ध्यान, ध्येय, ध्याता का विकल्प ध्यान नहीं है। ये ध्यान को भंग कर रहा है। भो चैतन्य! स्वयं के परिणामों को संभालो। तुम दुनियाँ के सिर के बाल कब तक सुधारोगे? अपनी कंघी से अपने बाल सुधार लो। आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांति देव कह रहे हैं—

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किंचि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥ वृ.द्र.सं. 56॥

कोई चेष्टा मत करो, कोई (अनर्गल)जल्प (अनर्गल) मत करो, कुछ मत करो। स्थिर हो जाओ। कहाँ? आत्मा को आत्मा में लगा दो, यह परमतत्त्व है, ये ही परमतत्त्व ध्यान है। जब तक इष्ट-अनिष्ट पदार्थों पर दृष्टि है, तब तक सविकल्प धर्म्यध्यान भी नहीं बनता,

निर्विकल्प तो छोड़ो। ये अच्छे हैं, ये बुरे हैं, तो आपकी दृष्टि तो अच्छे-बुरे में लगी हुई है। ये बाहर की दृष्टि है।

भो ज्ञानी! जब भी शिक्षा दो तो राग नहीं करना, वात्सल्य हो सकता है, परन्तु राग मत करना। उपकारी के उपकार को मानना वात्सल्य भाव है, क्योंकि उपकारीभूत है परन्तु राग नहीं, योगी बनकर उपकार-भाव को ही लेकर बैठा है, तो जिस उद्देश्य से बना था, उसकी सिद्धि नहीं होगी। जिस वाहन से आप जिनालय आये हो, उससे आपका उपकार हुआ कि नहीं ? हुआ है। तो भो चैतन्य! आपने उसको बाहर क्यों छोड़ दिया? अंदर लाना चाहिये था या फिर उसी में बैठे रहना चाहिये था। जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं है, तब-तक उपकार-उपकारी-भाव है। लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर उपकार-उपकारीभाव समाप्त हो जाता है। यह निश्चयनय है। व्यवहारनय से उपकार-उपकारी भाव भूल मत जाना। लेकिन लक्ष्य यही होगा। उपकारी के उपकार का ही स्मरण करते रहोगे, तो निज का उपकरण कब बनाओगे? निज का उपकरण बनाके फिर उपकार करोगे तो भो ज्ञानी! नियम से उपकार हो जायेगा। इसलिये 'तत्त्वसार' में पंचपरमेष्ठी को भी परगत तत्त्व कहा है और निज आत्मा को स्वगत तत्त्व कहा है। जब तक स्वगत तत्त्व की प्राप्ति नहीं है, तब तक परगत तत्त्व को भूल मत जाना। जिस दिन स्वगत तत्त्व की प्राप्ति होगी, तब तत्त्व का विकल्प स्वयं ही नहीं रहेगा।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 93 में ध्यान की प्रधानता से प्रतिक्रमण का कथन कर रहे हैं। जिस समय योगी ध्यान में लीन होता है, उस समय कोई दोष ही नहीं होते। जब दोष ही नहीं है, तब प्रतिक्रमण स्वयं हो जाते हैं। शेष तपस्या में समिति आदि का परिचालन चल रहा है, उसमें गमनागमन हो रहा है, पर ध्यान में बैठे हैं वहाँ कोई हिंसा आदि का दोष होना संभव नहीं दिख रहा है, जो निर्विकल्प बैठे हैं।

भो ज्ञानी! लोक में शब्द को ही ब्रह्म कह डाला, जबकि वो जड़ है, पुद्गल की पर्याय है। शब्द तो जड़ है और ब्रह्म चैतन्य है। तेरा ब्रह्म वैसा है, जैसा सिद्धशिला पर विराजमान सिद्धपरमेश्वर है। अंतर इतना है कि वह कार्यरूप है और तेरा ब्रह्म कारणरूप है। सिद्धशिला पर विराजा परमब्रह्म कार्य-समयसार है और इस आत्मा में विराजा ब्रह्म कारण-समयसार है। अन्य कोई ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। आत्मब्रह्म ही ब्रह्म है। किससे प्रकट होगा? ध्यान के माध्यम से। ध्यान किससे होगा? ज्ञान के माध्यम से। ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से निर्वाण की सिद्धि होती है, ऐसा 'रयणसार' में कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है।

आचार्यभगवन् गाथा में कह रहे हैं कि ध्यान में लीन साधु संपूर्ण दोषों का परित्याग करता है, इसलिये ध्यान में ही संपूर्ण अतिचारों का प्रतिक्रमण हो जाता है। भो ज्ञानी! एक समय

में दो ध्यान नहीं हो सकते हैं। आर्त्तध्यान है तो आर्त्त ही होगा, रौद्रध्यान है तो रौद्र ही होगा। क्रूरता में धर्म्यध्यान लेशमात्र भी नहीं है। पंचमकाल में शुक्लध्यान होता ही नहीं है। भो ज्ञानी! विवेक से समझना तत्त्व को, अल्प पर्याय बची है। इस पर्याय को भी हमने आर्त्त-रौद्रध्यान में निकाल दिया तो अब ऐसा काल मिलनेवाला नहीं।

भो ज्ञानी! पर्यायों के सम्बन्ध ने आज तक किसी को परमात्मा न बनाया है, न बना पायेंगे। हमने परावर्तन कर लिया, पर पर्याय का सम्बन्ध नहीं छोड़ पाये, तो परिणमन नहीं छूटेगा, पंच-परावर्त्तन ही चलेगा। पर्याय के सम्बन्ध से जो मोक्ष मान रहा है, बड़ी अज्ञानता है। लोक में कुछ लोग ये मानकर बैठे हैं कि मैंने मंदिर स्थापित कर दिया तो अब हमारा मोक्ष तो हो ही जायेगा। कोई बड़ा विधान करवा कर यह मान रहा है। भो ज्ञानी! आजकल तो ये हो रहा है कि आप इतना धन दे दो तो हम आपके नाम से पूजा करवा देंगे। यह श्रमण संस्कृति नहीं है। एक पंडित जी बालक से बोले कि तुम्हें कालसर्प दोष लगा है। बालक घबरा गया, बोला, क्या करूँ? पंडितजी बोले, सवा सौ रुपया दे दो, हम तुम्हारी तरफ से पूजा करवा देंगे। भैया! तुम्हारा कालसर्प उतरे या न उतरे, पर पंडितजी का तो जरूर उतर जाना है, क्योंकि उनकी जेब में पैसे आ गये।

भो ज्ञानी! मोक्षमार्ग परिणति का मार्ग है और आपने क्या किया? इतना रुपया हमने पुद्गल (धर्मायतन आदि)में लगा दिया, अब हमारा मोक्ष हो जायेगा। ज्ञानी! ये कभी नहीं होगा। मोक्ष तो परिणति का विषय है। श्रमणसंस्कृति तो आत्मवादी संस्कृति है। किसी के घर में एक ने दीक्षा ले ली, तो पिताजी खुश होकर बोले कि हमारे यहाँ एक मुनि हो गये, अब सबका मोक्ष हो जायेगा। भैया! आप स्वयं दीक्षा लोगे, तब ही आपका भी होगा। स्वयं करना पड़ेगा। संघ में कोई महाराज ने 51 माला फेरी, हम खुश हो गये कि हमारे संघ में एक महाराज 51 माला फेरते हैं, पर भैया! उनकी माला उनके ही काम आयेगी, उनकी माला आपके काम नहीं आयेगी। आपको स्वयं माला फेरनी पड़ेगी।

भैया! आपके बेटे ने दीक्षा ले ली। आप मुनिराज मानकर नमोस्तु करोगे तो नियम से आपको परमेष्ठी की वंदना का फल मिलेगा और यदि आपने बेटा मानकर नमोस्तु किया है तो आपने उसे मुनि नहीं माना। भो ज्ञानी! तुझे वहाँ पर्याय दिख रही है, इसलिए बंध होगा। उसे तुम पर्यायभूत मत देखो, उसे तुम परमेष्ठीभूत देखो। यहाँ पर्याय से तात्पर्य है कि रागरूप पर्याय को मत देखो। परमेष्ठी में रागरूप संबंध बनाकर रखा है तो अशुभ बंध होगा। परमेष्ठी की पर्याय में अनुराग रखा है, तो शुभ बंध होगा, निर्जरा भी होगी।

भो ज्ञानी! शरीर की स्वस्थता के लिये शरीरिक क्रियाओं का योग 'योग' नहीं है। मन, वचन, काय को जिसने निज में जोड़कर रखा है, वह योग है और निज में निज को जिसने जोड़ा है वह जिन योगी है, लोक में योगी तो बहुत हैं, पर जिनयोगी अंगुलियों पर गिनने लायक ही हैं।

भो ज्ञानी! जो निश्चय से शुक्लध्यान में विराजते हैं, सत्य-असत्य सम्पूर्ण रूप से भिन्न अंतर्मुख होकरके प्रशस्त अथवा अप्रशस्त सम्पूर्ण मोह, राग, द्वेष को त्याग करते हैं, उनके ही स्वात्मास्थित निश्चय धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनों ही कर्म के संपूर्ण अतिचारों का निराकरण करने के लिये प्रतिक्रमण है, वही निश्चय प्रतिक्रमण है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता

गाथा : **पडिकमणणामधेये, सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।**
तह णच्चा जो भावइ, तस्स तदा होदि पडिक्कमणं॥ 94॥

संस्कृत छाया : **प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे यथावर्णितं प्रतिक्रमणम्।**
तथा ज्ञात्वा यो भावयति तस्य तदा भवति प्रतिक्रमणम्॥ 94॥

अन्वयार्थ : (प्रतिक्रमणनामधेये सूत्रे) प्रतिक्रमण नाम वाले सूत्र में (यथा प्रतिक्रमणं वर्णितं) जिस प्रकार से प्रतिक्रमण का वर्णन किया है (तथा ज्ञात्वा) उसी प्रकार से जानकर (यः भावयति) जो साधु उसको भाता है (तस्य तदा प्रतिक्रमणं भवति) उस साधु के उस काल में प्रतिक्रमण होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! एक जीव उग्र तपस्या कर रहा है और एक जीव सहज ध्यान में बैठा है। कर्मों का नाश उस तपस्वी की अपेक्ष ध्यानी का हो रहा है। जैसे कोई लकड़ी में जरा-सी अग्नि का स्पर्श कराता है तो अग्नि बढ़ती चली जा रही है, उधर लकड़ी की राख होती चली जा रही है। ऐसे ही योगी क्रम से ध्यान करता जाता है और कर्मप्रकृतियों की राख होती जाती है। यही अग्नि-धारणा है। ऐसी अग्निधारणा का ध्यान करते हुए श्रमण चिन्तवन में बैठै हुए हैं। आठों कर्मों की राख हो चुकी है। इसके उपरान्त वे योगी वायु-धारणा में लीन होते हैं, उसके उपरान्त जलीय-धारणा है।

सर्वप्रथम ध्याता निर्मल स्थान पर बैठ करके चिन्तवन प्रारंभ करता है। महासागर, उसमें विशाल कमल, कमल के ऊपर सुमेरु पर्वत, उसकी चूलिका पर एक सिंहासन रखा हुआ है, जिस पर स्वयं जाकर विराजमान हो जाता है। इसके उपरांत वह ध्याता दो कमलों की रचना करता है, नाभि-कमल और हृदय-कमल। नाभि-कमल पर अर्हं की रचना करके ध्यान करता है और हृदय-कमल पर आठ कर्मों की स्थापना की है। आठ पंखुड़ियों से युक्त वह कमल अधोमुखी है। जो हृदय-कमल है, उस पर वह उल्टा है। आठ पत्तों पर क्रम से ज्ञानावरणादि आठ कर्म लिखे हुये हैं। वह ध्याता ध्यान में बैठता है। अर्हं में जो रेफ है, उससे चिनगारियाँ स्फुटित होती हैं। 'अर्हं' आवाज गूँज रही है और देखते-ही-देखते वह अर्हं त्रिकोण होते हुए लोकव्यापी हो रहा है और चिनगारियाँ जाकर प्रथम पत्र पर बैठ गई। ऐसे क्रम से आठों पत्रों पर करें। इसके पहले अर्हन्त अवस्था का ध्यान करेंगे। वह अरहंत धारणा पूर्ण

देखते-ही-देखते आकाश में अचानक तूफान प्रकट हुआ, आँधी चल रही है, धूमिल आकार लग रहा है, ये अरहन्त अवस्था है। पूर्ण निर्मल नहीं हुये हैं, परन्तु जैसे दर्पण पर छाई रज। इसी प्रकार से स्फटिक प्रतिबिम्बित है, उस पर राख चढ़ी हुई है। घनघोर काली घटा छाई है। रिमझिम पानी प्रारम्भ, मूसलाधार वर्षा हुई।वह स्फटिक शुद्ध आकार लग रहा है, योगी उस आकार को निहारता है। ऐसे चिन्तवन में लीन है। आठों कर्म की प्रकृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। अब मैं अजन्मा, यही आत्मा की अजन्म दशा है। अब संसार में जन्म नहीं होगा। जैसे जला हुआ बीज पुनः अंकुरित नहीं होता, ऐसे ही जिसका कर्म जल चुका है, वो अब उत्पन्न नहीं होगा। इस प्रकार से वह चिन्तवन करता है, ध्यान करता है।

भो ज्ञानी! ज्ञान-ही-ज्ञान में लगा रहेगा, तो जीवन निकल जायेगा, पर ध्यान नहीं कर सकेगा, तो कर्मनिर्जरा नहीं होगी। इसलिये आगम में ज्ञान की भी सीमा है। अध्ययन करो, लेकिन अध्ययन के साथ चिन्तवन और ध्यान भी करो। ज्ञान तो ध्यान के लिये है। इसी को पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं:

शुक्लध्यानप्रदीपोऽयं यस्य चित्तालये बभौ।
स योगी तस्य शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति स्वयम् ॥ कलश 124॥

शुक्लध्यान रूपी दीप जिसके चित्तरूपी घट में जल रहा है, वही योगी है। उसके शुद्ध आत्मा स्वयं ही प्रत्यक्ष हो जाती है। किसके? जो योगी शुक्लध्यानरूपी दीपक को जलाकर अपने निज-आलय में बैठा हुआ है, उसके मनीषियो!शुद्धात्मा स्वयं प्रत्यक्ष हो जाता है।

भो ज्ञानी! जिसको ध्यान नहीं है, मात्र स्वाध्याय में लगा है, यदि वो चाहता है कि मैं परम शुद्धात्मा को प्राप्त कर लूँ, तो स्वाध्याय से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होती। सात तत्त्व आदि का अध्ययन, ये तो आलम्बन है, अशुभ से बचने का एक उपाय है। पंचमकाल में सबसे श्रेष्ठ साधना है स्वाध्याय । परन्तु परम पारिणामिक भाव को प्रकट करने वाली कोई वस्तु है, वह ध्यान है। इसके अभाव में कुछ नहीं हो सकता है। ज्ञानी आत्माओ! ज्ञान-भाव में भी कभी-कभी कषाय-भाव आते हैं। कैसे? मैं ज्ञानी, और अध्ययन करूँ, और अध्ययन करूँ। ध्यान से अंतरंग में हर्ष प्रकट हो रहा है और बहिरंग में उदारता प्रकट हो रही है लेकिन पूरे ज्ञान से बाहर में हर्ष प्रकट होता है और अंतरंग में रूखापन आ जाता है।

भो ज्ञानी! जब तक मान है, तब तक भगवान् प्रकट नहीं हुये और जैसे ही मान गया, तो भगवान् आ गये। पर मान का परदा पड़ा हुआ था, भगवान् तो अंदर थे। इसी प्रकार से आपके अंदर भगवान् हैं, पर्दा उठा दो। 'समयसार' में कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रत्येक अधिकार में पर्दा ही हटाया है। अब संवर प्रवेश कर रहा है और संवर जहाँ प्रवेश कर गया, वहाँ मोक्ष

शब्द आने वाला है। संवर नहीं है, तो निर्मल निर्जरा नहीं है और निर्जरा नहीं है, तो मोक्ष नहीं है। पहले संवर, फिर निर्जरा,फिर मोक्ष। निर्जरा तो निगोदिया में भी चल रही है, लेकिन मोक्षमार्ग का हेतु संवर उसके पास नहीं है।

भो चैतन्य आत्माओ! जिन-जिन को अपनी आत्मा को प्रकट करना हो, तो अब समय को समय देना कम कर दो, समय को ही समय देना ज्यादा प्रारंभ कर दो। यदि प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव करना है, तो शास्त्र के अध्ययन में समय कम कर दो और आत्मध्यान को समय ज्यादा देने लगो। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि यदि तूने अभ्यास किया, तो हो सकता है कि छह माह के अंदर तुझे कुछ झलक आ जायेगी, पर वह साधना मौन ही होगी, ये ध्यान रखना। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने यह स्पष्ट लिखा है 'समयसार' की टीका अध्यात्म अमृत कलश में। बाह्य कार्य की सिद्धि के लिये बोलना अनिवार्य है, परन्तु स्वकार्य की सिद्धि के लिये मौन होना ही अनिवार्य है। बाह्यकार्य के लिये कुछ सामग्री प्राप्त करना है, तो बोलना ही पड़ेगा। स्वकार्य के लिये समस्त सामग्री अंदर ही रखी है, जो बिना बोले ही प्राप्त हो जाती है। वह द्रव्य मूक बनने से नहीं मिलेगा। वह आत्मद्रव्य मौन रहने से ही मिलेगा।

इस अधिकार को पूर्ण करते हुए आचार्यभगवन्त कह रहे हैं कि शुक्लध्यान शुद्धोपयोग के साथ में होता है। धर्म्यध्यान में निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं, इसलिये दोनों का कथन किया है। जो शुद्धोपयोग की दशा में जा रहे हैं, उनके लिये प्रतिक्रमण विषकुंभ है। पर जिनका अशुभ उपयोग भी नहीं मिट रहा है, उनके लिये अमृतकुंभ ही है। ऐसा आचार्यमहाराज के कथन का उद्देश्य है। हे योगी! पुरुषार्थ तूने किया, द्रव्यसंयम को तूने प्राप्त किया, परन्तु आवश्यक नहीं है कि तेरा भावसंयम निर्मल रहे।

भो ज्ञानी! द्वैपायन मुनिराज का कोई दोष नहीं था। घनघोर तपस्वी न होते तो तैजस पुतला निकल ही नहीं सकता था। द्रव्यलिंगी के ऋद्धि नहीं होती, सच्चे भावलिंगी मुनिराज के ऋद्धि होती है। उन्होंने अपने-आपको बहुत रोके रखा, परन्तु कोई सीमा होती है। यादव कुमारों ने उनके साथ अति कर दी। उस अति का परिणाम द्वारका का भस्म होना हुआ। ज्यादा गर्मी होने पर रेल की पटरी से भी अग्नि की चिंगारियाँ निकलने लगती हैं। पत्थर पर पत्थर पटकोगे, तो चिंगारी निकलती है। जब दो विकारी भाव मिलते हैं, तो कषाय की चिंगारी प्रकट हो जाती है। दो अहंकार मिलें, तो तीसरी पर्याय क्रोध की प्रकटता होती है। इसलिये ध्यान रखना, जब भी साधकपुरुषों के पास जायें, बिल्कुल साम्यता में जायें।

भो ज्ञानी! जब भी साधक आये, तो ऐसे स्थान पर विराजमान करना जहाँ पर जनसमुदाय का आवागमन ज्यादा न हो। मुनिराज ध्यान में थे, पर वे चौराहे पर बैठे थे। ये दोष उनका कहो या होनहार कहो। पथिक निकलते हैं, उनको देखकर चर्चायें करने लगे कि जब ये वीर सम्राट थे, इनका शासन कैसा अच्छा चलता था, पर बेटे संभाल नहीं सके। इतना सुनने पर उनकी चिन्तन-धारा बदल गई। जहाँ पिच्छि-कमंडलु रखा हुआ था, वहाँ ढाल-तलवार दिखनी लगी। धर्म्यध्यान बदल गया, रौद्रध्यान प्रारंभ हो गया। सोचने लगे, मैं होता तो ऐसे चक्रव्यूह की रचना करता। राजा श्रेणिक भगवान् महावीर से पूछता है कि मुनिराज तीव्ररौद्रध्यान में लीन हैं, उनकी क्या दशा होगी? बोले, राजन्! आप जाओ। अगर यही दशा रही, तो अधोगति भी हो सकती है, कहीं आयुबन्ध हो गया तो। वह पहुँचा और बोला, स्वामी! नमोस्तु, नमोस्तु। कहाँ तो हाथ खीच रहे थे, भृकुटियाँ तन रही थी। लेकिन अब मुद्रा बदल गई, क्योंकि नमोस्तु शब्द गूँज रहा था। पुद्गल की महिमा देखो, शब्दवर्गणाओं की महिमा देखो। एक वर्गणा ने चक्रव्यूह रच दिया और दूसरी वर्गणा ने चक्रव्यूह नष्ट करके पिच्छि-कमंडलु पर हाथ रखवा दिया। 'किसका भवन? किसका राज्य? यही सब करना था, तो राज्य छोड़कर क्यों आया?' तुम्हारी ताकत हो तो भो ज्ञानी! संभलवा देना, परन्तु जले पर नमक मत छिड़कना।

भो ज्ञानी! ध्यान से समझना। ध्यान ही बंधक है, ध्यान ही अबंधक है। धर्म्य-शुक्लध्यान अबंधक है और धर्म्यध्यान के भेष में कहीं आर्त्त-रौद्रध्यान है, तो बंधक है। वंदना तूने ऐसे की कि स्वयं भी बंधा और जिसकी वंदना थी, उसको भी बांध दिया। महाराज! आप चिन्ता मत करो, मैं आपके साथ हूँ, सब साथ छोड़ें तब भी। अब तुम साथ लाकर क्या करना चाहते हो? भो चैतन्य! ये कहना, प्रभु! मुझे असाता है, ऐसा उपाय बताओ जिससे आपके साथ हो जायें। अंतर आया न? ज्ञानी नमस्कार में भी ध्यान रखता है, वंदना में भी ध्यान रखता है।

भो ज्ञानी! जिनवाणी कह रही है कि हे योगी! तेरे दर्शन से मैं योगी बनूँ या न बनूँ, पर तेरे दर्शन करने से योगीभाव पर श्रद्धा बनी रहे। साधुपुरुष को देखकर साधुता पर श्रद्धा बढ़ जाये। ठेले वाले आम-आम चिल्ला रहे थे, आम की सुगन्ध फैल रही थी। आपका मन नहीं था खरीदने का, पर सुगन्ध ने खरीदने के लिये प्रेरित कर दिया। जब एक जड़फल अपनी सुगन्ध से तुम्हें प्रेरित कर सकता है, तो हे योगी! मेरी ऐसी सुगन्ध हो कि श्रावक अपने-आप साधु बनने को तत्पर हो जाये। ये ही तत्त्वदृष्टि है। कभी ऐसा भी होता है कि पैसा होता तो खरीद लेता, आम अच्छे हैं। यदि उत्तम संहनन होता, शरीर में शक्ति होती, तो हम महाराज बन ही जाते। इतने भाव तो बन गये। ठीक है, पैसा नहीं है, इसलिये खरीद नहीं पाये, लेकिन

मन में भाव तो आ गये। ये भोगों के आम तो छोड़ देना। जैसी आपको महाराज के दर्शन की लगन लगी थी, ऐसी ही निजदर्शन की लगन लग जायेगी, चिन्ता मत करो। जिसको लगन लगी है, वो नियम से साधु बनेगा सम्यग्दृष्टि होगा तो। कोई टाल नहीं सकता, क्योंकि अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन के अंदर-अंदर उसको मोक्ष जाना है।

भो ज्ञानी! 'तत्त्वार्थ सूत्र' में उमास्वामी महाराज ने लिखा है कि जो जीव व्रतियों की अवहेलना करता है, तीव्र कषायभाव रखता है, वो चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव-बंध करता है और जो मुनियों की सेवा करता है, उसका चारित्रमोहनीय कर्म शिथिल हो जाता है। आचार्यभगवन् ने 'परमात्म प्रकाश' में लिखा है कि कोरे ज्ञानी मत बनना और कोरे सेवक भी मत बनना। शास्त्रज्ञान भी रखना और पंचपरमेष्ठी की सेवा भी करना।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 94 में कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण नाम वाले सूत्र में जैसा प्रतिक्रमण का कथन किया गया है, उसे जान करके जो भाता है, उसके ही प्रतिक्रमण होता है। प्रतिक्रमण सूत्र अपने आप में एक शास्त्र है। प्रतिक्रमण सूत्र में जैसा कथन किया है, वैसा प्रतिक्रमण करना, अन्यथा मात्र पाठ है। यदि अपराध हुआ है, तो अपराध ा का भाव आना चाहिये। अन्यथा लोग सुबह, मध्याह्न, शाम तीनों समय पाठ कर लेते हैं। वास्तविक प्रतिक्रमण क्या है? अंतरंग में वह भाव नहीं आया तो पाठ करना भर है। वास्तव में जो दोष आपको लगा है, उसका भाव आना चाहिये।

भो ज्ञानी! परिणाम किसने किये हैं? चोरी तो नहीं की, पर चोरी के भाव आ गये। गुस्सा तो नहीं किया, पर गुस्सा करने के भाव आ गये। प्रतिक्रमण किया क्या? भगवान् के भाव भी नहीं आना चाहिये। वास्तविकता है कि बहुत एकान्त चाहिये। सबके बीच में रहकर सबमें नहीं जाना, इसका नाम एकान्त है, न कि सबके बीच से उठकर चले जाना।

भो ज्ञानी! समरभूमि में हाथी पर बैठे-बैठे केशलोंच हो गये। मथुरा का राजा शत्रुघन बाण छोड़ रहा था, नतमस्तक हो गया। हे स्वामी! नमोस्तु। एक क्षणपूर्व भाव शत्रुरूप थे और दूसरे क्षण में भाव नमस्कार करने के हो गये। इसलिये शत्रुरूप शाश्वत नहीं है, मित्ररूप भी शाश्वत नहीं है। एकमात्र संतस्वभाव ही शाश्वत है। शत्रु का भी अभाव होता है, मित्र का भी अभाव होता है।

भो ज्ञानी! जब तू बाण सहन करने की क्षमता रखता है, तो शब्दवर्गणाओं को सहन करने में कितनी शक्ति लगती? जब तक इतना नहीं समझेगा, अपने आपको नहीं संभालेगा, तो कभी भी साधुस्वभाव में नहीं रह पायेगा। सामायिक करेगा, तो वर्गणायें टकरायेंगी, इसलिये तत्त्व-दृष्टि रखो। विभावभाव का अभाव करने का उपाय साधुभाव है और इस भाव में भी

तू विभावभाव का अभाव नहीं कर पाया। भो ज्ञानी! कर्मों के भार ढोनेवाले कुली तुम कितने बार बन चुके हो? अब ये ड्रेस तूने पहनी है। ये दिगम्बर वेश को प्राप्त करके बिना किसी भेदभाव के तू कर्मों की शल्यक्रिया कर दो अन्यथा जरा भी मलीनता आई, मलिन भाव हुये, तो चूक जाओगे। भो चैतन्य आत्मा! तू तो परमेश्वर बनने जा रहा है, तू भेदभाव की दृष्टि को छोड़ दे।

आचार्यभगवन् व्यवहार प्रतिक्रमण की सफलता को कह रहे हैं। रूढ़ि के अनुसार, सल्लेखना के समय जो सेवा कर रहे आचार्य हैं, वे निर्यापकाचार्य कहलाते हैं। निर्यापकाचार्य के कई अर्थ हैं। दीक्षा गुरु, प्रायश्चित देने वाले, सन्मार्ग में लगाने वाले उन्हें भी निर्यापकाचार्य कह रहे हैं। जो भटकते मार्ग से किसी जीव को निकाल करके सद्मार्ग की ओर ले जा रहे हैं, उन्हें भी निर्यापकाचार्य कहा है। गुरु बहुत प्रकार के होते हैं। गमक गुरु, विद्या गुरु, शिक्षा गुरु आदि। जो एक मिनट भी दीक्षा में बड़े हैं, वे भी गुरु हैं, ऐसा 'मूलाचार' में लिखा है।

जो निर्यापकाचार्य हैं, वो समस्त आगम के सार-असार के विचार में गुणों के समूह से युक्त होते हैं। प्रतिक्रमण का कथन करने वाले सूत्र में व्यवहारनय से कहा। आचार्य प्रभाचन्द्र स्वामी ने 'प्रतिक्रमण त्रयी' की टीका में कहा है कि हे मुनिराज! तुम नरक के नारकी और स्वर्ग के देवों की हिंसा का त्याग करो। अब बताओ कि नरक के नारकी को कौन मारने जा रहा है? स्वर्ग के देवों को कौन मारने जा रहा है? और क्या तेरे मारे से मरेंगे? सिद्धान्त है कि देव और नारकी की अकाल मृत्यु नहीं होती। आचार्यभगवान् बोले कि सुनो, आप नरक तो नहीं जा रहे हो, आप स्वर्ग भी नहीं जा रहे हो। आप 'पद्मपुराण' पढ़ रहे थे कि रावण नरक चला गया और वहाँ उसके दु:खों का वर्णन प्रारंभ हुआ। आपके भावों में आया, कि अच्छा हुआ, नरक गया, दु:ख उठा रहा है, सीता का हरण किया था। तुमने नरक के नारकी की हिंसा की ? भावहिंसा हुई। टेलीविजन पर मैच चल रहा था, भारत जीत गया, भैया! पटाखे फोड़ रहा है, मिठाई बाँट रहा है। क्या हो रहा है? क्या मिला आपको? जीत गया तो हर्ष मना रहे हो, हार गया तो रो रहे हो।

भो मनीषियो! जहाँ टेलीविजन होगा, न्यूजपेपर होंगे, वहाँ विपदा के अलावा क्या होगा? पंचमकाल में धर्म्यध्यान की भी न्यूनतम परिणति है और तुमने उस समय को टेलीविजन में व्यतीत कर दिया। पर के चित्र देखोगे तो निज का चित्र कब दिखेगा?

भव्य बन्धुओ! पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं–

निर्यापकाचार्य निरुक्तियुक्ता–मुक्तिं सदाकर्ण्य च यस्य चित्तम्।
समस्तचारित्रनिकेतनं स्यात् तस्मै नमः संयमधारिणेऽस्तु॥ कलश 125 ॥

हमने चित्र के मुनि की वंदना नहीं की, हमने वन्दना की है उनकी जो संपूर्ण चारित्र के निकेतन हैं। उनके लिये मेरा नमस्कार हो। किनके लिये? जिनके द्वारा संयम स्वीकार किया गया हो, ऐसे मुनिराज के लिये वंदना है। जब करणानुयोग से पूछेंगे, तो आप किसकी वंदना कर पाओगे? करणानुयोग कहेगा कि मैं नहीं जानता कि पिच्छि वाले हैं, कि कमंडलु वाले हैं। मैं नहीं जानता कि निर्वस्त्र हैं कि सवस्त्र हैं। मैं तो इतना जानना चाहता हूँ कि इनके अनंतानुबंधी प्रत्याख्यान, और अप्रत्याख्यान, इन सर्वघाति प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय, इन्हीं का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति प्रकृति संज्वलन कषाय का उदय जिनके चल रहा है, वो जीव मुनिराज हैं, उन्हें मेरी वंदना है। ये कौन कहेगा? करणानुयोग। परन्तु करणानुयोग की प्रकृति को आप जान नहीं सकते हो क्योंकि वह केवली का विषय है, अवधिज्ञानी का विषय है।

भो ज्ञानी! चरणानुयोग कहेगा कि जो 28 मूलगुणों का निरतिचार पालन कर रहे हैं, वे मुनिराज हैं, उन्हें मेरी वंदना है और जहाँ 28 मूलगुण हैं, उन 28 मूलगुणों के अंतर्गत ही संयम है, इसलिये उनकी वंदना। भो चेतन! ये कहना ही नहीं पड़ता है, वो आपकी बुद्धि सहज चली जाती है। निर्णय स्वयं कर लेता है जीव, क्योंकि कहने में विसंवाद हो जाता है, करने में कोई विसंवाद नहीं है। अज्ञानी कहके स्वयं पिटता है और दूसरे को भी पिटवा डालता है। ज्ञानी समझ करके अपना काम कर लेता है। ज्ञानी व अज्ञानी में इतना भेद होता है।

आचार्यभगवन् यह कह रहे हैं कि ऐसे संयमधारी यति को मेरा नमस्कार हो–

यस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षो–
र्नास्त्य प्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय
श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम्॥ कलश 126 ॥

भो ज्ञानी! परस्पर में गुणानुराग नहीं होगा, तो भक्ति की संज्ञा किसकी? ये अज्ञानियों की शैली है मेरे और तेरे। अचौर्यव्रत का पालन उसके पास नहीं है। यदि साधक के अंदर मेरा-तेरा भाव आ रहा है, तो उनके अचौर्य महाव्रत का पालन नहीं है। उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' जी में अचौर्यव्रत की पांच भावनाओं का कथन किया है।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च॥ त. सू. 6/7॥

यदि आप कहीं विराजमान हो और दूसरा मुनि आता है, तो आप उसे भगा नहीं सकते हो। ये आगम कह रहा है। क्योंकि उसका हृदय खिन्न होगा। दूसरी बात, भवन पर तुम्हारा स्वामित्व है क्या? यदि स्वामित्व है, तो अपरिग्रह महाव्रत कहाँ? और स्वामित्व नहीं है, तो आप भगा कैसे रहे हो? किस अधिकार से भगा रहे हो?

भो ज्ञानी! यहाँ कमरे में कोई साधक आकर विराजमान हो जाये, तो यह नहीं कहेंगे कि आप यहाँ से जाओ। बोले, क्यों? क्योंकि भवन उसका नहीं है। भवन तो ईंट-पत्थर का ही है, परन्तु अनुपचरित असद्भूत विजातीय व्यवहारनय से भवन तो सेठ का है। सद्भूत व्यवहारनय से भवन तो भवन है, ईंट-चूने का है। भैक्ष्यशुद्धि का अर्थ होता है जैसे जिनदेव ने यति को छियालीस दोषों से रहित चर्या करने का संकेत दिया है।छिलते जायें और कहें हमने तो देखा ही नहीं है, ठीक है, और आहार लेते जायेंगे। यदि आप भिक्षावृत्ति में कोई दोष लगा रहे हो, तो तुम्हारे अचौर्यव्रत का पालन नहीं है। बोले, महाव्रत तो आहारचर्या है, उसमें चोरी से क्या सम्बन्ध? आहारचर्या के नियम हैं, अरहन्तदेव की आज्ञा है और शासन की आज्ञा का अतिक्रम करना दोष है। यति खाली पड़े हुये मकान, विमोचितावास, खंडहर, दुर्ग, पाठशाला, धर्मशाला में निवास करते हैं, पर्वत की कंदरा, गुफा आदि शून्यागार है। यति शून्यागार, विमोचितावास में बिना पूछे रह सकते है।

भो ज्ञानी! धर्मात्माओं का परस्पर में विसंवाद करना, ये अचौर्यमहाव्रत में दोष है। अरहन्त भगवान् की आज्ञा है, कि वात्सल्य-भाव बनाके चलो। आपके अन्दर यह भाव नहीं आ रहा है, इसलिये आपके महाव्रत का पालन नहीं हो रहा है। अब कहीं वीरनंदि स्वामी के शिष्य होते, तो कहते पद्मप्रभमलधारिदेव से, कि आप अपने गुरु का नाम लिखो, मेरे गुरु से आपको कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिये। भो ज्ञानी! जिस समय निर्ग्रन्थ दीक्षा हो जाती है, तीन कम नौ कोटि मुनियों में तुम्हारा नाम भी आ जाता है, तो वे सिर्फ तुम्हारे गुरु नहीं हैं। वे सभी मनुष्यों के हैं। "णमो लोए सव्वसाहूणं"। मेरे ही गुरु कहना, ये तुच्छ बुद्धि का काम है, विशालता का काम नहीं है। जब तक परिणामों में तुच्छता रहेगी, तबतक साम्यभाव नहीं, समदृष्टिपना नहीं, फिर सम्यक्चारित्रपना तो संभव होता ही नहीं है।

आचार्यमहाराज ग्रन्थ में बड़ी भक्ति के साथ नमस्कार लिख रहे हैं। वीरसेन स्वामी ने 'धवला' ग्रन्थ में पूर्ववर्ती आचार्यों को नमस्कार किया। भट्ट अकलंक देव ने जब ग्रन्थ लिखा, तब सब आचार्यों को नमस्कार किया। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने पूर्व आचार्यों को नमस्कार किया। ये सब क्या था? अपने सम्मान के लिये नहीं था। ग्रन्थ की प्रामाणिकता के लिये था। वो पंचपरमेष्ठी के प्रति विनयाचार था।

आप कहो कि संघभेद कुन्दकुन्द स्वामी के समय शुरू हो चुके थे। प्राकृतभाषा के ग्रन्थ 'समइ-सुत्तं' के कर्त्ता आचार्य सिद्धसेन का नाम 'धवला' में आचार्य वीरसेन स्वामी ने बड़े आदर के साथ लिया है। उस ग्रन्थ के प्रमाण दिये। परस्पर में यह आचार्यों का वात्सल्य था और साथ में यह प्रामाणिकता थी कि यह जो मैं लिख रहा हूँ, अपने मन से नहीं लिख

रहा हूँ, पूर्व आचार्यों की परम्परा से लिख रहा हूँ। मुनियों के भेदों/नामों में 'कुल' शब्द आता है। कुल यानि आचार्यपरम्परा। यह आचार्यपरम्परा अविच्छिन्न है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। आचार्य देवसेन स्वामी ने पूरे इतिहास का वर्णन किया है। मध्यकाल में हुये संघभेद आदि का कथन भी किया है। यापनीय संघ, माथुर संघ, गोपिच्छिका संघ, भिल्लव संघ, निष्पिछिका संघ आदि। कुछ संघों को देवसेन स्वामी ने जैनाभास लिखा है। इनके द्वारा लिखित ग्रन्थों को आगम नहीं माना है। यापनीय संघ के साधु पहले अर्द्धफलक धारी थे, बाद में दिगम्बर हो गये, परन्तु सिद्धान्त से नहीं। वह स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति मानते थे। दिगम्बर भेष में तो रहेंगे, पर दिगम्बर व श्वेताम्बर आम्नायों में समझौता कराना उनका उद्देश्य था। यापनीय संघ में शाकटायन नामक प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होंने शाकटायन व्याकरण लिखा, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होंने स्त्रीमुक्ति और केवली-भुक्ति पर भी वृहद् ग्रन्थ लिखा है। यापनीय संघ का अस्तित्व मूल दिगम्बर आम्नाय में विलीन हो गया है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आचार्य वीरनंदी स्वामी को नमस्कार कर रहे हैं। यह वही वीरनंदी स्वामी हैं, जिन्होंने 'आचारसार' ग्रन्थ लिखा है। 'मूलाचार' के बाद संस्कृत में चरणानुयोग का सर्वमान्य महान ग्रन्थ है, जिसमें मुनियों की संपूर्ण चर्या का वर्णन है। 'भगवती आराधना', 'मरणकंडिका' ये ग्रन्थ संपूर्ण चारित्र का कथन नहीं कर पाते हैं, क्योंकि इसमें समाधि की प्रधानता है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जिसके प्रतिक्रमण सदा होता रहता है, ऐसे मुमुक्षु यतीश्वर के सदा प्रतिक्रमण होता है। उनके अणुमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है। जो वीरनंदी नाम के मुनिराज हैं, सकल-संयम के आभूषण-स्वरूप हैं, उनके लिये मेरा नमस्कार हो।

भो ज्ञानी! इस प्रकार सुकविजन रूपी कमलों के लिये सूर्यस्वरूप हैं, पांचों इंद्रियों के प्रसार से रहित हैं, जिनके पास शरीर मात्र ही परिग्रह है, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित 'नियमसार' ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चय प्रतिक्रमण अधिकार नाम का पंचम श्रुत-स्कन्ध पूर्ण हुआ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार (6 वां अधिकार)

उत्थानिका : निश्चयनय के प्रत्याख्यान का स्वरूप, वंदना, अनंतचतुष्टय स्वरूप अपनी आत्मा के ध्यान का उपदेश।

गाथा : **मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहणिवारणं किच्चा।**
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स॥ 95॥
केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमइओ।
केवलसत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी॥ 96॥

संस्कृत छाया : **मुक्त्वा सकलजल्पमनागत शुभाशुभनिवारणं कृत्वा।**
आत्मानं यो ध्यायति प्रत्याख्यानं भवेत्तस्य॥ 95॥
केवलज्ञानस्वभावः केवलदर्शनस्वभावः सुखमयः।
केवलशक्तिस्वभावः सोहमिति चिंतयेत् ज्ञानी॥ 96॥

अन्वयार्थ : (यः) जो साधु (सकलजल्पं) संपूर्ण जल्प को (मुक्त्वा) छोड़कर (अनागत शुभाशुभ निवारणं कृत्वा) अनागत शुभ-अशुभ का निवारण करके (आत्मानं ध्यायति) अपनी आत्मा का ध्यान करता है (तस्य) उस साधु के (प्रत्याख्यानं) प्रत्याख्यान (भवेत्) होता है।

(केवलज्ञान स्वभावः) केवलज्ञान-स्वभाव वाला (केवलदर्शन स्वभावः) केवलदर्शन स्वभाव वाला (सुखमयः) सुख स्वरूप और (केवलशक्ति स्वभावः) केवलवीर्य स्वभाव वाला (सः अहं) वह मैं ही हूँ (इति ज्ञानी) इस प्रकार से ज्ञानी साधु (चिन्तयेत्) चिंतवन करें।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी ग्रन्थ में परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार के पश्चात 6वें अधिकार में निश्चयनय से प्रत्याख्यान का कथन कर रहे हैं। जो निर्ग्रन्थमुनिराज निर्ग्रन्थदीक्षा को धारण करते हैं, उस निर्ग्रन्थ साम्राज्य के लिये प्रत्याख्यान, विजयपताका के दण्ड को सुशोभित करने रूप आभूषण के समान है। निश्चय प्रत्याख्यान संपूर्ण कर्मों की निर्जरा का हेतु बनता है। मोक्षमहल में प्रवेश करने के लिये सीढ़ी के समान है। मुक्तिसुन्दरी के प्रथम मिलन में भेंटरूप है। आचार्यमहाराज निश्चय प्रत्याख्यान की महिमा का गुणगान कर रहे हैं।

भो ज्ञानी! जो निर्ग्रन्थ मुनिराज सम्पूर्ण जल्पों को अर्थात् विकल्पों को छोड़ देता है और आने वाले शुभ और अशुभ कार्यों का विचार भी नहीं करता है, मात्र अपनी आत्मा में ध्यान में लवलीन होता है, उस साधु के निश्चय प्रत्याख्यान होता है।

आचार्यमहाराज ने व्यवहार प्रत्याख्यान के विषय में कथन किया था कि मुनिराज प्रतिदिन आहार करने के पश्चात आहार का प्रत्याख्यान कर देते हैं दूसरे दिन के आहार लेने के पूर्व तक का। मुनिमहाराज जो लेने योग्य खाद्य स्वादय लेह और पेय चार प्रकार के आहार कहे गये हैं, उनका आहार लेने के पश्चात पुनः योग्य-काल-पर्यन्त त्याग कर देते हैं। यदि कोई श्रावक भी आ जाता है, तो उससे भी आहार के लिये नहीं पूछते हैं, क्योंकि आहार का प्रत्याख्यान कर चुके हैं अगले दिन के लिये। यह व्यवहार प्रत्याख्यान है। योगीराज निश्चयनय से सब प्रकार के अच्छे-बुरे वचनों को कहना छोड़ देते हैं। वे किसी भी प्रकार के प्रशस्त-अप्रशस्त वचनों के व्यापार में संलग्न नहीं रहते हैं। वे हमेशा शुद्ध ज्ञान की भावना भाते रहते हैं, जिससे नवीन शुभ-अशुभ द्रव्यकर्मों एवं भावकर्मों का संवर होता है। अभिनव-अभिनव कर्मों का आवागमन रुक जाता है। यह निश्चय प्रत्याख्यान है। वे बाहर के सभी विकल्पों का त्याग कर देते हैं। बाहरी पदार्थों पर दृष्टि ही नहीं ले जाते हैं। वे अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करके अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं। कैसा है आत्मा? आत्मा अतिशय-अपूर्व है। ऐसे साधु का नित्य ही प्रत्याख्यान होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' जी में कथन कर रहे हैं—

सव्वे भावे जह्मा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥ स. सा. 34॥

जिस हेतु से सभी भावों को अपने से भिन्न, सभी पदार्थों को "ये पर है," इस प्रकार से जानकर त्याग करता है, उसी हेतु से "पर है" ऐसा जानना ही प्रत्याख्यान होता है।

समयसार टीका में आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके जिसका मोह, राग-द्वेष नष्ट हो चुका है, ऐसा मैं निष्कर्म (सम्पूर्ण कर्मों से रहित) चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा नित्य ही वर्तता हूँ, रहता हूँ।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने पूर्व में व्यवहार प्रत्याख्यान का स्वरूप बताते हुये कथन किया था कि साधु आहार के पश्चात् तत्क्षण वहीं पर सिद्धभक्तिपूर्वक अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं। पुनः गुरु के पास आकर गोचरी प्रतिक्रमण करके सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और आचार्यभक्ति पूर्वक गुरु से प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं। गुरु उन्हें अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चार प्रकार के आहार का त्याग दे देते हैं। भो ज्ञानी! यह 'मूलाचार' के अनुसार प्रत्याख्यान है। निश्चय प्रत्याख्यान तब होता है, जब साधु के समस्त अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प समाप्त हो जाते हैं। अन्तर्मुख परिणति ऐसी हो जाती है, स्वयं में इतना लीन हो जाता है कि बाहर का कुछ भी भान नहीं रहता है। आत्मा

का उपयोग अपने स्वरूप में तन्मय हो जाता है। ऐसी शुद्धोपयोग की अवस्था विशेष रूप से वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में ही यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है।

ऐसे प्रत्याख्यान की वंदना करते हुए श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कहते हैं

सम्यग्दृष्टिस्त्यजति सकलं कर्मनोकर्मजातं
प्रत्याख्यानं भवति नियतं तस्य संज्ञानमूर्तेः
सच्चारित्राण्यकुलहराण्यस्यतानि स्युरुच्चै—
स्तं वंदेहं भवपरिभवक्लेशनाशाय नित्यम्॥ कलश 127॥

जो सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण कर्म और नोकर्म के समूह को छोड़ देता है, उस सम्यग्ज्ञान की मूर्तिस्वरूप साधु के निश्चय प्रत्याख्यान होता है। उसके ही पापसमूह का नाश करने वाले सम्यक्चारित्र भी अतिशय रूप से होते हैं। ऐसे जो रत्नत्रयधारी मुनिराज हैं, उनको नित्य ही वंदन करता हूँ। ऐसे मुनिराज भव के विस्तार स्वरूप क्लेश को नाश करने में समर्थ होते हैं। वे संसार के जन्म-मरण के दु:खों से निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ आचार्यमहाराज का सम्यग्दृष्टि से तात्पर्य वीतराग चारित्र के साथ वीतराग सम्यग्दृष्टि से है। जो निश्चय सम्यग्दृष्टि का धारक होता है, उसी के सामायिक आदि से यथाख्यात पर्यन्त सभी चारित्र हो सकते हैं। ऐसे मुनिराज ही अपने भव-दु:खों को नाश करने में समर्थ होते हैं। उनके माध्यम से हमारे भी भव नाश हो सकते हैं, इसीलिये उनको नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार आचार्यमहाराज ने निश्चयनय से प्रत्याख्यान के स्वरूप का वर्णन कर उसकी महिमा का उल्लेख किया।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 96 में अनंत चतुष्टय स्वरूप अपनी आत्मा के ध्यान करने को कह रहे हैं। निर्ग्रन्थ साधु यह ध्यान करे कि केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य स्वभाव वाला आत्मा मैं ही हूँ। मैं अनन्तचतुष्टय का धारक हूँ। मेरी शुद्ध आत्मा का स्वभाव ऐसा ही है। साधु हमेशा इसी तरह का विचार करता है। वह बाह्य परपदार्थों के भावों से भी विलग हो जाता है। वह विचारता है कि ये परपदार्थ मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। मात्र अनन्तचतुष्टय रूप ही मेरी आत्मा का स्वभाव है।

भो ज्ञानी! जो परमतत्त्व का ज्ञानीजीव है, वह सभी प्रकार के बाह्य प्रपंचों से दूर रहता है। परपदार्थ वासनायें उत्पन्न करते हैं, अत: वह उनका प्रयोग तो दूर, चिन्तन तक नहीं करता है। वह अपने स्वरूप में लीन रहता है। जो दृष्टि बाहर की ओर जा रही थी, उसको अन्तर्मुखी कर लेता है। शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा सादि-अनन्त है, अमूर्त्त है, अतीन्द्रीय है, इन्द्रियातीत है। शुद्ध पुद्गल परमाणु के सदृश केवलदर्शन, केवलज्ञान, केवलसुख और केवलवीर्य से युक्त जो परमात्मा है, वह मैं ही हूँ। ज्ञानी योगी इस प्रकार से विचार करता

है। निश्चयनय से मैं सहजज्ञानस्वरूप हूँ, मैं सहजदर्शन स्वरूप हूँ, मैं सहज चारित्र स्वरूप हूँ तथा चैतन्यशक्ति स्वरूप हूँ। ऐसी भावना निर्ग्रन्थ योगी करता है।

आचार्य पद्मनंदी महाराज 'पद्मनंदि पंचविंशतिका' में कथन करते हैं–

केवलज्ञानदृक्सौख्य स्वभावं तत्परं महः।
तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुतेश्रुतम्॥ कलश 20॥

वह परमतेज केवलज्ञान-केवलदर्शन केवलसौख्यस्वभावी है। उसके जान लेने पर क्या नहीं जाना गया? अर्थात् आत्मस्वरूप को जान लेने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। उसके देख लेने पर क्या नहीं देखा गया? और उसके सुन लेने पर क्या नहीं सुन लिया? जब जीव अनंतचतुष्टय को जानकर लीन हो जाता है, तो औरकुछ भी जानने-देखने, सुनने की आवश्यकता नहीं रहती है और संपूर्ण पदार्थों का वह ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है।

टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसी परम तत्त्व की महिमा का समर्थन करते हुये कलश कह रहे हैं

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकल विमलदृष्टिः शाश्वतानंदरूपः।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः॥ कलश 128॥

सकल मुनिजनों के मनरूपी कमल का हंस स्वरूप ऐसा जो शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकलविमल दर्शनरूप, शाश्वत आनन्द-सौख्यरूप और सहज परम चैतन्य वीर्यरूप परमात्मा है, वह जयवन्त हो। भो ज्ञानी! निश्चयनय से सहजरूप अनन्तचतुष्टय से युक्त परमात्मा का ध्यान करके साधु उसमें तन्मय हो जाते हैं। मुनियों के हृदय-कमल में शक्तिरूप से विराजा जो कारण-परमात्मा है, वह कारण-परमात्मा जयवन्त हो।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : ज्ञानी को परभाव को छोड़कर निज भाव को ग्रहण करने का उपदेश

गाथा : **णियभावं णवि मुच्चइ, परभावं णेव गेण्हए केइं।**
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोहं इदि चिंतए णाणी॥ 97॥

संस्कृत छाया : **निजभावं नापि मुञ्चति परभावं नैव गृह्णाति किमपि।**
जानाति पश्यति सर्वं सोऽहमिति चिंतयेद् ज्ञानी॥ 97॥

अन्वयार्थ : (निजभावं) जो निजभाव को(न अपि मुंञ्चति) नहीं छोड़ता है और (कम् अपि परभावं) किसी भी परभाव को (न एव गृह्णाति) ग्रहण नहीं करता है। मात्र (सर्वं) सब को (जानाति पश्यति) जानता-देखता है (सः अहं) वह मैं हूँ (इति) इस प्रकार से (ज्ञानी चिंतयेत्) ज्ञानी चिंतवन करे

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में परभावना को छोड़ने का उपदेश दे रहे हैं। जो ज्ञानीपुरुष होता है, वो कारण-परमात्मा को किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ता है। वो कारण-परमात्मा कैसा है? जो सम्पूर्ण पापरूपी सेना को पराजित कर विजयपताका फहराता है, निरावरण है, निरंजन है। तीनों कालों में ज्ञानीपुरुष कारण-परमात्मा रूप निज-परम-भाव को कभी नहीं छोड़ता है। वह निज-स्वरूप में लीन रहता है। संसार की वृद्धि के जो पांच कारण हैं, कौन से? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप। इनके संयोग से उत्पन्न हुये विभाव पुद्गलद्रव्यरूप रागादि परभावों को ग्रहण नहीं करता है। निश्चयनय से अपने निरावरण परमज्ञान के द्वारा निरंजन रूप, सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजशील आदि स्वभावधर्मों के आधार-आधेय सम्बंधी विकल्पों से निर्मुक्त होता है। तथा सहज मुक्तिरूपी सुन्दरी के सहयोग से उत्पन्न हुए सुख के स्थानभूत कारण-परमात्मा को जानता है और उसी प्रकार सहजदर्शन के द्वारा देखता है। वह विचारता है कि मैं कारणसमयसार हूँ। सम्यग्ज्ञानियों को सदा ऐसी भावना करना चाहिये।

आचार्यपूज्यपाद स्वामी भी श्लोक के माध्यम से कह रहे हैं–

यदग्राह्यं न गृहणाति ग्रहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥

जो ग्रहण करने योग्य नहीं है, उसको ग्रहण नहीं करता है। ग्रहण करनेयोग्य जो अपना सहज स्वाभाविक स्वभाव है, उसको नहीं छोड़ता है। जो सर्स को सभी प्रकार से जानता है, वह स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानने योग्य मैं हूँ।

भो मनीषियो! ज्ञानीजीव निज-भाव को कभी नहीं छोड़ता है, पर-भाव को ग्रहण नहीं करता है। जो इस प्रकार से जानता- देखता है संपूर्ण द्रव्यों के साथ, वही ज्ञानी है। इसी विषय को टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव बहुत सुन्दर कलश के माध्यम से समझा रहे हैं—

आत्मानमात्मनि निजात्मगुणाढ्यमात्मा
जानाति पश्यति च पञ्चमभावमेकम्।
तत्त्याज नैव सहजं परभावमन्यं
गृह्णाति नैव खलु पौद्गलिकं विकारम्॥ कलश 129॥

वह भगवान्-आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा में, जो निज आत्मगुणों से मंडित ऐसी आत्मा, वही जानती है, वही देखती है। परम पारणामिक भाव जो आत्मा का पंचम भाव है, उसे ही जानती है, उसे ही देखती है, उसे ही अनुभव करती है। इसप्रकार से जो अन्य परभाव हैं, उनको सहजरूप से छोड़करके निश्चय से आत्मा पौद्गलिक विकारों को ग्रहण नहीं करता है। शुद्ध आत्मा के द्वारा शुद्ध आत्मा, जो गुणों का खजाना है, उसको ही ग्रहण करता है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा त्रैकालिक शुद्ध है। पुनः स्वभाव को छोड़ने और परभाव को ग्रहण करने की बात ही नहीं उठती है। निश्चयनय का अवलम्बन लेकर निज स्वभाव को समझ कर उसको प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

मत्स्वान्तं मयि लग्नमेतदनिशं चिन्मात्रचिंतामणा—
वन्यद्द्रव्यकृताग्रहोद्भवमिमं मुक्त्वाधुना विग्रहम्।
तच्चित्रं न विशुद्धिपूर्णसहजज्ञानात्मने शर्मणे
देवानाममृताशनोद्भवरुचिं ज्ञात्वा किमन्याशने॥ कलश 130॥

बहुत ही सुन्दर रूपक के माध्यम से यहाँ आचार्यमहाराज उसी आत्मस्वरूप की लीनता का कथन कर रहे हैं। कह रहे हैं कि जो देवता हैं, उनका भोजन मांसपिण्ड नहीं है, सुरापान नहीं है। अज्ञानी कुलिंगी जन, जो देवों को मांसभक्षी, मद्यपायी इत्यादि शब्दों से संबोधित करते हैं, यह देवों का अवर्णवाद है। देव जो भी होते हैं, वे अमृतभोजी होते हैं। देव मद्य आदि का सेवन नहीं करते हैं। यह अज्ञानियों ने निज रसनाइंद्रिय की लम्पटता के कारण देवों के लिये ऐसा कहना प्रारंभ कर दिया कि देव सुरापान करते हैं, मांस का भोजन करते हैं। यह देवों का अवर्णवाद है।

भो ज्ञानी! कभी आपके घर में किसी को कोई कष्ट हो गया, किसी ने बोल दिया कि अमुक देव की आराधना कर लो तो ठीक हो जायेगा और कहा कि आप अमुक वस्तु चढ़ा दो, संकल्परूप नीबू काट दो, नारियल फोड़ दो, यदि आप किसी के घर नीबू काटने या

नारियल फोड़ने जाते हो, तो संकल्पी हिंसा का दोष लगेगा। यशोधर राजा ने अपनी माँ के कहने पर आटे के मुर्गे की बलि दी थी। उसका परिणाम निकला कि अनेक भव में कूकरी, सूकरी, विलाव, अनेक प्रकार की कुगतियों में जाना पड़ा। एक संकल्प मात्र किया था आटे में मुर्गे का। इसी प्रकार से तुम किसी भी पदार्थ में किसी की बलि का संकल्प करके चढ़ाते हो तो संकल्पी हिंसा का दोष लगेगा।

भो ज्ञानी! शक्कर के बने हुये विभिन्न जानवरों के आकार की मिठाइयों को खाने से पंचेन्द्रिय की हिंसा का दोष लगता है। जिन चटाइयों पर पशु-पक्षियों के चिह्न बने हों, अहिंसा व्रतियों को उनका उपयोग नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचारियों को तिर्यंच , स्त्री आदि के चिह्न बने होने पर चटाई का उपयोग नहीं करना चाहिये।

जो देव होते हैं, वे अमृतभोजी होते हैं। वह अन्य भोजन की आकांक्षा नहीं करते हैं। इसी प्रकार से जिस मुमुक्षु जीव ने आत्मा के स्वाद का पान कर लिया है, वह इंद्रिय के स्वाद में रत नहीं होता है। अन्य द्रव्य के आग्रह से मुक्त होकरके वह विशुद्ध पूर्ण सहज ज्ञान आत्मा है, उसमें ही लीन होता है। कैसे लीन होता है? जैसे देवों का अमृत भोजन होने पर वह अन्य द्रव्यों में असन को नहीं ले जाता है। इसी प्रकार से जिस योगी ने निज आत्मा का वेदन कर लिया है, वो परद्रव्य का सेवन नहीं करता है। चाहे कितनी भी निम्न जाति के व्यन्तर, भूत, पिशाच आदि देव हों, वो भी मांस आदि का सेवन नहीं करते हैं। कोई कहता है कि ऐसा हुआ है, तो मिथ्यादृष्टि देव क्रीड़ा-वशात् चमत्कृत करते हैं, परन्तु वास्तव में वे सेवन नहीं करते हैं। ऐसा आचार्य अकलंक देव ने 'राजवार्तिक' में उल्लेख किया है कि क्रीड़ावश यह सब देखने को मिलता है, परन्तु वास्तव में उनका भोजन ऐसा नहीं होता है।

भो ज्ञानी! मध्यकाल में ऐसे लोग हुये हैं जो रसनाइंद्रिय के लोलुपी थे। उन्होंने अपने-अपने ग्रन्थ बनाये और देवों के नाम पर मांस आदि का उपयोग प्रारंभ कर दिया। एक विद्वान् ने बड़ा अच्छा स्पष्टीकरण दिया कि जो 'माष' शब्द है, उसका सही अर्थ 'उड़द की दाल' होता है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि एक बार जो अमृत का स्वाद चख लेता है, वो अन्य खारा जल पीना चाहेगा क्या? उसी प्रकार से जिसको अपने ही घर में विराजमान भगवान्-आत्मा के अनुभव का आनंद आ चुका है, वह साधु क्या पर संकल्प-विकल्पों में या ऐसे निकृष्ट शरीर में आनंद मानेगा? नहीं मानेगा। इसी को अगले कलश के माध्यम से समझा रहे हैं—

निर्द्वन्द्वं निरुपद्रवं निरुपमं नित्यं निजात्मोद्भवं
नान्यद्रव्यविभावनोद्भवमिदं शर्मामृतं निर्मलम्।
पीत्वा यः सुकृतात्मकः सुकृतमप्येतद्विहायाधुना
प्राप्नोति स्फुटमद्वितीयमतुलं चिन्मात्रचिंतामणिम्॥ कलश 131॥

पुनः आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यह आत्मा जो है, वो कैसी है? सम्पूर्ण द्वन्द्वों से रहित है। जो उपमा से रहित है। इसको कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। उपद्रव से रहित है। जितने उपद्रव चल रहे हैं, कर्मवशात् हैं। जिस दिन कर्म टल जायेंगे, उस दिन आत्मा से उपद्रव समाप्त हो जायेंगे। आत्मा उपद्रवस्वभावी नहीं है। परन्तु कर्म बन्ध और कषाय की तीव्रता के कारण भगवान्-आत्मा को भूल करके यह जीव कि अनेक उपद्रवों में चला जाता है।

भैया! एक सज्जन आये, बोले, 'महाराज! जहाँ अपमान हो रहा है, वहाँ नहीं जाना चाहिये।' आपकी बात ठीक है, क्योंकि आप गृहस्थ हो, रागी हो, द्वेषी हो, अतः जहाँ अपमान हो रहा है, वहाँ मत जाओ। पर जहाँ आपका अपमान नहीं हो रहा है, पर सम्मान भी नहीं हो, तो आपको अपने सम्यक्त्व के बारे में सोचना पड़ेगा। आजकल धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मान अधिक होने लगा है। एक ने कहा कि मेरा सम्मान नहीं हुआ, इसलिये उस अनुष्ठान में नहीं गया। आपके सम्मान ने कुछ जीवों को धार्मिक अनुष्ठान से वंचित कर दिया।

ज्ञानी! अरहन्त देव के चरणों में किसी का सम्मान नहीं होता है, पर अपमान भी नहीं होता है। आपको दर्शन करना चाहिये था, परन्तु जीव के अंतरंग में इतनी कषाय का उद्वेग रहता है, अहम् रहता है कि वह इसके पीछे प्रभु की आराधना को भी टाल देता है। भैया! यह आपने भगवान् की आराधना को नहीं टाला, आपने आत्मा की साधना से मुख मोड़ लिया।

यह आत्मा उपमा से रहित है, शाश्वत है और जो निज आत्मा से ही उत्पन्न हो रहा है, ऐसा अन्य जो द्रव्य विभावरूप है, उनसे उत्पन्न नहीं होता है। ऐसे धर्मरूपी अमृत-सम सुख को पीकर पुण्यात्मा जीव इस सुकृत पुण्य को छोड़कर चिन्मात्र चिन्तामणि को प्राप्त कर लेता है। जिसका मन खोटा होता है, उसके भाव भी खोटे होते हैं। वह पुण्यकार्य में शामिल नहीं हो सकता। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो पुण्यात्मा है, जिसने सुकृत किया है, ऐसा जीव धर्मरूपी अमृत को पीकरके सुकृत को छोड़ करके अद्वितीय चिन्तामणि को प्राप्त कर लेता है। पुण्य उदय एक बाह्य द्रव्य का होता है और एक अन्तरंग पुण्य उदय है। जिस समय आपके परिणाम धर्मरूप हों, समझ लो कि यही मेरा पुण्य का उदय है। एक जीव समझता है कि वैभव मिल रहा है, यह पुण्य का उदय है। ठीक है, आपके लाभ-अंतराय कर्म का क्षयोपशम

चल रहा है। परन्तु ज्ञानी यह सोचता है कि जिस समय हमारे परिणाम पुण्य करने के हो रहे हैं, इससे बड़ा पुण्य का कोई उदय नहीं हो सकता है।

भो ज्ञानी! जागते ही आपके मन में विचार उठा कि एकाशन करना है। कोई निमित्त नहीं दिखा, कोई कारण नहीं मिला और अंतरंग में भाव बन रहे हैं, तो समझ लो कि तेरा यह परम सुकृत का उदय आया है कि तेरे भाव त्याग के हो रहे हैं। नहीं तो कभी-कभी क्या होता है कि एक मन करता है कि एकाशन कर लूँ, लेकिन एक मन कहता है कि नहीं, इससे शरीर कमजोर हो जायेगा। मन में उथल-पुथल हो रही है। जब यह निर्णय कर लेता है कि मुझे एकाशन ही करना है, त्याग के भाव आ रहे हैं, तो यही सुकृत है।

को नाम वक्ति विद्वान् मम च परद्रव्यमेतदेव स्यात्।
निजमहिमानं जानन् गुरुचरणसमर्च्चनासमुद्भूतम्॥ कलश 132॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव गुरु की महिमा का व्याख्यान कर रहे हैं। ऐसा कौन-सा विद्वान् है, जो यह कहता है कि पर द्रव्य मेरा है? जो ऐसा कह रहा है कि परद्रव्य मेरे हैं, उसे जिनवाणी विद्वान् की संज्ञा नहीं देती है। ज्ञानी! सुई की नोक के बराबर भी परद्रव्य मेरा नहीं है। जिसने निज की महिमा को जान लिया है, वह ऐसा विचारता है। यहाँ पर छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को विद्वान् स्वीकार किया है। भो ज्ञानी! छठवें गुणस्थानवर्ती, सातवें गुणस्थानवर्ती की महिमा को जानते हुये गुरुचरणों की अर्चना करके कह रहा है कि सब आपके प्रसाद से प्राप्त हुआ है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि तुमने ज्ञान प्राप्त किया, यश प्राप्त किया, यह सब बाहर के पदार्थ हैं। वो तो यह कह रहा है कि गुरु के चरण की अर्चना के प्रसाद से निज महिमा का उद्भव हुआ है। बोले, आपके अंदर गुरुभक्ति क्यों है? भैया! मेरे लिये गुरुभक्ति इसलिये नहीं है कि संसार के पदार्थों का ज्ञान मुझे नहीं था, गुरु ने बता दिया, इसलिये नहीं है। मुझे शास्त्रों का बहुत ज्ञान नहीं था, उन्होंने बता दिया, इसलिये भी नहीं है। शास्त्र, न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार आदि किसी अभव्य या मिथ्यादृष्टि जीव से भी पढ़ सकते थे। परन्तु मेरा गुरु के प्रति बहुमान इसलिये है कि उन्होंने मुझे अपनी निज की महिमा बताई है, जो मैं आज तक नहीं जानता था। पर की महिमा को, प्रभु की महिमा को तो मैंने अनन्तबार सुना, परन्तु निज की महिमा को नहीं जाना, इसलिये मेरी गुरु के प्रति श्रद्धा है। उन्होंने मुझे निज महिमा का बोध कराया है। मेरा गुरु के प्रति बहुमान है, क्योंकि उन्होंने मुझे रत्नत्रय धर्म प्रदान कर निज के द्रव्य का ज्ञान कराया है।

भैया! कितने लोग होते हैं कि यश, ख्याति के पीछे अपने गुरु को छोड़ देते हैं। तू ख्याति की खाई में जा रहा है, तो मोक्षमार्ग तेरे पास बचा क्या?गुरु तुझे दीक्षा दे सकते हैं, पिच्छिका

दे सकते हैं, कमंडलु दे सकते हैं, कपड़े उतरवा सकते हैं, परन्तु गुणस्थान नहीं प्रदान कर सकते हैं। गुणस्थान तेरे ही भावों से संभलेंगे। प्रपंचों में मत पड़ो कि इनको पकड़ो, इनको छोड़ो। अढ़ाई द्वीप में जो तीन कम नौ कोटि मुनिराज हैं, गुरु मानके उनके चरणों में नमस्कार करो। मान लो आपको किसी अध्यापक ने पढ़ाया। आप उससे अधिक पढ़कर प्रोफेसर हो गये। परन्तु ध्यान रखना, अपने अध्यापक का नाम नहीं छोड़ देना। यदि ज्ञान बढ़ने के बाद श्रद्धान में न्यूनता आ जाती है, तो ज्ञान में वृद्धि फिर नहीं हो पाती है।

भो ज्ञानी! 'कुरल काव्य' में 'अ' से ही नमस्कार किया है। अ से आरिहंत, अ से अशरीरी यानि सिद्ध भगवान्, अ से अनादि सनातन, अ से अहिंसा धर्म आदि। धीरे-धीरे तुम आगम पढ़ने लगे और कहने लगे कि अब हम तुम्हें नहीं मानते, क्योंकि हम तो तुमसे ज्यादा पढ़ गये हैं। भो ज्ञानी! अभी तुम्हारा क्षयोपशम ठीक है, लेकिन गुरु के नाम को छिपाकर ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्म का एकसाथ बन्ध कर रहा है। इसलिये ध्यान रखना, तुम्हारी पूजा हो पाये या न हो पाये, परन्तु पूज्य को मत छोड़ देना।

भो ज्ञानी! गुरु की डाँट में भी गुण होता है। जिस पर गुरु का आशीर्वाद होता है, उसी पर डाँट होती है। डाट भरी-शीशी में लगाई जाती है, खाली-शीशी में नहीं लगाई जाती। गुरु के द्वारा किये गये अनादर से, डाट से तुम्हारा सम्मान बढ़ता है। उस समय जरूर बुरा लगता है। उपेक्षा से बड़ा विश्व में कोई दण्ड नहीं है। आपने नमोस्तु कहा, महाराज ने देखा नहीं। तो आपको अनादर लगता है। आप कारण सोचो। कुंभकार मिट्टी को जितना रौंदता है, बर्तन उतना अच्छा बनता है। इसलिये ध्यान रखो, जितने तुम रुँद जाओगे और सब सहन कर लोगे, तो अच्छे पक्के हो जाओगे। इसलिये गुरु के द्वारा किया गया अपमान, सच्चा शिष्य उसे अपना सम्मान मानता है और अज्ञानी अपमान मान करके गुरु का अपमान प्रारंभ कर देता है। कभी किसी को ऐसी शिक्षा मत देना। तुम संघ नहीं बना सको तो संघ मिटाने का विचार मत करना।

भो ज्ञानी! जिस गुरु से आपने अध्ययन किया है, आपका लौकिक जीवन सफल बना है, लौकिक दृष्टि से आपको उनका सम्मान रखना चाहिये। सामान्य ज्ञान में सदाचार की दृष्टि से आप उनके उपकार को स्वीकार करें। आचार्य सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' में लिखा है कि यदि कोई मद्यपायी है और आपको उससे कुछ सीखना है, तो उसका सम्मान करना चाहिये। ध्यान रखना, आप उसकी मदिरा का सम्मान नहीं कर रहे हो। उसके पास जो ज्ञान है, उसका सम्मान है। उससे विद्या सीख रहे हो। परन्तु साथ में मदिरापान मत सीख लेना। 'प्रवचनसार' की चरणानुयोग चूलिका में लिखा है कि कोई मिथ्यादृष्टि गुरु है, बहुत ज्ञानी

है, निर्ग्रन्थ वेश से युक्त है, बहुश्रुत पारगामी है, उसके प्रति अनेक की श्रद्धाएँ जुड़ी हुई हैं, यदि आप उनको नमस्कार करते हो तो आपके माध्यम से अरहन्त मुद्रा पर अंगुली उठेगी, आपको मिथ्यात्व का दोष लगेगा। नहीं, आप उनकी अवहेलना मत करना, उन्हें नमोस्तु कर लेना। वे बहुश्रुतज्ञानी हैं। आपके लिये तो सम्यग्ज्ञान है, भले उनके लिये मिथ्याज्ञान हो।

भो ज्ञानी! जो शास्त्र है, इसमें स्वयं ज्ञान है क्या? नहीं। यह तो जड़ है। पर इसके माध्यम से ज्ञान होता है। इसका गुणस्थान कौन-सा? कोई गुणस्थान नहीं है। जब तुम जड़ से, गुणस्थान हीन से की आराधना कर रहे हो, जबकि यह अपने लिये अज्ञानी है, अपने लिये जड़ है, पर हमारे लिये वही श्रुतज्ञान है, द्रव्यश्रुत है।

भो ज्ञानी! गुरु के चरणकमलों की उपासना से अपने आत्मस्वरूप का सही बोध होता है। जो गुरुचरणों का आश्रय नहीं लेते हैं, वे शास्त्र के सच्चे मर्म को न समझकर एकान्त में चले जाते हैं, निश्चयाभासी बन जाते हैं। परम्परागत अर्थ को समझने के लिये और आत्म-तत्त्व को प्राप्त करने के मार्ग के लिये गुरुओं का आश्रय लेना चाहिये। गुरुचरण-आश्रय की महिमा अचिन्त्य है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : भव्यों को बंध से निर्मुक्त आत्मा की भावना करना चाहिये

गाथा : **पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा।**
सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव य कुणदि थिरभावं॥ 98॥

संस्कृत छाया : **प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेशबंधैर्विवर्जित आत्मा।**
सोऽहमिति चिंतयन् तत्रैव च करोति स्थिरभावम्॥ 98॥

अन्वयार्थ : (प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेश बंधैः विवर्जितः) प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबन्ध इन बंधों से रहित (आत्मा) जो आत्मा है (सः अहं) वह मैं हूँ (इति चिंतयन्) ऐसा चिन्तवन करते हुये ज्ञानी (तत्र एव च) उसी आत्मा में (स्थिरभावं) स्थिरभाव को (करोति) करता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मतत्त्व की गहराइयों को स्पर्श करते हुये निश्चय प्रत्याख्यान के अंतर्गत बहुत सहज स्वरूप का कथन किया है। यदि वास्तविक बोधि को प्राप्त करना चाहते हो तो भो ज्ञानी! परतत्त्व से ममत्व हटाना पड़ेगा और जब-तक परद्रव्य से ममत्व नहीं हटेगा, तब तक बोधि संभव नहीं है। बोध बहुत हो सकता है, पर बोधि नहीं। बोध यानि ज्ञान। बोधि यानि रत्नत्रय। बोध ज्ञान का अंग भी हो जाता है, फिर भी बोधि की प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि अंतरंग में मिथ्यात्व की गाँठ बैठी हुई है और अभव्यता सबसे प्रबल शत्रु बैठा हुआ है। इसलिये कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट कह दिया कि दूध में गुड़ मिश्रित करके भी सर्प को पिलाया जाय, तो भी सर्प निर्विष नहीं होता है। यह समयसार की गाथा है। ऐसे ही संपूर्ण आगम का अध्ययन करने पर भी मिथ्यादृष्टि मनुष्य को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव कभी भव्यता को प्राप्त नहीं करता है। जो निकटभव्य कहा जाता है, वो अभव्य की अपेक्षा से नहीं है। वह जीव निकट में मोक्ष जाने वाला है, इसलिये निकटभव्य कहा जाता है। निकटभव्य का अर्थ अभव्य जीव भव्य बनने वाला है, ऐसा नहीं है। निकटभव्य से तात्पर्य भव्य मिथ्यादृष्टि है, भव्य सम्यग्दृष्टि है, उसकी कुछ ही पर्याय शेष हैं, उसे आसन्न भव्य भी कहा जाता है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने पूर्व कलश में कहा था कि गुरुचरणों की कृपा से मुझे रत्नत्रय प्राप्त हुआ, निज का बोध हुआ। गुरुदेव! मैं आपका बहुमान इसलिये नहीं कर रहा हूँ कि आप हमसे ज्येष्ठ हो। मैं आपकी विनय इसलिये नहीं कर रहा हूँ कि आप हमसे श्रेष्ठ

हो। मैं आपका बहुमान इसलिये कर रहा हूँ कि आपने मुझे निज की पहचान बताई है, जो कि मैं भूला था। पर की पहचान कराने वाले गुरु अनंत हैं, परन्तु निज की महिमा आपने बताई है। एक करोड़पति थे, उनका छोटा-सा पुत्र था। उन्होंने अपने मित्र को धन के विषय में बता दिया और कहा कि जब वह योग्य हो जाये तो रत्नों के विषय में बता देना। छोटा पुत्र धीरे-धीरे बड़ा होने लगा, पर वह स्वयं को हीन/गरीब मानता था। भीख माँगता था। जब वह बड़ा हुआ तो मित्र ने कहा कि तुम भीख क्यों माँगते हो? तुम करोड़पति हो और उसको रत्न दे दिये। इसी तरह से सद्गुरु का उपकार इतना है कि अपने रत्नों की पहचान करा देते हैं। वे निज भावों का भान करा देते हैं। भो ज्ञानी! वही गुरु-आराधना है जिनके चरणों के प्रसाद से निज महिमा का ज्ञान हो जाय।

आचार्यभगवन् गाथा संख्या 98 में कथन कर रहे हैं कि जीव के लिये बाहर के बंधन तो बहुत महसूस होते हैं, परन्तु वास्तव में जो बंधन है, उस पर दृष्टि नहीं जा रही है। प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध, यह चार बंधस्थान हैं। बंधस्थान क्यों होते हैं? यदि अध्यवसान स्थान (रागादि भाव) न हो, तो बंधस्थान नहीं। अध्यवसान स्थान है, तो बंधस्थान है। संक्लेश स्थान है, इसलिये बंधस्थान है। अशुद्ध स्थान है, इसलिये बंधस्थान है। रागादिक भावों का होना ही अध्यवसाय भाव है। वह राग महसूस हो, चाहे शुभ हो या अशुभ हो, परन्तु दोनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं। एक स्वर्ग भेज देगा, दूसरा नरक भेज देगा। परन्तु संसार दोनों से है। एक में स्वभावपना है, दूसरे में अस्वभावपना है, परन्तु संसार दोनों में है। सम्यग्दृष्टि जीव का शुभ-भाव परम्परा से मोक्ष का हेतु है, पर मिथ्यादृष्टि का शुभ भाव परम्परा से भी मोक्ष का हेतु नहीं है, क्योंकि उसे उपचार से शुभ-उपयोग कहा है। मिथ्यादृष्टि की शुभ-क्रिया से शुभ-भाव तो हो सकते हैं, पर शुभोपयोग नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्यबंध ा सुर, असुर आदि अवस्थाओं को प्राप्त कराता है। जब भी उसका पुण्य मोक्ष का कारण बनेगा, भो ज्ञानी! पहले सम्यक्त्व होगा। सम्यक्त्व के अभाव में जो पुण्य होगा, वह आपको संसार की विभूतियाँ प्रदान करायेगा।

भो ज्ञानी! जो जीव असुर बन रहा है। देखना, सकल-संयम का पालन करते हुए मुनिराज असुर बन गये। सम्यग्दृष्टि-व्रती असुर कैसे बन गया? व्रत कभी विफल नहीं होता। लेकिन व्रत के पालन के साथ कषाय की तीव्रता हो गई और साथ में मिथ्यात्व भी आ गया। पुण्य का संचय तो किया, लेकिन असुर जाति के देव हुये। मिथ्यात्व के अभाव में वही व्रत पालते तो स्वर्ग जाते। निर्मल व्रत पालते तो अहमिन्द्र आदि होते और निर्दोष व्रत पालते तो सिद्धालय में होते। 'इष्टोपदेश' में आचार्य पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं—

वासना मात्र मेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि॥ इष्टो. 6॥

यह भोग तो रोग है, आपत्ति का जनक ही है। ये पंच इंद्रिय की भोग सामग्रियों से दुःख ही हैं। जिन्हें लोग सुख कहते हैं, उन्हें ज्ञानी सुखाभास कहता है। स्वर्ग के सुख वासना मात्र है। 'सर्वार्थसिद्धि' में पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि जैसे कंडूक (खुजली) रोग से पीड़ित जब सहन नहीं कर पाता है, तो खुजलाता है। ऐसे ही भोगों की खुजली से पीड़ित जब सहन नहीं कर पाता है, तो इंद्रिय-भोगों में लग जाता है। जैसे खुजलाने के बाद जलन होती है, बस, ऐसे-ही भोग भोगने के बाद जलन होगी तथा जलाये भी जाओगे।

भो ज्ञानी! द्वेषभाव जब तक रहेंगे तब-तक विशुद्धिस्थानों की वृद्धि संभव नहीं है। जहाँ विशुद्धिस्थानों की वृद्धि होगी, वहाँ अध्यवसान को स्थान नहीं मिलेगा। अज्ञानी, लोक में शत्रु पुरुषों को शत्रुरूप देखता है। ज्ञानी कर्मों को शत्रुरूप देखता है। उससे बड़ा ज्ञानी वह है, जो रागादिक भावों को ही शत्रुरूप देखता है। कार्तिकेय स्वामी 'कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा' में, योगीन्दुदेव 'योगसार' में लिखते हैं कि जीव को पुण्य के योग से विभूति प्राप्त होती है, क्योंकि लाभ-अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है। उन विभूतियों के साथ अच्छा सुन्दर स्वस्थ शरीर मिलता है, क्योंकि बिना स्वस्थ शरीर के इतने वैभव को कैसे भोगेगा? हीन संहनन वाला कभी चक्रवर्ती नहीं होता। वह वज्रवृषभनाराच संहनन वाला होता है। इतनी विभूति को भोगने के लिये शरीर में ताकत चाहिये। यदि चक्रवर्ती राज करते हुये आयु पूरी करता है, तो सातवें नरक की यात्रा करता है। यदि अन्त में तपस्या करता है, तो स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त करता है। पुण्य के योग से उसको चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त हुई है। विभूति को पाकर अहंकार ने जन्म ले लिया, इंद्रियों के भोगों में ही रम गया, तो भोगो, क्या होगा? स्वर्ग/मोक्ष, कि नरक/निगोद? नरक/निगोद ही जाना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! धर्म धन का नहीं है, धर्म परिणामों का है। अध्यवसाय भाव, यह परद्रव्य से मिश्रित नहीं है, यह तेरे स्वयं के परिणाम हैं। जितना राग शिथिल होगा, उतना बंधन शिथिल होगा। जिसने वास्तव में लोभकषाय को कम करने के लिये दान दिया है, वह नियम से उतने अंश में निर्मलता को पायेगा। 'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय' में कहा है कि जो दान नहीं देता है, वह हिंसक है। क्यों? इतना सारा द्रव्य रखे है, तीव्र राग है, तीव्र लोभ है और जहाँ राग है, वहाँ बन्ध है। जो निज को ही बंधन में डाल रहा है, वह हिंसक है। उसने रागदृष्टि के कारण दान नहीं दिया।

भो ज्ञानी! जैसे एक नट जब बाँस पर चलता है, तो संभलके चलता है। सारी दुनियाँ उसको देखती है, लेकिन वो दुनियाँ को नहीं देखता है। हे नट! तेरा दृश्य तभी तक सुहावना

है, जब तक तू देखनेवालों को नहीं देख रहा है। सबका मनोरंजन तो कर रहा है, पर स्वयं मनोरंजन में नहीं जा रहा है। यदि तू यह देखने लगा कि कितने लोग देख रहे हैं, तो तेरा खेल असफल है, नीचे आ जायेगा। हे योगी! तू भी एक पात्र है और मोक्षमार्ग की बांस की डोरियों पर चल रहा है। परिणामों का कितना संतुलन बनाकर चलता है। यदि दृष्टि श्रावकों पर जा रही है, तो महाराज कह रहे हैं कि आप हिंसक हो और श्रावकों पर दृष्टि नहीं है, तो वे उन्हें अहंकारी कह रहे हैं। तुम नट के समान आचरण करो। नट का खेल दुनियाँ देखती है, पर नट दुनियाँ को नहीं देखता है।

भो ज्ञानी! दुनियाँ तुमको दानदाता कहे, परन्तु आप यही कहना "पुण्य-पाप फल माहीं, हरख बिलखो मत भाई, ये है पुद्गल की पर्याय अवश्य विनसे, थिर नाहीं॥" मुझे पुण्य से द्रव्य मिला। मैंने कुछ नहीं किया। जहाँ का था, वहाँ उसको दे दिया। मुझे कर्त्ता मत बनाओ। किसी को देने का भी मैं कर्त्ता नहीं हूँ। मैं तो वास्तव में कुछ भी साथ लाया नहीं था। कोई पुण्य का उदय होगा कि इतने बड़े सेठ के घर में जन्म ले लिया, सो मैं सेठ कहलाने लगा। ऐसे ही मुमुक्षु जीव हर अवस्था में ऐसी दृष्टि रखता है, क्योंकि उसको मालूम है कि बन्ध के स्थान चार हैं। वे छोटे-मोटे नहीं हैं, बड़े-बड़े हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध। ये आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा इनसे रहित है। प्रकृतिबंध आत्मा का स्वभाव नहीं है। स्थितिबंध आत्मा का स्वभाव नहीं है। अनुभाग और प्रदेश बंध आत्मा का स्वभाव नहीं है। ये चिन्तन कब तक चलेगा? जब-तक राग-द्वेष से हटे रहोगे। जब कषाय आती है, तो जिनवाणी भी नहीं सुहाती है। बोलते हैं कि प्रवचन देना हमें भी आता है, आप प्रवचन मत दो, हमसे ही सुन लो।

भो ज्ञानी! उसी में स्थिरभाव को करता है। किसमें? कि बन्धस्थान से परे मेरी आत्मा है। स्थिर भाव यानि निज लीनता में रमण। यह है योगी की परम दशा, शुद्धोपयोग। बन्ध से विमुक्त आत्मा को भाता है। यह भव्य के लिये उपदेश है। ये किसी की कथा नहीं चल रही है। ये पूरी कथा तुम्हारे परिणामों की है। लोक में व्यक्ति की कथा करने वाले अनेक ग्रन्थ मिलेंगे, पर परिणामों की कथा करने वाले ग्रन्थ श्रमण संस्कृति में ही मिलेंगे। आपकी जो शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की प्रवृति चल रही है, इससे प्रकृति-प्रदेश बन्ध हो रहा है। शुभ करोगे तो शुभ होगा, अशुभ करोगे तो अशुभ होगा, पर बन्ध होता है। जैसा कषायस्थान होगा, वैसी कषाय की तीव्रता या मंदता होगी।

भो ज्ञानी! कुन्दकुन्द स्वामी ने कथन किया है "णाणा जीवा, णाणा कम्मं", नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं, सबके अपने-अपने क्षयोपशम हैं। तुम किसी का क्षयोपशम नहीं बदल सकते

हो। यदि उसका क्षयोपशम निर्मल है, तो तुम निमित्त बन सकते हो। उसके उपादान को बदलने की ताकत नहीं रखते हो, इसलिये अपने परिणाम मत बिगाड़ो। आप परिणामों को पढ़ नहीं पाते हो तो दूसरों से पढ़वा लिया करो। स्वयं के चेहरे पर कालिख है कि नहीं, मालूम नहीं पड़ती। तुम्हारे मन में जरा भी कषायभाव होगा तो सामने वाला बता देगा कि तुम विचलित हो। स्वयं की कथा स्वयं कह रहा है। भो ज्ञानी! ये स्थूल परिणाम तो समझ लेता है। इतना स्थूल हो गया कि चेहरे पर आ गया। अग्नि नीचे जली, बर्तन ऊपर तपा और दूध उबलने लगा। अब आप कहो कि पता नहीं कि बर्तन तपा या नहीं? जब बर्तन तपा, तभी दूध उबल रहा है। जब दूध उबल रहा है, तो सोचो कि अग्नि कितनी तेज होगी? जिसके चेहरे पर, हाथ-पैरों में कषाय दिख रही है, उसके अंतर की कषाय कितनी तीव्र होगी? पानी ठंडा हो तो कमंडलु भी ठंडा दिखने लगता है और यदि गर्म हो। तो कमंडलु भी गर्म हो जाता है। जो समझ में नहीं आ रहा है, वो दशवें गुणस्थान तक चलता है। अनंतानुबन्धी की तीव्रता तो अच्छी तरह से समझ में आती है, परन्तु सज्ज्वलन के जघन्य अंश समझ में नहीं आते हैं। सज्जवलन कषाय की मंदता सप्तम गुणस्थान से बनती है, पर सज्ज्वलन की तीव्रता में मध्यम अंशों में छठवां गुणस्थान ही होता है। कहीं ज्यादा चले गये तो वह गुणस्थान भी गिर जाता है। प्रत्याख्यान में चला गया, अप्रत्याख्यान में चला गया और कहो कि अनंतानुबंधी में चला गया।

भो ज्ञानी! पहला गुणस्थानवर्ती ग्रैवेयक तक जाने वाला जीव कृष्ण लेश्या से नहीं जा रहा है, शुक्ल लेश्या से जा रहा है, परन्तु अनंतानुबंधी की मंदता में जा रहा है। अनंतानुबन्धी की मंदता भी इतनी निर्मल होती है कि उसे शुक्ल लेश्या बना देती है। लेश्या परिणाम के साथ-साथ आपको निज कषाय परिणाम का भी माप करना पड़ेगा। कषाय और योग इन दोनों का नाम ही लेश्या है, मापदण्ड है। कषायों से रंजित जो योग की प्रवृत्ति है, वह लेश्या है, अब वह अनंतानुबन्धी में बैठा हुआ शुक्ल लेश्या बना रहा है। मालूम, क्या होगा उसके साथ? इसकी कषाय तो चल रही है, अंदर भड़क रहा है, पर योग निर्मल किये बैठा है। ये पाप नहीं कर रहा है, पर अंतरंग में कषाय बहुत तीव्र चल रही है। आप लोग क्रोध भर को पकड़ते हो, कषाय में मान की तीव्रता भी हो सकती है। घानी में पेल दिया, बोले, मैंने आज यदि कषाय कर दी, तो लोग मेरी पूजा नहीं करेंगे। इसलिये बिल्कुल शान्त बैठा हुआ है। चरणानुयोग कहेगा कि धन्य हो आपको। परन्तु करणानुयोग पूछ लेगा कि आप ये तो बताओ कि तालाब/नदी किनारे वाले बगुले की तरह तो नहीं बैठे हो? नदी/तालाब के किनारे बगुला एकदम शान्त होकर बैठता है, क्योंकि हिलेगा तो मछली भग जायेगी। योगी की दृष्टि

यदि हिल गई, तो गुप्ति भग जायेगी। एक गुप्ति की रक्षा के लिये शांत बैठा है कि हिलेंगे तो जीवहिंसा हो जायेगी और बगुला हिंसा करने के लिये शान्त बैठा है।

नमन, नमन में फेर है अधिक नमे बेईमान।

भो ज्ञानी! योगों को भी सम्भालो, कषायों का भी सम्भालो। सम्भालने के लिये ये दो हैं। या तो आप उसे अच्छी तरह सम्भालो या परिणामों को अच्छी तरह बनाके चलो, तो दोनों सम्भल जायेंगे। उपयोग सम्भल गया, तो योग सम्भल जायेगा। बहुत से जीव करणानुयोग के बड़े ज्ञाता होते हैं, जो कर्मप्रकृतियों को गिनते रहते हैं, पर अपने कर्मों को बिल्कुल नहीं गिनते। एक पंडित जी प्रवचन दे रहे थे कि इस गुणस्थान में इतनी कर्मप्रकृतियों का क्षय होता है। एक सज्जन, जो मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाने आये थे, उनसे बोले कि इसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। उनके गिड़गिड़ाने पर बोले कि अच्छा, पांच हजार दे दो। भो ज्ञानी! प्रवचन में तो कर्मप्रकृतियों का क्षय करायेगा और तेरा गुणस्थान नीचे गिर रहा है पांच हजार रुपया लेकर।

भो ज्ञानी! लोभकषाय की महिमा देखो, दसवें गुणस्थान तक छू रही है, यथाख्यात में प्रवेश नहीं करने दे रही है। भैया! तुम कर्मप्रकृतियों को भी गिनना और अपने वर्तमान के जो कर्म चल रहे हैं, उनको भी गिनना। वर्तमान के तुम्हारे कर्म नहीं मिट रहे हैं तो बंध प्रकृतियाँ भी मिटने वाली नहीं हैं। वर्तमान पर पुरुषार्थ करो तो भूत और भविष्य अपने आप ठीक हो जायेंगे। भूत के बंधे कर्म नष्ट हो जायेंगे, भविष्य में आनेवाले आ नहीं पायेंगे और वर्तमान में झर जायेंगे। जब वर्तमान के परिणमों में निर्मलता होगी, तब स्थिति, अनुभाग, इस प्रकार के बंधों से रहित, सदा निरुपाधि स्वभाव रूपी आत्मा है, वह मैं हूँ, ऐसा चिंतवन करते हुये ज्ञानी अपनी आत्मा में स्थिर भाव को प्राप्त करता है।

प्रेक्षावद्भिः सहजपरमानन्द चिद्रूपमेकं
संग्राह्यं तैर्निरूपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम्।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च सखे मद्वचःसारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे॥ कलश 133॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो चिच्चमत्कारी चेतन भगवान्-आत्मा है, उस निज आत्मतत्त्व में जो सहज परमानन्द स्वयं है, उसमें हे सखे! अपने चित्त को लगाओ तो तेरा चारित्र नियम से निर्मल हो जायेगा। चित्त निर्मल है, तो चारित्र निर्मल होगा और जिनके चारित्र निर्मल है, उनके चित्त भी निर्मल होंगे। यह आत्मा चिच्चमत्कार मात्र है। इसके ध्यान करने से अलौकिक तीनों लोकों और तीनों कालों को एकसाथ जानने वाला परम चामत्कारिक दिव्यज्योति रूप केवलज्ञान प्रकट हो जाता है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : संपूर्ण विभाव के त्याग की विधि

गाथा : **ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।**
आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे॥ 99

संस्कृत छाया : **ममत्वंपरिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थितः।**
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषं च विसृजामि॥ 99 कलश॥

अन्वयार्थः (ममत्व परिवर्जयामि) मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और (निर्ममत्वं उपस्थितः) निर्ममत्व में स्थित होता हूँ (आत्मा च मे आलम्बनं) आत्मा ही मेरा आलम्बन है (अवशेषं च व्युत्सृजामि) अवशेष सभी को मैं छोड़ता हूँ।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में यह संकेत दिया है कि जीव योग और कषायों के माध्यम से प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग बन्ध को कर रहा है। अध्यवसान भाव इस जीव के संसार के मुख्य बिन्दु हैं। चाहे मिथ्यात्व हो, चाहे अविरति हो, चाहे प्रमाद हो, चाहे कषाय हो, यह सभी अध्यवसान भाव हैं। जैसे-जैसे कषाय-अंशों की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे कर्म-अंशों की वृद्धि होगी।

एक क्षण के परिणाम तूने अध्यवसाय रूप किये और द्वितीय क्षण में तुम विशुद्ध हो गये, तो तृतीय क्षण में सम्यक्त्व को प्राप्त कर गये। चरणानुयोग, करणानुयोग कहेगा कि तू सम्यग्दृष्टि है। लेकिन मिथ्यात्व की अवस्था में जो तुम बन्ध कर चुके हो उसको तो आपको भोगना ही पड़ेगा या फिर उतनी तीव्र तपस्या करो जितने अंशों में तूने बंध किया है, तो संक्रमण भी हो सकता है, अपकर्षण भी हो सकता है, लेकिन मूल प्रकृति का कभी भी संक्रमण नहीं होगा, उत्तर प्रकृतियों का संक्रमण हो जाता है। साता का असाता हो जाता है, असाता का साता हो जाता है। लेकिन ज्ञानावरणी का दर्शनावरणी कर्मरूप संक्रमण नहीं होगा, अपकर्षण हो सकता है। तिर्यंच आयु का बंध किया है तो तिर्यंच ही बनना पड़ेगा। मनुष्य आयु का बंध किया है तो मनुष्य ही बनना पड़ेगा इत्यादि। आयुबंध नहीं बदल सकता क्योंकि मूल प्रकृति है। इतना हो सकता है कि आपने तीन पल्य की तिर्यंच आयु का बंध किया हो तो एक पल्य कर सकते हो। ऐसे ही जिसने मनुष्य, नारकी आदि पर्याय का बन्ध किया है उसको जघन्य आयु की प्राप्ति हो सकती है, लेकिन कोई यह सोचे कि नरक आयु का बन्ध है, मनुष्य बन जाये, तो ऐसा नहीं हो सकता है। जो बंध कर लिया, सो कर लिया। वर्तमान पर्याय में आपका वेदन भी हो जायेगा कि आप कहाँ जानेवाले हो?

भो ज्ञानी! योगीन्दु देव ने 'परमात्म प्रकाश' में लिखा है कि आयुबंध के अंतिम समय में जो प्रवृति होगी, समझ लेना कि मेरी दशा क्या होगी। यथा मति, तथा गति। यथा गति, तथा मति। जैसी गति का बंध होगा, वैसी मति हो जायेगी। जैसी मति होगी, आयुबंध काल में वैसी गति होगी। यह अकाट्य सिद्धान्त है, कोई टाल नहीं सकता है। स्थूल रूप से अंतिम समय की मति से मेरी गति का ज्ञान हो जाता है। इसलिये परिणाम कब-कब सम्भाले? भो ज्ञानी! वाहन चलाते समय कब-कब संभालना पड़ता है? जब एक सामान्य मार्ग की यात्रा करने में प्रतिक्षण सजग रहना पड़ता है, तो तुझे तो लम्बी यात्रा करना है। तू परिणामों के वाहन पर चल रहा है। यात्रा आपकी सहज नहीं है, बहुत आगे की है। इसलिये बंधस्थानों को समझो, तो आपको निर्जरा के स्थान भी समझ में आ जायेंगे। बंधस्थान के विपरीत निर्जरास्थान हैं। मिथ्यात्व की जगह सम्यक्त्व कर दो, अव्रती की जगह व्रती कर दो, प्रमादी के स्थान पर अप्रमादी कर दो, कषाय की जगह अकषाय कर दो और योग की चंचलता के स्थान पर योग की निर्मलता कर दो। यह निर्जरास्थान हो गया। पूरी सत्ता बदल गई। जिस प्रदेश पर बन्ध किया था, उसी क्षेत्र में खड़े-खड़े सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। वही जीव, वही वस्तु, वही व्यक्ति, जब गले में सांप डाला तो नरक का बंध किया और तब पत्नी ने सर्प को निकाल दिया तो पश्चाताप में ऐसा डूबा कि यशोधर मुनिमहाराज के चरणों में श्रेणिक ने सम्यक्त्व प्राप्त किया। द्रव्य तो वही था, जब सातवें नरक की आयु का बंध किया था तो उसके निमित्त भी यशोधर महाराज थे, पर उपादान तेरा बदला।

भो ज्ञानी! इसी प्रकार शत्रुरूप दिख रहे थे, तलवारें खिंच रही थी मुनिराज को मारने और पश्चात्ताप हुआ तो तलवार खिंच गई स्वयं को मारने को, कि इसका प्रायश्चित यही हो सकता है। देखो भावों की महिमा। एक क्षण पहले यति को मारने के भाव थे और दूसरे क्षण में स्वयं को मारने के विचार आ गये, कि मैंने यह गलत किया। बस, इतनी ही संक्लेशता और विशुद्धि चाहिये पड़ेगी। जितने संक्लेश परिणामों से बन्ध किया है, उतने ही संक्लेश परिणामों से विशुद्धि चाहिये पड़ेगी। जरा भी कम होगी तो काम नहीं बनेगा। इसलिये आचार्यमहाराज ने स्पष्ट कर दिया कि निश्चयनय की दृष्टि से यह भाव भी मेरा स्वभाव नहीं है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से बन्ध हो रहा है। बंधे बैठे हैं, यह भी सत्य है। व्यवहारदृष्टि को समझोगे, तभी निश्चय को प्राप्त करोगे।

भो ज्ञानी! बिना अस्ति के नास्ति नहीं होता है। अस्ति धर्म जहाँ होता है, वो नास्ति का ज्ञान कराता है। जहाँ नास्ति धर्म होता है, वह अस्ति का ज्ञान कराता है। जहाँ बंध का कथन है, वहाँ मोक्ष का कथन समझ लेना। जहाँ मोक्ष का कथन हो, वहाँ बंध का कथन भी नियम

से समझ लेना। व्यवहार की भाषा में कहा जाता है कि आटा पिसाने जा रहे हैं, जबकि गेहूँ पिसाने जाते हो। लेकिन व्यवहार में ऐसा कहा जाता है। जैसे पिसे को नहीं पीसा जाता, इसी प्रकार से निर्बंध का मोक्ष नहीं होता है। आप द्रव्यदृष्टि से निर्बन्ध हो, पर द्रव्य से निर्बन्ध नहीं हो। यदि द्रव्य से भी निर्बन्ध हो, तो निर्बन्ध और शुद्धोपयोग की बात करने की क्या आवश्यकता? यदि समवसरण देखने से केवलज्ञान हो गया, तो फिर दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता है?

भो ज्ञानी! बन्ध के अभाव का नाम निर्बन्ध है। अध्यात्म की भाषा को जिस दिन समझ लोगे, करणानुयोग तुम्हें परमप्रिय हो जायेगा। मैं प्रकृतिबंध स्वरूप नहीं हूँ, स्थितिबंध स्वरूप नहीं हूँ, अनुभागबंध स्वरूप नहीं हूँ, प्रदेशबन्ध स्वरूप नहीं हूँ। प्रागभाव कह रहा है कि वर्तमान पर्याय में पूर्व पर्याय का अभाव समझना। यदि आप सिद्ध मानते हो और प्रागभाव नहीं मान रहे हो। इस वर्त्तमान पर्याय में सिद्धपर्याय का अभाव नहीं है तो भो ज्ञानी! प्रध्वंसाभाव नहीं आयेगा। प्रध्वंसाभाव कह रहा है कि वर्तमान पर्याय का जब अभाव होगा, तभी भविष्य की पर्याय आयेगी। जब संसार पर्याय का अभाव होगा, तब सिद्ध पर्याय का उत्पाद होगा। इसे प्रागभाव कहते है। मेरी वर्तमान पर्याय में सिद्ध पर्याय का अभाव है। जब इस पर्याय का अभाव होगा, तब हमारी अगली पर्याय का उत्पाद होगा। यह पर्याय जड़रूप है और मेरा आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है। अत्यन्ताभाव, लेकिन अन्योन्याभाव भी है। कैसे? मेरे द्रव्य में व गुणों में अन्योन्याभाव ही चल रहा है, क्योंकि जो गुण मेरा अभी है, अशुद्ध ज्ञान-दर्शन है।

भो ज्ञानी! जब मैं सिद्ध बन जाऊँगा, तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन होगा। इसलिये एक में दूसरे का अभाव है, पर अत्यन्ताभाव नहीं है। जीव पुद्गल में अत्यन्ताभाव होता है, परन्तु पुद्गल, पुद्गल की पर्याय में अन्योन्याभाव होता है। और जीव जीव की अवस्था में, गुण गुणी में अन्योन्याभाव होता है। अत्यन्ताभाव दो परद्रव्यों में ही होगा। वही तो दृष्टि आता है अपन को, जिसमें तुम रचे-पचे हो, खा-पी रहे, मस्त हो, और सिद्धभगवान् बन रहे। भो ज्ञानी! पहले यह तो देख कि जिन संबंधों में तुम रो रहे हो, हँस रहे हो, वो तो अत्यन्ताभाव है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं, भो मुनि! यह बन्धस्थान तेरे से अत्यन्ताभाव है। क्योंकि बन्ध कर्म का है, वो जड़ है और तू चेतन है। इसलिये बंध को अपना स्वभाव मत मान लेना। अब देखना, तेरा शरीर का व तेरा अत्यन्ताभाव है और तू परिवार को अपना मान बैठा है। यदि नहीं मानते हो, तो जिस दिन किसी की पर्याय का विनाश होगा और शरीर का संस्कार करने आप जाते हो, उस दिन देख लिया करो कि यह राख किसकी हुई है? जो अत्यन्त भिन्न था, वो भिन्न ही रह गया। जो अत्यन्त अभिन्न था, वो साथ में चला गया। ज्ञान-दर्शन

साथ में गया। इसलिये आचार्य महाराज पुनः-पुनः समझा रहे हैं कि अत्यन्ताभाव को अत्यन्ताभाव रूप स्वीकारो। यह चार अभाव ही समझ में आ गये, तो पूरा समयसार समझ में आ गया। अभाव मात्र पर गहरी श्रद्धा हो जाये।

भो ज्ञानी! हमारा तुम्हारा क्या संबंध? अत्यंताभाव। देखना यह अद्भुत बात है कि पुद्गल पुद्गल का तो परस्पर में अन्योन्याभाव हो जाता है पर्याय पर्याय से, पर जीव जीव का अत्यंताभाव है। पुद्गल यह पेन की पर्याय में झलक रहा है, यह अभी माइक नहीं है, लेकिन इस पेन के परमाणु माइक भी बन सकते हैं, परन्तु कोई जीव पर-जीवरूप परिणमन नहीं कर सकता। प्रत्येक जीवद्रव्य की स्वतंत्र सत्ता है। वो अपने अपने गुणों में ही परिणमन करेगा, पर-गुणरूप परिणमन नहीं करेगा। जीवद्रव्यों में अपने गुण-गुणी की अपेक्षा से अन्योन्याभाव है। परन्तु मैं आपमें नहीं हूँ। मेरे में और आप में अत्यन्ताभाव है।

भो ज्ञानी! यदि तू एक जीव में दूसरे जीव का अत्यन्ताभाव नहीं मानेगा, तो ईश्वरवादी सामने खड़ा हो जायेगा। ईश्वरवादी कहते हैं कि उसी ईश्वर का अंश हूँ। फिर आप भी कहोगे कि हम भी ईश्वर-अंश हैं, जबकि हम स्वतंत्र हैं, ईश्वर के अंश नहीं हैं। हम स्वयं ईश्वर बन सकते हैं, पर हम किसी दूसरे के अंशरूप नहीं रहना चाहते, क्योंकि आत्मा अखंड, अविनाशी है। अंश-अंशी नहीं है। आत्मा तो निःअंशी ही है। अरे! आत्मा के अंश मत कर देना! आत्मा तो अखंड निःअंशी है। आचार्यमहाराज ने कलश में भी कहा था, हे मित्र! तू मेरी बात को अच्छी तरह से सुनकरके शीघ्र चिच्चमत्कार मात्र में अपनी मति करो, अपनी बुद्धि लगाओ। अब कह रहे हैं कि वो ममत्व कैसे छूटे? वो छूट जायेगा, आप छोड़ दो। आप बताओ कि घर आपको पकड़े है या आप घर को पकड़कर बैठे हो? आचार्य महाराज कह रहे हैं, हे जीव! परद्रव्य तुझे नहीं पकड़े है, आप ही परद्रव्य को पकड़कर बैठे हो।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 99 में कह रहे हैं कि मैं ममत्व को छोड़ता हूँ, निर्ममत्व को स्वीकारता हूँ। अरे! यह शब्दों की सुलझी बात है, पर भावों की सुलझी बात तो मनीषियो! उस योगी के अंदर ही है, जिसके ऊपर पत्थर बरसाये जाय तो बोले कि आशीर्वाद दे रहा है। ऐसा नहीं बोले महाराज! कि उन्होंने पत्थर मार दिया। भो ज्ञानी! उस बेचारे के पास पत्थर ही तो था, इसलिये उसने वो दिया है, लेकिन आपने यदि पत्थर मारा है, तो आप में और उसमें अंतर क्या? डाक्टर साहब! आपने किसी पशु को मलहम-पट्टी लगाई और उसने आपको लात मार दी, तो आप उसको मारते हो क्या? वो पशु था, पर आप तो पशु नहीं थे। बस, ज्ञानी! जिसने पत्थर फेका हो, उसके अन्दर अल्पज्ञता थी, परन्तु हे योगी! तू तो पत्थर नहीं, फूल फेकना। पं. दौलतराम जी क्या कह रहे हैं? "जिनके मुख-चन्द्र से अमृत

झरे"। ऐसे वचन जो अमृत के समान हैं। ऐसे वचन सुनकर बड़ा आनंद आता है।

भो ज्ञानी! जब हम संत के पास पहुँचते हैं और संत रूप नहीं झलकता है, तो श्रद्धा का पर्दा फट जाता है। ध्यान रखो, वाणी बड़ा प्रभाव छोड़ती है। कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि तुम वाणी के चक्कर में और उलझते जा रहे हो। यह ध्यान रखना कि यह निर्ग्रन्थ दशा पूर्ण निरपेक्ष ही है। सापेक्षता को लेकर चलोगे तो घटित नहीं होगा। जब शुद्ध दशा के नजदीक होते हैं, तेरहवें गुणस्थान के अंत समय में जो ध्यान बनता है, उसने पुण्य को भी क्षीण कर दिया। अभी तक तो पाप को भगाया था। तेरहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान की महिमा से पुण्य को भी एक किनारे कर दिया। फिर एक क्षण में नहीं, आधे क्षण में ही वह योगी कह रहे हैं कि हे जड़ देह! अब तेरा भी काम नहीं है। अहो परमाणुओ! अब तुम अपने आप में मिल जाओ। यह जीव तुम्हारा सहयोगी नहीं बन रहा है, इसलिये बहुत अच्छा होगा कि तुम बिखर जाओ, कपूर की भाँति उड़ जाओ। इतनी शुद्ध दशा जीव के भावों की है। उस शुद्धि का प्रभाव देखो कि यह शरीर भी परम औदारिक हो गया। यह शरीर का प्रभाव नहीं, जीव की दशा का प्रभाव है कि शरीर को भी परम औदारिक रूप परिणमित होना पड़ा। यह है निरपेक्ष भाव परिणमन। भैया! नख और केश अवशेष बचते हैं, शेष शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है।

आचार्यमहाराज संपूर्ण विभावों से सन्यास की विधि बता रहे हैं। अभी तक लोग घर से सन्यास लेते हैं, कोई राजनीति से सन्यास लेता है, पर आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि यह सब बाहर के सन्यास हैं। अरे! सन्यास लेना है तो अशुभ भावों से सन्यास ले लो कि अब मैं ऐसे अशुभ भाव नहीं करूँगा। घर के सन्यासी अनंत हो सकते हैं, पर भावों के सन्यासी विरले ही संत होते हैं। ध्यान रखना, यह भाव का सन्यास है।

भो ज्ञानी! लोगों को कंचन और कामिनी इन दोनों में ही ज्यादा राग होता है। वो कामिनी भी सुन्दर होना चाहिये, आभूषण भी सुन्दर होना चाहिये। परन्तु यह सुन्दरता तो पर्याय की है। अहो! मैं परद्रव्य-गुण की पर्याय में ममकार अच्छी तरह छोड़ता हूँ। 'छोड़ता हूँ' नहीं लिखा, 'अच्छी तरह' से छोड़ता हूँ। परम अपेक्षा लक्षण से लक्षित निर्ममकार स्वरूप आत्मा में स्थित होकर आत्मा का ही आलम्बन लेता है। गृहस्थी/गृहणी किसे कहते हैं? जो संसार में संसरण करावे। आलम्बन लेकर संसाररूपी स्त्री के उपभोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादि रूप अनेक प्रकार के जो विभाव हैं, उनको मैं छोड़ता हूँ।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममृतं तत्र निरताः॥ स. सा कलश 104॥

एक दो नहीं, सभी को, निश्चय से, चाहे वो सुकृत पुण्य हो या दुष्कृत पाप हो, चाहे पुण्य का उदय हो, चाहे पाप का उदय हो, सभी का निषेध कर दिया है तथा निष्कर्मरूप बाह्य क्रियाओं से शून्य अवस्था के हो जाने पर भी मुनिराज अशरण रूप नहीं हैं। उस काल में ज्ञान में परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनिराजों के लिये शरण है। उसमें वे रमण करते हैं।

भो ज्ञानी! जिसकी प्रवृत्ति कर्म में है, ऐसे मुनि के लिये बोले, आप क्यों जा रहे हो घर छोड़के? बेटा! घर में रहो। जंगल में भालू, बन्दर है, शेर खा जायेगा। हे तात! तुम हमारे कर्त्ता-धर्त्ता नहीं हो। तुमने हमें जन्म नहीं दिया है, तुमने इस शरीर को जन्म दिया है। यदि शेर खा भी जायेगा, तो मेरा क्या खा जायेगा? तुम्हारा दिया शरीर ही तो खा जायेगा। ओ हो! क्या अद्भुत सोच है। इतना गंभीर वैराग्य तो अनंत बलशाली वीर्य वाला जीव ही प्रकट करेगा। जब तक उत्तम संहनन नहीं होगा, इतना तुम सोच नहीं सकते हो। खाओ, तुम खा जाओ। लो खा लो। मुझे कौन खाओगे?

भो ज्ञानी! यह सत्य है कि जब तक पूर्व अभ्यास नहीं होगा और भावों में दृढ़ता नहीं होगी, तब तक तुम कुछ नहीं कर पाओगे। प्रार्थना करना, हे प्रभु! वो घड़ी कब आयेगी जब मैं ये कर पाऊँगा? तब तक करने वाले के प्रति मेरी अगाध श्रद्धा बनी रहे। चारित्रमोहनीय कर्म के विनाश का यदि कोई हेतु है, तो चारित्रवान् के प्रति विनयभाव है, दूसरा कोई हेतु नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक में और भी स्पष्ट किया है।

भो ज्ञानी! वीतरागी मुनि जब शुद्धोपयोग में लीन हो जाते हैं, तब उनके पुण्य और पाप की पूर्ण क्रियाओं का व्यापार रुक जाता है। उस निर्विकल्प अवस्था में वे योगी अकेले होते हुये भी अशरणभूत नहीं हैं। ज्ञानरूप में परिणत आत्मा ही उनके लिये शरणभूत है। उस वीतराग निर्विकल्प ध्यान के पूर्व निष्कर्म रूप निश्चल अवस्था नहीं होती है और न ही पुण्यरूप आवश्यक क्रियायें छूटती हैं।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव मन तथा इन्द्रिय पर नियंत्रण करने को कलश में कह रहे हैं—

अथ नियतमनोवाक्कायकृत्स्नेन्द्रियेच्छो भववनधिसमुत्थं मोहयादःसमूहम्।
कनकयुवतिवांछामप्यहं सर्वशक्त्या प्रबलतरविशुद्धध्यानमय्या त्यजामि॥ कलश 134॥

योगी मन, वचन, काय सम्बन्धी संपूर्ण पांचों इंद्रिय सम्बन्धी इच्छाओं पर नियंत्रण करता है तथा विचारता है कि इस संसाररूपी समुद्र में उत्पन्न होने वाले मोहरूपी मत्स्य के समूह का मैं त्याग करता हूँ। यह इच्छा विशुद्ध ध्यानमयी सर्वशक्ति से ही छूटती है। हे ज्ञानी! सब प्रकार की इच्छाओं के निरोध से ही मोह के निमित्त-कारण से उत्पन्न होने वाली परवस्तु की चाह रूप विभाव-भावनायें छोड़ी जा सकती हैं। योगी विचार करता है कि जब मोह ही मेरा नहीं है तो मोह के साधन मेरे कैसे हो सकते हैं? आचार्यमहाराज संकेत कर रहे हैं कि इन वांछाओं के त्याग में सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिये, क्योंकि अत्याधिक पुरुषार्थ के बिना इच्छाओं का दमन संभव नहीं है। तप, त्याग और दान आदि भले ही शक्ति अनुसार करें।

भो ज्ञानी! आपके घर में किसी का वियोग हो जाये तो समझाने वाले लाखों पहुँच जाते हैं, पर समझ में नहीं आता है। जब स्वयं का ज्ञान काम करने लगता है, तो सब समझ में आ जाता है। जब-तक स्वयं का ज्ञान काम नहीं करता है, तो कुछ भी समझ में नहीं आता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्री रामचन्द्रजी छह महीने लिये घूमते रहे। जब कषाय मंद हो गई, तो स्वयं समझ में आ गया। देवों ने उस समय समझाया, तो भी समझ में ही नहीं आया। इसलिये ध्यान रखना, उपादान की योग्यता जब तक नहीं आयेगी, तब तक निमित्त काम नहीं करेगा। परन्तु निमित्त के अभाव में उपादान भी कुछ नहीं करेगा। इसलिये दोनों चाहिये। इसलिये योगी पुरुष निज ज्ञानस्वरूप में लीन होकर ज्ञान में आचरण/रमण करते हैं तो स्वयं परम अमृत का अनुभव करते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : सर्वत्र आत्मा ही उपादेय है

गाथा : **आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।**
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे॥ 1000॥

संस्कृत छाया : **आत्मा खलु मम ज्ञाने, आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।**
आत्मा प्रत्याख्याने आतमा मे संवरे योगे॥ 100 ॥

अन्वयार्थ : (खलु मम ज्ञाने आत्मा) निश्चित रूप से मेरे ज्ञान में आत्मा है (मे दर्शने चरित्रे च आत्मा) मेरे दर्शन और चारित्र में आत्मा है (प्रत्याख्याने आत्मा) प्रत्याख्यान में आत्मा है और (ये संवरे योगे आत्मा) मेरे संवर तथा योग में आत्मा है।

नियमदेशना

भो ज्ञानी! 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में टोडरमल जी ने लिखा है कि होनहार कोई वस्तु नहीं है। जिस समय जो कार्य हो, वही होनहार है। काललब्धि, भवितव्यता, होनहार यह पर्यायवाची नाम हैं। परन्तु वस्तु तो है। उस होनहार के पीछे अपने पुरुषार्थ कर्म को छोड़कर मत बैठ जाना। आप प्रकृति का अर्थ शील में लगाओ। प्रकृति यानि स्वभाव, प्रकृति यानि शील। तेरा ब्रह्मस्वभाव है, पर प्रकृति को तू अपने में मान रहा है, इसलिये तू कह रहा है कि प्रकृति पर की उपाधि तो सौपाधिक प्रकृति है। अरे! यह अब्रह्म तेरी वास्तविक प्रकृति नहीं है। अब्रह्म तेरी कर्मोपाधि प्रकृति है। जब कर्मोपाधि अपेक्षा से कथन करेंगे, तो संसार की प्रकृति ही प्रकृति है और कर्मोपाधि निरपेक्ष कथन करेंगे, तो निज प्रकृति है। वह प्रकृति आपके निर्मल पुरुषार्थ से प्रकट होगी, परन्तु समय पर होगी। यही निमित्त काललब्धि है।

भो ज्ञानी! वास्तविकता यह है कि उपादान ही प्रबल है। पर ध्यान रखना, उस उपादान की प्रबलता का प्रकटीकरण तभी होगा, जब ये चारों साथ होंगे। भो चैतन्य आत्मा! यदि तूने पुरुषार्थ नहीं किया होता, तो तू यहाँ भी नहीं आ सकता था। ध्यान रखो, जो नौवे ग्रैवेयक जा रहा है मिथ्यादृष्टि, वह भी पुरुषार्थ से जा रहा है, बिना पुरुषार्थ के नहीं जा रहा है। बिना उत्तम संहनन के कोई सातवें नरक जा ही नहीं सकता। भैया! अहंकार मत करना। आपके पास इतना पुण्य नहीं है कि तुम सातवें नरक में चले जाओ। उत्तम संहनन पुण्यवान् को ही मिलता है। पर वास्तव में पुण्य के उदय से नरक नहीं जाता है। पुण्य के उदय का दुरुपयोग करता है, इसलिये नरक जाता है। पुण्य-परिणाम के अभाव से और पुण्य के उदय में पाप परिणाम से नरक जाता है। अहो! पुण्य के उदय में पाप-परिणाम से जीव सप्तम नरक तक जाता है।

भैया! एकेंद्रिय कहे कि हम नरक चले जायें, तो नहीं जा सकते। वो कहे कि हम शेर बन जायें, नहीं बन सकते, क्योंकि तुम्हारे पास इतना पुण्य नहीं है, ताकत नहीं है। भो चेतन! 'समयसार' में सैंतालीस शक्तियों का कथन है। वो शुद्ध शक्ति का कथन इसलिये है कि जैसे कमलपत्र पर पड़ी पानी की बूँद ठहरती नहीं है, क्योंकि पत्र ने स्वीकार नहीं किया, इसी प्रकार से त्याग उपादानशून्य शक्ति कह रही है, कि मेरी आत्मा में पर को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है। जब मैंने स्वीकारा ही नहीं है तो मैं त्यागूँ किसको? मैं तो अपने चैतन्य गुण से युक्त हूँ। यह जो कुछ है, यह सब मेरे में बिल्कुल नहीं है।

अणोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि णिठचं सगं सभावं ण विजहंति ॥ पञ्चा. 7॥

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में परस्पर में नित ही मिले रहने पर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। भो ज्ञानी! यह बताओ, वस्त्रों पर जो नील लगाये बैठे हैं, वस्त्र नीला है कि नील नीली है? दोनों दृष्टियों से कहो। वस्त्र के कौन-से अंश में नील नहीं है? यदि नहीं है, तो उठाके अलग रख दो। भो ज्ञानी! कर्मसिद्धान्त और अध्यात्म दोनों से कथन करो, नहीं तो गड़बड़ हो जायेगा। आप कपड़ा पहने, वो नीला है, तो नीला अलग कर दो। भो चेतन! परस्पर में संश्लेष सम्बन्ध रूप में मिले हुये हैं। घुले-मिले हैं। जैसे नीर और क्षीर। फिर भी नीर नीर है, क्षीर क्षीर है। इस प्रकार से आत्मा में कर्मबन्ध है। इसलिये बंध है, तो त्याग भी है। परन्तु बन्ध स्वरूप मेरा नहीं है, इसलिये मैं त्यागस्वरूप भी नहीं हूँ। जब सैंतालीस शुद्ध शक्तियों का कथन किया जायेगा तो आप सोचोगे कि ऐसा स्वरूप है आत्मा का।

भैया! जो त्याग उपादान शक्ति है, वहाँ ग्रहण-त्याग के भाव का ही अभाव है। आचार्य भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 100 वीं गाथा में प्रत्याख्यान आदि की चर्चा बहुत सरल भाषा में कर रहे हैं। परन्तु इसे सराग अवस्था में मत लगा लेना। भो चेतन! स्वरूप का अनुभव करो, स्वरूप की बात सुनो, परन्तु विषय वहीं लगाना, जहाँ लगता है। योगी जिस समय निर्विकल्पता की ओर जाता है, तब ध्यान रखना, निरपेक्ष भाव यह कह रहा है कि पर से कोई अपेक्षा मत रखना।

भो ज्ञानी! निश्चय से आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान , संवर तथा योग है। कथन का आशय है कि सर्वत्र आत्मा ही उपादेय है। यह आत्मा कैसी है? यह आत्मा अमूर्तिक, अतीन्द्रिय, शुद्ध, सहज, सौख्य स्वरूप है। आत्मा सहज शुद्ध ज्ञानचेतना से परिणत हुये मेरे सम्यग्ज्ञान में है। मेरे सहज सम्यग्दर्शन के विषय में वही आत्मा है। साक्षात् निर्वाण की प्राप्ति के लिये उपायभूत, अपने स्वरूप में अविचल रूप से स्थित, ऐसे मेरे सहज चारित्र में भी है।

भो ज्ञानी! जो भेदविज्ञानी होता है, वह परद्रव्यों से पराङ्मुख होता है। वह पंचेद्रियों के व्यापार से भी रहित होता है। शरीर मात्र ही परिग्रह है जिसका, ऐसा निर्ग्रन्थ मुनि शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, सुख-दु:ख इन छहों का सम्पूर्ण त्याग कर देता है। ऐसा निश्चय प्रत्याख्यान से युक्त वह आत्मा में विद्यमान रहता है। वह योगी सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि अर्थात् कलश रूप है। अपने स्व स्वरूप में लीन रहता है अर्थात् तीनों गुप्तियों को धारण करता है। वह पापरूपी वन को जलाने के लिये पावक अर्थात् अग्नि के समान है। शुभ और अशुभ कर्म का संवर करता है। वह अशुभ उपयोग से अलग रहता है तथा शुभ उपयोग में भी उदासीन रहता है। वह शुद्धोपयोग मात्र की ओर अभिमुख रहता है। ऐसा योगी परमागम रूपी मकरन्द का पान करता है। टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि ऐसा सनातन स्वभाव वाला परमात्मा मेरे शुद्धोपयोग में विराजमान है।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज ने निर्ग्रन्थ रूप महामुनि की अवस्था का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मैं भेदविज्ञानी हूँ, पंचेद्रियों के व्यापार से रहित हूँ, गात्र मात्र ही मेरा परिग्रह है। मैं दिगम्बर मुनि हूँ, वैराग्य-महल का शिखामणि हूँ। यहाँ तक कि मैं अशुभोपयोग से सर्वथा रहित हूँ, शुभोपयोग से भी उदासीन हूँ और शुद्धोपयोग के सन्मुख हूँ। वे स्वयं कह रहे हैं कि मेरे मुख से परमागम रूपी मकरन्द का झरना झर रहा है। अर्थात् 'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति रूप टीका का अमृतमय झरना झरा है। कोई साधु लगातार छठवें या सातवें गुणस्थान में नहीं रह सकता है। समयसीमा एक अन्तर्मुहूर्त की है। अत: ऐसा अध्यात्म योगी ग्रन्थरचना के काल में भी आत्मा के अपूर्व आनंद की अनुभूति लेता है।

'पद्मनंदी पंचविंशतिका' में आचार्य पद्मनंदी महाराज कह रहे हैं कि वही एक चैतन्यज्योति ही परमज्ञान है, वही एक पवित्र निर्मल दर्शन है, वही एक चारित्र है, वही निर्मल तप है। साधुपुरुषों के लिये वही एक नमस्कार करने योग्य है, वही एक मंगलरूप है, वही एक शरणभूत है, वही एक उत्तम है। अप्रमत्त दशा के योगी के लिये वही एक आचार है, वही आवश्यक क्रिया है और वही एक स्वाध्याय है। टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं—

मम सहज सुदृष्टौ शुद्धबोधे चरित्रे
सुकृतदुरितकर्मद्वन्द्वसंन्यासकाले।
भवति स परमात्मा संवरे शुद्धयोगे
न च न च भुवि कोऽप्यन्योऽस्ति मुक्तयै पदार्थ:॥ कलश 135॥

मेरे सहज शुद्ध दर्शन में, शुद्ध ज्ञान में और शुद्ध चारित्र में, पुण्य-पाप रूपी दोनों कर्मों को त्यागरूप प्रत्याख्यान के समय में, संवर में और शुद्धयोग शुद्धध्यान रूप शुद्धोपयोग में वह परमात्मा ही है।

आचार्यमहाराज योगी के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहते हैं कि जब योगी शुद्धोपयोग में लीन हो जाता है, तो वह पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ उपयोग से रहित सहजरूप शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण संवर में स्थित होता है और परमात्मदशा को प्राप्त हो जाता है। बिना इसके मुक्ति प्राप्ति का कोई अन्य साधन नहीं है। वीतराग, निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में लीन होने पर यह आत्मा ही कारण-परमात्मा रूप से स्थित है। उस समय वह निश्चय रत्नत्रय की एकाग्र परिणति से परिणत हो रहा है। इस आत्मा को छोड़कर अन्य किसी भी अनुष्ठान से मोक्ष की प्राप्ति असंभव है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : संसार और मुक्ति में यह जीव असहाय है।

गाथा : **एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।**
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरयो॥ 101॥

संस्कृत छाया : **एकश्च म्रियते जीवः एकश्च जीवति स्वयम्।**
एकस्य जायते मरणं एकः सिध्यति नीरजाः ॥ 101॥

अन्वयार्थ : (जीवः एकः च म्रियते) जीव अकेला ही मरता है (स्वयं च एकः जीवति) और स्वयं अकेला ही जन्मता है (एकस्य मरणं जायते) अकेले के ही मरण होता है (एकः नीरजाः सिध्यति) अकेला ही रज-कर्म-धूलि रहित सिद्ध होता है।

टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आत्मा की निर्मल दशा का वर्णन करते हुये कलश कह रहे हैं–

क्वचिल्लसति निर्मलं क्वचन निर्मलानिर्मलं
क्वचित्पुनरनिर्मलं गहनमेवमज्ञस्य यत्।
तदेव निजबोधदीपनिहताघभूछायकं
सतां हृदयपद्मसद्मनि च संस्थितं निश्चलम्॥ कलश 136॥

आत्मा भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है। किसी अवस्था में निर्मल दिखाई देता है। कहीं पर निर्मलानिर्मल मिश्रित रूप दिखाई दे रहा है। कहीं पर मलिन/अनिर्मल दिखाई देता है। आत्मा के स्वरूप को अज्ञानी लोग अत्यन्त कठिनाई से समझ पाते हैं। अधिकतर के समझ में आती ही नहीं है। जो ज्ञानीपुरुष होता है, वह ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा पापरूपी अंधकार को नष्ट कर देता है। ऐसा आत्मा साधुपुरुषों के हृदयकमल में विराजमान रहता है।

नियमदेशना

भो ज्ञानी! यह आत्मा सिद्धावस्था में पूर्णरूपेण निर्मल हो जाता है। जब यह अरहन्त अवस्था में रहता है, तो चार अघातिया कर्म शेष रहते हैं। उसके कारण से, असिद्धत्व की अपेक्षा से, अनिर्मल होने से, निर्मलानिर्मल है। वीतरागी मुनि जब शुद्धोपयोग में रहता है, उपयोग में निर्मल होने से भी निर्मलानिर्मल है। चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक सराग अवस्था रहती है और अंशरूप अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि कषायों का अभाव होने से भी निर्मल है, अतः उनकी आत्मा भी निर्मलानिर्मल है। पहले गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान तक पापजीव होने से अनिर्मल ही है।

भो ज्ञानी! आत्मा के तीन भेद किये हैं। परमात्मा, अंतरात्मा और बहिरात्मा। ये तीनों आत्मा ही हैं। कुछ आत्मायें निर्मलानिर्मल हैं। कुछ आत्मायें निर्मल-ही-निर्मल हैं, वे परमात्मा हैं। वे तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में विराजमान सकल परमात्मा और अशरीरी निकल परमात्मा हैं सिद्ध परमात्मा निर्मल आत्मा हैं। इसके नीचे छठवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक निर्मलानिर्मल आत्मा है। अर्थात् आत्मा निर्मल भी है और अनिर्मल भी है। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय गुणस्थान में विराजी आत्मा अनिर्मल/मलिन ही है। चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबंधी कषायों का उदयाभावी क्षय और सद्भाव का उपशम होने से जो सम्यक्त्व प्रकृति काम कर रही है, उस अपेक्षा से सम्यक्त्व प्रकट हुआ है, इसलिये निर्मलानिर्मल है। इस अपेक्षा से चौथे से लेकर छठवें तक और सामान्य रूप से देखेंगे तो चौथे से लेकर बारहवें तक और दृष्टि से देखेंगे तो चौथे से लेकर तेरहवें तक निर्मलानिर्मल है।

भो ज्ञानी। पूर्ण निर्मल तो चौदहवें गुणस्थानवर्ती तथा सिद्ध भगवान् हैं, जहाँ पर घातिया व अघातिया दोनों कर्मों का अभाव हो चुका है। अब आप सोचो कि आपकी आत्मा कहाँ पर है? निर्मल है, निर्मल-अनिर्मल है या अनिर्मल है? सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा जब शरीर आदि द्रव्यों को देखता है, तो उसकी दृष्टि बड़ी निर्मल होती है।

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न जीर्णं मन्यते तथा।

जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं, न जीर्णं मन्यते बुधः॥ स.तंत्र 64॥

सम्यग्दृष्टि जीव चिन्तन करता है कि जैसे वस्त्र के जीर्ण होने से देह जीर्ण नहीं होती, वैसे ही देह के जीर्ण होने से आत्मा जीर्ण नहीं होती है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं, न घनं मन्यते तथा।

घने स्वदेहेऽप्यात्मानं, न घनं मन्यते बुधः॥ स. तंत्र 63॥

जैसे वस्त्र के घने मोटे होने पर शरीर मोटा नहीं हो जाता, वस्त्र के रंगे होने पर शरीर रंगा नहीं होता है, वस्त्र के फट जाने पर शरीर नहीं फटता, ऐसे ही शरीर के रंगे होने पर आत्मा रंगी नहीं होती, शरीर के क्षीण होने पर आत्मा क्षीण नहीं होती। यह पुद्गल का ध र्म है। आत्मा इन सबसे भिन्न है। ऐसा जो ज्ञानी सोचता है, वो अंतरात्मा है। सम्यग्दृष्टि देह के छिल जाने पर भी सोचता है कि शरीर छिला है, आत्मा नहीं छिली है। वह आत्मा-जनित कष्ट नहीं है। यह है निर्मल आत्मा। यदि तू शरीर के फटने पर दुःखित हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, तो निर्मल आत्मा नहीं है। भो ज्ञानी! तत्त्वज्ञान को अंतरंग में प्रवेश कराने के लिये शक्ति तो चाहिये ही पड़ेगी।

भो ज्ञानी! तेरे शरीर के काले, पीले, लाल होने पर भी आत्मा ऐसी नहीं है। मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, यह बहिरात्मा कहता है। अंतरात्मा कहता है कि मैंने कपड़ा पहन लिया तो उससे कौन मैं गोरा या काला हो गया? मैं गोरा नहीं हूँ, मैं काला नहीं हूँ। मैं तो अरूपी हूँ। संसार से रहित हूँ। अलिंगी हूँ। यह मेरा निज धर्म है। पर धिक्कार हो मेरी अज्ञानता को, मैंने वस्त्र के मोटेपन से अपने आपको मोटा मान लिया है। मैंने वस्त्र के वर्ण को अपना वर्ण मान लिया है। यही तो तत्त्व की भूल है। जो है नहीं, उसे अपना कह रहा है और जो है, उसे अपना मान ही नहीं रहा है। पर ध्यान रखना, सगा तो सगा ही होता है और सौतेला तो सौतेला ही होगा। शरीर तेरा सगा नहीं है, सौतेला है। ज्ञान-दर्शन तेरा सगा है, आत्मा तेरा सगा है। देह तेरा सौतेला ही है, नियम से वो दगा देगा ही। अभी आपका पुण्यद्रव्य आपके साथ है, तो आप जिनवाणी सुन पा रहे हो। इसलिये एक बात का ध्यान रखना, जब तक पुण्यद्रव्य है, विश्राम नहीं देना, बहुत उपयोग करना, क्योंकि सबको मालूम नहीं है कि अंत में यह देह भी राख होगी। इसीलिये उतना ही राग करो जितनी आवश्यकता हो। आप इसको उपयोग में ले लो। जितनी साधना करना हो कर लो। उपवास कर लो, ध्यान कर लो, क्योंकि इसको तो नष्ट होना ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 101 में कह रहे हैं कि आपने बहुत कुछ सुन लिया है। चाहे तुम लाखों के बीच रहो, चाहे तुम अकेले रहना। जो अपने घर में अकेले थे, वह भी मर गये और जिनके साथ लाखों की भीड़ थी, वह भी मर गये, पर मरे सब हैं। वह भी मरेंगे, जिनके साथ सब कोई हैं और वे भी मरेंगे जिनके साथ कोई नहीं है। यह त्रैकालिक व्यवस्था है। ध्यान रखना, जाने के बाद भी कुछ रहता है। उसका नाम है यश-अपयश। आपने सुकृत किया है, तो यश रहेगा और दुष्कृत किया है, तो अपयश रहेगा। परन्तु ध्यान रखो, तुम्हें देखने दोनों नहीं मिलेंगे, क्योंकि आप इस पर्याय में रहेंगे नहीं। पिताजी के नाम पर बहुत भंडारे हो रहे थे, बहुत कुछ काम हो रहा था, लेकिन वह जीव देख नहीं पा रहा था। जब जी रहे थे, तो पीने को पानी नहीं दिया और जब चले गये तो पता नहीं कितनों को खिला रहे थे।

मनीषियो! यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि कितने भी लोगों के बीच में रहना, लोग पकड़ कर भी बैठे रहें कि हमारे भैया न जा पायें, लेकिन आप पकड़े ही रहोगे, ऐसी दशा है आत्मा की, कि पता ही नहीं चलता है कि वो हंस कब उड़ गया। इन हंसों को उड़ने पर आँखें देख लेती हैं, पर हंस-आत्मा के उड़ने को आँखें भी नहीं देख पाती हैं।

जब जन्म लेगा, तो नौ महीने तक माँ के उदर में उल्टा लटका, अकेले रहना पड़ेगा। पांच माह तक तो माँ के किये भोजन को करता रहा। छठवें माह से नाल बन जाने पर माँ

के लिये को उसके द्वारा ग्रहण किया। तूने अकेले ही जन्म लिया है। जिस दिन से तू विग्रह गति में आया, उसी दिन से मरण भी प्रारंभ हो चुका था। यदि यह सोचता है कि जिस दिन पर्याय छूटेगी उस दिन मरण होगा, ऐसा नहीं है। जिस दिन तू गर्भ में आया, उसी दिन से तूने आयु का भोगना प्रारंभ कर दिया था। यह जीव अकेला ही मरण को प्राप्त होता है। न साथ में गुरु जायेंगे, न चेला जायेगा। चाहे नरक में जाओ, चाहे स्वर्ग में जाओ। सिद्धालय में भी तुम्हें अकेले ही जाना पड़ेगा। यह सब बाहर के संसर्ग/संयोग हैं। संयोगों को संयोग मानो, संयोगों को स्वभाव मत मानो। स्वभाव माना तो आज तक रो रहे हो। कितने साथ जायेंगे? एक भी नहीं। कर्मप्रकृतियाँ जायेंगी। पर देखो वह प्रकृतियाँ भी अपना काम करके छोड़ देती हैं।

भो ज्ञानी! अब प्रतिज्ञा कर लो, कि मुझे अपने परिणामों को संभालना है। नहीं उसी स्थान पर आना पड़ेगा, इस संसार अवस्था में । आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जीव चाहे तू संसार में रह, चाहे तू मुक्त हो जाये, परन्तु नि:सहाय है। कोई तेरा सहकारी नहीं लग रहा है। कोई हमारा सहयोग नहीं करेगा। यह संसार का स्वभाव है। बने-बने की दुनियाँ है। बिगड़ने पर बगल में बैठने वाले कहेंगे कि कौन हो आप? हमारा उनका कोई सम्बन्ध नहीं। मैं भिन्न हूँ, वह भिन्न है। भो ज्ञानी! जब लोक ऐसा कह रहा है, तो आगम पहले से ही कह रहा है।

हे जीव! तू नि:सहाय है, कोई तेरा सहकारी नहीं है। पर तू मान बैठा है और इनकी सहायता करते-करते अपना जीवन बिता दिया। ध्यान रखना, जिसको तूने जन्म दिया है, सबसे खोटे वही निकलेंगे। पड़ोसी तो कम-से-कम आपसे प्रेम से बोल लेगा, पर वह तो तुझे बाँटेंगे। माता-पिता दोनों ने मिलकर जन्म दिया था, पर तुमने उन दोनों को अलग-अलग कर दिया। इसलिये अभी भी संभल जाओ, समय है।

भो ज्ञानी! दो प्रकार का मरण होता है। एक नित्य मरण होता है और दूसरा तद्भव मरण होता है। प्रतिसमय जो आयुकर्म के निषेक खिर रहे हैं, वो नित्य मरण है। आयु का पूर्ण हो जाना, यह तद्भव मरण है। उन दोनों में तू नि:सहाय है। भो ज्ञानी! तेरा शरण कौन होगा? दुनियाँ के मिथ्यात्व में क्यों पड़ा है? देवों के राजा इन्द्र आदि, यह सब काल के गाल में चले गये। आपको बचाने कौन आ रहा है? यदि बचाने की ताकत होती, तो फिर स्वयं ही न बच पाये, तो आप कैसे बचोगे? भो ज्ञानी! भगवान् बनने के लिये आराधना करना, संसार में बचने की दृष्टि से आराधना मत करना। भो ज्ञानी! कहीं मत जाओ, प्रकृति के स्वभाव को समझो। जो हो रहा है, सो होने दो। संभलकर चलो, संभलकर करो, परन्तु तुम प्रकृति को रोक नहीं सकते हो। न कोई तुम्हें जन्म दे रहा है, न कोई तेरा मरण कर रहा है। तू स्वयं

जन्म ले रहा है, स्वयं मरण कर रहा है। यह बाहर के संयोग-संबंध आपको झलक रहे हैं तो तू अपना मान रहा है। आचार्यमहाराज ने लोक की व्यवस्था का अच्छे से परिचय करा दिया, धोखे में मत रहना। यह करुणाबुद्धि है। भैया! यह सब तुम्हें सगे-सगे से लग रहे हैं, लेकिन यह सब तेरे कुछ नहीं हैं। यह बन्धु बंध के मूल हैं। इनके अंतरंग की भावनायें मापना बड़ा कठिन है। धन के पीछे भाई ही भाई को नहीं देखता, माँ बेटे को नहीं देख पाती, बेटा पिता को नहीं देख रहा है। सब संबंध भूल गये, मात्र पैसा याद रहा। भाई की एक्सीडेन्ट से मृत्यु हो गई, आपने गाड़ी वाले से, शासन से पैसे ले लिये, अब उसका आप खाओगे। अहो! संवेदनायें समाप्त हो गई हैं। मनुष्यता समाप्त हो गई है।

हे जीव! तू अकेला ही मरण को प्राप्त होगा। लोक में कोई शरण है, मार्गदर्शक है, तो एकमात्र परमगुरु का प्रसाद है। यदि तूने परमगुरु के चरणों को छोड़ दिया, तो ध्यान रखो, लोक में कोई शरण नहीं है। निश्चय शुक्लध्यान के बल से अपनी निज आत्मा का ध्यान करके निष्कलंक निर्मल केवल बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यदि इस अवस्था को प्राप्त करेगा, तो भी तू अकेला ही होगा। अहो! आगम में कितना बड़ा श्रद्धा का गुण मिला आपको यह संसार के संबंध झूठे हैं।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥ भ. गीता॥

आत्मा! तू स्वयं कर्म करता है, तो भोगने कौन आयेगा? उसके फल को तू स्वयं ही भोगता है और संसार में स्वयं भटकता है। जब छूटेगा भी संसार से, तो स्वयं छूटेगा। इसी प्रकार का कथन आचार्य सोमदेव भी कर रहे हैं–

एकस्त्वमाविशसि जन्मनि संक्षये च
भोक्तुं स्वयं स्वकृतकर्मफलानुबन्धम्।
अन्यो न जातु सुखदुःखविधौ सहायः
स्वाजीवनाय मिलितं विटपेटकं ते॥

हे जीव! तू इस संसार में अकेला ही जन्म को प्राप्त हो रहा है। जैसे कर्म का बन्ध किया था वैसा फल स्वयं भोग रहा है। सुकृत या दुष्कृत जैसा कर्म तेरे द्वारा किया गया था, उस अनुबन्ध के हिसाब से फल भोग रहा है। तुम्हारे सुख-दुःख में कोई दूसरा सहायक नहीं है। ये पुत्र, मित्र, कलत्र आदि अपनी सुविधा के लिये तुमसे आकर मिल गये हैं, परन्तु वास्तव में वे शत्रु-समूह के समान हैं।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, गृहस्थ धर्म बड़ा कठिन है। पानी को छानने के बाद बिल्छानी कहाँ डाली? नल का उपयोग कर रहे हो तो बिल्छानी कहाँ डालोगे? नल में सटक लगाकर घर, सड़क धो रहे हो, पर उसके साथ कितने धुल गये? अब सोचना कि उसका परिणाम भोगने कौन आयेगा? आप जहाँ प्रमाद में हो, वहाँ बन्ध होगा। जब सड़ जाता है, तो जो जीव छन्ने में रहे हैं, वे सब मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सोचो, उनकी हालत क्या होती होगी? जब तक तेरे पुण्य का उदय है, करते रहो। कहा भी है–

जब तक तेरे पुण्य का, बीता नहीं करार।
तबतक तुझे माफ है, दुर्गुण करो हजार॥

जिस दिन पुण्य क्षीण होगा, तब मालूम चलेगा। अब तो लोग जन्म देने के पूर्व या जन्म देते ही टुकड़े करके फेंक देते हैं, उन्हीं से पूछ लो कि तुम्हारी दशा क्या होगी? भैया के साथ छल कर सकते हो, बेटे के साथ छल कर सकते हो, परन्तु कर्म के साथ छल नहीं कर सकते हो। किसी के पीछे छल करोगे तो वो भी तुम्हें बचाने नहीं आयेगा। भो ज्ञानी! भगवान् के कारण भी छल करोगे तो वह भगवान् भी तुम्हें बचाने नहीं आयेंगे।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : एकत्व भावना से युक्त सम्यग्ज्ञानी के स्वरूप का कथन

गाथा : **एको मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो।**
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥ 102 ॥

संस्कृत छाया : **एको मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणः।**
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणा :॥ 102 ॥

अन्वयार्थ : (मे आत्मा एकः शाश्वतः) मेरी आत्मा एकाकी है, शाश्वत है (ज्ञानदर्शन लक्षणः) ज्ञान और दर्शन स्वरूप है (शेषाः) शेष (संयोगलक्षणाः) संयोग से उत्पन्न होने रूप लक्षण वाले (सर्वेभावाः) सभी भाव-पदार्थ (मे बाह्याः) मेरे से बाह्य है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने उक्त गाथा में एकत्व-विभक्त स्वभाव की चर्चा की। यदि संसार में सबसे सुन्दर कोई द्रव्य है तो वह एकत्व-विभक्त रूप निज आत्मा ही है। जहाँ दो होते हैं, वहाँ विसंवाद होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' जी की गाथा में कह रहे हैं कि

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई॥ 3 ॥ स. सा. ॥

हे योगी! अब तुम संसार में रहकर भी संसारी बनके मत रहो। भले ही संसारी पर्याय में हो। व्यवहार कह रहा है कि संसार में संसारी मानते जाओ। लेकिन अपने आप को तुम संसारी ही मानते रहोगे तो सिद्धत्व का भान कब करोगे? अब संयोग-संबंधों को हटाने की बात करो। अभी तक हमने संयोग-संबंधों को हटाने की बात की। कपड़े हटाओ, परिवार को छोड़ो, केशों का लुंचन करो, घर छोड़के जाओ, पर्वत पर बैठ जाओ, एकान्त में चले जाओ। ये सब संयोगों को हटाने की बातें थी। अब संश्लेष हटाने की बात करो। मैं पुत्र नहीं हूँ, मैं पिता नहीं हूँ, यह भाव तेरा संयोग हटाने का था। अब तेरी भाषा बदलनी चाहिये।

मैं कर्म नहीं हूँ, मैं नोकर्म नहीं हूँ, मैं द्रव्यकर्म नहीं हूँ और मैं भावकर्म भी नहीं हूँ। यह दृष्टि संश्लेष-संबंध हटाने की है। संयोग अत्यन्त भिन्न में होता है और संश्लेष अत्यन्त अभिन्नपने में होता है। जैसे दूध पानी का संबंध संश्लेष-संबंध है। आपका आपके बंधु का जो संबंध है, वह संयोग सम्बन्ध है। ऐसे ही कर्म-नोकर्म का बंध आत्मा के साथ है, वो संश्लेष-संबंध है। एक दूसरे से मिले हुये हैं, परन्तु अविनाभाव संबंध नहीं है। आचार्यमहाराज

कह रहे हैं कि इन कर्मों को तूने अकेले ही किया था, तो मरण भी अकेला ही करेगा। जन्म भी अकेले किया है, मृत्यु भी अकेले ही होगी, मुक्ति भी अकेले ही होगी। इसलिये अब संयोगों को भूलकरके स्वभावदृष्टि बनाओ।

एको याति प्रबलदुरघाज्जन्म मृत्युं च जीवः
कर्म द्वन्द्वोद्भवफलमयं चारुसौख्यं च दुःखम्।
भूयो भुङ्क्ते स्वसुखविमुखः सन् सदा तीव्रमोहा—
देकं तत्त्वं किमपि गुरुतः प्राप्य तिष्ठत्यमुष्मिन्॥ कलश 137॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि हे ज्ञानी! हे जीव! हे भोले प्राणी! प्रबल पापसमूह से उत्पन्न हुये जन्म को मृत्यु को तूने अकेले ही प्राप्त किया है। कैसी है? सुकृत नहीं है, दुष्कृत है। तेरे पास पुण्य और पाप दो कर्म हैं। एक में तुम मुस्करा लेते हो, दूसरे में तुम रो लेते हो। पर ध्यान रखो, बंध दोनों से है। संसार में भटकानेवाले ये दोनों ही हैं। जब सुख आने लग जाये, तो अहंकार मत करना। जब खाने को दाना नहीं मिलता था, उन दिनों का भी ध्यान रखना।

हे जीव! तूने बार-बार सुख-दुःख को भोगा है, इसलिये ध्यान रखना, जिसे तू सुख कह रहा है, वो तेरा सुख है ही नहीं। तूने अपने निज सुख को खोकर इंद्रियजन्य सुख को भोगा है। इसलिये किन्ही परमगुरुदेव के प्रसाद से तुझे आत्मतत्त्व प्राप्त हो जाये, तो तू अकेला ही उसमें ठहरेगा, परन्तु परम गुरुदेव की कृपा के बिना तू निज सत्य में प्रवेश नहीं करेगा। पहले गुरु का उपदेश, फिर निज का अभ्यास, फिर निज में निवास। भो ज्ञानी! यह है आत्म-तत्त्व में प्रवेश करने का सही सिद्धान्त।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में कथन किया है कि ज्ञानी गुरु के उपदेश से और स्वयं के अभ्यास से तत्त्व में प्रवेश करता है। गुरु का उपदेश बहुत है और निज का अभ्यास नहीं है तो गुरु का उपदेश कार्य नहीं करेगा। और गुरु का उपदेश नहीं है, तो अभ्यास करेगा किसका? इसलिये मार्गदर्शन गुरु का चाहिये। अभ्यास स्वयं का ही होगा तो निज को उत्कृष्ट संवित्ति प्राप्त होगी, जो मोक्षसुख को प्रदान कराने वाली है। स्वरूपाचरण कहो, आत्मानुभूति कहो, आत्मानुभव कहो, शुद्धोपयोग कहो। निश्चय ज्ञान, निश्चय ध्यान, निश्चय चारित्र, निश्चय समिति, निश्चय गुप्ति, यह सब शुद्धोपयोग के ही पर्यायवाची हैं।

भो ज्ञानी! जब तक दृष्टि नहीं ढूँढ़ेगे, तब तक संवित्ती नहीं होगी। अहो! बंध ही मानता रहेगा, तो निर्बंध दशा का भान कब करेगा? पिंजरे का पक्षी निर्बंधता की याद करता है तो पिंजरे से छूटने का पुरुषार्थ करता है। परन्तु पक्षी निर्बंधता के ज्ञान को निर्बंधता नहीं मानता

है। पक्षी में और आप में इतना अंतर है। निर्बंधता का चिंतन नहीं करोगे, तब तक निर्बंध होने का पुरुषार्थ नहीं करोगे। लेकिन निर्बंधता के चिन्तन को ही निर्बंधता मान लोगे, तो कभी तुम निर्बंध नहीं होओगे।

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं॥ स. सा. 291॥

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' में लिख रहे हैं कि जैसे बंध का चिन्तन करने से तिर्यंच बंधनमुक्त नहीं होता, ऐसे ही कर्मबंध का चिन्तन करने मात्र से तू निर्बंध नहीं होगा। जब तू बंध का छेदन करेगा, तब तू निर्बंध होगा। पर निर्बंधता का ध्यान किये बिना बंध के छेद का पुरुषार्थ नहीं होगा। इस गाथा को याद कर लेना और जब सामायिक में बैठो, तब चिन्तन करना। यह आवश्यक नहीं है कि जब तीन समय होगे तभी सामायिक करेंगे। अरे! जब विषमता हो तो सामायिक करने बैठ जाना।

भो ज्ञानी! आचार्य ने 'समयसार' की तीसरी गाथा में कहा कि इस लोक में सबसे सुन्दर कोई है, तो वह एकमात्र एकत्व-विभक्त निज आत्मस्वभाव है। उस मेरे एकत्व-विभक्त स्वभाव का विनाशक यह संयोगी भाव है। में कितना सुखी था। संघ बढ़ा, प्रसिद्धि बढ़ी, परन्तु निज साधना का अभाव दिखा। भो ज्ञानी! कितनी बड़ी सीख मिली आपको कि संयोगों में साधना नहीं है। संयोग बढ़ेंगे, तो कीर्ति बढ़ेगी, यश बढ़ेगा। परन्तु संयोग में प्रवेश नहीं किया, तो साधना भी निर्मल रहेगी। यदि संयोग में प्रवेश कर गये, तो अकेले भी रहोगे और साधना भी नहीं होगी, क्योंकि एक संयोग के मिलाप में दु:खी, एक संयोग के मिलाप में संक्लेशिता। एक जीव की संतान कहना नहीं मान रही है, सो दु:खी है, दूसरे जीव के संतान नहीं है, घर सूना है, सो दु:खी है। बताओ सुखी कौन है? धन नहीं है, तो निर्धनता में दु:ख है और धन है, तो रक्षा में दु:ख है। अब बताओ सुखिया कौन है?

भो ज्ञानी! संसार में सभी दर्शनों में साधु होते हैं, परन्तु किसी भी दर्शन में इस प्रकार से नग्न घूमने की बात विशेष नहीं मिलती। मैं नंगा रहूँ, इसलिये नंगा नहीं हूँ। मैं आनन्द को नहीं खोना चाहता हूँ। इसलिये नंगा हूँ। जैनसाधु ऐसा विचारता है। क्योंकि जब देखा कि जिनके पास नहीं है, वह भी दु:खी हैं, माँग रहे हैं और जिनके पास है, वह भी दु:खी है देने से घबड़ा रहे हैं।

हे मुनिराज! आपके पास वस्त्र होते और कोई गरीब वहाँ से निकलता होता, आपसे माँगता तो आप क्या करते? अच्छे पहनते तो अहम् आता और बुरे पहनते तो हीनभावना आती। अहो! नग्न क्यों हैं? इतने सारे श्रावक कहते कि हम बढ़िया देंगे महाराज! सो उनको पहले लेने

की भावना बनती और दूसरे के देने की इतनी सामर्थ्य नहीं थी, सो अब आप क्या करें, लेना पड़ रहा है। किसी के अच्छे बनके आये, किसी के बुरे बनके आये और चार साधु एकसाथ बैठे, तो उनके भावों में तुमने हीनता उत्पन्न कर दी। महाराज नग्न इसलिये कि किसी को देने का विकल्प नहीं, किसी से लेने का विकल्प नहीं और साथ में धोने या धुलाने का विकल्प नहीं। सबसे बड़ी बात यह है कि हम संक्लेश को छोड़ने बैठे हैं, तो संयोगों को अलग किये बिना संक्लेश से अलग कैसे होंगे? इसलिये दिगम्बर साधु नग्न रहते हैं।

भो ज्ञानी! जब हम संक्लेश नहीं चाहते हैं, तो संयोगों को क्यों चाहें? कितनी बढ़िया उपेक्षावृत्ति है। मुझे तो पूरा मोक्षमार्ग उपेक्षा में नजर आता है। जितना पर से उपेक्षित रहोगे, उतना निज से अपेक्षित रहोगे। जितना पर से अपेक्षित रहोगे, उतना निज से उपेक्षित रहोगे और पर से भी उपेक्षित रहोगे। आप प्रयोग करके देख लेना। किसी से रोज कुछ माँग लिया करो, चार दिन बाद देख लेना कि क्या स्थिति होती है! जहाँ आपने कोई नई अपेक्षा रखी, वहाँ आपको नई उपेक्षा प्राप्त हो जायेगी। आपके महाराज दिन में एक बार आहार लेने जाते हैं, सो गली-गली में नमोस्तु नमोस्तु की आवाजें गूँजती हैं । दोपहर और संध्या में और जाने लगें तो आप कहोगे कि रखा है सो डाल दो। और नमोस्तु-नमोस्तु नहीं होयेगी। भो ज्ञानी! जितनी अपेक्षा रखोगे, उतनी उपेक्षा होगी आपकी। और जितने आप निरपेक्ष रहोगे, उतनी अपेक्षा लोग रखेंगे।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 102 में कह रहे हैं कि शुद्धात्मतत्त्व में लीन हो जावो। हे ज्ञानी! जिस शब्द से तू निरपेक्ष हो रहा है, उस शब्द से ही निरपेक्ष हो जा। जिस तत्त्व की प्राप्ति में तू जा रहा है, बस, सापेक्ष उसी मात्र में रहना, बाकी सबसे निरपेक्ष हो जाना। ज्ञान का हेतु क्या है? स्वाध्याय और अध्ययन ज्ञान का फल क्या है? हान यानि हानि। विषयों की हानि हो, कषाय की हानि हो, ममत्व की हानि हो। आदान का अर्थ भाव की प्राप्ति हो, कषायों की मंदता हो, चारित्र की निर्मलता हो, यह प्राप्ति हो। उपेक्षा यानि जो राग को बढ़ानेवाले द्रव्य हैं, उनसे उपेक्षित होकर जीना। यह सम्यग्ज्ञान का फल है। जिसकी हान पर दृष्टि नहीं, आदान पर दृष्टि नहीं, उपेक्षा पर दृष्टि नहीं, उसके पास ज्ञान का फल बिल्कुल नहीं है।

भो ज्ञानी! संसार में जीवन जीने की अनेक शैलियाँ होती हैं। ऐसे ही तू शास्त्र-स्वाध्याय करके, सुनके, सुनाके अपनी जीवन जीने की शैली को अपनाके बैठा हुआ है। पर कल्याण की शैली यह नहीं है। शास्त्रज्ञान का फल किसी पदार्थ की अपेक्षा है ही नहीं। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने 'देवागमस्तोत्र', माणिक्यनंदी स्वामी ने 'परीक्षामुखसूत्र' में स्पष्ट कथन

किया है। यह मत सोचना कि ज्ञान-प्राप्त करने के लिये, उपदेश देने के लिये कहीं से मुझे सीखना पड़ेगा। बिल्कुल नहीं। ज्ञानीजीव अशुभ से बचने के लिये स्वाध्याय करे, तो अपने आप ज्ञानी बन जायेगा। सीखना तो व्यापार के लिये पड़ता है। साधना के लिये सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, साधक तो सीख जाता है। कुछ ऐसे साधक हैं जिन्होंने स्कूल-कालेज के चेहरे नहीं देखे। सुपार्श्वमती माता, ज्ञानमति माता जी आदि की कितनी विशाल प्रज्ञा है।

भो ज्ञानी! संयम के प्रभाव से क्षयोपशम अपने आप दौड़ता है। इसलिये क्षयोपशम का फल तुम राग में मत लगा देना, द्वेष में मत लगा देना। क्षयोपशम का उपयोग तुम चारित्र में लगा दो। क्षयोपशम यानि विवेक -बुद्धि, समझने की क्षमता। हे ज्ञानी! मैं एक हूँ, ऐसा तुमने सीख लिया, तो शुद्ध-बुद्ध तेरी मुट्ठी में है। शुद्ध-बुद्ध बनने में देर नहीं लगती, एक होने में बहुत देर लगती है। एक हो गया, आठ कर्मों से अलग हो गया, तो शुद्धबुद्ध बन गया। मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ। ज्ञान-दर्शन मात्र ही मेरा लक्षण है। मैं एक हूँ, शेष जितने दिख रहे हैं, यह सब मेरे से बाह्य पदार्थ हैं। यह पदार्थ मेरे नहीं हैं, क्योंकि गात्र मात्र भी मेरा नहीं है, तो गात्र के संबंधी मेरे कैसे होंगे? यह सब संयोगी लक्षण हैं। इसलिए जो संयोग में गया, सो निज आत्मा से वियोग को प्राप्त हो गया।

भो ज्ञानी! यहाँ जीव के स्वभाव की बात कर रहे हैं। रत्नत्रय का फल ज्ञान-दर्शन स्वभाव में लीन होना है। योगी बैठा-बैठा सोच रहा है कि मैं पर से भिन्न हूँ। संयोग तो संयोग है, संयोग मेरा स्वभावधर्म नहीं है। चारित्र में लवलीन योगी ऐसा चिंतन करता है। अहो! जिसने बाह्य पदार्थ को छोड़ दिया, वो ही तो चारित्रधारी है। कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि अब तो मैं आपको स्वरूप की ओर ले जाना चाहता हूँ। स्वभाव की चर्चा कर रहे हैं, एकत्व भावना। वास्तविकता तो यही है कि अकेले ही है। इस एकलभावी स्वभाव को ही समझने का पुरुषार्थ करना चाहिये। अकेले होने का पुरुषार्थ ही आपको परम उपादेय है। आप तत्त्व की बात भी करते हो तो मिलके करते हो। तत्त्व की बात का अनुराग और मिलनेवालों का राग वो दोनों मिश्र होकर राग को ही बढ़ा रहे हैं।

श्मशान घाट में बैठा योगी चिन्तन कर रहा है। वह स्थान स्वाध्याय के लिये अशुद्ध है, ध्यान के लिये अशुद्ध नहीं है। उसको क्यों चुना? क्योंकि साक्षात् वैराग्य की वस्तु पड़ी हुई है। एक ओर चिता जल रही है, धुआँ निकल रहा है, तो दूसरी ओर चिता को जलाने वाले खड़े हुये हैं। योगी ध्यान में बैठा है। पुद्गल की दशा को। जिसका धुआँ निकल रहा है, वो भी कल तेरे-जैसे था। जो प्रातः मंगलगान के साथ जन्मा था, दोपहर में सिंहासन पर विराजा था और संध्या में धू-धू कर जल चुका है और वह पड़ी है सिर की हड्डी, जिसे सब शीश

झुकाते थे, आज पैरों की ठोकर खा रही है। योगी श्मशान में बैठा ऐसा चिन्तन कर रहा है।

मनीषियो! जब चिता जले, तब योगी का चिन्तन जगे। जब चिता बुझे, तब योगी का चारित्र प्रकट दिखना प्रारंभ होता है। जल गया, बुझ गया, परन्तु क्या जला, क्या बुझा? पुद्गल ने पुद्गल का रूप दिखा दिया। पुद्गल तो पुद्गल में मिल गया। कुछ भी तो नहीं जला। एकत्व भावना भाने वाले सम्यग्ज्ञानी के लक्षण का यह कथन है यहाँ। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि जैसे कोई नाली वृक्ष क चारों ओर पानी से भरी बहती है, ऐसे ही भो चेतन! इस कलेवर यानि देहरूपी इस वृक्ष के चारों ओर कर्मों की नाली बह रही है। वृक्ष जिससे हरा-भरा रहे, सो पानी बार-बार सींच रही है। तुम क्या कह रहे हो? महाराज! ऐसा आशीर्वाद दे दो, जिससे विभूति मिल जाये। नहीं ज्ञानी! ऐसा कहो कि महाराज! ऐसा आशीर्वाद दो जिससे नंगे हो जायें, सब नष्ट हो जाये। परन्तु तू क्या मांग रहा है? संसार-देह के इस वृक्ष को बढ़ाने के लिये तू कर्मों के पानी को माँग रहा है।

भो ज्ञानी! सुनने का विषय यहाँ नहीं चल रहा है, यह सब प्रयोग का विषय चल रहा है। इसलिये सब छुड़ाया है, क्योंकि कुछ रहेगा, तब तक ममत्व रहेगा और ममत्व रखने वाला ऐसा चिन्तन नहीं कर सकता। करेगा तो ढोंग ही होगा। उसे मोक्षमार्ग झूठा लगेगा, क्योंकि प्रयोग में है ही नहीं। अरे! एक क्षण को भावों से ही मुनि बनके देख लो। अनुभव करो। कुछ नहीं है तेरा। पर यह ध्यान रखना कि चिन्तन को बैठो तो भव्य भवन, मंदिर, तीर्थ इन सबसे भी शून्य होना पड़ेगा। भो ज्ञानी! पोथी भी मोक्ष नहीं देगी। पिच्छि-कमंडलु इन सब से रहित अवस्था होगी वो तेरी शुद्धदशा। जब पिच्छि-कमंडलु के राग को छोड़ने की बात कही जाय, तो भो ज्ञानी! अन्य आडम्बरों के राग के लिये कैसे कहा जायेगा कि इन्हें स्वीकार कर लो? परन्तु छोड़के नहीं बैठ जाना। जब तू निज में जायेगा, तो वे अपने में पड़े रहेंगे और तू अपने में रहेगा, नहीं तो कोई ऐसी अज्ञानता में चला जाय कि छोड़ो पिच्छि-कमंडलु, हम यह बैठे हैं। जब तू शुद्धोपयोग में जायेगा, तो क्या पिच्छि कमंडलु के अंदर में बैठके? नहीं। वहाँ पिच्छि-कमंडलु से भी तू रहित ही होगा। पिच्छि मेरा आलम्बन है प्राणीरक्षा के लिये। जब मैं निज की रक्षा में लीन हूँ, मेरे से बड़ा प्राणी संसार में कौन होगा? जब मैं अपनी रक्षा से बाहर आ जाऊँगा, तो फिर मैं तेरा उपयोग करूँगा पर की रक्षा के लिये। मेरी रक्षा तो मेरे में ही है। ऐसी दशा जिस दिन बन जायेगी, उस दिन का आनंद क्या होगा, बताया नहीं जा सकता। पर ध्यान रखना, बाहर नहीं है, वो तो गूँगे की मिठाई है। गूँगे की मिठाई गूँगा ही जानता है। मुंडी हिला सकता है, पर मुँह से नहीं कह सकता। ऐसी इस आत्मा की अनुभूति है, आनंद है। यहाँ तो मुंडी भी नहीं हिलेगी। इसलिये आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि

जो तीनों काल में उपाधिरहित, स्वभाव से युक्त, निरावरण, ज्ञानदर्शन लक्षण से लक्षित, कारण-परमात्मा है, ऐसा योगी इतने आडम्बरों से परे है। भो ज्ञानी! इतनी दशा जब तक नहीं आयेगी, तब तक कारण-परमात्मा नहीं है। अच्छी तरह से समझना। कारण-परमात्मा कितनी ऊँचाइयों पर पहुँच गया? शुभ-अशुभ कर्म के संयोग से अंतरंग-बहिरंग जो परिग्रह है, सो यह हमारे स्वरूप से तो बाह्य ही है। ऐसा मेरे अन्दर निश्चय हो चुका है। इतना दृढ़ निश्चय कर लो कि यह मेरे नहीं हैं। भो ज्ञानी! मन उठ गया, तो सब उठ गया।

अथ मम परमात्मा शाश्चतःकश्चिदेकः
सहजपरमचिच्चिन्तामणिर्नित्यशुद्धः।
निरवधि निज दिव्यज्ञानदृग्भ्यां समृद्धः
किमिह बहुविकल्पे मे फलं बाह्यभावैः॥ कलश 138॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि मेरा परमात्मा शाश्वत है, सहज, परम चित्-चिंतामणि से युक्त, नित्य शुद्ध है। मैं अब बाह्य फलों की आकांक्षा नहीं करता हूँ। अब तो मुझे अपने निज परमात्मा का ज्ञान हो चुका है। निज परमात्मा का भान हो चुका है। मैं अब संपूर्ण प्रपंचों से रहित होकर उसी निज परमात्मा में लीन हो रहा हूँ, उसीकी भक्ति कर रहा हूँ। क्योंकि जब तक संयोग लक्षण रहेंगे, तब तक वियोग होंगे और वियोग होंगे तो बन्ध भी होगा।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : आत्मगत दोषों से मुक्त होने का उपया

गाथा : **जं किंचि मे दुच्चरित्तं, सव्वं तिविहेण वोसरे।**
सामाइयं तु तिविहं, करेमि सव्वं णिरायारं॥ 103 ॥

संस्कृत छाया : **यत्किंचिन्मे दुश्चरित्रं सर्वं त्रिविधेन विसृजामि।**
सामायिकं तु त्रिविधं करोमि सर्वं निराकारम्॥ 103॥

अन्वयार्थ : (यत्किंचित् मे चरित्रं) जो किंचित् भी मेरा दुश्चरित्र है (सर्वं त्रिविधेनव्युत्सृजामि) उस सभी को मैं मन वचन काय से छोड़ता हूँ (तु त्रिविधं सामायिकं) और त्रिविध सामायिक चारित्र को (सर्वं निराकारं करोमि) सभी का निराकार करता हूँ।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा के एकत्व-विभक्त स्वरूप का कथन किया और संकेत दिया कि इस लोक में जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मृत्यु को प्राप्त हेाता है, धर्मपुरुषार्थ करके अकेला ही मुक्ति को प्राप्त होता है। यह साधना मुक्ति और भुक्ति दोनों को प्रदान करने वाली है। जिनशासन में भगवान जिनेन्द्र की आराधना, आत्मसाधना मुक्ति को प्रदान कराती है और भुक्ति को भी प्रदान कराती है। चरमशरीरी के लिये मुक्ति का कारण है, अचरम शरीरी के लिये भुक्ति का कारण है। परन्तु साधना कभी विफल नहीं जाती है। जिस जीव ने साधना की हो और अभी उसकी पर्याय अवशेष है, तो उससे साधना का फल विफल नहीं हो जायेगा। उसे अभ्युदय सुख की प्राप्ति होगी, यानि भुक्ति की प्राप्ति होगी। प्रचुर भोगसामग्री मिलेगी, स्वर्ग में जायेगा, भुक्ति तो मिल रही है और चरमशरीरी के लिये वही साधना मुक्ति का कारण है।

भो ज्ञानी! शलाका पुरुषों के लिये वह मुक्ति का भी कारण बन रही है। शलाका पुरुष वो ही हैं, जिन्होंने पूर्व में साधना की है। सामान्य नहीं, उत्कृष्ट साधना की है, पर किंचित् न्यूनता रही। नारायण आदि जो हुये हैं, यह सब पूर्व की पर्याय में महामुनि थे, परन्तु निदान-बंध कर लिया, जिसके कारण गुणस्थान गिर गया, तो स्वर्ग आदि विभूतियों पर ही रह गये। यदि निदान-बंध नहीं किया होता, तो ऐसी उत्कृष्ट साधना करनेवाला जीव सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता।

अहो! योगी विचार करता है, कि उज्जवल जिनशासन को प्राप्त करके निर्ग्रन्थ दशा को प्राप्त किया है, उज्जवल वेश को प्राप्त किया है। लोग धर्म को खोजते हैं और मुझे वो प्राप्त

हुआ है। लोग मुनि के आने की चर्चा सुनकर प्रसन्नचित्त हो जाते हैं और सोचते हैं कि बस, अब तो हमारे लिये धर्म मिल गया। धर्म-धर्मात्माओं की खोज आप करते रहते हो तो कितनी आस्था, कितनी श्रद्धा होती है। हम दौ सौ किलोमीटर से भी अधिक दूर महाराज के दर्शन करने जाते हैं क्योंकि यह वेश अरहन्तदेव का है। पहले कहीं वर्षों में एकाध मुनि के दर्शन होते थे। तब तड़पते थे कि कहीं महाराज के दर्शन हो जायें। उस वेश के प्रति कितनी आस्था, कितनी श्रद्धा। ऐसे उज्जवल वेश को प्राप्त करके, संयम को स्वीकार करके भी खोटे भाव आए, तो योगी सोचता है कि अहो, कौन-से खोटे कर्म का द्रव्य रखा है कि ऐसे उज्जवल वेश को प्राप्त करके ऐसे कुभाव मेंरे अन्दर उत्पन्न हो गए? हे प्रभु! मैं उन कुभावों का भी त्याग करता हूँ। मैं स्वभाव की ओर गमन करता हूँ और शुद्ध भाव में लीन होता हूँ। ऐसा चिन्तवन करे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 103 में कथन कर रहे हैं।

योगी चिन्तन कर रहा है। जो कुछ भी, किंचित् मात्र भी मेरे अंदर दुश्चारित्र है, उसको मैं मन-वचन-काय से छोड़ता हूँ। ऐसा नहीं है कि अब मैं क्या करूँ, कर्म का उदय है। कर्म का उदय और संस्कार, यह दो शब्द शिथिलाचार के जनक हैं। कर्म का उदय और संस्कार को कह करके आप अपनी साधना से बरी मत होना। कर्म का उदय आप कहेंगे, लेकिन जान करके आप ऐसे काम कर रहे हो, जहाँ च्युत होने के पूरे उपाय रखे हुये हैं। विषमलिंगी के साथ तुम्हारा वास चल रहा है। असंयम की वस्तुओं के प्रति तुम्हारा ललक भाव जग रहा है।

भो ज्ञानी! जिनशासन में पिच्छी-कमंडलु और जिनवाणी यह तीन उपकरण जैनसाधु के लिये कहे हैं। चौथे उपकरण की आगम में कोई व्यवस्था नहीं है। इनके अलावा, असंयम भाव की वृद्धि हो, ऐसी वस्तुओं के प्रति तुम्हारी भावना जाग्रत हो रही है और आप संयोगों को भी जोड़ रहे हो, इससे परिणाम क्या होगा? अब आप किसको दोष देना चाहते हो? दोष आपका ही है। साधक नहीं चाहता है कि दुनियाँ हमसे जुड़े। साधक की दृष्टि यदि हो भी, तो भी, ज्ञानी! तुम धर्म से जुड़ो, हमसे मत जुड़ो। हमारे माध्यम से आप यहाँ आ रहे हो, यह ठीक है, लेकिन हमसे मत जुड़ना, धर्म से ही जुड़ना, क्योंकि मोक्षमार्ग ऐसा ही कथन करता है। राग-मार्ग भक्तों की बात का कथन करता है। संसारमार्ग, नीतिमार्ग आपसे जुड़ने-जुड़ाने की बात करेगा लेकिन मोक्षमार्ग कहेगा कि नहीं, हमसे नहीं, साधना से जुड़ना। 'नियमसार' में मात्र दो का ही कथन है। मार्ग और मार्ग का फल। मार्ग रत्नत्रय है और मार्ग का फल मोक्ष है। उसके बीच में धर्म-धर्मात्मा मिल रहे हैं, यह तीसरी भूमिका है। पर उसमें भी आप मार्ग और मार्ग का फल के लक्ष्य को ही लेकर चलना।

भो ज्ञानी! हम रास्ते में चलते हैं तो घर जैसी व्यवस्थायें नहीं बन सकती हैं। जीवन में तीर्थवंदना में करोड़पति भी कभी-कभी एक-एक रोटी को तरस जाता है। यात्रा और साधना के लिये सुख-साधन नहीं चाहिये पड़ते हैं। सुख में साधना जीवित नहीं रह पाती है। कुन्दकुन्द देव का, बड़ा गहरा चिन्तन है। जब तू साधना में जियेगा तो साधना के साधन तो सहज रहते हैं, पर सुविधाओं के साधन जुटाने पड़ते हैं। भोजन नहीं मिला आपको, यही तो साधना थी। बस, समता और बना लेते, हो गई साधना। सुखों के साधन नहीं मिले, उनमें साम्यभाव बनाके चलना, इसी का नाम है साधना। सुखों के साधन, आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं बन पा रही है, उसमें साम्यभाव रखना, यही है तेरी निर्मल साधना।

भो ज्ञानी! जब आप यात्रा को निकलते हो तो अनेक साधन-सामग्री नहीं मिलती, पर आप कितनी सहजता में बोल देते हो कि ठीक है, परदेश ही तो है। ऐसे ही त्यागी! तेरा पूरा जीवन यात्रा का है। हर नगर तेरे लिये नया है। हर श्रावक आपके लिये नये हैं। आपकी आवश्यकतायें पूरी हों या न हों पर आपके आवश्यक पूरे हों। क्योंकि साधु की दृष्टि आवश्यकताओं की पूर्ति पर नहीं होती है, अपने आवश्यक की पूर्ति पर दृष्टि होती है कि मेरे आवश्यकों में कमी नहीं आये। इतनी सहजता जब आयेगी, भो चेतन! तब तू साधना के मार्ग पर चल पायेगा। इसलिये यहाँ सुविधा की बात नहीं साधन की बात है।

भो ज्ञानी! आगम में पिच्छि कमंडलु को उपकरण कहा है, जबकि परिग्रह है, क्योंकि वह भी तो परद्रव्य है, फिर भी उपकरण कहा। जो आत्मसाधक की साधना में उपकार करे, उसका नाम उपकरण है। साधना में सहकारी नहीं है तो वह भी उपकरण नहीं है। आपकी आँखों की रक्षा के लिये पलक, भौह, बारुणी तीन-तीन उपकरण दिये हैं। नेत्र का नाम है अक्ष और आत्मा का नाम है अक्ष। जिससे अक्ष की रक्षा हो, उसका नाम है उपकरण। जिससे मेरी आत्मा की कर्मों से रक्षा हो, वह है उपकरण।

मनीषियो! अब बताओ, साधना के लिये कहाँ जाना होगा आपको? 'समाधिशतक' में पूज्यपाद स्वामी लिख रहे हैं, एक कहता है कि मैं तो जंगल में ही साधना करूँगा, दूसरा कहता है कि मैं नगर में ही करूँगा साधना। भो चेतन! आयुकर्म अल्प है और तूने स्थान की खोज में ही पूरी आयु के निषेक समाप्त कर दिये, तो तू साधना कब करेगा? तू तो ग्राम, अरण्य इनके विकल्पों में जी रहा है, अतः अनात्मदर्शी है। आत्मदर्शी को तो जहाँ जितना समय मिलता है, उतना अपने में लगा लेता है। कई गृहस्थ अंतरंग में धर्म से इतने भींगे होते हैं कि उनको जरा-सा समय मिलता है तो जाप कर लेते हैं। ऐसे आत्मदर्शी जीव समय की रक्षा करते हैं।

भो ज्ञानी! योगी कहता है कि मैं त्रिविध सामायिक-चारित्र को निरतिचार करता हूँ। सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार-विशुद्धि, इन नाम वाले तीन भेद से चारित्र तीन प्रकार का है। आचार्यमहाराज ने सप्तम गुणस्थान के दो भेद कर दिये। सातिशय अप्रमत्त और निरतिशय अप्रमत्त। छठवें गुणस्थान का नाम है प्रमत्त, लेकिन ध्यान रखना, यह अंतदीप है। प्रथम गुणस्थान से लेकर छठवे गुणस्थान तक प्रमत्त ही है। सप्तम गुणस्थान से जो आगे-आगे है, अप्रमत्त ही है। अब तीन प्रकार की सामायिक मैं कर रहा हूँ सभी प्रकार से निर्विकल्प होकर। यानि ज्ञान सविकल्प होता है, दर्शन निर्विकल्प होता है। ज्ञान स्व-परग्राही होता है, दर्शन आत्मग्राही होता है। जितने विकल्प आते हैं, ज्ञान में आते हैं। दर्शन अपने आप में निर्विकल्प होता है।

भो चेतन! दर्शन की व्याख्या बहुत गहरी है। ज्ञान के पहले जो सामान्य सत्ता का अवलोकन होता है, वो दर्शन कहलाता है। वह दर्शन जब और गहरे में जाता है, तब वह निर्विकल्प सत्ता की ओर जाता है। जब वो दर्शन निर्विकल्प में जाता है, मात्र मैं ही को ग्रहण कर रहा है, तब निर्विकल्प दशा है। जहाँ मैं और तू आ जाता है, वो सविकल्प दशा है। सोऽहम् जब तक है, तब तक विकल्प है। जहाँ सभी समाप्त हो जाता है, अहं मात्र रह जाता है, वो निर्विकल्प है। क्योंकि सो में परतत्त्व बैठा हुआ है और अहं में ये परतत्त्व नहीं है, मात्र मैं हूँ। यहाँ अहं से आप अहंकार मत लेना। सोऽहं में हमें सिद्ध दिख रहे हैं बीच में, कि प्रभु! मैं वह हूँ, जो आप हैं। तो उसमें दो हैं, द्वैतभाव है और अहं में एकत्व है। यह द्रव्यानुयोग की गहराइयाँ हैं।

भो ज्ञानी! यह पूरी व्यवस्था यति की चल रही है। साथ में जो तीन भेद किये थे, सातवें, आठवें और आगे तेरहवें-चौदहवें तक जाना। यह ज्ञान स्व-परग्राही है, वह सदा रहेगा। अरहन्त देव यद्यपि आत्मग्राही दृष्टि से हैं, पर ज्ञानदृष्टि से उनके ज्ञान में लोकालोक झलक रहा है, इसलिये वह भी स्व-परग्राही हैं। अरहन्तदेव के अंदर विकल्प नहीं है। निज का निज में रमण कर रहे हैं, यह ज्ञान की विशुद्धता है, ज्ञान की स्वच्छता है। उनके ज्ञान में चराचर झलक रहा है, परन्तु रागदृष्टि से वह किसी को जानते नहीं हैं, वह किसी को देखते नहीं हैं। इसलिये वो आत्मग्राही हैं। परन्तु उनके ज्ञान की निर्मलता से विश्व झलकता है। इसलिये वो सर्वज्ञ हैं। उनका ज्ञान स्व-परग्राही ही है। क्योंकि ज्ञान की परिभाषा में ज्ञान परग्राही या अपरग्राही नहीं होता है। ज्ञान की परिभाषा परग्राही कर दोगे तो आप जैन नहीं रहोगे।

भो ज्ञानी! आप भी भटकते भगवान् हो। भविष्य में कभी बन जाओगे। मारीचि भगवान् तीर्थंकर बनके चले गये, लेकिन मारिचि जिस दर्शन के द्वारा लोगों को भटका गये थे, वह

दर्शन आज भी चल रहा है। इसलिये तुम तो किसी भव में सुधरके चले जाओगे, पर किसी को भटका कर मत जाना। यह वक्ताओं को भी ध्यान रखना चाहिये। तू तो सुलट जायेगा, क्योंकि द्रव्यभूमिका तो वही है। किसी भव में तू सुधर जायेगा, क्योंकि तेरे संस्कार जिनवाणी के हैं, पर जिनको तूने भटकाया है, वह भटक जायेंगे तो उनकी दुर्गति हो जायेगी।

भो ज्ञानी! जैसे दीपक को कमरे से उठाकर लाने के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसी तरह हमारा ज्ञान परग्राही नहीं, स्व-परग्राही है। अरहंतदेव का ज्ञान स्व-परग्राही है। निर्विकल्प वेदन जो हो रहा है, वह स्वात्मानुभूति हो रही है। आत्मानुभूति ज्ञान का विषय है। निर्विकल्प से तात्पर्य अज्ञानी बनना नहीं है। निर्विकल्प का तात्पर्य बाह्य विकल्पों से शान्त होना है। आत्मा की शून्य दशा तो है, पर शून्यवाद नहीं है। आचार्य योगीन्दुदेव स्वामी ने 'परमात्म प्रकाश' में शून्यध्यान का कथन किया। तारण-तरण स्वामी ने भी शून्यध्यान का कथन किया है। दोनों ग्रन्थकर्ताओं का उद्देश्य जड़/शून्य ध्यान की बातें नहीं है। आगम में शून्यध्यान की चर्चा निश्चय-व्यवहार दोनों से है।

'ओंकारं बिन्दु संयुक्तं'

अहो! जब व्यवहारदृष्टि से हम शून्य को देखेंगे, तो ॐ के ऊपर जो बिन्दु है, वह चन्द्राकार पर रखा हुआ है। वो बिन्दु कह रहा है कि जब संसार के संपूर्ण कर्मों का नीर सूख जाता हैं, तो यह आत्मा बिन्दु के रूप में आती है। शून्य क्यों कहा आत्मा को? क्योंकि सिद्धात्मा शून्य हैं, कर्मों से रहित हैं। इसलिये आत्मा को 'ॐकारं बिन्दु संयुक्तम्' कहा। जब निश्चयदृष्टि से देखते हैं, तो भो ज्ञानी! मेरा आत्मा संपूर्ण विकल्पों से मुक्त है, इसलिये यह शून्य ध्यान है। आगम में निर्गुण ध्यान का भी कथन किया है। निर्गुण ध्यान से तात्पर्य पर गुणों से रहित, निज गुणों में लीन होना ही निर्गुणी है।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन में ध्यान मूल-विद्या है। दुनियाँ के लोग जहाँ ध्यान नहीं है, धैर्य नहीं है, वहाँ ध्यान की कल्पना कर रहे हैं। आप लोग क्रियाओं में इतने उलझ चुके हो कि ध्यान की क्रिया को खो रहे हो। जैसे जन्मान्ध भास्कर को नहीं देख सकता, ऐसे ही ध्यान से रहित योगी निज आत्मा को नहीं देख सकता। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि सम्यक्त्व है, तो उपकरण उपकारी है। यदि सम्यक्त्व नहीं है, तो कोई भी उपकरण उपकारी नहीं है। सर्वघाती प्रकृति अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इनका उदयाभावी क्षय इन्हीं का सद्वस्था रूप उपशम देशघाती प्रकृति का उदय से जो अवस्था है, वो क्षयोपशम-सम्यक्त्व की दशा है।

भो ज्ञानी! पंचमकाल में क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन के लिये केवली या श्रुतकेवली का पादमूल चाहिये, वो आपके पास नहीं है। इसलिये पंचमकाल में दो सम्यक्त्व हैं, उपशम अथवा क्षयोपशम। एक बार उपशम सबने प्राप्त कर लिया। जीवन में पुनः उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करेगा तो भो ज्ञानी! वो द्वितीय उपशम सम्यक्त्व है। सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव को जो उपशम सम्यक्त्व होगा, वह द्वितीय उपशम सम्यक्त्व कहलायेगा। और एक ही पर्याय में एक ही भव में बार-बार उपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर पायेगा। जब भी अनादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, उपशम या क्षयोपशम पूर्वक क्षयोपशम सम्यक्त्व में होगा, परन्तु कोई जीव उपशम को छोड़कर पुनः-पुनः उपशम में नहीं आयेगा। इतनी विशुद्धि बने तो उसी भव में दो बार या तीन बार भी हो सकता है क्षयोपशम सम्यक्त्व।

अब जिस जीव ने सप्तम नरक की आयु का बंध कर लिया और फिर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, तो जीवन भर वो क्षयोपशम सम्यक्त्व में रहेगा। जब उसकी मृत्यु का काल आयेगा, उसका सम्यक्त्व छूट जायेगा, फिर वो नरक में जाके उत्पन्न हो जायेगा। अंतर्मुहूर्त बाद वहाँ पर वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेगा, फिर वो वहाँ से निकलने लगेगा तो अंतर्मुहूर्त पहले उसका सम्यक्त्व छूट जायेगा और नियम से क्रूर परिणामी तिर्यंच सिंह आदि पर्यायों को प्राप्त करेगा। वहाँ पर पहुँचकर पुनः अपनी सीमा में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेगा। सम्यक्त्वपूर्ण रहा, तो वह जीव नियम से स्वर्ग में जायेगा, क्योंकि तिर्यंच से सम्यग्दृष्टि मनुष्य तो बनेगा नहीं, तिर्यंच से तिर्यंच बनेगा नहीं, स्वर्ग में देव होगा। बारहवें स्वर्ग तक जा सकता है। लेकिन सप्तम नरक का निकला जीव मुनि नहीं बन सकता, देशव्रती नहीं बन सकता। ध्यान रखना, सप्तम नरक से निकला जीव मनुष्य तो बन सकता है, सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, पर देशसंयम प्राप्त नहीं कर सकता है। इस प्रकार से समझना। राजा श्रेणिक का क्षायिक सम्यक्त्व था। जिस जीव ने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, वह प्रथम नरक के नीचे कभी नहीं जायेगा। राजा श्रेणिक ने नरकायु का बंध कर लिया था, इसलिये प्रथम नरक तो जाना पड़ा, परन्तु सम्यक्त्व सहित ही गया है, सम्यक्त्व सहित ही रहेगा और सम्यक्त्व सहित ही वापस आयेगा, क्योंकि वो जीव मिथ्यात्व में नहीं जायेगा। क्योंकि उसने कर्मों की सात प्रकृतियों की क्षपणा कर दी है। यदि वो जीव नरकायु का बंध नहीं किये होता, तो कभी भी नरक नहीं जाता। लेकिन फिर भी दशा देखना, क्षायिक सम्यक्त्व है। कर्मसिद्धान्त कह रहा है कि जो व्यवस्था है, उसको क्षायिक सम्यक्त्व भी नहीं टाल पाया। इसलिये भैया! सबकी रक्षा करना, सबके बीच में रहना, हिलमिलके रहना, परन्तु सबसे भिन्न रहना। इतने मत हिल-मिल जाना कि आगे फिर मिलना पड़े।

भो ज्ञानी! मिलना तो वहीं, जहाँ मिलने के भाव न बनते हों। कहाँ? सिद्धालय में। देखो, धर्म-धर्मात्मा के प्रति निदान-बंध मत कर लेना। यह ध्यान रखना कि फिर से नहीं मिलेंगे हम आपसे निदानबंध यदि किया तो संसार कब छोड़ोगे? इसलिये यह विचार करना, प्रभु! जब-तक संसार नहीं छूटता है, तब तक धर्म में लीन रहूँ। ऐसी भावना तो भाना, परन्तु ऐसी भावना मत भा बैठना कि भगवन्! मैं संसार में धर्मात्माओं से मिलता रहूँ। मैं जब तक संसारी हूँ, तब तक धर्मात्माओं के बीच में रहूँगा। कितनी पर्यायों तक रहेगा?

भो ज्ञानी! उपकारी के उपकार की भी सीमा है। उपकार को मानके चलना बहुत अच्छी बात है, परन्तु उपकारी के उपकार को तब तक मानना, जब तक तुम सरागता में जी रहे हो। उपकारी के उपकार के पीछे वीतराग दशा से मत चूक जाना। उपकारी के उपकार में लीन होकर निज का अपकार मत कर बैठना। यदि किसी जीव ने आपको तत्त्वज्ञान दिया है, यह जीव कहे कि इस प्रकार की आराधना करना, ऐसा करना, सरागता से मोक्ष है, तो अरे! अज्ञान से तो निकाल दिया, पर सरागता में पटक दिया। भैया! उपकारी के उपकार को मानना, लेकिन उपकारी व्यक्ति को संभलके समझना, उसकी भी सीमा है।

भो ज्ञानी! दीपक ने ज्योति दी, प्रकाश दिया, सामग्री दिखा दी, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दीपक ने सामग्री दिखाई है, अतः हाथ में लेके चलेंगे या जेब में रख लें। अन्यथा वो ऐसा मार्ग दिखायेगा कि तुम्हीं नहीं बचोगे। इसलिये उपकारी के उपकार को तो मानना, पर ऐसा उपकार नहीं मानना कि हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जाये। पंचपरमेष्ठी, गुरुदेव हमारे परम उपकारी हैं, परन्तु फिर भी जिनवाणी कह रही है कि परगत तत्त्व हैं। जबतक स्व में लीन नहीं है, तब तक उनकी आराधना करना, उपकार मानना। जब तू स्वर्ग में चला जायेगा, तो उस भाव का, उसका ही भान समाप्त हो जायेगा। बड़ा निर्मल दर्शन है जैनदर्शन।

भो ज्ञानी! मध्यकाल में मुनिराज तो बचे थे, पर मुनिवेश नहीं बचा था। कपड़े पहन लिये थे, पर उनसे यह तो पता रहा कि मुनिराज होते हैं। कुल मिलाकर उनका उपकार इतना मान लेना कि उन्होंने जैन संस्कृति की रक्षा की, धर्मायतनों की रक्षा की, तीर्थों की रक्षा की। उनको आप मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकते। समन्तभद्र स्वामी ने जब भस्मक व्याधि के काल में वेश बदला था, आप उन्हें सम्यग्दृष्टि मानोगे कि मिथ्यादृष्टि? भो ज्ञानी! भूल मत कर जाना, वे सम्यग्दृष्टि थे। उस जीव ने वेश बदला था, पर भावों को नहीं बदला था। श्रद्धान दृढ़ था, इसलिये बाहरी वातावरण को देख करके तुम भावों पर अँगुली मत उठा देना।

भो चेतन! क्या करूँ मैं? निर्मल-से-निर्मल भावों में भी बिडम्बना आ जाती है। प्रभु! मैं काल को दोष दूँ, कि भावों को दोष हूँ, कि संयम को दोष दूँ, कि पुरुषार्थ को दोष

दूँ? किसे दोष दूँ? अरे ज्ञानी! काल को दोष मत दे, अपनी काली करतूत को दोष दे, तेरे पुरुषार्थ में कमी है। पंचमकाल तो कुन्दकुन्द स्वामी के लिये भी था, समंतभद्र स्वामी के लिये भी था। यह काल का दोष नहीं, मेरे पुरुषार्थ का ही दोष है। जब भोगों के लिये काल निर्मल चल रहा है, तो योग के लिये काल निर्मल ही मान। भो ज्ञानी! कर्मोदय तब कहना, जब पुरुषार्थ प्रबल कर रहा है, फिर भी पुरुषार्थ असफल हो रहा है, तब कर्मोदय कहना। और पुरुषार्थ करने के पहले कह दिया तो तेरा काम कभी नहीं बनेगा। भोगों के सायों में तुम पुरुषार्थ पूरा करते हो। यहाँ पहले से ही शुरू कर देते हो कि महाराजश्री! वो काल है और कर्मोदय है, क्या करूँ? ऐसा नहीं है। बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करने पर जब पुरुषार्थ काम न कर पाये, तब कर्मोदय कहना।जब तुमने बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ किया नहीं, इसके पहले ही कर्मोदय लगा दोगे, तो आप एकान्त-मिथ्यादृष्टि कहलाओगे, पुरुषार्थहीन हो जाओगे। काललब्धि होनहार पुरुषार्थ का कभी निषेध नहीं करते। काललब्धि होनहार कभी यह नहीं कहते कि पुरुषार्थ मत करो। वो तो यह कहता है कि पुरुषार्थ करो, कार्य समय पर होगा। किसान आषाढ़ में बीज बोता है, पर फसल कार्तिक में ही आयेगी। यह आपकी काललब्धि है। ऐसा नहीं है कि आप आज बोयें नहीं और खेत में कार्तिक में काटने को पहुँच जाएँ।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा संख्या 103 में तीन प्रकार की सामायिक की चर्चा की। वह सामायिक-चारित्र की अपेक्षा कथन है। श्रावक को मुनि बनने की जिससे शिक्षा प्राप्त हो, उस व्रत का नाम शिक्षाव्रत है। मुनिराज जो सामायिक करते हैं तीन समय, वह उनकी त्रैकालिक देववंदना कहलाती है। श्रावक की तीन समय की सामायिक तो सामायिक-शिक्षाव्रत कहलाती है। सामायिक तो साधु के चौबीस घंटे है। आर्त्त-रौद्रध्यान का नहीं होने देना, प्राणीमात्र के प्रति साम्यभाव का होना और छः प्रकार की सामायिक की चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, नाम, स्थापना। संपूर्ण द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष का उद्भव नहीं होना, वो सामायिक-चारित्र है।

भो ज्ञानी! यदि किंचित् कदाचित् सामायिक-चारित्र में दोष लगता है, तो फिर प्रतिक्रमण होता है। हे भगवन्! मेरे संयम में जो दोष लगा है, छेद हुआ है, मैं पुनः उपस्थित होता हूँ। भो ज्ञानी! आप संयम को कैसे पहचानेंगे? क्या छठवें गुणस्थान को आप आँख से निहारोगे? इसलिये यह पिच्छि-कमंडलु से युक्त जो जीव है, उसे देखकर कि यही संयमी है। हम वेश देखकर यह समझ रहे हैं कि यह संयमीजीव है। पर पिच्छि-कमंडलु आत्मभूत नहीं है, अनात्मभूत है।

भो ज्ञानी! अनेक पदार्थों में से एक पदार्थ जिसके माध्यम से ग्रहण किया जाये, उसे लक्षण कहते हैं। अब आप यह देखेंगे कि इतने सारे लोग बैठे हुए हैं, इनमें से हम दर्शन किसके

करें, तो वहाँ लक्षण क्या कहेगा? अनात्मभूत लक्षण कहेगा कि पिच्छि-कमंडलु सहित नग्न वेशधारी जो हैं, वे मुनिराज होंगे। यह मुनि की परीक्षा अनात्मभूत लक्षण से है। अनात्मभूत लक्षण जब भी घटित होगा, परद्रव्य से ही घटित होगा। आत्मभूत मुनि को अब कैसे पकड़ोगे आप? जो आत्मा मिथ्यात्व आदि भाव से रहित सर्वघाती प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और देशघाती संज्जवलन कषाय के उदय होने पर जिस जीव के परिणाम हों, वह मुनिराज है। यह परिणाम आत्मा में होंगे। परन्तु हम जब मुनि की वंदना करने जायेंगे, तो मुझे आत्मभूत लक्षण मुनि का दिखेगा नहीं। इसलिये भेदोपचार शब्द जोड़ दिया। 28 मूलगुणों का पालक यति। आप कहेंगे कि मैं तो भावलिंगी यति को नमस्कार करता हूँ, जो 28 मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। 28 मूलगुणों का पालन करने वाला, यह भावलिंगी की परिभाषा नहीं है। यह परीक्षा का विषय ही नहीं था और परीक्षा भी तू किससे ले रहा है? 28 मूलगुणों का द्रव्य पालन तो अभव्य द्रव्यलिंगी योगी भी निर्दोष करता है, तभी ग्रैवेयक में जाता है। निर्दोष मुनिचर्या का पालन करने वाला ही ग्रैवेयक में जाता है।

भो ज्ञानी! भावलिंगी मुनि की परीक्षा में मूलगुणों को नहीं लगाना। किसी को तुम झूठा कैसे कह सकते हो? भावों को तुमने देखा नहीं है। आत्मभूत लक्षण जो जानता है, वही बता सकता है कि द्रव्यलिंग है या भावलिंग है। अनात्मभूत में तो 28 मूलगुण आपको देखने ही होंगे, परन्तु उस अनात्मभूत में और भावलिंग की विशेषता देखना। 28 मूलगुणों के निर्दोष पालन में भी द्रव्यलिंग हो सकता है। जिनका चारित्र मुरझाया हुआ है, निर्मल नहीं है, कभी-कभी मूलगुणों में दोष लगा लेते हैं, उत्तर गुणों को पालते ही नहीं है, फिर भी वे भावलिंगी हैं। ऐसे मुनिराज सभी तीर्थंकरों के काल में होते हैं।

भो ज्ञानी! द्रव्यलिंग का तात्पर्य है कि मिथ्यात्व से युक्त संयम का पालन हो रहा है। सम्यक्त्व सहित संयम का पालन हो रहा है वो भावलिंग है। भावलिंग के साथ भी नियम से द्रव्यलिंग ही होता है। सिर्फ भावलिंग होता होगा, ऐसा नहीं है। द्रव्य के साथ ही भावलिंग होता है। परन्तु एक बात का ध्यान रखना, 'द्रव्यलिंगी यानि मिथ्यादृष्टि,' यह कभी मत कह बैठना, नहीं तो काम गड़बड़ हो जायेगा। द्रव्यलिंग यानि वेश, भावलिंग यानि परिणाम। 28 मूलगुणों का पालन भी द्रव्यलिंग है। कषायों का क्षय/क्षयोपशम भावलिंग है। यह ध्यान रखना, बिना द्रव्यलिंग क्षय/क्षयोपशम अलग मत कहना। जीव की शारीरिक असमर्थता है तो आगम तो कहेगा कि आप बिल्कुल स्थिरचित्त होके सामायिक करें। एक सज्जन बोले, महाराज! मैं बैठ नहीं पाऊँगा जमीन पर, चौकी लगा लूँ? उनका ऐक्सीडेन्ट हो गया था, वो जमीन पर बैठ नहीं सकते थे। अब जिनवाणी क्या कहती है? कि जमीन पर बैठकर स्वाध्याय

करना चाहिये। परन्तु आगम कहेगा कि स्वाध्याय मत छोड़ देना। यह आपकी अविनय नहीं है, यह आपके शरीर की असमर्थता है। परन्तु दोष तो है। आप जानके दोष नहीं कर रहे। ऐसे भी हो सकता है कि कोई वृद्ध हो, अस्वस्थ हो, लेटे-लेटे सामायिक कर रहा हो, तो जिनवाणी कहेगी कि तुम्हारा काययोग निर्मल नहीं है। ठीक है। अचानक किसी का शरीर काँपने लगा तो जिनवाणी कहेगी कि आपके काययोग में दोष चल रहा है, फिर भी आप भावलिंगी हो, क्योंकि आप व्रत को छोड़ना नहीं चाह रहे हो।आप व्रत में ही लीन हो। इसलिये भावलिंगी के साथ भी कई कारणों से दोष आ जाते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शरीर हृष्टपुष्ट है और हम कुर्सी पर बैठेंगे। यह आपकी अज्ञानता है।

भो ज्ञानी! युवा साधु के लिये संकेत दिया है कि कोई वृद्ध साधक को देखकर युवा साधु कहे कि यह तो इतने पुराने हो चुके हैं, इतने वृद्ध हैं, जब वह अच्छे से पालन नहीं कर रहे हैं, तो मुझे ही क्यों प्रेरित कर रहे हो? अहो! आप वृद्ध के अनुसार अपने को मत ढ़ालो। उनके शरीर की स्थिति ऐसी है, पर आपका शरीर स्वस्थ है। प्रमाद मत करना। एक साधक ध्यान कर रहा है खड़े होकर। खड़े होकर जो सामायिक की जाती है, उसे आगम में जिन-मुद्रा कहा है, परन्तु दोनों हाथ घुटनों से दूर रहें और लटकते दिखते हो, शरीर से स्पर्श नहीं हो, तनके भी नहीं खड़े होना। यह जिन-मुद्रा है।

जो योगी अंतरंग के भावों से खड़ा हुआ है और शरीर से भी साधना कर रहा है, वह श्रेष्ठ साधक है। बाहर से भी खड़ा है और अंदर से भी खड़ा है। कोई दूसरा बाहर से तो खड़ा है और अंतरंग में भावना है कि लोग हमको अच्छा कहेंगे, अच्छा साधक समझेंगे, इसीलिये अच्छे से खड़े होकर सामायिक कर लो आज। परन्तु परिणाम निर्मल नहीं हैं। शरीर से खड़े हो, लेकिन अन्दर से बैठे हो। जिनका शरीर असमर्थ है, भाव बहुत निर्मल है, पर शरीर कह रहा है कि खड़े होकर पूजा नहीं कर सकते। आपके मंदिर में यदि ऐसी व्यवस्था है कि खड़े होकर पूजा करनी पड़ेगी। मोक्षमार्ग जबरदस्ती का नहीं है। जितनी सामर्थ्य है, उसको छुपाना नहीं। छुपाओगे तो चोर कहलाओगे। ध्यान रखना, जितनी सामर्थ्य है, उतना ही करें और विचारो कि मेरा शरीर भी काम करता होता तो मैं भी खड़ा होके सामायिक करता। पर हमारी असमर्थता है, तो भी उसमें श्रद्धान कर रहा है। श्रद्धान करने वाला जीव अजर-अमर स्थान यानि सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। यह कथन आगम का है। कुछ ऐसे भी जीव हैं, अरे! बारह बज गये, चलो, भैया! अब निपट लो, एकाध माला फेर लो और करनी पड़े तो बोले कि ठीक है, कर लो। बैठ जाओ, लेट जाओ, टिक जाओ, जैसे बने निपटा दो। वे अन्दर से भी बैठे एवं बाहर से भी बैठे हैं। भो ज्ञानी! वह जघन्य साधक है। इसको

आगम में श्रेष्ठ साधना नहीं कहा है।

भो ज्ञानी! अभिप्राय सम्यक् है, तो पूरी साधना समीचीन है। अभिप्राय में सम्यक्पना नहीं है, तो साधना में समीचीनता नहीं है। हम यह देख रहे हैं कि आप स्वाध्याय सुन रहे हो, बिल्कुल व्यवस्थित योग से बैठे हो, अच्छे से सुन रहे हो, धर्मात्मा के रूप में बैठे हो, पर अभिप्राय अच्छा नहीं है। अतः बन्ध तो अभिप्राय करायेगा। जितने अंश में तुम्हारा योग निर्मल है, उतना तुमको बंध भी करायेगा, क्योंकि अच्छे क्षेत्र में बैठा है। शरीर को व्यवस्थित किये बैठा है। काय की चेष्ठा निर्मल है। उसको शुभ आस्रव भी होगा। पर अभिप्राय में खोटा आस्रव ही होगा।

भो ज्ञानी! जब अनात्मभूत दृष्टि से देख रहा है, तो भेद दिख रहा है। पिच्छि-कमंडलु के बिना वेश तो बनेगा नहीं और आप किसी को स्वीकार भी नहीं करोगे। बिना पिच्छि-कमंडलु के कोई मुनिराज होते हैं तो वह अरहंत केवली होते हैं और वो पंचमकाल में होते नहीं हैं। मध्यकाल में ये व्यवस्था आई, निष्पिच्छिका संघ की स्थापना हुई। मिथ्या संघ। उन्होंने क्या किया कि पिच्छि लेना छोड़ दिया। आचार्यों ने डट कर उसका खंडन किया कि बिना पिच्छि के एक साधक सात कदम से आगे नहीं चल सकता। जिसने मुनि, आर्यिका, ऐलक दीक्षा ली हो, वह बिना पिच्छि के बढ़ नहीं सकते। एक कदम भी नहीं रख सकते। फिर आप बिना पिच्छि के कैसे रह सकते हो? क्षुल्लक की पिच्छि खराब हो जाये, तो वह मुलायम वस्त्र का उपयोग कर सकते हैं, परन्तु ऐलक जी का नहीं चलेगा। क्षुल्लक जी वाहन द्वारा गमन भी कर सकते हैं।

भो ज्ञानी! आपने श्रावण पूर्णिमा (रक्षाबंधन) की कथा पढ़ी होगी। क्षुल्लक जी ने रात्रि में गमन किया था। वो महाव्रतियों की रक्षा के लिये गये थे। परन्तु यह भी अपवाद मार्ग है, राजमार्ग नहीं है। मुनिचर्या में यह विषमता नहीं होगी। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के पांच नामों में एक नाम गिद्धपिच्छिकाचार्य भी है। जब वे वैमानिक देव के साथ जा रहे थे, तो पिच्छि गिर गई। वहाँ और कोई पंख नहीं दिखे तो उन्होंने गिद्ध के पड़े हुये पंखों को स्वीकार कर लिया। अपवाद मार्ग, जिससे कि निष्पिच्छिका न चलने लग जाय, क्योंकि निष्पिच्छिका को आगम में मिथ्यापंथ, मिथ्या आम्नाय, मिथ्याधर्म कहा है। वस्त्रादि की पिच्छि और बिना पिच्छि के कोई निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि नहीं होते। परन्तु ध्यान रखना, यदि कोई ब्रह्मचारी, त्यागी, व्रती पिच्छि का उपयोग करे, तो आगम कहेगा कि यह मुनिलिंग का अपवाद है।

भो मनीषियो! शुद्ध वीतरागमार्ग में किसी अन्यथा मार्ग का पोषण नहीं। एक अहिंसा गोष्ठी हो रही थी! एक व्यक्ति भाषण दे रहे थे और चमड़े का बेल्ट पहने थे। भैया! यदि

वीरागता की बात कर रहे हो, तो वेश में यदि कोई आडम्बर है, तो तुम्हारी बात कोई नहीं मानेगा। आँखों देखी बात का ज्यादा असर पड़ता है। यदि आपको जुकाम हो गया है, बार-बार छीक आ रही है, तो आप अभिषेक मत करो, क्योंकि तुम्हारा शरीर अभिषेक के योग्य नहीं है, कायशुद्धि नहीं है। आगम में मात्र मयूरपिच्छि का ही उल्लेख है, अन्य धागे आदि की पिच्छि का दिगम्बर आम्नाय में उल्लेख नहीं है। मयूरपिच्छिका में पांच गुण होते हैं, धागे में वो एक भी गुण नहीं होता है। पसीने को ग्रहण नहीं करती है। मृदुता, सुकोमलता, लाघव अर्थात् हल्की, रज अर्थात् धूल को ग्रहण नहीं करती है। वस्त्र खराब हो जायेगा तो धोना पड़ेगा। पसीना छप जायेगा तो गंध आयेगी। उससे अहिंसा का पालन नहीं हो पायेगा। अतः दिगम्बर आम्नाय में वस्त्रादि की पिच्छि साधुओं को स्वीकार करने का आदेश नहीं है। दिगम्बर साधु वस्त्र के त्यागी होते हैं, फिर पिच्छि को कैसे लेके चलेंगे?

भो ज्ञानी! भेद और उपचार यह व्यवहार चारित्र है। आत्मस्वरूप में लीनता ही निश्चय-चारित्र है। परन्तु वो निश्चयचारित्र तभी होगा, जब व्यवहार से 28 मूलगुणों का निर्दोष पालन होगा। यदि वो नहीं होगा, तो निश्चयचारित्र नहीं होगा। निश्चयचारित्र प्रवृत्ति है, चर्चा नहीं है। व्याख्यान और एक यति की चर्या में इतना ही अंतर है कि एक माँ प्रसूति कर रही है और एक डाक्टर प्रसूति करा रही है। पर वेदना किसे होगी? बस, ज्ञाता का ज्ञान डाक्टर के तुल्य है और साधक की अनुभूति उस प्रसूति करने वाली माँ के तुल्य है। इतना अंतर है।

भो ज्ञानी! एक जीव सल्लेखना संबंधी शास्त्र को जानता है, पर उपयोग से रहित है। सल्लेखना के बाद साधु की पूजा होती है। जहाँ किसी मुनि की समाधि होती है उसे नसिया, निषीधिका कहते हैं। जिस जीव के संस्कार हुये हैं, वह कहाँ गया है मालूम नहीं है, फिर भी वंदना करते हैं। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी की जय हो। यदि उनकी देवपर्याय को देखोगे तो जय/वंदना नहीं कर रहे हैं। हम तो कुन्दकुन्द स्वामी की शुद्ध आत्मा की वंदना कर रहे हैं, जो कि रत्नत्रय धारण करती थी। तो फिर शरीर की पूजा/वंदना क्यों कर रहे? वहाँ आगम फिर उत्तर देता है, कि इस शरीर में वो रत्नत्रय युक्त आत्मा विराज चुकी थी, इसलिये इस देह की वंदना है। सिद्धक्षेत्र की वंदना हम इसलिये करते हैं कि सिद्ध बनने वाली आत्मा यहाँ से निर्वाण को प्राप्त हुई है। जबकि वर्तमान में वहाँ सिद्ध नहीं हैं। पूजा, वंदना रत्नत्रय को लेकर हो रही है, मुर्दे शरीर की नहीं हो रही है। यह रत्नत्रय धर्म की पूजा हो रही है। संयम के संस्कारों से मुनि की संज्ञा दी गई थी, उसी शरीर द्वारा उसका पालन हुआ है, इसलिये उस शरीर की अविनय नहीं की जायेगी।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, 'भगवती आराधना' में लिखा है कि यदि कहीं आप तीर्थवंदना को जा रहे हो, तो उसको विराम देकर जहाँ सल्लेखना हो रही हो, वहाँ पहले जाना। तीर्थ जड़तीर्थ है, और जिसकी जहाँ सल्लेखना हो रही है, वह चेतन तीर्थ है। अन्य तीर्थों में तो फिर भी चले जाओगे, पर चेतनतीर्थ चला जायेगा फिर तुम वंदना नहीं कर पाओगे। भो ज्ञानी! सल्लेखना देखने से आपको उस जीव की परिणति दिखेगी। उसके परिणामों से अपने परिणामों में समाधि की भावना बढ़ेगी। इसलिये समाधि अवश्य देखना चाहिये। निज की समाधि की भावना बढ़ेगी इसलिये समाधि अवश्य देखना चाहिये निज की समाधि के उद्देश्य से।

भो ज्ञानी! आगम में स्पष्ट लिखा है कि ऐसा स्थान क्षपक का बनायें जहाँ कोई अंदर प्रवेश न कर सके, क्योंकि हो सकता है कि तुमने धीरेसे पूछ लिया 'पहचाना, महाराज!' और उसी समय आत्मा निकली, तो वो क्या कहेगी? पहचान लिया? आप ऐसे स्थान पर रखे जहाँ किसी के दर्शन में भी बाधा न हो और क्षपक को भी बाधा न हो। यहाँ तक कि सभी मुनिराजों को उनके पास नहीं बिठाला जाता। सबके अलग-अलग कार्य रहते हैं! भैया! अंतिम दशा यदि निर्मल हो गई, तो समझ लो कि तुम्हारा तत्त्वज्ञान श्रेष्ठ है।

भो ज्ञानी! आगम में लिखा है कि इंद्रियों को स्वस्थ रखना। बोले, महाराज! नई बात बता रहे हो। अभी तो आप कहते थे कि इंद्रियों पर ध्यान मत दो। ज्ञानी! आगम सही कह रहा है कि इंद्रिय स्वस्थ होगी तो जिनवाणी सुन पाओगे, शास्त्र पढ़ पाओगे, हाथ-पैर चलेंगे तो मंदिर जाते रहोगे, ऐसी भावना भाना। परन्तु भोगों के लिये स्वस्थ रहने की बात नहीं की है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : अन्तर्मुख हुये तपोधन की भावशुद्धि का कथन।

गाथा : **सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।**
आसाए वोसरित्ता णं, समाहिं पडिवज्जए॥ 104 ॥

संस्कृत छाया : **साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।**
आशांउत्सृज्य नूनं समाधिः प्रतिपद्यते॥ 104॥

अन्वयार्थ : (मे सर्वभूतेषु साम्यं) मेरा सभी जीवों में समभाव है (मध्यं केनचित् वैरं न) मेरा किसी के साथ वैरभाव नहीं है (नूनं) निश्चितरूप से मैं (आशां उत्सृज्य) आशा को छोड़कर (समाधिः प्रतिपद्यते) समाधि को प्राप्त करता हूँ।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी की नियमसार की गाथा संख्या 103 पर आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी 'प्रवचनसार' की टीका में कह रहे हैं

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य॥ प्र. सार. टीका 12॥

चरण द्रव्य है, कि द्रव्य चरण है? चरण के अभाव में द्रव्य नहीं, द्रव्य के अभाव में चरण नहीं, पर सारा-का-सारा चरण करण की निर्मलता के लिये है। जिस चरण से करण ही बिगड़े, वो चरण नहीं, दुष्चरण हैं। तभी तक चरण 'चरण' हैं, जब तक तुम्हारे परिणामों की निर्मलता बढ़ रही है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कह रहे हैं कि द्रव्य के अनुसार चरण होता है और आचरण के अनुसार द्रव्य होता है। इसलिये परस्पर में दोनों ही यहाँ पर सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं हैं। कोई यों कहे कि बस, द्रव्य ही मोक्ष है। नहीं। चारित्र से मोक्ष होगा, पर वो चारित्र द्रव्य में ही होगा। द्रव्य से रहित चारित्र नहीं और चारित्र से रहित द्रव्य नहीं। इसलिये मुमुक्षु आत्माओ! चाहे आप द्रव्य का आश्रय लें, चाहे चरण का, परन्तु दोनों एकसाथ होंगे। जब योगी निश्चय आत्मस्वरूप में रमण करेगा, तो उसे आप चरण कहेंगे, क्योंकि आत्मचरण ही चरण है। अथवा यों कहें कि निज द्रव्य के आश्रय को लिये बैठे हैं। या तो यों कहें कि यह योगी निज आत्मचरण कर रहा है अथवा निज आत्मद्रव्य का आश्रय लिये है। शब्दभिन्नता है, पर स्वभावभिन्नता नहीं है। निश्चय चारित्र, निश्चय द्रव्य यह दोनों युगपत

ही होते हैं। निज आत्मा में चरण करना ही निश्चय चारित्र है।

भो ज्ञानी! चौदहवें गुणस्थान में चारित्र की पूर्णता है और सिद्ध-अवस्था चारित्र का फल है। चौदहवें गुणस्थान तक स्वरूपाचरण ही होगा, परन्तु वो स्वरूपाचरण क्रमिक वृद्धिमान होता है। जैसा सप्तम गुणस्थान में स्वरूपाचरण है, वैसा ही चौदहवें गुणस्थान में नहीं है। सप्तम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक 'परोक्ष' ज्ञान से स्वरूप में रमण है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में प्रत्यक्ष ज्ञान से स्वरूप में रमण है। बारहवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिक ज्ञान रहेगा। तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में क्षायिक ज्ञान रहेगा। क्षायिक ज्ञान से आत्मा का रमण स्वरूपाचरण है। उसका नाम परमयथाख्यात चारित्र है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में परम यथाख्यात संज्ञा है यानि 18 हजार शील की पूर्णता की ओर जा रहे हैं। यह 'परम' शब्द इसलिये जोड़ दिया कि जो मंदता/हीनता थी, वो सब समाप्त हो चुकी है। उत्कृष्ठ लेश्यास्थान बना है। ऐसे ही चारित्र की उत्कृष्ठ भूमिका है, वो चौदहवाँ गुणस्थान है। क्षायिक सम्यक्त्व जैसा चतुर्थ गुणस्थान में होता है, वैसा अरिहन्तदेव के भी है, परन्तु अरिहन्त की विशुद्धि में अंतर है।

चित्तत्त्वभावनासक्तमतयो यतयो यमम्।
यतन्ते यातनाशीलयमनाशन-कारणम्॥ कलश 139॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश 139 में कह रहे हैं कि चैतन्य तत्त्व की भावना में जिनकी मति आसक्त है, जिनकी बुद्धि चैतन्य भावना में आसक्त है, ऐसे यतिगण, यातना/कष्ट देने के स्वभाव वाले यमराज के नाश में कारणभूत, ऐसे यमसंयम में प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। यहाँ यम के दो अर्थ किये हैं। यम यानि संयम, यम यानि आयुकर्म। यदि आप आयुकर्म की यातना से बचना चाह रहे हो, तो यत्न करो। किसका? यम का, संयम का। यम यानि आयुकर्म के नाश का कारण यम अर्थात् संयम है। भो ज्ञानी! व्यवहार-संयम के बिना निश्चय-संयम की सिद्धि असंभव है। जो आत्मसिद्धि को प्राप्त करना चाहता है, वह पहले सम्यक्त्व सहित व्यवहार-संयम का निरतिचार पालन करता है। पुनः उसी के बल से निश्चयचारित्र-रूप ध्यान के द्वारा आयुकर्म को समाप्त कर जन्म-मरण से रहित भगवान् बन जाता है।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि आयुकर्म के निषेकों को तुम प्रपंचों में क्षेपित मत करो। तेरी आयु दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रही है। दुनियाँ में शत्रु को करुणा आ सकती है, परन्तु यमराज को कोई करुणा नहीं है। अतः अपना गमन धर्म की ओर कर लो। जितने निषेक बचे हैं, उनमें कुछ कर लो।

सीलेण वि मरिदव्वं, णिस्सीलेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जइ दोहिं वि मरदव्वं, वरं हि सीलत्तणेण मरिदव्वं।। मूला.।।

भो ज्ञानी! शीलधारी भी मरेगा, कुशीलधारी भी मरेगा। जब दोनों ही मरेंगे, तो शील के साथ क्यों नहीं मरण करते? मरना तो पड़ेगा, मरने से कोई बचा नहीं सकता। पंचपरमेष्ठी भी नहीं बचा सकते। आयुकर्म के क्षय को मरण कहा जाता है। तीर्थंकर का अकालमरण नहीं होता। जब उनकी आयु पूर्ण हो जाती है, तभी निर्वाण होता है। निर्वाण इसलिये कहा जाता है कि कर्मों का अभाव हो चुका है, आयुकर्म का भी क्षय हुआ है। अंतर इतना है कि उनके मरण का नाम पंडित-पंडित मरण है। मरण तो है। अतः केवली के मरण को मरण मत कहना। मिथ्यादृष्टि है, तो बाल-बाल मरण है। सम्यक्दृष्टि है, तो बाल मरण। मुनि यदि निर्दोष संयम सहित साधना करते हुये सल्लेखना करे, तो पंडित मरण कहलाता है और केवली के मरण को पंडित-पंडित मरण कहते हैं।

भो ज्ञानी! समाधि का अभ्यास चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है। आगम में बाल मरण जो कहा है, वह अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव का है। बाल मरण तभी होगा, जब सम्यग्दृष्टि होगा। सम्यक्त्व के अभाव में बाल-बाल मरण होता है। देशव्रती का बाल-पंडित मरण है। महाव्रती का पंडित मरण है। केवली का निर्वाण पंडित-पंडित मरण है। उस पंडित-पंडित मरण की सिद्धि तभी होगी, तब सामायिक-चारित्र होगा।

भो चेतन! आप तो पंडित मरण करें। इस काल में यह संभव है। पर पंडित-पंडित मरण इस पंचमकाल में इस क्षेत्र में नहीं है। अब जैसा आपको रुचे। हम तो यही कहेंगे कि पंडित मरण कर लो, मौका है। आप ज्ञान के पंडित हैं और यह मरण संयम के पंडित की बात कर रहा है। 'परमात्म प्रकाश' में लिखा है कि शास्त्र का पांडित्य भिन्न है, पोथियों का पांडित्य भिन्न है और स्वरूप का पांडित्य भिन्न है। यह स्वरूपलीनता का कथन चल रहा है। जिसने तत्त्व-अभ्यास किया है, उसके आगम ज्ञान को व्यर्थ मत ठहराना। यदि उसके पुण्य योग से संयम की कणिका जग गई, उस जीव को एक मुहूर्त्त में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट हो चुका है और कहीं यति बन गया, तो उसके तीनों एकसाथ होंगे, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। ऐसे ही यदि किसी जीव ने द्रव्यलिंग भी धारण कर लिये, मुनिवेश स्वीकार कर लिया और तेरे सुकृत का उदय हुआ और संयम की कणिका जग गई, तो भो ज्ञानी! तेरे लिये एकसाथ तीन प्राप्त होंगे और सीधा स्वात्मानुभूति में लीन होगा। सप्तम गुणस्थान का स्पर्श करेगा। यह है परिणामों की दशा।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 104 में कह रहे हैं कि गाथा को कंठ में नहीं, जीवन में याद कर लेना, यदि वास्तव में सल्लेखना के भाव हैं तो। हल्ला करने से नहीं होती,

न होगी। जब तक अंदर हलन-चलन समाप्त नहीं होगी, तो ज्ञानी! नीर में पड़े मोती दिखते नहीं हैं। नीर में तरंगें चल रही हैं, लहरों/धाराओं के सद्भाव में सागर में पड़ा मोती दिखाई नहीं देता। ऐसे ही विषय-कषायों की तरंगों में चेतनमणि दिखता नहीं। मणि का अभाव नहीं है, मणि तो मौजूद है। आत्मद्रव्य तेरे पास है। अंतर इतना है कि हम बाह्य निमित्तों को लेकर अंतरंग द्रव्य को खो रहे हैं। बाह्य निमित्तों में इतने उलझ चुके हैं कि उसे ही वास्तविक ध र्म मान लिया है। जबकि जो धर्म का साधन मात्र था, साध्य नहीं था। अड़तालीस क्या, अड़तालीस हजार भी निर्यापकाचार्य मिल जायें, परन्तु स्वयं का गुरु संभालनेवाला नहीं है तो निर्यापकाचार्य भी कुछ नहीं कर पायेंगे। एक सल्लेखना के लिये 48 साधु चाहिये। पर अंदर का गुरु सबसे अधिक घातक है। अभी तक इस जीव का अहित हुआ है स्वयं के गुरूर के कारण हुआ है और हो रहा है गुरूर यानि अहंकार, गारव, अहं। जब-तक यह नहीं मरेगा, तब तक बाहर भी गुरु नहीं मिलेंगे। पंचपरमेष्ठी और अंदर का चेतन गुरु भी तुझे नहीं मिलेगा।

भो ज्ञानी! इस पुण्य का भी अहम् मत करना। जितना मिला है, उसे भोग में मत लगा दो। यह नियम नहीं है कि भोगना ही पड़ेगा। पाप का भी नियम नहीं है कि भोगना ही पड़ेगा। पुण्य का भी नियम नहीं है कि भोगना ही पड़ेगा। यदि भोगना ही पड़ेगा, तो चक्रवर्ती कभी मुनिदीक्षा नहीं ले सकता। वो पुण्य को ठुकरा कर ही जाता है। सत्ता के द्रव्य की महिमा देखो, यहाँ चक्रवर्ती पद को छोड़ा है और वहाँ केवली पद को प्राप्त कर लेता है। पाप का फल भी भोगना ही पड़ेगा, यह कोई नियम नहीं है। यदि सुकृत किया है, तो पाप भी कट जाता है और दुष्कृत किया है, तो पुण्य भी क्षीण हो जाता है।

भैया! पुण्य की नहीं, परम पुण्य की महिमा कहो। भो चेतन! बिल्कुल चिन्ता मत करना। जैसे भावों से अभी बैठे हो, ऐसे भावों से चौबीस घंटे बैठने लगो तो देर नहीं लगेगी। समवसरण में भूख-प्यास नहीं लगती, इसमें संशय मत करना। इसलिये 'अनामृत अमृत भोजनम्' जो सूत्र है, वो असत्य नहीं, सत्य है। जब ज्ञानी ज्ञान में लीन हो जाता है, तो उसको बाह्य विकल्पों से छुट्टी मिल जाती है। संसार की रोटियाँ तो कोई बनाता है, दूसरा खाता है। ज्ञान एक ऐसा भोजन है जो आप ही बनाता है और आप ही खाता है। सभी प्राणियों के प्रति मेरा साम्यभाव है। मेरा किसी से बैर नहीं है। सहज दशा अद्भुत है? सोने के पहले क्षमा मांग लिया करो, क्या मालूम कल फिर जगोगे कि नहीं। आज की ऐसी दशा है, इसलिये भो ज्ञानी! सोने के पहले जाग जाया करो और क्षमा करके सो जाना। मेरा किसी से बैर नहीं है। बैर का हेतु आशा है। हम चाहते हैं, वो मिलता रहे, तो सब सही है। हमने जो चाहा नहीं, हुआ। जिससे चाहा, उसने नहीं किया, बस, तू मेरा शत्रु। जबकि शत्रु नाम की कोई वस्तु नहीं है, कल्पना

है। नारायण व प्रतिनारायण के झगड़े का कितना-सा कारण है? बोले, तुम्हारे यहाँ हाथी है, मुझे दे दो और नहीं दिया, तो चढ़ाई कर दी। बोले कि तुम्हारे यहाँ नर्तकियाँ हैं, हमारे राज्य में भेज दो। नहीं भेजा, तो युद्ध होने लगा। यह सब क्या है?

भो ज्ञानी! परवस्तु को निजवस्तु मान लेना ही सबसे बड़ा विसंवाद है। इसी विसंवाद में आज तक अपन जी रहे हैं। परवस्तु को निज वस्तु ही तो मान रहे हैं। जब शरीर को भी अपना नहीं माना जा रहा है, फिर तुम अत्यन्त भिन्न द्रव्य को, पर शरीर को अपना शरीर मान रहे हो। पर शरीर के प्रति परिणाम खराब कर रहे हो। अहो! अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, यह सब मेरी आत्मा में विराजते हैं, इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है। यह निश्चयदृष्टि है। यदि यह दृष्टि नहीं बनाओगे, तो तब तक शांति संभव नहीं है। इसलिये बैर का कारण आशा है। एक कुत्ते पर कुत्तों को भोंकता देखा, क्योंकि मुख में रोटी थी। एक रोटी के टुकड़े के पीछे शरीर भी कटा, रोटी भी छिनी। डाकू घर में घुस आये तो धन भी गया, प्राण भी गये। इसीलिये ज्यादा मत जोड़ो। आशायें छोड़ दो। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि मैं आशाओं को छोड़ता हूँ और समाधि में स्थापित होता हूँ। बैर छूट जाये, आशायें छूट जायें तो समझ लो कि समाधि हो गई। मरण जब होना है, तब हो जायेगा, आपकी समाधि तो हो चुकी। यदि बैर नहीं छूटा, आशायें नहीं छूटी, मर भी जाओगे तो भी समाधि नहीं होगी। समाधि करना चाहता हो तो पहले आशा और बैर को मार दो। इसलिये आगम कहता है कि सल्लेखना अर्थात् शरीर और कषाय को समीचीन रूप से कृश करना।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि आज से ही आप अभ्यास करोगे, तब कहीं तपोधन की अवस्था में सल्लेखना कर सकोगे। अभ्यास मत छोड़ देना। क्योंकि अंतिम समय में विषय नहीं सताते, कषाय और वासनायें ज्यादा सताती हैं। स्पर्शन इंद्रिय मर जाती है, पर रसना सबसे ज्यादा घातक होती है। चबाते नहीं बनता, जीभ हिल नहीं रही है, परन्तु आशा इतनी बड़ी बैठी हुई है। अंग गल रहे हैं, सिर हिलने लगा, डंडा हाथ में आ गया, आँखों से पानी झरने लगा, दाँतों की पंक्ति गिर गई, लेकिन आशा अपना पिण्ड नहीं छोड़ रही है।

भो ज्ञानी! घर में बैठे हो, तो नातियों पर चिल्ला रहे हो। अब कब तक उनके कर्त्ता बनकर जिओगे? उनको उनके योग पर छोड़ दो। आप नहीं होगे तो क्या काम नहीं होगा? आप तनिक अनुभव करके देख लो, सब होगा और हो ही रहा है। बिल्कुल मत घबड़ाना तीर्थंकर जैसी आत्मा के जाने के बाद तीर्थंकर-शासन चल रहा है। आप तीर्थंकर महावीर के शासन में बैठे हो कि नहीं? उनके शासन की जय बोल रहे। ज्ञानी! पुण्य होगा तो अपने आप जय बुलती है। इसलिये कर्मप्रकृतियों पर भी ध्यान रखो, आगम को भी समझो। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि आशा और बैर, यह दो समाधि के शत्रु हैं।

भो ज्ञानी! पुद्गल के आनंद में तो अनंत पर्याय में भोग किया। अब एक पर्याय में आत्मा को देख लो। अब तो संभल जाओ। यह वीतराग शासन है। मित्र को मित्र कहने वाले हजारों लोग हैं, पर अमित्र को मित्र दृष्टि से देखने वाले विरले, संतस्वभावी जीव हैं। राजा श्रेणिक ने साँप नहीं डाला था, उसकी दुर्बुद्धि ने साँप डाला है। श्रेणिक ने साँप डाला होता तो फिर चरणों में गिर करके प्रायश्चित क्यों मांगा? सांप डालने वाला श्रेणिक सम्यग्दृष्टि बन गया, तीर्थंकर वर्द्धमान के समवसरण में पहुँचते ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो गया। अब अमित्र किसे कहेंगे आप? राजा श्रेणिक सांप डाल रहा था, यह परिणामों की दशा है। इसलिये यह गांठ बांध कर मत बैठ जाना कि यह तो ऐसा ही है। या ऐसे-ही-ऐसे होते हैं। इसलिये चाहे मित्र हो, चाहे अमित्र हो, मेरा किसी के साथ बैर नहीं है। अंतिम समय यह भाषा आ जाये, पर अभ्यास आज से ही करना पड़ेगा। भो ज्ञानी! पहले से अभ्यास है तो काम बनेगा। वे जीव विरले पुण्यात्मा हैं। 'भगवती आराधना' में आचार्य शिवकोटि महाराज ने लिखा है कि किसी के नेत्रों की ज्योति चली गई थी। मार्ग में जा रहा था। तब अचानक ठूँठ से ठोकर लग गई, तो सिर से अशुद्ध रक्त निकल गया। नेत्रों की ज्योति भी आ गई और ठूँठ के नीचे जो धन था, वो भी मिल गया। ऐसे पुण्यात्मा विरले जीव हैं जिन्होंने जीवन भर सुख भोगा और अंतिम समय में वैराग्य आ गया और सल्लेखना करके शुद्ध तत्त्व को प्राप्त कर लिया। ऐसे पुण्यात्मा विरले ही होते हैं। परन्तु आपको सतत् अभ्यास करने की आवश्यकता है। इसलिये किसी से बैर भी हो गया है तो आप जाकर क्षमा माँग आना। यही तुम्हारी परीक्षा है समाधि की। मेरी किसी से कोई आशा नहीं है। अरे! पुद्गल के टुकड़े को मांगे वो जो द्ररिद्री हो। मैं तो समरसी भाव का नाथ हूँ, स्वामी हूँ, इसलिये मैं तो परम समाधि की ही प्राप्ति करता हूँ।

आचार्य योगीन्दुदेव 'अमृताशीति' में कह रहे हैं–

मुक्त्वालसत्वमधि सत्त्वबलोपपन्नः स्मृत्वा परांच समतां कुलदेवतां त्वम्।
संज्ञानचक्रमिदमंग गृहाण तूर्णमज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपुपमर्दि॥ अमृताशीति 21॥

हे जीव! तू आलस्य को छोड़ दे, क्योंकि तेरा परम शत्रु एक आलस्य भी है। भो ज्ञानी! मोह-शत्रु तेरे ऊपर चढ़ाई कर रहा है, तुम समतारूपी कुलदेवता का स्मरण करो, हे देवता! मेरी रक्षा करो। तुम सम्यग्ज्ञान रूपी चक्र धारण कर लो और ऐसे निष्प्रमादी होकर इस अज्ञान-मंत्री और मोहराजरूपी शत्रु पर चक्र चला दो, जिससे उसका नाश हो जाये और तुम अपनी पताका सिद्धशिला पर जाकर फहरा देना।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में बहुत ही सहज कथन किया कि योगी अपनी समाधि के स्वरूप की दृष्टि से सहज चिन्तन कर रहा है। कि मेरा

संपूर्ण प्राणियों के प्रति साम्यभाव है, किसी जीव से बैर नहीं है, आशाओं का मैं त्याग करता हूँ। यही समाधि के स्वरूप की प्राप्ति का सुंदर उपाय है। इसी बात को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव अपने कलश में कह रहे हैं। यह तो बड़े-बड़े संयमियों को भी दुर्लभ है। लौकिक पदार्थ की सिद्धि धैर्य से होती है और अलौकिक पदार्थ की भी सिद्धि भी धैर्य से होती है धैर्य छूटा, तो आप सिद्धि नहीं कर सकते हो।

'ज्ञानेन बिना न मोक्षः, दानेन बिना न यशः।'

ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता है, दान के बिना यश नहीं फैलता है। ज्ञान से मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। सप्त परम क्षेत्रों में दिया गया दान तो पानी में पड़े हुये तेल के समान है। पानी में डाला गया तेल ऊपर आकर फैलता ही है। शूरता से विजय प्राप्त होती है। धैर्य से लक्ष्मी की प्रप्ति होती है। समता के बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं है। जब संसार की लक्ष्मी भी धैर्य के बिना नहीं मिलती, तो तुम मोक्षलक्ष्मी को धैर्य के बिना कैसे प्राप्त करना चाहते हो? मुक्तिलक्ष्मी को तुम विषमता से प्राप्त करना चाहते हो, यह संभव नहीं है। इसी बात को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं।

मुक्त्यङ्गनालिमपुनर्भवसौख्यमूलं
दुर्भावनातिमिरसंहतिचन्द्रकीर्तिम्।
संभावयामि समतामहमुच्चकैस्तां
या संमता भवति संयमिनामजस्रम्॥ कलश 140॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि मुक्तिरूपी स्त्री के प्रति भ्रमर के समान योगी समता के प्रति आसक्त रहता है। जिस तरह चन्द्रमा की चाँदनी रात्रिरूपी गहन अंधकार को समाप्त कर देती है, उसी तरह योगी समता के माध्यम से दुर्भावना रूपी अंधकार को समाप्त करता है। संयमी साधुओं के लिये समता, सम्यक् भावना हमेशा ही सम्मत है, मान्य है। ऐसी समता की भावना मैं भा रहा हूँ। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' में बहुत स्पष्ट कथन किया है।

किम काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समयदारहियस्स समणस्स॥ नियमसार 124॥

हे श्रमण! वनवास में निवास करने से क्या होगा? चाहे तुम वन में जाओ, भवन में जाओ, कायक्लेश भी करते रहो, नाना प्रकार के उपवास आदि भी कर रहा है, ग्रन्थों का इतना अध्ययन किया कि पंक्तियाँ-की-पंक्तियाँ कंठस्थ हैं, फिर भी मोक्ष नहीं है। हे श्रमण! यदि समता से रहित हो रहा है, तो तुझे कोई फल की प्राप्ति होने वाली नहीं है। समता तो ध्यान की जननी है। समता है, तो ध्यान सिद्ध हो सकता है।

भो ज्ञानी! दुकानदार को ग्राहक के कारण गुस्सा भी आ रहा है, फिर भी धैर्य धारण करके बैठा है क्योंकि व्यापार करना है। लोभकषाय की पूर्ति के लिये क्रोधकषाय को पी कर बैठा है। व्यवहारदृष्टि से उसे समता इसलिये कह दिया है कि वो शांत बैठा है। लेकिन समता तो वही है जहाँ आर्त्तध्यान का अभाव है। ऐसे परिणाम का नाम साम्यता है, समता है। उस समता के माध्यम से ध्यान की सिद्धि होती है। समता के अभाव में आँख खोलोगे, मीचोगे परन्तु आँख बन्द नहीं होगी, विकल्प तो उठते ही रहेंगे। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि कायक्लेश आदि क्रियाओं के माध्यम से ज्ञानी! यदि समता नहीं है तो कुछ होने वाला नहीं है। इसलिये समता तेरी साधना है। निज आत्मा का ध्याता तू ही है, और जो तू कर रहा है, वो ध्यान है। परन्तु यह तभी संभव है, जब समता-सखी साथ है।

भो ज्ञानी! आचार्य नागसेन स्वामी ने ध्यान के लिये सामग्री की चर्चा की है। यदि सामग्री नहीं है, तो भोजन भी नहीं बनता है, ध्यान कैसे बनेगा? पहली सामग्री है संग का त्याग यानि परिग्रह का त्याग, कषायों का उपशमन एकसाथ चल रहा है। दूसरी सामग्री है इंद्रिय और मन का निग्रह यानि विजय। इनके होने पर ध्यान होगा। इनके होने पर ध्यान हो ही जाये, यह नियम नहीं है। परन्तु इनके हुये बिना ध्यान संभव नहीं है। जिसे आप मोक्षमार्ग के लिये ध्याना चाहते हो, यह उस ध्यान की बात है। वैसे तो परिग्रह में खूब रौद्रध्यान होता है, आर्त्तध्यान होता है। बिना ध्यान के संसार में कोई जीव नहीं है। यहाँ जो चर्चा चल रही है, मोक्ष मार्ग में प्रयोजनभूत धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान की बात है।

भो ज्ञानी! जरा-सा भी परिग्रह समता को रहने नहीं देता है। समता सुख की सहेली है। पर उस सहेली की भी कोई सहेली है, उसका नाम है परिग्रह का अभाव। आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव कलश में समता की जय कहते हुये कह रहे हैं-

जयति समता नित्यं या योगिनामपि दुर्लभा
निजमुख सुखाम्भोधिप्रस्फारपूर्णशशिप्रभा।
परमयमिनां प्रव्रज्यास्त्रीमनः प्रियमैत्रिका
मुनिवरगणस्योच्चैः सालङ्क्रिया जगतामपि॥ कलश 141॥

जयवन्त हो, कौन? भगवान् नहीं, परमेष्ठी नहीं, समता जयवन्त हो। क्योंकि भगवान् बनाने वाली कोई है, तो समता। उपाध्याय, आचार्य, साधु बनाने वाली है, तो समता और सिद्ध बनाने वाली भी है तो समता। जो नित ही योगियों को भी दुर्लभ है। सज्जनता, सरलता, समता, सहजता। यदि सज्जनता अर्थात् व्यवहारिकता नहीं है, लोकदृष्टि नहीं है, तो ज्ञानी! तेरी साधना

रूखी हो जाती है। सरलता नहीं है, तो साधना कठोर हो जाती है। समता नहीं है, तो साधना नि:सार हो जाती है और सहजता नहीं है तो तीनों अपने आप मिट्टी में मिल जाती हैं।

भो ज्ञानी! तुम त्याग करना, वस्तु छोड़ना, सबके अभ्यास के साथ-साथ साम्यभाव रखने का अभ्यास और कर लेना। आपको तीन घण्टे दिये हैं सामायिक करने के लिये। वे मात्र इसलिये दिये हैं कि समता लाओ और आगे बढ़ जाये तो वो चारित्र बन जाता है। वही समता सामायिक है। वही उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सामायिक-चारित्र का रूप धारण कर लेती है। जब सामायिक कर रहे थे, तब सहज बैठे थे आप। किसी ने गड़बड़ कर दिया, सो आप चिल्ला पड़े। ज्ञानी! आयु बंध का काल आ गया तो एक समय में कितने कर्मों का बन्ध कर लिया? समता में तभी रह सकते हो, जब संपूर्ण द्रव्यों का कर्तृत्व भाव छोड़ोगे। पर का कर्त्ता आपको नहीं बनना पड़ेगा, पर का कर्त्ता बनके नहीं रहना पड़ेगा, तो ही समता में जी पाओगे। अन्यथा समता की बातें करते रहना। क्योंकि कर्तृत्व-भाव जहाँ प्रवेश कर जायेगा, वहाँ समता संभव नहीं है। कषाय चाहे अंश में हो, चाहे सर्वांश में हो, कषाय तो कषाय है। अग्नि चाहे बांस की हो, चाहे काष्ठ की हो, चाहे चंदन की हो, पर अंगुली डालोगे तो जलायेगी। कषाय चाहे धर्म के कारण हो, तो भी पापबंध होगा। उन मुनिराज से पूछना, जब अभिनन्दन आदि पांच सौ योगियों को दण्डक राजा ने घानी में पेल दिया था। जिनको घानी में पेल दिया, वे तो सामायिक समता से सल्लेखना करके ऊपर चले गये, पर उनके प्रति आये राग ने द्वेष को जन्म दे दिया और अशुभ तेजस पुतला निकला। जिसने राजा दण्डक की नगरी को जलाकर मुनिराज को भी जला दिया। धर्मात्मा के प्रति राग को भी परगत तत्त्व ही स्वीकारना पड़ेगा, अन्यथा स्वहित संभव नहीं है।

भो ज्ञानी! व्यवहारिता के पीछे आत्मा का अहित मत कर बैठना। सामान्य मुनियों के तेजस् पुतले नहीं निकलते। भावलिंगी और ऋद्धिसंपन्न मुनियों को ही यह ऋद्धि होती है। ऐसे ऋद्धि-सम्पन्न यति भी राग के वशात क्रोध को प्राप्त हुये। क्रोध की महिमा से नगर को जलाया और स्वयं भी जल गये। बारह योजन की जब नगरी जली होगी, तो कितने जीव मरे होंगे? एक क्षण के क्रोध के आवेश में अहिंसा महाव्रत का क्या हुआ? इसलिये, भैया! धर्म के नाम पर कार्य तो करना, परन्तु जिनवाणी हिंसा को स्वीकार नहीं करती, कषाय को स्वीकार नहीं करती। उतना ही धर्म है, जितने में समता है।

भो ज्ञानी! जब पूर्णिमा की चाँदनी खिलती है, तो सागर में भी हिलोरें उठने लगती हैं। समता आत्म-समुद्र के लिये, आत्म-घट के लिये, आत्म-सागर के लिये एक पूर्ण शशिप्रभा के तुल्य है। परम संयमियों के लिये, दीक्षारूपी स्त्री के लिये मन की परमप्रिय सहेली तेरी

दीक्षा की रक्षा करने वाली कोई सखी है, तो समता है। जब-जब उपसर्ग आये हैं, सगों ने ही किये हैं। गजकुमार मुनिराज पर सिगड़ी रखने वाले ससुर ही थे। कार्तिकेय स्वामी के शरीर को वसूले से छीलने वाले बहनोई ही थे। सुकुमाल मुनिराज के शरीर को भखने वाला भाभी का जीव ही था। सुकौशल महाराज के शरीर को खानेवाला माता का ही जीव था। अतः सगों से सावधान रहो।

भो ज्ञानी! 'पद्मपुराण' में आचार्य रविसेन स्वामी ने लिखा है कि जिसको देखकर क्रोध आ रहा है, वो आज का शत्रु नहीं है, यह आपकी पूर्व पर्याय का शत्रु है। आगम में लिखा है (अचौर्य महाव्रत में) कि साधर्मी से विसंवाद करना चोरी है। जो धर्मात्मा से विसंवाद करता है, उनका अचौर्य महाव्रत का पालन नहीं होता है। जिनेन्द्र प्रभु की आज्ञा है कि साधको! परस्पर में वात्सल्य बनाके रहना। यदि आप परस्पर में वात्सल्य बनाके नहीं रहते हो और विसंवाद करते हो, तो आपको आज्ञाभंग का दोष लगेगा। अरहंत भगवान् की आज्ञा भंग कर रहे हो, इसलिये चोरी है।

लोकधर्म, समाज-धर्म और आत्मधर्म सब एकसाथ नहीं रह सकते हैं। स्वयं में समाना चाहते हो तो समाज को छोड़ना पड़ेगा और समाज में जाना चाहते हो तो स्वयं को छोड़ना पड़ेगा। दो एकसाथ नहीं हो सकते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि यदि तू शरीर की दृष्टि बनाके चलता है, तो आत्मदृष्टि नहीं बनेगी और आत्मदृष्टि बनाके चलता है, तो शरीरदृष्टि नहीं बनेगी। राजचंद्र जी ने लिखा है कि मेरे पास दो बगीचे हैं। एक आत्म-बगीचा है और एक शरीर-बगीचा। यदि आत्म-बगीचे में पानी देता हूँ, तो शरीर का बगीचा सूखेगा और शरीर के बगीचे में देता हूँ, तो आत्म-बगीचा सूखेगा। तुम्हें जो अच्छा लगे, उसमें पानी दे दो।

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥ इष्टो. 19॥

यदि तू देह का उपकार करना चाहता है, तो आत्मा का अपकार निश्चित है और जीव का उपकार करना चाहता है, तो देह का अपकार निश्चित है। साधना करोगे, नग्न रहोगे, तो ठंडी भी लगेगी, गर्मी भी लगेगी, प्यास भी लगेगी, लेकिन आत्म-बगीचा हरा होगा। पर होगा तभी, जब पानी देते रहोगे। तुम आत्म-बगीचे को हरा रखना चाह रहे थे और शरीर भी सुखा रहे थे, परन्तु समता की मिट्टी नहीं रखी तो आपका हरा होने वाला बगीचा गिर जायेगा। यदि जड़ में मिट्टी नहीं हो, तो पानी से वृक्ष गिर जायेगा।

भो ज्ञानी! शीतलता स्वर्णकलश में नहीं है, रजतकलश में नहीं है। जल की शीतलता तो मिट्टी के कलश में ही मिलेगी। उसमें खस की डली डाल दोगे तो सुवासित भी हो जायेगा।

बड़ी गहरी बातें हैं। आचार्यों ने जड़पदार्थों से चेतन का बोध कराया है। ऐसे शीतल नीर से, समरसी भाव से युक्त उस चेतन-घट के नीर का पान करना चाहता है तो समता की खस की डली का ध्यान रखना, उसे अलग मत कर देना।

जब विषमता की सामग्री सामने खड़ी हो, उस समय सहजता के भाव रखना, इसका नाम समता है। परन्तु ऐसी समता तो आप रागवश भी कर सकते हो। राग, लोभ, विकार से रहित होकरके आर्त्त-रौद्र परिणामों का नहीं होने देना, इसका नाम समता है। परम समता तो बारहवें गुणस्थान में ही होगी, जहाँ मोह राजा का क्षय हो चुका है। उसी को आप समता कहें, आत्मालीनता कहें, निश्चय कहें। जगत् के जीवों के लिये भी समता अलंकारस्वरूप है।

भो ज्ञानी! चरणानुयोग क्रियारूप संयम की चरम सीमा पर ले जा रहा है और द्रव्यानुयोग भावों की चरमसीमा पर। यह पूर्णान्त है। चरणानुयोग तुझे कहेगा कि ऐसा मत करो। चरणानुयोग क्रियारूप पाप छुटाता है। द्रव्यानुयोग आपको परणति में पापों से रहित करके परमात्म-स्वभाव में लाता है। परमात्मा में नहीं, परमात्मा स्वभाव में। परमात्मा से मिलने की कला द्रव्यानुयोग नहीं सिखाता। परमात्मास्वरूप की प्राप्ति मुझे करना है, मैं परमात्मा बनूँगा। ईश्वरवादी परमात्मा से मिलता ही रहता है। अनीश्वरवादी अर्हत् परमात्मा बनता ही रहता है। सेवक सेवक रह जाये और स्वामी स्वामी रह जाये, ऐसा जैनदर्शन नहीं है। वो तो सेवक को स्वामी बना देता है। संबंधकारक को अध्यात्म स्वीकारता नहीं है। संबंधकारक दो भिन्न द्रव्यों में होता है और यहाँ अभिन्न स्वरूप की चर्चा है।

भो ज्ञानी! जिसने इंद्रियों का दमन कर दिया है, ऐसा निर्ग्रन्थ योगी दन्ती कहलाता है। एक दन्ती वो होता है, जिसके दाँत लम्बे-लम्बे होते हैं अर्थात् हाथी।

जिसने इंद्रियरूपी हाथियों का दमन कर दिया है, ऐसे जो होते हैं, उनका नाम दन्ती और वे ही भदन्त कहलाते हैं। यह मुनियों का एक नाम है। यतीश्वर! आपने दमन किया है इंद्रिय रूपी हस्तियों का, इसलिये आप दंती हो और आपने भग यानि ज्ञान को प्राप्त किया है, इसलिये आप भदंत हो। हे प्रभु! आप सूर्य हो, क्योंकि सूर्य ही अंधकार को जीत पाता है।

भो ज्ञानी! यदि शास्त्र का अध्ययन नहीं कर रहे हो, मात्र ग्रन्थों को रखते ही जा रहे हो, तो वह निर्ग्रन्थ भी सग्रन्थ हो जाते हैं। वो भी परिग्रह के अंतर्गत आयेगा। उपकरण उतना ही है, जिससे तुम्हारी आत्मा का उपकार हो रहा है। अंतदशा ऐसी आती है कि सल्लेखना के काल में ॐॐ ही परम स्वाध्याय है। शास्त्र भी छूट जाते हैं। संसार से भयभीत नहीं होगे तो आप पर को छोड़ोगे नहीं, इसलिये संसार से भयभीत होना अनिवार्य है। ऐसे योगी के ही प्रत्याख्यान धर्म होता है। व्यवहार वही व्यवहार है जिससे परमार्थ की सिद्धि होती है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थनिका : निश्चय प्रत्याख्यान के योग्य जीव का स्वरूप

गाथा : णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे॥ 105 ॥

संस्कृत छाया : निःकषायस्य दान्तस्य शूरस्य व्यवसायिनः।
संसारभयभीतस्य प्रत्यारव्यानं सुखं भवेत्॥ 105॥

अन्वयार्थ : (निःकषायस्य) कषाय रहित (दान्तस्य) इंद्रियों का दमन करने वाले (शूरस्य व्यवसायिनः) शूरवीर, उद्यमशील और (संसारभयभीतस्य) संसार से डरने वाले ऐसे साधु के (सुखं प्रत्याख्यानं) सुखमय प्रत्याख्यान (भवेत्) होता है।

नियमदेशना

मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा 104 में समाधि स्वरूप की भावना भाई और यह संकेत दिया कि साधक प्राणीमात्र के प्रति साम्यभाव का अभ्यास करता है और प्राणीमात्र ही नहीं, पदार्थ मात्र के प्रति साम्यभाव का अभ्यास करता है। वही समता है। हो सकता है आपको जीवतत्त्व के प्रति वात्सल्य भाव हो एवं अजीव तत्त्व के प्रति वात्सल्य भाव नहीं हो। चेतन, अचेतन और मिश्र यह तीन प्रकार के द्रव्य हैं। चित्त से युक्त चेतन, चित्त से रहित अचेतन और चेतन व अचेतन से युक्त मिश्र होता है। यदि इन तीनों में से किसी से भी रागरूप अथवा द्वेषरूप परिणाम हो रहे हैं, वहां तुम्हारी समता का अभाव हो रहा है। यहां तक कि मलादि से भी ग्लानि न करें। समता का अर्थ शांत बैठना मात्र नहीं है। अशुचि पदार्थ को देखकर मन मलिन हो रहा है, शरीर में सिकुड़न आ रही है, नाक सिकुड़ रही है, तो आपका सम्यक्त्व का निर्विचिकित्सा अंग भंग हो रहा है। आपने ग्लानि की है तो आपके सम्यक्त्व में दोष लग चुका है। पुरुषार्थसिद्धुपाय में यह कथन किया गया है।

भो ज्ञानी! अभी तक तो आपने यह मान रखा है कि धर्म-धर्मात्मा के प्रति ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। मल का धर्म दुर्गन्ध देना है, उसके धर्म के स्वरूप को समझो। उस पर भी ग्लानि मत करो। अशुचि द्रव्य को भी रागरूप नहीं निहारना और शुचि द्रव्य को भी रागरूप नहीं निहारना।अंतराय ग्लानि से नहीं है, अंतराय मल से है, अशुद्धता से है। मल को देखने से या स्पर्श होने पर अंतराय तो कर लेना, पर ग्लानि नहीं करना। चांडाल स्पर्श नाम का एक अंतराय होता है। मुनिराज चर्या को जा रहे थे। रास्ते में बहुत सारे लोग नमोस्तु करते हैं। किसी में ऐसी भावुकता आ गई कि उसने चरण पकड़ लिये। बाद में ज्ञात हुआ

कि वह शूद्र था। तो अंतराय कर लेना, पर उससे ग्लानि मत करना। अंतराय अशुद्धि के कारण किया है, परन्तु वो ग्लानि का पात्र नहीं है, करुणा का पात्र है।

भो ज्ञानी! अशुचि पदार्थ को देखकर उस द्रव्य के स्वभाव का चिन्तन करो। आपने भोजन में सुन्दर-से-सुन्दर द्रव्य का सेवन किया है, वही सप्त धातु में परिणत हुआ है। द्रव्य की आंतरिक प्रक्रिया चल रही है। षट्गुण हानि-वृद्धि रूप परिणमन चल रहा है। यदि यह सामायिक का विषय बन जाये, द्रव्य का गुण परिणमन, तो घण्टों आप उसमें तल्लीन हो जाओ। जैसे-जैसे द्रव्य में परिणमन चल रहा है, वैसे आपके चिन्तन में परिणमन चल रहा है। इसलिये आचार्य महाराज कह रहे हैं कि आप ग्लानि मत करो, घृणा मत करो क्योंकि समता चारित्र है, सामायिक-चारित्र है। जहाँ ग्लानि है, वहाँ सामायिक चारित्र नष्ट हो गया। जब तुम्हारा सम्यक्त्वाचरण ही च्युत हो रहा है, फिर तुम स्वरूपाचरण को क्या प्राप्त करोगे?

भो ज्ञानी! यदि तुम कहते हो कि मैं मात्र इन मुनि को मानता हूँ, इन पर श्रद्धा है। यह तुम्हारी श्रद्धा नहीं है, राग है। यदि जिनवेश में श्रद्धा होगी, तो जो निर्ग्रन्थ मुनिराज होंगे सब पर श्रद्धा होगी। यदि तू चेतन धर्म को देखता, तो यतियों में भेद नहीं करता। तूने चेतन रत्नत्रय धर्म को नहीं देखा, मात्र चर्म के राग में फंसा हुआ है। एक देव परीक्षा लेने मुनिराज का रूप धर कर आया। गलित कुष्ट की दुर्गन्ध फैल रही थी, समस्त गली खाली हो गई। राजा ने पड़गाहन किया। आहार में रसोई में बनी हुई समस्त सामग्री खा गये। बाद में राजा के ऊपर ही वमन कर दिया। राजा कह रहा है कि हे प्रभु! पता नहीं मेरे द्वारा कौन-सा ऐसा द्रव्य चल गया कि ऐसा हो गया। वह बिना ग्लानि के मुनिराज का शरीर साफ कर रहा है, प्रक्षालन कर रहा है, भाग नहीं गया। यह है निर्विचिकित्सा अंग। अब विचारो के मेरी धर्म के प्रति कितनी निर्विचिकित्सा है? भो ज्ञानी! मार्ग में मृत तिर्यंच का शरीर पड़ा है, दुर्गन्ध दे रहा है, फिर भी आप सहजता में चले जा रहे हो। यह वस्तु का परिणमन है, ऐसा विचार करोगे, तब समताभाव आयेगा।

भो ज्ञानी! जैनदर्शन में व्यक्ति की पूजा नहीं है। सम्यक् दर्शनज्ञानचारित्र की पूजा है। जहाँ रत्नत्रय दिखे, वहाँ पूजा करनी होगी। यदि आप यह देखते हो कि उनका प्रभाव कितना है, तो आप प्रभाव के पूजक हो, पूज्य के पूजक नहीं हो। भो ज्ञानी! सौ वर्ष का यति बैठा रह जाता है और एक दिन का यति भी सिद्धालय में प्रवेश कर जाता है। अनन्तवीर्य एवं बाहुबली परमेश्वर बन गये और तीर्थंकर बैठे ही रह गये। एक तीर्थंकर के समवसरण में कई जीव सिद्ध बन जाते हैं।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 105 में कह रहे हैं कि जो कषायों से रहित है। जिन्होंने इंद्रियों का नहीं, इंद्रियों के विषयों का दमन किया है। इंद्रियों का दमन करना धर्म

नहीं है। इंद्रियों का संचालक मन है और मन का संचालक आत्मा है। यह इंद्रिय, यह मन, यह सब पुद्गल की दशा है। क्षयोपशम वास्तव में आत्मा का है। द्रव्य मन तेा आकृति मात्र है और भाव मन यह क्षयोपशम है। द्रव्यमन उद्भव स्थान है। चिंतन पर चिंतन जिससे हो रहा है, वह भावमन है और चिंतक जो है, वह आत्मा है। चिंतक मन नहीं है। इंद्रियविषयों का भोक्ता इंद्रियाँ नहीं हैं, इंद्रियाँ करण-साधन हैं। इंद्रियाँ कर्त्ता-साधन नहीं है। यदि इंद्रियाँ कर्त्ता साधन हैं, तो मुर्दे को भी भोग भोगना चाहिये क्योंकि इंद्रियाँ पूरी हैं? इंद्रियों को करण-साधन क्यों कहा? इंद्रियों से इंद्रियों के द्वारा आत्मा भोगती है।

भो ज्ञानी!आप कहते हो कि स्वाद रसना ले रही है। आप ठीक कहते हो। उस रसना में जो आत्मप्रदेश हैं, वही स्वाद ले रहे हैं। रसना तो माध्यम है। ये जीव मोह के माध्यम से परद्रव्य का आस्वादन कर रहा है, पौद्गलिक द्रव्यों को अनुभव कर रहा है। यह सब इसका विभाव-भाव है। इसलिये भोक्ता इंद्रियाँ नहीं, भोक्ता कर्म नहीं, भोक्ता आत्मा है।

यह नौ अधिकार इंद्रियों के नहीं, जीव के हैं। यह जीव उपयोगमयी है, अमूर्तिक है, कर्त्ता, भोक्ता है, स्वदेह प्रमाण है। यह अधिकार इंद्रियों के नहीं हैं, पुद्गल के नहीं हैं, यह जीव की विभाव दशा है। इसलिये कर्तृत्व भाव और भोक्तत्व भाव यह इंद्रियों के नहीं, जीव के हैं। यह कर्तृत्व भाव, भोक्तत्व-भाव संसारी में ही नहीं, सिद्धों में भी रहेगा। यदि नहीं रहेगा तो कोई सिद्ध बनना नहीं चाहेगा। अशुद्ध का भोग तो जीव ने संसारी अवस्था में अनन्त पर्यायों में किया है। जीव तो शुद्ध भोक्ता बनने के लिये, सिद्ध बनने के लिये पुरुषार्थ कर रहा है। तो किसके भोक्ता होंगे आप? निज द्रव्य के निज ही भोक्ता, निज द्रव्य के निज ही कर्त्ता। यही जीव की सिद्ध दशा है। शुद्ध गुण, शुद्ध गुणी, शुद्ध पर्याय का जो अनुभवन है, वह सिद्ध परमेश्वर करता है।

भो ज्ञानी! वैशेषिक और न्याय ग्रन्थों में लिखा है, हे नारायण केशव! मैं मथुरा का गीदड़ बनना पसंद करूँगा, लेकिन बौद्धों का मोक्ष जाना पसंद नहीं करूँगा। क्यों? जिस मोक्ष में आत्मा का विनाश हो जाये, ऐसा मोक्ष नहीं चाहिये। उद्देश्य समझो कि ऐसा क्यों लिख रहे हैं? जहां आत्मा की सत्ता का ही लोप हो जाये, उस मोक्ष के सुख को भोगेगा कौन? बौद्धों का मोक्ष जैसे आपने दीपक जलाकर रख दिया। दीपक का तेल पूरा हुआ, बाती जल गई। कहाँ गई? नष्ट हो गई। ऐसे ही बौद्ध मानते हैं कि जब मोक्ष होता है तो आत्मा शून्य हो जाती है, नष्ट हो जाती है। आत्मा के अभाव को मोक्ष मानते हैं बौद्ध। ऐसा मोक्ष जैनदर्शन नहीं मानता। अष्ट कर्मों के विनाश और अष्ट गुणों के प्रकट होने को मोक्ष मानता है जैनदर्शन। संपूर्ण कर्मों के विनाश का नाम है मोक्ष, आत्मा के विनाश का नाम मोक्ष नहीं है।

भो ज्ञानी! योगी इंद्रियों का नहीं, इंद्रियों के विषयों का दमन करता है, कषायों का शमन करता है। इंद्रियों को खुला छोड़ दो परन्तु इंद्रियविषय की प्रवृत्ति को अपने आप में रोक लो, इसका नाम संयम है। भैया! इंद्रियविषयों में आपको रुचि तब तक है, जब तक संसार से भय नहीं है। राजा श्रेणिक ने गांववालों के पास एक बकरा भेजा और कहा कि इसको भूखा भी नहीं रहना चाहिये और वजन भी घटना-बढ़ना नहीं चाहिये। नंदग्राम वाले परेशान थे। राजकुमार अभय कुमार उस बकरे को खूब खिलाता था और शेर के सामने बांध देता था। शेर की दहाड़ सुनकर जितना खाया था सब पच जाता था। हे ज्ञानी! यदि तू पाप-सिंह से भयभीत है, तो इंद्रिय-बकरा मोटा नहीं हो सकता है। यदि इष्टवियोग हो जाये या अनिष्ट संयोग हो जाये तो बढ़िया भोजन में भी स्वाद नहीं आता। इससे ध्वनित होता है कि द्रव्य में स्वाद नहीं है, स्वाद तो कहीं और ही है। यदि राग है, तो पदार्थ में स्वाद है। यदि राग नहीं है, तो पदार्थ में कोई स्वाद नहीं है। वो ही द्रव्य निःसार झलक रहा है। जिस राज्य के पीछे भाई ने भाई को उठाकर पटक दिया, आज वह निस्सार झलक रहा है। कहाँ चला गया उसका रस?

भो ज्ञानी! अध्यात्म में एक सूत्र है "निःरसी स्वभावोऽहम्", मेरी आत्मा का स्वभाव रस रहित है। इंद्रियों के रसों से रहित है। यदि संसार से भय है, तो भोगों में प्रवृत्ति नहीं जा सकती। कोई कहता है कि हम तो बहुत चाहते थे, पर अब गृहस्थी है, क्योंकि माता-पिता ने शादी कर दी। यह बात यहां चलने वाली नहीं है। यदि स्वयं नहीं चाहता, तो माता-पिता में शादी कराने की ताकत नहीं थी। सम्यग्दृष्टि जीव को कर्मों से बंध का भय होता है। यदि कर्म बन्ध का भय नहीं है, तो सम्यग्दृष्टि किस बात का? भय से तात्पर्य उदास दृष्टि, संयम के प्रति निर्मल भाव। जब संसार से भय नहीं है, तो त्याग में भी कहीं ग्रहण की भावना छिपी हुई है। कैसी? आज मैंने इतना छोड़ा है, इससे अपने को आगे बहुत सुख मिलेगा। त्याग कम किया है और गृहण का भाव ज्यादा है। इसीलिये उदासीनता वैराग्य की माँ है।

भो ज्ञानी! संसारसुखों में उदासता रखना। भोगों से भय, संसार से भय, यह सब एकार्थ-वाची हैं। भय कषाय नहीं है। यहाँ संज्ञा वाला भय नहीं लेना। यह स्वभाव की ओर ले जाना वाला मार्ग है। आचार्यभगवान् निश्चय प्रत्याख्यान के योग्य, ऐसे जीव के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। वह जीव सम्पूर्ण कषाय-कलंकरूपी कीचड़ से मुक्त रहता है। पिता पुत्र से कहता है कि तुम मेरे कुल पर कलंक मत लगा देना। पर पिताजी! कर्म का इतना बड़ा कलंक लगा है, उसे क्यों नहीं धोते हो? यदि वस्त्र में जरा-सा कलंक/दाग लग जाये, तो कितने प्रकार से धोते हो। लेकिन तेरी आत्मा के चादर पर कितने कर्म-कलंक लगे हैं।

यथा यथा समायति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सलभा अपि॥ का. अ. 37॥

जैसे-जैसे आत्मानुभूति के प्रति जीव की वृत्ति बनती है, तो विषयों की वस्तु सुलभ होने पर भी रुचिकर नहीं लगती है। छह खंड का स्वामी, जिसके पास 18 कोटि घोड़े, 84 लाख हाथी आदि संपदा है, वो इसको जीर्ण तृण के समान छोड़ कर चल देता है। जिसने तत्त्व को समझ लिया है, संवित्ती अंतर में जाग्रत हो गई है, उसे यह अब नहीं रुचता है। स्वरूप में जाना अलग है और स्वरूप की बातें करना अलग है। जो स्वरूप में जाते हैं, वह किसी को अपना परिचय नहीं देते हैं। उनका परिचय प्रकृति से ही हो जाता है। उनका परिचय तीनों लोक में धूम मचा देता है। जब केवलज्ञान होता है, तो तीनों लोक में धूम मच जाती है, हलचल हो जाती है।

भो मनीषियो! जिन्होंने संपूर्ण इंद्रियों के व्यापार पर विजय प्राप्त की है। अर्थात् इंद्रियों पर नहीं, इंद्रियों के विषयों पर विजय पाई है। मधुर-से-मधुर, आकर्षक-से-आकर्षक वारांगनायें बैठी हैं, पर फिर भी उदासीन है। खिड़की से देखने वाली माँ सोच रही है कि नारी के सामने बड़े-से-बड़े शूरवीर शिथिल पड़ जाते हैं। वैराग्य की बातें तो तुमने बहुत की हैं, पर इनको जीत कर निकलो। आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में लिखा है।

को ण वसो इत्थि-जेण कस्स ण मयणेण खंडियं माणं
को इंइिएहिं ण जिओ कोण कसाएहि संतत्तो ॥ का. अ. 281॥

युवा-अवस्था में तरुणियों के कटाक्ष रूपी बाण के फेंकने पर भी जिसका हृदय मदन-बाण से नहीं बिंधता है, वह शूर है। जो समरभूमि में अनेक जीवों का ,वीरों का घात कर देता है, वह शूर नहीं है। जिसने काम को जीत लिया है, वही शूर है, वीर है। उसकी चर्चा आचार्यभगवान् कह रहे हैं हे शूर! तुमने भुजाओं से सागर पार कर लिये, परन्तु गौष्पद में आकर डूब गये। तूने माता के राग को छोड़ा, पिता के दुलार को छोड़ा, भाई को छोड़ा और एक परजाई के पीछे अपने परिवार को छोड़कर चुल्लु भर पानी में डूब गया। शेर की मूँछ को उखाड़ने वाले बहुत हैं, साँप की मणि को लाने वाले भी बहुत हैं, हाथी के दाँत को खींचने वाले भी हैं, परन्तु जो वासना के दाँत को खींच लेता है जो, वही शूरवीर है। सुभट वीर यानि जिसने इंद्रियों का दमन कर लिया है, संपूर्ण इंद्रियों के व्यापार को जीत लिया है।

भो ज्ञानी! बड़ा आश्चर्य है कि पराधीनता में हजारों उपसर्ग सहन कर रहा है और स्वाधीनता में मात्र बाइस परीषहों को सहन नहीं करना चाहता है। यदि स्वाधीन होकर बाईस

परीषहों को सहन करता, तो भगवान् बन गया होता। गर्मियों में व्यापार में खून पसीना एक करता है, घर में अनेक प्रकार के परीषह सहन करता है। जिसे मित्र समझते हो, तुम्हें पता लग जाये कि वह शत्रु से मिला है तो तुम्हारा व्यवहार कैसा होता है? भो ज्ञानी! जिसे तुम खिला-पिला रहे हो, चौबीस घंटे सेवा में लगे हो और तुम्हें मालूम हो जाये कि वह शरीर कर्म-शत्रुओं से मिला है, फिर भी आप उस शरीर को दुलार दे रहे हो।

भो ज्ञानी! उद्यमशील रहो कर्म शत्रुओं से, उपसर्ग/परीषह से लड़ने के लिये। भयभीत रहो पापों से बचने के लिये। यहाँ परम संयम, रत्नत्रयधारी की चर्चा चल रही है। जो जीव चारों प्रकार के आहार का त्याग कर रहा है, वो प्रत्याख्यान है, यह व्यवहार है। अनशन स्वभावी आत्मा, यह व्यवहार है। बोले, महाराज! उपवास करके शरीर सुखा डाला, फिर भी आप व्यवहार कह रहे हो। हाँ, यह व्यवहार ही है। जब आत्मा निज में रमण करेगी, तब बनेगी अनशन स्वभावी। भो ज्ञानी! जब आत्मा अनशन स्वभावी होती है, तो उस समय वह कहती नहीं है, स्व-स्वरूप में लीन रहती है। पर का अशन तो बहुत किया। अब निज ही को बनाओ और निज ही को खाओ, वो तेरा ज्ञानामृत भोजन है।

भो ज्ञानी! व्यवहार प्रत्याख्यान तो मिथ्यादृष्टि पुरुष के भी होता है। नौवे ग्रैवेयक की यात्रा कराने वाला व्यवहार प्रत्याख्यान ही है। 'अनंत बार ग्रैवेयक उपजाओ' यह कथन मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा से किया है। इसे सम्यग्दृष्टि जीव का कथन मत मान लेना। अतएव निश्चय प्रत्याख्यान ही हितकारी है। परन्तु ध्यान रखना, बिना व्यवहार के नहीं होगा। निश्चयनय की चर्चा निश्चय प्रत्याख्यान नहीं है। निश्चय स्वरूप में लीन हो जाना, उसका नाम निश्चय प्रत्याख्यान है। छोड़ने या न छोड़ने का विकल्प ही नहीं है। आप तो स्वयं में लीन रहो। आँख बंद है तो व्यवहार शून्य है, आँख खुल गई तो व्यवहार में लीन है। अंतरंग दृष्टि है तो व्यवहार अपने आप में शांत है। और वही दृष्टि बनी तो व्यवहार-चारित्र साथ है। यानि दोनों तरफ से तेरी रक्षा है। यह किसके होगा? जो आसन्न भव्य जीव है।

भो ज्ञानी! स्वर्णपाषाण तो उपादेयभूत है, पर अंध पाषाण उपादेयभूत नहीं है। इसी प्रकार से वह व्यवहार उपादेयभूत है जिसमें निश्चयदृष्टि है। यदि निश्चयदृष्टि नहीं है, तो वह व्यवहार भी उपादेयभूत नहीं है। आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' में पुण्य-पाप अधिकार में कथन कर रहे हैं—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति॥ स. सार 153॥

ज्ञान तो नियम से मोक्ष का हेतु है और अज्ञान बन्ध का हेतु है। जो व्रत, नियम, शील, तप को धारण करते हैं, परन्तु परमार्थभूत ज्ञान का अभाव होने से, स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान नहीं होने से वे मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो परमार्थ से शून्य होकर संयम शील का पालन करते हैं, वे निर्वाण को नहीं पाते हैं। परमार्थ को लेकर जो संयम, शील का पालन करते हैं, वे नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यहाँ शील, संयम के पालन का निषेध नहीं किया है। परमार्थशून्यता की जगह परमार्थदृष्टि को कहा है। अंध-पाषाण उपादेय नहीं है, स्वर्णपाषाण ही उपादेय है। संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य हो गया है, भो ज्ञानी! यह छल है। जब तुम निज को ही छल रहे हो जिनवाणी के सामने, तो तेरी क्या दशा होगी?

भो ज्ञानी! रात्रिभोजन छूट नहीं रहा, रात्रि में जब जगे तब पानी पी रहा है। जैनदर्शन तो ठीक, हिन्दू दर्शन के ग्रन्थ मार्कंडेय पुराण में लिखा है कि सूर्यास्त हो जाने पर पानी रक्त तुल्य हो जाता है और अन्न मांस के समान हो जाता है। अब स्वयं विचार कर लो। रात्रिभोजन-पान करके शुद्ध आत्मा की अनुभूति में लीन कैसे हो पायेगा? कल्याण कैसे होगा? संयमाचरण तेरे पास नहीं है और तू स्वरूप में लीन होने की बात करता है। जिनवाणी कहती है कि जब संसार, शरीर, भोगों से भिन्न हो जायेगा, तब तू निश्चय प्रत्याख्यान का कारण बनेगा, फिर संयम संभव हो, यह नियम नहीं है। यदि व्यवहार होगा, तो निश्चय संभव है। व्यवहार नहीं होगा, तो निश्चय संभव नहीं है। संपूर्ण मोह, राग, द्वेष का, अनेक प्रकार के विभावों का परिहार जो है, उसका नाम निश्चय प्रत्याख्यान है। अथवा आने वाले काल में अनेक प्रकार के अंतर्जल्पों का त्याग, यह शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है। अंतर्जल्प इसके समाप्त हो चुके हैं। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार प्रत्याख्यान की व्याख्या समझना।

आचार्य पद्प्रभमलधारिदेव उसी विषय की पुष्टि के लिये मुनिराज को उत्साह पूर्वक समझा रहे हैं कि हे योगी! उस प्रत्याख्यान की ओर बढ़ो। प्रत्याख्यान ही आपकी दीक्षा के लिये सुन्दर दीक्षारूपी नवयौवना पत्नि है। अनेक प्रकार के हेतुओं के माध्यम से यहाँ संकेत कर रहे हैं

जयति सततं प्रत्याख्यानं जिनेन्द्रमतोद्भवं
परमयमिनामेतन्निर्व्वाणसौख्यकरं परम्।
सहजसमता देवीसत्कर्णभूषणमुच्चकैः
मुनिप श्रृणु ते दीक्षाकान्तातियौवनकारणम्॥ कलश 142॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि भगवान् जिनेन्द्र के मत में उत्पन्न हुआ ऐसा प्रत्याख्यान हमेशा जयवन्त हो। कैसा? जो परम मुनीश्वरों को, संयमियों को निर्वाणसुख प्राप्त कराने वाला

है। जो सहज समता देवी के सुन्दर कर्णों का आभूषण स्वरूप है। हे मुनि! सुनो, वह प्रत्याख्यान आपकी दीक्षारूपी स्त्री के लिये यौवन का रस है। संसार में देखा जाता है कि जो सुख बालस्त्री प्रदान नहीं कराती, वृद्धा प्रदान नहीं कराती, वह सुख युवा स्त्री प्रदान कराती है। इसलिये आचार्यभगवान् ने यहाँ युवा स्त्री की उपमा दी है। किसको? प्रत्याख्यान को। जो तेरी दीक्षारूपी कांता है, उस कांता को युवा रखने वाला कोई है तो प्रत्याख्यान है। त्याग है, तो संयम युवा है। त्याग है, तो तेरा संयम यौवन अवस्था को प्राप्त है। त्याग का अभाव हुआ, तो संयम वृद्ध हो गया। शरीर वृद्ध हो जाये तो कमर झुक जाती है, इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। परन्तु योगी के संयम में वृद्धपना नहीं आना चाहिये। संयम में शिथिलता नहीं आना चाहिये। जो संयम का मार्ग है, वो तो उत्तरोत्तर वृद्धि का मार्ग है।

भो ज्ञानी! संयम में उत्तरोत्तर वृद्धि होना चाहिये। पहले जितने उपवास करता था, जितना स्वाध्याय करता था, उसमें वृद्धि होना चाहिये। अब तो सल्लेखना के नजदीक तेरी भूमिका आ रही है। तेरा शत्रु यमराज सामने खड़ा है। अब तो आपको और वृद्धि करना है। आपको ध्यान, तप, जप, स्वाध्याय में न्यूनता नहीं लाना है। संसार के प्राणी पुरुष स्वयं धूप में मेहनत कर लेते हैं, परन्तु स्त्रियों को धूप में कार्य नहीं करने देते हैं, क्योंकि वह अपनी स्त्रियों के चर्म को (शरीर को) कोमलता रहित नहीं करना चाहते है। इसी प्रकार आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि हे योगी! जो दीक्षा-कान्ता है, वह वृद्ध न होने पाये, उसके लिये आप प्रत्याख्यान का भोजन देते जाओ, जिससे कि उसका रूप, लावण्य, यौवन सुन्दर बना रहे।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : निश्चय प्रत्याख्यान के योग्य जीव का स्वरूप

गाथा : एवं भेदब्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि, धरिदुं सो संजदो णियमा॥ 106 ॥

संस्कृत छाया : एवं भेदाभ्यासं यः करोति जीवकर्मणोः नित्यम्।
प्रत्याख्यानं शक्तो धर्तुं स संयतो नियमात्॥ 106 ॥

अन्वयार्थः (एवं यः) इस प्रकार से जो साधु (नित्यं) नित्य ही (जीव कर्मणोः भेदाभ्यासं) जीव और कर्म के भेद का अभ्यास (करोति) करता है (सः संयतः) वह संयमी (नियमात्) नियम से (प्रत्याख्यानं धर्त्तुं शक्तः) प्रत्याख्यान को धारण करने में समर्थ होता है।

नियमदेशना

मनीषियो! आचार्यभगवान कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में प्रत्याख्यान के अधिकारी निर्ग्रन्थ योगी की दशा का कथन किया। जिन्होंने इंद्रियों के समस्त विषयों को जीत लिया है, ऐसे शूर, रत्नत्रयधारी, निर्ग्रन्थ योगी ही सुप्रत्याख्यान के अधिकारी हैं। आचार्यभगवान् निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं कि इस प्रकार से जो भेद-अभ्यास करता है कि मैं भिन्न हूँ, कर्म भिन्न हैं। शुद्ध-बुद्ध का अभ्यास करने के पूर्व भेद-अभ्यास अनिवार्य होता है। क्योंकि जब तक पर से अपने आपको भिन्न नहीं स्वीकारोगे, तब तक भोगों के प्रति अरुचि नहीं होगी। भोगों के प्रति अरुचि नहीं है, तो ज्ञानी! शुद्ध चैतन्य-अवस्था का वेदन संभव नहीं है। भो ज्ञानी! एकसाथ जीव के दो चिन्तन नहीं रहते हैं। आप अशुभ चिन्तन में रुचि लेते हो, इसलिये अशुभ चिन्तन बनता है। यदि अशुभ चिन्तन में रुचि लेना बन्द कर दो, उसी क्षण वही तेरा चिन्तन शुभ प्रारम्भ हो जायेगा। अशुभ अनुभूति करने वाले को वह शुभ चिन्तन अंतराय डालता है। कभी-कभी शुभ चिन्तन बार-बार टकरा रहा है, लेकिन इंद्रिय-लिप्सा सामने खड़ी हुई है। तू जानकरके उस शुभ चिन्तन को ठोकर देकर इंद्रिय-लिप्सा में चला जाता है, तन्मय हो जाता है। मन और जल की दशा एक-सी है। जल कभी किसी को डुबाता नहीं है। नदी, तालाब आदि में पानी में डूबे व्यक्ति को पानी ऊपर फेंक देता है। तुम निकल नहीं पाते हो तो फिर गहरे पानी में व्यक्ति डूब जाता है। इसी प्रकार से मन कहता है कि मैं अपने आप में कभी अशुभ नहीं सोचना चाहता हूँ। शुभ ही सोचना चाहता हूँ। परन्तु आपकी लिप्सा बार-बार अशुभ में पहुँचती है, फिर मुझे उस अशुभ में निमग्न होना पड़ता है।

भो ज्ञानी! इंद्रियविकार आते हैं, पर मन में विकार जब तक नहीं आयेगा, इंद्रियविकार कार्यान्वित नहीं हो सकते हैं। जैसा गरिष्ठ भोजन करोगे, वैसा इंद्रियों में दर्प बढ़ेगा। वह दर्प जब तक मन तक नहीं पहुँचता है, तब तक इंद्रियदर्प कुछ नहीं कर सकेगा। यदि आप अशुभ चिन्तन करते हो तो इंद्रिय का दर्प बढ़ेगा, फिर तुम्हें बचानेवाला कोई नहीं होगा। इसलिये यहां कह रहे हैं कि भेद का अभ्यास करो। मैं तो इंद्रियातीत स्वरूप हूँ। जब मेरे में इंद्रियाँ नहीं, तो इंद्रियों का भोग किसका? मैं द्रव्यमन, भावमन दोनों से रहित हूँ। द्रव्यमन भी मेरा धर्म नहीं है, भावमन भी मेरा धर्म नहीं है। जीव का लक्षण द्रव्यमन, भावमन नहीं है। जीव का लक्षण इंद्रिय नहीं है, मन नहीं है। यदि कोई जीव का लक्षण इंद्रिय व मन करता है, तो विग्रहगति में क्या होगा? क्योंकि वहाँ इंद्रियों की कोई भी रचना नहीं होती, मन की नहीं होती, मात्र कर्मों का पिण्ड जा रहा है। सिद्धभगवान् के कोई इंद्रियाँ नहीं हैं। यदि जीव का लक्षण इंद्रियाँ हो गया, तो सिद्धभगवान् में जीव का अभाव हो जायेगा। यह असंभव दोष है।

आचार्य यतिभूषण ने 'न्याय दीपिका' में लिखा है कि जैसे कोई मनुष्य का लक्षण सींग करे, तो यह असंभव दोष है। जीव में इंद्रियाँ होती हैं, पर इंद्रियाँ जीव का लक्षण नहीं है। जैसे अग्नि की उष्णता आत्मभूत लक्षण है, वैसे ही जीव की चेतनता आत्मभूत लक्षण है। ज्ञान-दर्शन जीव का आत्मभूत लक्षण है। इसलिये भेदज्ञान का अभ्यास करो। दर्प वस्तु में नहीं है, दर्प तेरी दृष्टि में है। ध्यान से अभिप्राय बदलो। जो विपरीत अभिनिवेश है, वही तुझे निज से दूर किये है। भिन्नता का अभ्यास करो। भो ज्ञानी! जब पंचपरमेष्ठी का राग भी तुझे पंचमगति से बचाके रखता है, तो कुटुम्बीजनों, पंचों का राग तुम्हें मोक्ष कैसे दिलायेगा? नौका को चाहे लकड़ी के खूँटे से बांधना, चाहे लोहे के खूँटे से बांधना, परन्तु वह नौका के चलने में बाधक तो है। ऐसे ही राग चाहे घर का हो, चाहे तन का हो, चाहे चेतन का हो और चाहे मोक्ष का ही क्यों न हो, जब मोक्ष के राग से मोक्ष नहीं जा पा रहा है, तो पर का राग तुझे मोक्ष कैसे दिलायेगा? कहीं-न-कहीं तेरा जुड़ाव है, तो बँधके रहोगे। कर्म तुम से यह नहीं कहेगा कि ये अच्छे लोगों से जुड़े हैं, ये बुरे लोगों से जुड़े हैं। कोई रेशमी कपड़े में लिपटा हो, कोई फटे कपड़े में लिपटा हो, लिपटे तो दोनों ही हैं। चाहे शुभ राग में लिपटो, चाहे अशुभ राग में लिपटो, पर शुद्धोपयोग कहेगा कि तुम लिपटे तो हो।

भो ज्ञानी! यदि भेद-अभ्यास नहीं है, तो दिगम्बर बनने पर भी निर्ग्रन्थ नहीं बन पाओगे, वस्त्र उतारकर भी निर्वस्त्र नहीं हो पाओगे। इसलिये "पृथक् स्वरूपोऽहम्" का चिंतन करो। मैं परद्रव्यों से अत्यन्त भिन्न हूँ। इसे आप वाणी का विषय मत बनाना, इसे अंतःकरण का विषय बनाना। जीव और कर्म में भेद करो। आप तो कार्यों और कर्मों में भेद नहीं कर पा

रहे हो। तू मिर्च खाये जा रहा है, सी-सी कर रहा है, आँखों से आँसू निकल रहे हैं, ऐसा कौन-सा आनंद है? जिसके खाने में दु:ख, जिसके मलरूप छोड़ने में दु:ख और फिर भी अपने हाथ से खा रहा है। विचार करो कि मैं कर्म-नोकर्म से भिन्न हूँ। ये मेरा वास्तविक धर्म नहीं है। कर्म-नोकर्म से भिन्नता की ओर तभी जा पायेगा, जब राग-द्वेष से भिन्न होगा। ध्यान रखना, कभी-कभी जन-परिजन के राग छूट जाते हैं, पर यह नोकर्म का राग तीव्र होता है। देह का राग विश्व में सबसे विचित्र राग है। कभी-कभी इतना गहरा हो जाता है कि वह राग उसी देह में कीड़ा बना देता है। इसलिये बार-बार कह रहे हैं कि भेद-अभ्यास करो।

हे बुद्धिमान! जैसे वस्त्र के जीर्ण होने पर देह जीर्ण नहीं होती है, उसी प्रकार से इस शरीर के जीर्ण होने पर तेरी आत्मा जीर्ण नहीं हो रही है। शरीर के बूढ़े होने पर साधना को बूढ़ी मत करो। मोटे वस्त्र के पहनने से तेरा शरीर मोटा नहीं होता। पतले वस्त्र के पहनने से तेरा शरीर पतला नहीं होता। ऐसे ही देह के मोटे-पतले होने पर यह आत्मा मोटी-पतली नहीं होती यह तत्त्वदृष्टि प्रतिक्षण/प्रतिपल रखने की आवश्यकता है। छोटा व्यापारी भी अपने व्यवसाय को बड़ा करने के बारे में चिन्तन करता रहता है। इसी तरह साधक को चाहिये कि हम अल्प साधना को दीर्घ कैसे करें। ऐसा नहीं कि दैनिक क्रियाओं को परिपाटी (रुटीन) मानकर कर रहा है। प्रतिदिन नयी-नयी साधना करेगा, तभी तेरी दीक्षा स्त्री/युवती बनकर रह पायेगी।

भो ज्ञानी! वट्टकेर स्वामी ने 'मूलाचार' में कहा है कि वही ज्ञान 'ज्ञान' है, जिससे तत्त्वज्ञान की वृद्धि हो, चित्त की विशुद्धि हो, कर्मों की निर्जरा हो। भगवान् जिनेन्द्र के शासन में वही ज्ञान 'ज्ञान' संज्ञा को प्राप्त होता है, जो श्रीमद् अरहन्तदेव के मुखकमल से निर्गत हो और परमागम अर्थ के विचार करने में समर्थ हो। ऐसी वाणी जनकल्याणी है। इनकी आलोचना उनकी प्रत्यालोचना, यह तो कषाय को बढ़ाने वाली है। प्रबुद्ध लोग तो निंदनीय की भी निंदा नहीं सुनना चाहते हैं। वह जमाना गया जब कुछ लोग एक दूसरे की निंदा में आनंद मानते थे। ग्रहस्थ बड़ी कठिनाई से समय निकालकर धर्मसभा में आता है और कोई यहाँ-वहाँ की बातों में समय को बर्बाद करता है, तो वह दुबारा नहीं आयेगा। इसलिये वह बताना जिसे आज तक हमने नहीं जाना। जिनवाणी सुनकर अपूर्व आनंद आये। भो ज्ञानी! तूने काम, क्रोध, बंध, कषाय की कथायें अनंतकाल से सुनी हैं।

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्य वि कामभोगबंध कहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्य॥ स. सार 4॥

हे ज्ञानी! आज तक तूने क्या किया है? भोजन, राग, द्वेष की चर्चा शुरू कर दो तो सब अपनी-अपनी सुनाने लगेंगे। काम, भोग, बंध की कथा सुलभ है, परन्तु एकत्व-विभक्त

की चर्चा न तूने सुनी है, न अनुभव की है, न तू उससे परिचित है, इसलिये कठिनाई महसूस होती है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि प्रत्याख्यान वही संभव है, वही समर्थ है, जिसने वीतराग जिनेन्द्र के मुखकमल से निर्गत वाणी का पान किया है। अनादिकाल के बंधन से सम्बन्धित ऐसे अशुद्ध-चेतन तत्त्व और कर्मपुद्गल में भेद अभ्यास के बल पर भेद करता है। कर्म से संबंध होने के कारण अशुद्ध-चेतन कहा है। संगठित होने पर भी भेद देख रहा है। मैं भिन्न हूँ, पुद्गल भिन्न है। जैसे पारखी अष्ट-धातु की प्रतिमा में संयुक्त रहने पर भी सब द्रव्यों को जान रहा है कि कितना सोना, चांदी, ताम्बा, जस्ता आदि है; परन्तु जिसे ज्ञान नहीं है, वह एक प्रतिमा को देख रहा है। जिसे ज्ञान नहीं है, भान नहीं है, वो पुद्गलपिण्ड में ही जीव को देखता है। जिसे भेदज्ञान है, वह चैतन्यद्रव्य को भिन्न देखता है। इसलिये सबसे बड़ा पारखी/जौहरी भेदविज्ञानी यतीश्वर हैं। वह सैंतालीस शक्तियों को भी देख रहा है। उन शक्तियों को दिखानेवाली सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानवैराग्य शक्ति है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी 'अध्यात्म अमृत कलश' में लिख रहे हैं "सम्यग्दृष्टिः भवति ज्ञान-वैराग्य शक्तिः" अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान का साक्षात् फल है। ज्ञान-शक्ति कह रही है कि भिन्न-भिन्न है, अभिन्न नहीं है। वैराग्यशक्ति कहेगी कि जब भिन्न है, तो भिन्न को छोड़िये। ज्ञान-ज्ञान में फर्क है। एक ज्ञान है सामान्य जानकारी, जो मिथ्यात्व अवस्था में भी हो जाता है, ग्यारह अंग का ज्ञान हो जाता है। पर वह भेदविज्ञान नहीं है। आगम, शास्त्रों को जान लेना भेदज्ञान नहीं है। आगम, अनागम को पहचान लेना भेदविज्ञान नहीं है। आत्मा को अनात्मा से भिन्न स्वीकार लेना, इसका नाम भेदविज्ञान है। मैं भिन्न हूँ, पुद्गल भिन्न है, यह तो वेदान्त दर्शन में भी लिखा है। वशिष्ठ योग में लिखा है "अर्हत् स्वरूपोऽहम्"। वशिष्ठ रामायण में वैराग्यदृष्टि को दर्शाया है। वहाँ श्रीराम अपने पिता दशरथ से कह रहे हैं कि कौन कहता है कि मैं राम हूँ? मैं राम नहीं हूँ। जिसे आप राम कहते हो, वो देहधर्म है। दुनियाँ कहती है कि राम दशरथ के पुत्र हैं, परन्तु मैं तो अर्हत् स्वरूप हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ। अर्हत् शब्द का प्रयोग बौद्धदर्शन में सर्वत्र है। निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग भी है, क्योंकि बौद्धदर्शन को श्रमण परम्परा माना जाता है।

भो ज्ञानी! वैदिक दर्शन में नचिकेत और राजा जनक बहुत बड़े ऋषि माने जाते हैं। उनसे पूछा कि अध्यात्म विद्या का सबसे बड़ा ज्ञाता कौन है? जो ज्ञाता-दृष्टा है, वह दृष्टव्य नहीं है और जो दृष्टव्य है, वो ज्ञाता-दृष्टा नहीं है। यही अध्यात्मविद्या का सार है। तूने परदृष्टव्य को इतना पहचाना कि निज के ज्ञाता-दृष्टापने को ही भूल गया। भेदविज्ञान, यह अंदर का ज्ञान है और भाषाज्ञान, यह बाहर का ज्ञान है। ज्ञाता-दृष्टा में आत्मा को लगाना। जैनदर्शन के शब्दों में जो ज्ञाता-दृष्टा है, वो चाक्षुष नहीं है। जो चाक्षुष है, वह ज्ञाता-दृष्टा नहीं है। आत्मा इंद्रियगोचर नहीं है।

भो ज्ञानी! जब टीकाग्रन्थ पढ़ते हैं तो पढ़ते हैं कि शिष्य ने ऐसा प्रश्न किया, आचार्य महाराज समाधान कर रहे हैं। वहाँ कोई शिष्य या प्रश्नकर्त्ता नहीं रहता है। स्वयं शिष्य बनके प्रश्न करते हैं, स्वयं समाधान देते हैं। यह आचार्यों की शैली है। आचार्य पूज्यपादस्वामी 'सवार्थ सिद्धि' को इसी प्रश्न से प्रारंभ करते हैं कि भगवान्-आत्मा का हित किस में है? मोक्ष का स्वरूप क्या है? रत्नत्रय धर्म क्या है? उत्तर देते हैं कि जहाँ संपूर्ण कर्मों का अभाव हो जाये, उसका नाम मोक्ष है।

ज्ञानी! तू कहता है कि मेरे कर्म हैं। कोई कहता है कि मेरे नोकर्म हैं। मैं कर्म हूँ, मैं कर्मों का हूँ, यह अज्ञानी/अप्रतिबुद्ध का कथन है। जो कर्म-नोकर्म को निजधर्म नहीं मानता है, वह प्रतिबुद्ध है।

जितने जीव सिद्धि को प्राप्त हुये हैं, वो भेदविज्ञान से हुये हैं। जितने बँध रहे हैं, वे उसके अभाव में बँध रहे हैं। अमृतचन्द्र स्वामी ने भेदविज्ञान के महत्व को दर्शाते हुये यह कथन किया है, भेदविज्ञान की महिमा बताई है। लोग महिमा सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं, परन्तु प्रक्रिया करने में पीछे हट जाते हैं। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि परम संयमी अशुद्ध चेतन-तत्त्व और कर्मपुद्गल में भेद-अभ्यास के बल से भेद को करता है तथा निश्चय और व्यवहार इन दोनों प्रत्याख्यानों को स्वीकार करता है। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव प्रत्याख्यान की महिमा को नौ कलशों के द्वारा प्रतिपादित कर रहे हैं। कलश संख्या 143 से प्रारंभ करते हुये कह रहे हैं–

भाविकाल भवभाव निवृत्तः सोऽहमित्यनुदिनं मुनिनाथः।
भावयेदखिलसौख्यनिधानं स्वस्वरूपममलं मलमुक्त्यै॥ कलश 143॥

जो भविष्य में भव के भाव को समाप्त करने वाले हैं। भविष्यकाल में भव का विनाश हो, ऐसे भावों से रहित हो चुके हैं। "सो ही मैं हूँ" ऐसे मुनिनाथ/महामुनि मल से मुक्त होने के लिये भावना करते हैं। जो भव से भविष्य में अभाव होगा, वो दूसरा नहीं, मैं हूँ, ऐसा मुनिनाथ ने कहा है। जो समस्त सुख का निधान है। मल से रहित जो निर्मल स्वयं है, ऐसे अपने स्वरूप की प्रतिदिन भावना करते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार में उपसंहार रूप गाथा 106 में कहा कि जब जीव और कर्म इन दो के भेद का अभ्यास नहीं होगा, जबतक तू तत्त्व का ज्ञाता नहीं होगा तो प्रत्याख्यान करना संभव नहीं है। यतियों के षट् आवश्यक में प्रत्याख्यान एक अवश्य कर्त्तव्य है। प्रत्याख्यान से तात्पर्य मात्र भोजन का त्याग नहीं है। भोजनभर के त्याग से प्रत्याख्यान पूर्ण मत समझ लेना। आहार का त्याग तो किया ही जाता है। आपने अपने भाव/परिणाम कितने विकृत किये हैं, कभी आप गुरुचरणों में कहने गये कि प्रभु! ऐसे परिणाम मेरे हुये हैं उनका प्रत्याख्यान करता हूँ, प्रतिक्रमण करता हूँ? यह तो सामान्य जीव भी कर लेता है कि आज मेरे भोजन का त्याग। श्रावक और साधु के सम्यक्त्व के आठ अंग एकसे हैं, लेकिन चारित्र अपेक्षा साधु महान है, पर सम्यक्त्व अपेक्षा कोई अंतर नहीं है। यदि आप सम्यक्त्व के आठ अंगों का पालन नहीं कर रहे हो तथा चारित्र तुम्हारा कितना भी उज्जवल हो, पर आप मिथ्यादृष्टि हो। पहले भवन की नींव आवश्यक है।

भो ज्ञानी! अब आप सोचना कि प्रत्याख्यान कहाँ जा रहा है। प्रभु! मेरे द्वारा आज सम्यक्त्व के नि:कांक्षित अंग का घात हुआ है। आकांक्षा भाव आ गया कि अमुक सामग्री मिल जाती। मैं आकांक्षा का प्रत्याख्यान करता हूँ और नि:कांक्षित भाव को प्राप्त होता हूँ। धर्म-धर्मात्मा को देखकर तुम्हारे मन में ग्लानि भाव आ गया और उपवास लेकर आ रहे, तो माँ जिनवाणी कहेगी कि क्यों लंघन कर रहे हो? तू सम्यक्त्व को खोकर उपवास करने को बैठा है, लोगों को धोखा दे रहा है। लोगों को प्रभावित करने के लिये तूने भोजन तो छोड़ दिया, परन्तु जब तू वास्तव में धर्म से प्रभावित था, तो क्यों तूने एक यति के प्रति ग्लानि भाव किया? यति नहीं, यदि मल के प्रति भी ग्लानि भाव होता है, तो तेरे निर्विचिकित्सा अंग का पालन नहीं हो रहा है। करो प्रत्याख्यान। मेरे अंदर विचिकित्सा उत्पन्न हुई, मैं उसका त्याग करता हूँ। यह प्रत्याख्यान है।

भो ज्ञानी! सम्यक्त्व के आठों अंग निश्चय-व्यवहार में होते हैं। आठों अंग श्रावकाचार में वर्णित हैं। 'समयसार' में आठ गाथाओं में आठ अंगों का वर्णन किया गया है। अमूढ़दृष्टि अंग, मैं इतना बड़ा तपस्वी, त्यागी, फिर भी जैन लोग ध्यान नहीं रख रहे हैं और देखो यह पाखंडी जीव, इसके भक्त इसकी कितनी आराधना कितनी भक्ति कर रहे हैं? किसी की आराधना को, किसी की भक्ति को, किसी की विभूति को देखकर यदि साधक के मन में उसके प्रति प्रशंसा का भाव आता है, तो आपके सम्यक्त्व में दोष लग गया। अमूढ़दृष्टिपना

छूट रहा है। मूढ़ता में चले गये। इसलिये प्रभु! मैं मूढ़ता का प्रत्याख्यान करता हूँ। जिसने प्रत्याख्यान को संभाल लिया, उसकी सल्लेखना भी संभल जायेगी। समाधि उसी की है, जिसके साथ प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान नहीं है तो समाधि नहीं है। क्यों? अंतिम श्वास चल रही थी, खाने को लड्डू माँग रहा था, क्योंकि प्रत्याख्यान का अभ्यास नहीं किया।

भो ज्ञानी! एक वस्तु की आवश्यकता है, हजारों रखे है, तो राग है कि नहीं? आस्रव है कि नहीं? बन्ध होगा कि नहीं? चाहे सेवन करो या न करो, बन्ध ही नहीं, महाबंध होगा। यदि आप आवश्यकता से अधिक वस्तु रखते हो तो दूसरे उसके उपयोग से वंचित हो जाते हैं। इससे तुझे अंतराय कर्म का भी आस्रव बंध होता है। अमृतचंद्रस्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' की टीका में इसका उल्लेख किया है। एक व्यक्ति ने संयम में दोष लगाया और आपने उसका दुष्प्रचार किया, तो आपका उपगूहन अंग चला गया। घात तो दोनों का होगा, परन्तु आगम कहता है कि प्रचार करने वाले का अधिक होगा।

'अष्टपाहुड' में लिखा है कि जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुआ, वो भ्रष्टों में भ्रष्ट है। लेकिन जो चारित्र से भ्रष्ट हुआ है, उसके पास बहुतकुछ बचा है। वो प्रायश्चित करके पुनः स्थापित हो जायेगा, परन्तु तू श्रद्धा से च्युत हो चुका है तो प्रायश्चित किसका करेगा? कषाय समझ में आ तो रही है, पर संभलने नहीं दे रही है। जो जीव गलत काम कर रहा है, वो अज्ञानी नहीं है, वो बहुत बड़ा ज्ञानी है, लेकिन क्षयोपशम का दुरुपयोग कर रहा है। मेरे सामने कोई गिर रहा है और मैं देख रहा हूँ। क्यों? यदि यह उठ जायेगा, तो मेरी पूजा कम हो जायेगी, इसलिये गिर जाने दो। धिक्कार हो तुझे। यशकीर्ति के पीछे तूने सम्यक्त्व के स्थितिकरण अंग का पालन नहीं किया। तूने प्रत्याख्यान किया कि नहीं? भगवन्! मेरे से स्थितिकरण अंग का पालन नहीं हुआ, मैं प्रत्याख्यान करता हूँ। पहले आप प्रत्याख्यान करो भविष्य के लिये और प्रतिक्रमण करो, आलोचना करो उसकी जो तुम कर चुके हो।

भो ज्ञानी! एक कुंभकार के यहाँ घड़े रखे हुये थे। एक सज्जन आये और एक घड़ा फोड़ दिया और कहने लगे कि मेरे से बहुत भूल हुई। फिर दूसरा घड़ा फोड़ दिया, फिर तीसरा फोड़ दिया। कुंभकार ने पूछा कि यह आप क्या कर रहे हो? वे घड़ा फोड़कर बोलते जा रहे थे 'मेरे दुष्कर्म मिथ्या हों' कुंभकार ने यह सुनकर उनके सिर पर एक डंडा मारा और बोला—'मेरे दुष्कर्म मिथ्या हों।' फिर दूसरा डंडा मार दिया। वो बोले कि यह क्या कर रहे हो? उसने कहा कि जैसा आपने सिखाया, वैसा ही कर रहा हूँ। आप जानबूझकर घड़ा फोड़ रहे हो, यह कैसा प्रतिक्रमण है? जान-जानके दोष करो और दोष छोड़ नहीं रहे हो और कह रहे हो 'तस्स मिच्छा मे दुक्कडम्' इसलिये जो अपराध तुमने किया है, पहले उसका त्याग करो, फिर तस्स मिच्छा मे दुक्कडम्।

भो ज्ञानी! मैंने देखा कि कोई धर्मात्मा आया है, धर्म की प्रभावना कर रहा है, हमने जाकर उसकी अप्रभावना फैलायी। गुरुचरणों में जाकर निवेदन किया कि मुझसे अवात्सल्यता प्रकट हुई है। बाहर धर्म का मंच बनाकर बातें करना बहुत सरल है। अंदर में धर्ममंच बनाओ और स्वयं के प्रवचन स्वयं को सुनाओ। आप ऐसे धर्मात्मा हो कि एक दूसरे को देखना नहीं चाहते, करो प्रत्याख्यान इसका। यह मत सोच लेना कि मेरा प्रभाव है, सो वह पाप कट जायेंगे। प्रभाव से प्रभाव तो दिखेगा, पर पाप नहीं कटेंगे। पाप तो प्रत्याख्यान से ही कटेंगे। हे भगवन्! मेरे से अवात्सल्य भाव हुआ है, उसका मैं प्रत्याख्यान करता हूँ, प्रतिक्रमण भी करता हूँ। जिनशासन की प्रभावना का अर्थ किसी व्यक्ति-विशेष की प्रभावना नहीं है। जिनशासन की प्रभावना का अर्थ यह नहीं है कि मेरे नाम का बेनर हो। यह तेरे निज की चमड़ी की प्रभावना है, वीतराग धर्म की प्रभावना नहीं है। वीतराग धर्म की प्रभावना के लिये किसी बेनर, पोस्टर की आवश्यकता नहीं होती है। जिसने अपनी आत्मा को रत्नत्रय से प्रभावित किया है, उसे बाहर दिखाने की आवश्यकता नहीं है। जो बाहर जितना दिखाना चाह रहा है, वह अंदर से उतना सूखा है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यदि मेरे द्वारा भगवान् जिनेन्द्र के शासन की और निज देव की अप्रभावना हुई है, मैं उसका प्रत्याख्यान करता हूँ। सम्यक्त्व के आठ अंगों के पालन न करने से यह आठ प्रकार का प्रत्याख्यान हुआ।निजदेव की प्रभावना बहुत जरूरी है।

रत्नत्रय के तेज से निज आत्मा को प्रभावित करना ही धर्मप्रभावना है साधु के लिये। दान, पूजा, तप आदि करना, यह श्रावक के द्वारा की गई प्रभावना है। साधु के समान बारह प्रकार के तप श्रावक के नहीं होते हैं। चातुर्मास कर रहे हो कहीं, सीमित क्षेत्र को छोड़कर आ-जा नहीं रहे हो, उस क्षेत्र को छोड़कर गमनागमन का प्रत्याख्यान है। ऐसे में तुम किसी को गमन नहीं करा सकते हो, किसी से बाहर से सामग्री नहीं मँगा सकते हो, क्योंकि गमनागमन में जो हिंसा होगी, उसका दोष तुमको लगेगा। इसलिये अहिंसा धर्म और महाव्रतों की वृत्ति और प्रत्याख्यान की चर्चा, यह शास्त्रों में मत रखो, यह चर्या का विषय बनाओ, नहीं तो लोगों को धर्म का स्वरूप समझ में नहीं आयेगा। यह प्रत्याख्यान अधिकार का उपसंहार चल रहा है। जब तक जीव और कर्म में भेद नहीं दिखेगा, तब तक वाह-वाही में तो रहोगे, लेकिन अंतरंग में त्यागदृष्टि नहीं होगी। ज्ञानी! रूढ़ियों में धर्म मत मान बैठना। परम्पराओं में, रूढ़ियों में धर्म नहीं है। धर्म तेरी आत्मा की निजी व्यवस्था है। अहिंसा का नाम ही तो प्रभावना है। जैनियो! तुम्हारी पहचान प्रपंचों से नहीं है, ढोल-ढमाकों से नहीं है। तुम्हारी पहचान और प्रभावना अहिंसा से है। इसलिये प्रभावना बाहर मत खोजना। प्रभावना यानि चारित्र। निर्दोष,

निश्छल, निष्काम संयमवृत्ति का पालन। हो सकता है कि आप बाहर कागजों में नहीं आ पाओ, परन्तु अंत:करण में श्रद्धा की दीवाल पर जरूर आ जाओगे। इसलिये प्रपंचों में ज्यादा मत जाओ।

घोर संसृति महार्णवभास्वद्यानपात्रमिदमाह जिनेन्द्रः।
तत्त्वतः परमतत्त्वमजस्रं भावयाम्यहमतो जितमोहः॥ कलश 144॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं, हे योगी! जो संसार घोर महासमुद्र है, ऐसे महासागर से पार होने के लिये जलयान की आवश्यकता होती है। उसके बिना पार नहीं हो सकते हैं। निश्चय प्रत्याख्यान जहाज है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जिसने मोह को जीत लिया है, परमतत्त्व को जान लिया है, उसे मैं भाता हूँ। भो ज्ञानी! आत्मतत्त्व ही परमतत्त्व है, वही पोत है। उस पोत पर बैठकर तुम भवसागर से तिरना चाहते हो तो प्रत्याख्यान रूपी यान का सहारा लो

प्रत्याख्यानं भवति सततं शुत्रचारित्रमूर्तेः
भ्रान्तिध्वंसात्सहज परमानन्द-चिन्निष्ठबुद्धेः।
नास्त्यन्येषाम परसमये योगिनामास्पदानां
भूयो भूयो भवति भविनां संसृतिर्घोररूपा॥ कलश 145॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि प्रत्याख्यान उसी के होता है, जो साधक शुद्ध चारित्र की मूर्ति है। जिसके पास शुद्ध चारित्र नहीं है, उसका प्रत्याख्यान नहीं है। मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से नवकोटि से परद्रव्य का प्रत्याख्यान बहुत सारे जीव करनेवाले हैं, परन्तु भावों में जो द्रव्य रखे हैं, उनका प्रत्याख्यान करनेवाले लाखों में कुछ ही जीव हैं। 'मूलाचार' जी में लिखा है, अहो तन के त्यागियो! तुम्हारी संख्या बहुत है। तन के ब्रह्मचारियो! तुम्हारी संख्या बहुत है। पर स्वयं से पूछो कि मन का त्याग कितना है? जो भावों से व्रती है, वही व्रती है। मात्र द्रव्यव्रती से सुगति होनेवाली नहीं है। विषयरूपी अरण्य में जो लोलुपी मनरूपी हाथी घूम रहा है, उसे ज्ञान-अंकुश के द्वारा पकड़ लो तथा वैराग्य रूपी रस्सी से बांध दो। ज्ञान-वैराग्य दृष्टि नहीं है, तो मनहस्ति वश में होनेवाला नहीं है।

भो ज्ञानी! मात्र वाणी के माधुर्य को मत देखना। वाणी की मधुरता मयूर में भी होती है, पर वह सर्प को पकड़ लेता है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि वाणी नहीं, अभिप्राय को निर्मल करो। अभिप्राय निर्मल है, तो भ्रान्ति के शान्त होने पर सहज परमानंद में निष्ठा-बुद्धि से ठहरता है। यह ध्यान रखना कि प्रत्याख्यान जिनशासन में ही मिलेगा, अन्य शासन में यह शब्द ही नहीं है। वहाँ तो जितना धनाढ्य, जितना बड़ा राग, परिग्रह, मठ होगा, उतना बड़ा

सन्त माना जायेगा। निर्ग्रन्थो! यह जैनदर्शन मठ-परम्परा नहीं है, यह निर्ग्रन्थ-परम्परा है। श्रमण संस्कृति में साधक का कोई निजी स्थान नहीं होता है। कोई भवन, मठ, मंदिर, तीर्थभूमि नहीं होती है। सभी स्थान उसके तीर्थ हैं।

आचार्यभगवन् वीरसेन स्वामी ने 'धवला' में योगी को सर्प की उपमा दी है। सर्प अपना बिल कभी नहीं बनाता है। दीमक आदि बिल बनाते हैं, उस वामी में सर्प रहता है। वह स्थान के प्रति निःसंग होता है। ऐसे ही निर्ग्रन्थमुनि अपने लिये कृत-कारित-अनुमोदना से कभी भवन नहीं बनवाते। वह सर्प के समान भवन में रहते हैं, इसलिये सर्प से उपमा दी है। एक बार एक श्रावक ने आचार्य शांतिसागर जी महाराज से कहा कि यह कमरा आपके चातुर्मास के लिये बनवाया है। आचार्यमहाराज ने पिच्छि-कमंडलु उठाया और पेड़ के नीचे बैठ गये। पूछा कि क्या हुआ? बोले कि हमारा उद्दिष्ट का त्याग है। उद्दिष्ट आहार मात्र में नहीं होता, मठ, भवन आदि बनवाने में भी होता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी 'स्वयंभूस्तोत्र' में नेमिनाथ स्वामी का स्तवन करते हुए कह रहे हैं, हे नाथ! अहिंसा ही परम ब्रह्म है। तृणमात्र भी किसी के परिग्रह है, तो उसके पास अहिंसा नहीं है । आश्रम, भवन, मठ आदि का परिग्रह रहेगा, तो अहिंसा नहीं है। जो परसमयी है, कुलिंगी है, उनको यह प्रत्याख्यान स्पर्श भी नहीं करता है। उनको तो पुनः पुनः घोर संसार का ही बंध होता है। शुद्ध चारित्रमूर्ति में ही प्रत्याख्यान संभव है, अन्यथा नहीं।

महानंदानंदो जगति विदितः शाश्वतमयः।
स सिद्धात्मन्युच्चैर्नियतवसतिर्निर्मलगुणे।
अमी विद्वान्सोऽपि स्मरविनिशितशस्त्रैरभिहताः
कथं काङ्क्षंत्येनं बत कलिहतास्ते जडधियः॥ कलश 146॥

भो ज्ञानियो! इस कलश में आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने बुद्धि के पंडित को स्थान नहीं दिया। जो महान आनंद से भी अधिक आनंदरूप, ऐसा महान आनन्दस्वरूप, जग में प्रसिद्ध है, शाश्वतमय है। वह अतिशय रूप से, निर्मल गुणों से सहित, सिद्ध-आत्माओं में निश्चितरूप से निवास करता है। हे विद्वान्! तू काम के तीव्र वाणों से बिंधित है और रमणियों में रमण कर रहा है, तो तू कहाँ आत्मानन्द की बात कर रहा है? यह कार्यकारी नहीं होगा।

पंडित! तू कैसे आत्मानन्द की कांक्षा कर रहा है? जब तक विशुद्ध चारित्रमूर्ति नहीं बनोगे, तब तक सिद्धस्वभावी नहीं बन सकोगे।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी, आचार्य शुभचंद्र स्वामी के समय में भी चौथे गुणस्थान में आत्मानुभूति की चर्चा शुरू हो चुकी थी। आचार्यों ने समझाने के लिये कहीं-कहीं कठोर

शब्दों का भी प्रयोग किया है। वामदेव सूरि महाराज ने लिखा है कि ये मेढ़क! तेरे टर्र-टर्र करने से पानी नहीं गिरता, मेघ नहीं बरसते। ऐसे ही हे अव्रतियो! तुम्हारे कहने से शुद्ध आत्मा नहीं दिखती। मेघ तभी बरसेंगे, जब मौसम होगा। शुद्धात्मा तभी प्रकट होगी, जब संयम का मौसम होगा। 'भगवती आराधना' में साधु को माया, मिथ्या, निदान इस तीन शल्यों से छुड़ाने की चर्चा की है। साधक साधना में लीन था, परन्तु मन में विकल्प आ गया कि मैंने शास्त्रों में पढ़ा है कि तपस्या करने से ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, पर मुझे तो कुछ नहीं मिला। देखो, यह कुलिंगी चमत्कार दिखा रहा है, इनकी पूजा हो रही है। ज्ञानी! उसके भावों में मिथ्यात्व के प्रति रुचि चली गई, सो अदर्शन हो गया। ऐसे भाव नहीं लाना, इसका नाम अदर्शन परीषह है।

भैया! गाड़ी में चाभी एक बार लगाते हो, पर स्टेयरिंग लगातार संभालते रहते हो? ऐसे ही दीक्षा की चाभी तो लग गई, अब निरन्तर संभालने की आवश्यकता है। भो ज्ञानी! जहाँ अनेक गाड़ियाँ चलती हैं, उनमें कोई एक उलट जाती है, पर मार्ग बन्द नहीं किया जाता है। ऐसे ही चेतन आत्माओ! किसी एक के फिसलने से मार्ग बन्द नहीं होता। यह मोक्षमार्ग तो 18 हजार वर्षों तक अविराम चलता रहेगा। माना कि आप अच्छे साधक हो, पर आप श्रावकों में लिप्त हो, विषमलिंगियों में लिप्त हो, आप यह समझ रहे हो कि हम तो पक्के हैं, पर भैया! कितना भी पक्का भवन हो, भूचाल आने पर हिलने लगता है। आप अवसर ही मत दो, दूर रहो, व्यवस्थित रहो। यदि आप व्रती नहीं होते, तो कोई चिन्ता नहीं थी। धर्म की हँसी न हो जाये, इसलिये आपसे कह रहे हैं, क्योंकि आप जिनशासन में दीक्षित हो गये हो। जैनीवृत्ति स्वेच्छाचार विरोधिनी। जैनीवृत्ति स्वतंत्र तो है, पर स्वेच्छाचारी नहीं है। स्वेच्छाचार का विरोध करने वाली है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यदि महान सिद्धस्वरूप को प्राप्त करना चाहता है, तो काम के बाणों से अपनी रक्षा कर। यहाँ पंडित/विद्वान् से तात्पर्य गृहस्थ/साधु भी है। उन सबको कह रहे हैं कि तुम्हारे मन में विकल्प है तो आत्मा नहीं दिखेगी।

भो ज्ञानी! जो विषय-वासना में लिप्त हैं, उनके लिये संपूर्ण विभाव विकल्पों से रहित उस सिद्ध अवस्था में तन्मय/एकरूप होना अत्यन्त दुर्लभ है। इंद्रिय और अतीन्द्रय सुख एकसाथ मिलना असंभव है। विषयसुख भी मिले और परमार्थ सुख भी मिले, ऐसा न कभी देखा जाता है, न सुना जाता है। साधुजन जब पूर्ण ब्रह्मचर्य का सहारा लेते हैं, तो उन्हें अंश में शुद्ध आत्मा का आनंद आता है। ऐसा आनंद, भोगी गृहस्थ को स्वप्न में भी दुर्लभ है। त्याग से वैराग्य बढ़ता है और वैराग्य से त्याग बढ़ता है। अतः दोनों साथ रखना, एक को छोड़ मत देना। वैराग्य और प्रत्याख्यान दोनों साथ रखोगे तो चारित्र पलता रहेगा। घोर अटवी में कर्मरूप वृक्ष को नष्ट करने के लिये प्रत्याख्यान तो अग्नि के समान है।

भो मनीषियो! आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार की टीका में उपसंहार रूप से अनुपम कलशों की रचना करके अध्यात्म विद्या के परम रस की ओर ज्ञानियों को ले जाने का एक श्रेष्ठ उद्यम किया है। आचार्यमहाराज यहाँ पुनः कलशों के माध्यम से समझा रहे हैं कि वास्तव में आत्मिक आनंद का कोई स्थान है तो त्याग है। त्याग बड़ा गहरा है, क्योंकि बाह्य प्रत्याख्यान तो इस जीव ने छठवें गुणस्थान से ही प्रारंभ कर दिया था। आत्मिक प्रत्याख्यान दो दृष्टियों से देखना। एक कषायों का शमन, प्रकृतियों का क्षीण-पना। ज्ञानावर्णादि आठ कर्म हैं। इन कर्मों के समूह को विघटित करना, यह सबसे बड़ा प्रत्याख्यान है। जो भी बाह्य का प्रत्याख्यान है, वो सब कर्मों के प्रत्याख्यान के लिये है। पर जिस प्रत्याख्यान से कर्मनिर्जरा हो रही है, वही प्रत्याख्यान है। जहाँ कर्मबन्ध है, वहाँ प्रत्याख्यान नहीं है।

भो ज्ञानी! वास्तव में त्याग है तो अंदर में गद्गद्पने का भाव आता है, हल्कापन महसूस हो रहा है, वर्त्तमान में शांति मिल रही है। अंतरंग में भावों की जो विशुद्धता है, उसी विशुद्धता के माध्यम से ही कर्मों की निर्जरा है और जिसको त्याग पर भी विषाद आ रहा है, उसके त्याग में भी बन्ध है। लोग त्याग कर रहे थे, सो हमने सोचा कि कोऊ का कैहै? सो हमने भी रात्रिभोजन-पानी का त्याग कर दिया, लेकिन अंतरंग में कोई भावना नहीं है। रात्रि में तड़पना हो रही है, वहां विषाद चल रहा है। निर्जरा तो होगी, क्योंकि व्रत नहीं छोड़ रहा है। अकाम निर्जरा होगी। बिना इच्छा के जो तपस्या कर रहा है, उससे अकाम निर्जरा होगी। मोक्षमार्ग में अकाम निर्जरा प्रयोजनभूत नहीं है। मोक्षमार्ग में सविपाक निर्जरा प्रयोजनभूत नहीं है। मोक्षमार्ग में तो मात्र अविपाक निर्जरा ही प्रयोजनभूत है।

भो ज्ञानी! कर्मबन्ध जब होता है, आँखों से नहीं दिखता है, पर जब उदय में आता है, तब आँखों से दिखता है। उस भव का कर्म इस भव में उदय में आता है। इस भव का कर्म भी इस भव में उदय में आ सकता है। कर्म के उदय के लिये मात्र एक अंतर्मुहूर्त्त का अबाधा काल चाहिये। इंद्र राजा ने विभूति के वैभव में आकर मुनिराज पर सिपाहियों द्वारा कचड़ा फिकवा दिया। इंद्र राजा को रावण ने युद्ध में पराजित कर उससे झाड़ू लगवाई। एक लक्ष्मी-मति नामक स्त्री थी। जब वह ब्राह्मणी की पर्याय में थी, उस समय वह श्रृंगार कर रही थी, अचानक मुनिराज वहाँ से निकल गये। दर्पण में छाया पड़ गई, तो भाव कलुषित हो गये कि यह नंगा व्यक्ति कौन आ गया? मेरे श्रृंगार में बाधा पड़ गई। इतना चिन्तन बना था, उधर आस्रव प्रारंभ हो गया, अंतर्मुहूर्त्त में गलित कुष्ठ हो गया। यह मुनिनिंदा का परिणाम था।

भो ज्ञानी! वैज्ञानिक तरीके से भी सोचो तो जब आपके अंतरंग में निर्मल भाव होंगे, तो आपकी ऊर्जा भी निर्मल होती है, उल्हास बढ़ता है। कोई इष्ट वस्तु खाने मिल जाये तो पेट की प्रसन्नता चेहरे पर झलकती है। कोई विषाद होने पर है, भाव विकृत होने पर हारमोन्स में परिवर्तन होता है। उससे गलित कुष्ठ हो गया। कर्म का बंध था, उदय में आ गया। जो तीव्र कामी, क्रोधी जीव होता है, उसको रोग ज्यादा हो जाते हैं। उमर भोग रहा है, परन्तु ज्ञानतन्तु क्षीण हो रहे हैं। जितना तीव्र क्रोधी होगा, ईर्ष्यालु होगा, कामी होगा, उसकी आयु की एक सीमा के बाद ज्ञान का क्षयोपशम नष्ट हो जाता है। कभी-कभी तत्काल विवेकशून्यता आ जाती है। यदि विवेक होता, तो क्रोध करता क्यों? लोभ करता क्यों? मान करता क्यों? मायाचारी करता क्यों? कामविकार उत्पन्न होने देता क्यों? यह सब ज्ञानशून्यता के कारण है। इसीलिये भैया! वही प्रत्याख्यान है, जिसमें भोजन-पानी के साथ कषायों का भी प्रत्याख्यान हो। जिसमें भोजन-पानी के साथ गृह, दुकान, कामना, वासना का भी त्याग है। यदि इन सबका त्याग नहीं किया है, तो पूरा जीवन साधना में बीत जायेगा, परन्तु साधना की अनुभूति नहीं हो पायेगी।

भो ज्ञानी! आप जिनवाणी खोलके बैठे हो और लक्ष्य कहीं और है, तो जिनवाणी का स्वाद नहीं आयेगा। आप जाप कर रहे थे, किसी दूसरे पर दृष्टि चली गई, तो जाप का, आराधना का आनंद नहीं आयेगा। साधना का आनंद कुछ अलग है। आपने उपवास किया, एकान्त में रहे या मंदिर में आ गये, उसका अलग आनंद है। घर में रहे, चर्चा में लगे रहे, तो आनंद नहीं आयेगा। शाम को आप थकान महसूस करोगे घर में रहने पर। मंदिर या एकान्त में रहने पर संध्या में भी आप हल्कापन और आनन्द महसूस करोगे कि आज मेरा दिन धर्म्यध्यान में निकला है। बहुत सारे जीवों का पूरा जीवन ऐसे ही निकल जाता है, पर साधना का जीवन निकालने के लिये बड़ा पुण्य चाहिये पड़ता है। साधक जीवन तो पूरा निकल जायेगा, क्योंकि आयु तो क्षीण होगी ही, उसे कौन टाल सकता है? लेकिन साधना का जीवन मिल जाये, प्रपंचों से हटकर, परनिमित्तों से दूर होकर, इसमें पूर्व तपस्या का पुण्य ही काम आता है कि उस पर कोई उपसर्ग परीषह नहीं। बड़ी सहजता में जीवन व्यतीत हो रहा है। पुण्यप्रकृति सर्वत्र चलेगी। उस साधक के साथ पुण्यप्रकृति काम कर रही है। यदि पापप्रकृति का उदय आयेगा, सो भाव बिगड़ जायेंगे अथवा कोई कष्ट/उपसर्ग आ जायेगा। पर ध्यान रखना, इसे वर्त्तमान पर ही मत छोड़ देना, भूत को भी देखना, भविष्य को भी देखना।

भो ज्ञानी! गुरुदेव से कहना, हे नाथ! हम आपके आराधक हैं, आप पंचपरमेष्ठी हो। पर आपके चरणों में हम सेवक बनने नहीं आये हैं, आपके शिष्य बनकर आये हैं। शिष्य का नाम अंतेवासिन् भी है। जो गुरु के अंतर में निवास करे अथवा गुरु की जो चर्या है, उस

पर आचरण करे। लेकिन, स्वामी! कषाय के क्षेत्र में मुझे खड़ा मत करना। उन क्षेत्रों से तो निकलकर आपके पास आया हूँ। मैं आपके चरणों में अपना भव बिगाड़ने नहीं, सुधारने आया हूँ। साधक की कोई परीक्षा नहीं होती है, परीक्षा तो साधना की होती है। 'भगवती आराधना' में देवदुर्गति का वर्णन किया है अर्थात् व्यंतर, असुर आदि हो गये। आपके शरीर में शक्ति थी, आप मुनिराज हो गये, पर कुछ ऐसे कामों में उलझ गये जिनमें मात्र व्यवस्था और आक्रोश ही था। पुण्य का संचय तो हो रहा था, पर तुम असुरजाति के देव बनोगे। ध र्म के राग की भी एक सीमा है। वात्सल्य कहा है। राग का पूर्ण निषेध किया है। वात्सल्य में मात्र धर्म और धर्मात्मा दिखता है। अंतिम दशा में ऐसे भाव भी मत लाना कि जिस जिनालय/जिनबिम्ब को स्थापित किया था, उसे भी अपना स्वरूप मत मान बैठना अन्यथा उसी मंदिर में, वेदी पर साँप बनकर घूमोगे। ज्ञानी! मंदिर में बहुत वेदियाँ हैं, पर हमें तो एक ही वेदी पसंद है, तो पुण्यास्रव में भवनवासी व्यंतर बनकर बैठना पड़ेगा। कई बार मंदिर में तिर्यंच आदि भी आते हैं, जिन्होंने रौद्रध्यान से मरण किया, धर्म करते हुये वो साँप बनकर वहीं बैठते हैं। धर्मायतन धर्म के स्थान हैं, राग के स्थान नहीं हैं। अनुराग रखना, राग मत करना।

भो ज्ञानी! मैं व्यवस्था करके अपने कर्त्तव्य का निर्वाह कर रहा हूँ, पर ऐसा नहीं है कि मैं नहीं रहूँगा तो काम नहीं चलेगा। यह मेरे पुण्य का परिणमन चल रहा है, सो सब कोई पूछ रहे हैं। भैया! शुद्ध राग नाम की कोई वस्तु नहीं है। शुद्ध शुभराग तो कह सकते हो, प्रशस्त राग तो कह सकते हो। जहाँ राग है, वहाँ शुद्ध नहीं है। आत्मा का राग भी अशुद्ध है, वो शुभ है। शुभ और अशुभ, ये अशुद्ध राग के ही भेद हैं। शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग, यह दोनों अशुद्ध दशा के ही दो भेद हैं। वर्त्तमान में जो तुम्हारा शुभ उपयोग, अशुभ उपयोग चल रहा है, यह आत्मा की अशुद्ध दशा का ही परिणमन चल रहा है। शुभ भावों को शुभ कह दिया, अशुभ भावों को अशुभ कह दिया, पर यह संसारी आत्मा में हैं, इसलिये दोनों अवस्थायें अशुद्ध की हैं। शुद्ध जो अवस्था है, उसमें शुभ भी नहीं होता, अशुभ भी नहीं होता। शुद्ध अवस्था में परमशुद्धदशा है। परम-पारिणामिक-भाव सिद्ध-अवस्था ही है। जब तक शुद्ध नहीं बनेगा, तब तक सिद्ध नहीं बनेगा। सिद्ध भगवान् की परम पारिणामिक संज्ञा है। यह इंद्रियातीत अवस्था है, यह गुणस्थानातीत अवस्था है, यह मार्गणातीत अवस्था है, यह शुभ उपयोगातीत अवस्था है, अशुभोपयोगातीत अवस्था है।

भो ज्ञानी! लवलीन हो जाऊँ, यह राग है और लीनता स्वानुभव है, जो वचनातीत है। जो वचनगोचर अवस्था है, उसका नाम राग/अनुराग है। धर्मानुराग भी राग है, इसलिये आचार्य पद्मनंदि स्वामी ने 'पद्मनंदि पंचविंशतिका' में स्पष्ट लिखा है कि भो चेतन! मोक्ष का राग

मोक्ष नहीं दिलायेगा। पुरुषार्थी, भेदाभेद रत्नत्रय का पालक ही मोक्ष जा पायेगा। भेदपूर्वक अभेद में चला जायेगा, वही यथाख्यात चारित्र है, आत्मरमण है। ऐसी दशा की ओर बढ़ो। तेरा-मेरा, यह विसंवाद है। योगी इससे ऊपर होता है।

भैया! तुम्हें कोई वस्तु टांगनी हो तो ढेर सारे विकल्प रहते हैं कि यहाँ कैसी लगेगी वहाँ कैसी लगेगी, लोगों को कैसा लगेगा? जब टंग जाती है, तब सारे विकल्प समाप्त हो जाते हैं। ऐसे ही रागदशा में जीव मोक्ष के बारे में भी सोचता रहता है कि सिद्ध हो जाऊँगा, मैं मुनि बन जाऊँगा। ज्ञानी! तुम बन जाओ, कोई कुछ नहीं सोचेगा। जब तक टंगा नहीं था, तब तक नाना प्रकार के विकल्प थे। अब टंग गया, तो कोई विकल्प नहीं है। ऐसे ही जब तू सिद्धशिला तक नहीं पहुँचेगा, तब-तक नाना विकल्प हैं। पर जिस समय पहुँच जाओगे, तो सब विकल्प समाप्त हो जायेंगे। विकल्पपूर्वक ही आप निर्विकल्प बन पाओगे। क्योंकि निर्विकल्प होने का विकल्प लाना पड़ेगा, फिर वैसा पुरुषार्थ करना पड़ेगा। जब पुरुषार्थ हो जायेगा, फिर निर्विकल्प हो जायेगा, तो विकल्प से ही निर्विकल्प है।

प्रत्याख्यानाद्भवति यमिषु प्रस्फुटं शुद्धशुद्धं
सच्चारित्रं दुरघतरुसांद्राटवीवह्निरूपम्!।
तत्त्वं शीध्र कुरु तव मतौ भव्यशार्दूल नित्यं
यत्किंभूतं सहजसुखदं शीलमूलं मुनीनाम्॥ कलश 147॥
जयति सहजतत्त्वं तत्त्वनिष्णातबुद्धेः
हृदयसरसिजाताभ्यन्तरे संस्थितं यत्।
तदपि सहजतेजःप्रास्तमोहन्धकारं
स्वरसविसरभास्वद्बोध विस्फूर्तिमात्रम्॥ कलश 148॥

श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कलश 147 में कह रहे हैं कि संयमधारियों में जो सम्यग्चारित्र प्रगटरूप है, शुद्ध से भी अत्यन्त शुद्ध है, परमशुद्ध है, वह कर्मरूपी वृक्षों के सघन वन को जलाने में अग्नि के समान सक्षम है।

ऐसा परमचारित्र प्रत्याख्यान से ही होता है। अतः हे भव्योत्तम! तुम अपनी बुद्धि को उसमें लगाओ और सदैव प्रत्याख्यान से उत्पन्न परम चारित्र को धारण करो। ये चारित्र परमसुख को प्रदान करनेवाला है। यह मुनियों के शील-चारित्र का मूल है। कहने का तात्पर्य है कि बिना प्रत्याख्यान के सम्यक्चारित्र की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः यह त्याग ही मुनियों के सम्पूर्ण चारित्र-वृक्ष का मूल है।

आचार्यमहाराज अगले कलश 148 में कह रहे हैं कि वो सहज तत्त्व जयवन्त हो। जिनकी तत्त्व में निष्णात-बुद्धि है, ऐसे महामुनियों के हृदय-सरोवर के भीतर सहज तत्त्व विराजमान है, सहज तेज के द्वारा जिन्होंने मोहरूपी अंधकार को नष्ट कर दिया है और जो कैसा है? अपने ही रस से युक्त, अनुभव के विस्तार से प्राप्त, देदीप्यमान ज्ञान का स्फुरण प्रकाशमात्र है। स्वानुभव प्रकट होता है, तो मोह का अंधकार सहज ही शान्त हो जाता है। दीपक का प्रकाश अंदर के दिव्य आत्मद्रव्य का अनुभव करा देता है।

अखंडितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवांबुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम्।
अक्ष प्रबलदुर्गवर्गदव वह्नि कीलालकं
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्वं मुदा॥ कलश 149॥

तत्त्व अखंडित है। आत्मा खण्ड-खण्ड नहीं है। आत्मा की अनुभूति अंश-अंश नहीं है। यह अखंड अनवरत चलती है। जिस क्षण में स्वानुभूति होगी, उस क्षण में विषयानुभूति त्रैकालिक नहीं हो सकती है, क्योंकि यह आत्मा अखंड-भोक्ता है। खंड-खंड भोक्ता नहीं है। जो संपूर्ण दोषों से रहित, उत्कृष्ठ है, भवरूपी सागर में डूबे हुये जीवों के लिये जहाज के समान है, भवसंकटरूपी दावानल को बुझाने के लिये निर्मल जल के समान है।मैं पुनः प्रणाम कर रहा हूँ, जो हमेशा निज में प्रकाशमान परमतत्त्व आत्मतत्त्व है। निजआत्मतत्त्व यह परम पारिणामिक भाव के हेतु है, क्योंकि परम पारिणामिक अवस्था ही तो सिद्ध-अवस्था है। आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव जो सहज तत्त्व की बात कर रहे हैं, यह स्वरूपानुभूति की बात चल रही है। पारिणामिक भाव और उद्देश्य उनका उस परम पारिणामिक अवस्था का ही है। जब परमपारिणामिक की वंदना करेंगे, तो सिद्धभगवान् को ही समझना। पंचमभाव स्वरूप निज कारणपरमात्मा को मेरा नमस्कार है। इसका तात्पर्य है कि हम अभी पंचमभाव को प्राप्त नहीं हुये हैं। अभी हम पंचमभाव में नहीं हैं। पंचमभाव का कारण-परमात्मा यानि मैं अभी यथाख्यात में नहीं हूँ। मैं पंचमभाव स्वरूप निज कारणपरमात्मा की वंदना करता हूँ, विशुद्ध आत्मा की वंदना करता हूँ। जो परम पारिणामिक भाव की ओर जा रही है, उसकी वंदना की है। यह सब शुद्ध उपयोग चल रहा है। पंचमगति की प्राप्ति के लिये वंदना चल रही है। अभी तू पंचमगति को प्राप्त नहीं हुआ है, दृष्टि में है।

भो ज्ञानी! जब हम सम्मेदशिखर जी की वंदना का विचार करते हैं, तो दृष्टि में बीस तीर्थंकरों की सिद्धभूमि आती है। अभी हम सिद्धभूमि को प्राप्त नहीं हुये हैं, पर सिद्धभूमि का लक्ष्य हमारी दृष्टि में आ चुका है। प्रकट होगा, शक्ति में है। पदार्थ नहीं, पदार्थ की दशा

प्रकट होगी। पदार्थ तो मेरे पास त्रैकालिक है। तेरे ज्ञान में आ चुका है कि मुझे परम पारिणामिक निज द्रव्य ही देखना है। अभी वो निज द्रव्य की शक्ति शुद्ध सत्ता प्रकट नहीं है। जब प्रकट होगी, तो यह शब्द समाप्त हो जायेगा। उस समय अनुभूति-ही-अनुभूति में लीन रहूँगा।अभी तो यह सब विकल्प शुद्धोपयोग में चल रहा है। वो वस्तु साधक के पास है, पर अव्यक्त है। आप कारण-सिद्धपर्याय, कारण-परमात्मा कह सकते हो, लेकिन कार्य-परमात्मा अभी नहीं है।

भो ज्ञानी! चतुर्थ गुणस्थान से कारणपरमात्मा प्रारंभ हो गया। पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, नौवें, दशवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें में भी कारण परमात्मा है, कार्यपरमात्मा तो सिद्ध परमात्मा ही हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने 'आलाप पद्धति' में लिखा है। उसमें उन्होंने स्वभाव-व्यंजन-पर्याय और विभाव-व्यंजन-पर्याय का कथन किया है। चौरासी लाख योनियाँ, ये सब जीवद्रव्य की विभाव-व्यंजन-पर्याय हैं। अरहंत-अवस्था भी विभाव-व्यंजन-पर्याय ही है। चरमशरीर से किंचित् न्यून सिद्धपर्याय स्वभाव-व्यंजन-पर्याय है। जो पूर्ण कर्मनिरपेक्ष हो जाता है, वो सिद्धपरमेश्वर होता है। वो चेतन शक्ति त्रैकालिक शुद्ध है।

जिनप्रभुमुखारविन्दविदितं स्वरूपस्थितं
गुनीश्वरमनोगृहान्तरसुरत्नदीपप्रभम्।
नमस्यमिह योगिभिर्विजितदृष्टिमोहादिभिः
नमामि सुखमंदिरं सहजतत्त्वमुच्चैरदः॥ कलश 150॥

जैसे-जैसे अधिकार पूर्णता की ओर जा रहा है, आचार्यमहाराज का कविता-लालित्य बढ़ता चला जा रहा है। जो परम तत्त्व है, सहज तत्त्व है, यह किसी रथ्या पुरुष अर्थात् पागल पुरुष की वाणी नहीं है, उन्मत पुरुष की वाणी नहीं है। यह सर्वज्ञ की भाषा है, वाणी है, जो जिनेन्द्र भगवान् के मुख-कमल से विनिर्गत है। ऐसे मुनिराज के मनरूपी प्रासाद में जो निर्मल रत्नदीप की प्रभा को बिखेर रहा है, वो सहज तत्त्व है। लोग तो मिट्टी के दीप जलाते हैं, घी के दीप जलाते हैं, कोई रत्नों के दीप जलाते हैं, पर हे नाथ! तुम्हारे हृदय-भवन में सहज-त त्त्व का दीप जलता है। जिसका अंतर महल इतना पवित्र हो, उसके चरण पकड़ने के भाव स्वयं ही बनते हैं।

भो ज्ञानी! तुम साधु की चर्चा साधु से भी नहीं करना। जिससे सुना है, उसे भूल जाओ। तुम साधुस्वभाव की चर्चा साधु से भी कर लेना। कहीं वो साधुस्वभाव से च्युत हो रहा हो, तो साधुस्वभाव को प्राप्त हो जाये। जब योगी के अंतरंग में चक्रव्यूह की रचना चल रही थी, वह चौराहे पर बैठे थे, पथिकजन चर्चा कर रहे थे कि जब सम्राट थे तो कितना बढ़िया

शासन चलता था। अब इनके बेटे शासन संभाल नहीं पा रहे हैं। 'अहो! मेरे बेटों को बन्दी बना लिया। मैं होता तो ऐसे चक्रव्यूह की रचना करता।' समवसरण में श्रेणिक पहुँचे तो भगवान् की वाणी खिरी कि जाओ, उस योगी को संभालो। श्रेणिक पहुँचकर जोर से नमोस्तु नमोस्तु कहता है। जैसे ही कानों में नमोस्तु शब्द गया, हाथ पिच्छि पर पड़ा, 'अहो! मैं तो योगी हूँ, मैं क्या सोच रहा था?' यह स्थितिकरण है।

मुनीश्वर के अंदर का प्रकाश, अंदर की ज्योति विराट है। जब वो अंदर का विराट प्रकाश-पुंज तेज हो जाता है, तो वह कैवल्य के रूप में स्फुरायमान हो जाता है। फिर वह योगी अपने गुप्त प्रकाश को गुप्त नहीं रख पाता है। इतना तेज ज्ञानप्रकाश होता है कि स्वर्ग से देव दौड़े चले आते हैं। कैवल्य ज्योति की अर्चना प्रारंभ हो जाती है। इतनी सामर्थ्य आपके अंदर भी है, उसे प्रकट करने का पुरुषार्थ करो। बाहर के दीप जलाना-बुझाना यह राग-द्वेष छोड़ दो । कितने दीप बुझ गये, कितनी मोमबत्तियाँ बुझ गई, पर वासनायें नहीं बुझ रही, मोह नहीं बुझ रहा। मैं उसे नमस्कार कर रहा हूँ जिसकी मोहदृष्टि छूट चुकी है। जो सहज तत्त्व है, वह सुख का मंदिर है। सहज तत्त्व को मेरा नमस्कार हो। परमात्मा से परमात्मा प्रकट नहीं होगा, सहज तत्त्व से ही परमात्मा प्रकट होगा। पर सहज तत्त्व के लिये परमात्मा की वंदना कर लेना। सहज तत्त्व यानि निज शुद्धात्मा। सहज ही सहज पुरुषार्थ है। जब शुद्ध दशा का व्याख्यान इतना आनंद देता है, तो उस दशा की अनुभूति कितना आनंद देगी? आपके पास द्रव्य है, आप पुरुषार्थ कर सकते हैं। कोई पशु तिर्यंच आदि नहीं कर सकता है, क्योंकि उसके पास उपयुक्त द्रव्यपर्याय नहीं है।

भो ज्ञानी! संसार की अंगनायें तुम्हें छोड़ देंगी, परन्तु निज की रमणी तुम्हारे साथ अंतिम श्वासों तक रहेगी। करण भी आत्मा, कर्त्ता भी आत्मा, क्रिया भी आत्मा, ज्ञेय भी आत्मा, ज्ञाता भी आत्मा, प्रमेय भी आत्मा, प्रमाण भी आत्मा, प्रमिति भी आत्मा, ध्यान भी आत्मा, ध्येय भी आत्मा, ध्याता भी आत्मा। परन्तु ध्यान रखना, 'पर विकल्प-भेद न जहाँ।'

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किंचि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥ वृ. द्र.सं. 56॥

विशिष्ट ध्यान की सिद्धि चाहते हो तो चिन्तन मत करो, चेष्ठा मत करो, जल्प मत करो, राग मत करो, द्वेष मत करो। क्या करो? थिर होकर चित्त में लीन हो जाओ। वही परमध्यान है। पुरुषार्थ तद्रूप होना चाहिये। संसार के संपूर्ण वेशों में सब भोग भोगे जा सकते हैं, सभी प्रपंचों को किया जा सकता है। एक निर्ग्रन्थ वेश ही ऐसा है जिसमें मात्र स्वात्मा का भोग होता है। उसे प्राप्त करके भी नहीं भोग सका तो प्राप्त करना या न करना बराबर है। निर्ग्रन्थो! जब तक ग्रन्थ पर दृष्टि नहीं होगी, तब तक उस दिशा की प्राप्ति नहीं होगी।

प्रणष्ट दुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं
प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम्।
प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरप्रणाशात्मकं
प्रवृद्धगुणमंदिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुमः॥ कलश 151॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव, जो काव्य के प्रकाण्ड विद्वान् हैं, ने निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार के समापन कलश में प्रत्येक पद के प्रारंभ में "प्र" शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द आठ बार आया है, जिससे शब्द में ही नहीं, अर्थ में भी लालित्य आ गया है। जिसने प्रकृष्ट रूप से पापसमूह को नष्ट कर दिया है और पुण्यकर्म के समूह को भी प्रकर्ष रूप से मार दिया है। अभी तक आपने पाप को मारने की बहुत बातें की हैं। पाप को पाप कहने वाले लाखों हैं, पर पुण्य को पाप कहने वाले पुण्यात्मा मुमुक्षु जीव बहुत न्यून हैं। भो चेतन! पाप के साथ पुण्य को भी पाप कहने वाला भव्य मुमुक्षु शुद्धोपयोगी निर्ग्रन्थ यति है। इसलिये 'पुण्य-पाप फल माहिं हरख विलखो मत भाई। यह पुद्गल पर्याय उपजि विनसै थिर नाहीं।' भो ज्ञानी! पुण्य भी नष्ट होगा, पाप भी नष्ट होगा, पर तुम दोनों को देखते रहोगे, बिलखते रहोगे। जिसमें मिठास ज्यादा होती है, उसमें कीड़े ज्यादा होते हैं। पुण्य के योग में ज्यादा कीड़े होते हैं।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जिसने पाप-पुण्य दोनों को नष्ट कर दिया है, जिसने कामदेव आदि को भी प्रकर्ष रूप से समाप्त कर दिया है। जो प्रबल बलशाली केवलज्ञान का निवासगृह है। जिसको तत्त्ववेत्ता प्रणाम करते हैं। जो प्रकृष्ट रूप से करण-इंद्रियों का नाश करने वाला है। जो प्रकृष्ट रूप से वृद्धिगत गुणों के रहने के लिये स्थानस्वरूप है। जिसने प्रकर्ष रूप से मोह-रात्रि को नष्ट कर दिया है, ऐसे उस सहज परमतत्त्व को हम नमस्कार करते हैं। आचार्यमहाराज ने यहाँ इस अधिकार में व्यवहार प्रत्याख्यान करने वाले ऐसे महामुनियों के निश्चय प्रत्याख्यान का वर्णन किया है। यह निश्चय-रत्नत्रय में ही घटित होता है। व्यवहार प्रत्याख्यान जिनका है, उनका निश्चय प्रत्याख्यान हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। किन्तु जिनके निश्चय प्रत्याख्यान है, उनको व्यवहार प्रत्याख्यान हो चुका है, क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं हो सकता है। अतः ज्ञानी! नित्य ही निश्चय प्रत्याख्यान रूप शुद्ध आत्मा की भावना करो। इस प्रकार 'नियमसार' में निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार नामक छठा श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नमोस्तु शासन जयवन्त हो।

नियमसार

उत्थानिका : निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन।

गाथा : णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि॥ 107॥

संस्कृत छाया : नोकर्मकर्मरहितं विभावगुणपर्ययैर्व्यतिरिक्तम्
आत्मानं यो ध्यावति श्रमणस्यालोचना भवति॥ 107॥

अन्वयार्थ : (नोकर्म कर्मरहितं) नोकर्म और द्रव्यकर्म से रहित (विभाव गुणपर्ययैः व्यतिरिक्तं) विभाव-गुण-पर्यायों से रहित (आत्मानं) आत्मा का (यः ध्यायति) जो ध्यान करता है (तस्य) उस (श्रमणस्य) श्रमण के (आलोचना भवति) आलोचना होती है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व के निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार के उपसंहार में बड़ी सहज चर्चा की, कि निज तत्त्व ही निश्चय प्रत्याख्यान है। स्वभावलीनता की अविचल स्थिति ही प्रत्याख्यान है। आचार्यमहाराज ने इसलिये लिख दिया कि जिसे हम ज्ञान कहें, दर्शन कहें, चारित्र कहें, स्वानुभूति कहें, स्वसंवेदन कहें, आत्मानुभूति कहें, यह सब निश्चयलीनता के ही नाम हैं। जहाँ समयसार का सम्यग्दृष्टि होगा, वहाँ नियम से चारित्र का अविनाभावीभूत होगा। जहाँ समयसार का सम्यग्ज्ञानी होगा, वहाँ निश्चय वीतराग चारित्र का अविनाभावीभूत होगा। निश्चयदर्शन, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र तीनों युगपत् ही होंगे, क्योंकि निश्चय लगा है। जब व्यवहार लगायेंगे, तो दर्शन व ज्ञान तो साथ होंगे, परन्तु चारित्र भजनीय है। यानि हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। प्रत्याख्यान योग, यह निश्चय स्वरूप की चर्चा है। ऐसे निश्चय प्रत्याख्यान में लीन योगी, जिसने परभावों का परित्याग किया है और निज भाव की लीनता का भी विकल्प नहीं है। आचार्यभगवान् ने सविकल्प निश्चय ध्यान और निर्विकल्प निश्चय ध्यान का भी कथन पूर्व अधिकार में किया था। आपको सविकल्प निश्चय ध्यान होता है। 'शुद्धोऽहम्, निरंजनोऽहम्' यह सविकल्प धर्म्यध्यान चल रहा है। पर वास्तव में शुभोपयोग ही है। जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प नहीं है, निर्विकल्प शुद्ध ध्यान, इसका नाम है शुद्धोपयोग की दशा।

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो गिदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोस्ति।।

जिस श्रमण ने अच्छी तरह से सूत्रों को पदार्थों को जान लिया है और जिसका राग बीत चुका है, ऐसे श्रमण को ही आगम में शुद्धोपयोग कहा है।

भो चेतन आत्मा! द्रव्यश्रुत को जाने बिना भावश्रुत का उद्भव होता नहीं है, भले ही आप अष्ट-प्रवचन मातृका मात्र जानो। अष्ट-प्रवचन-मातृका मात्र के ज्ञान से मोक्ष हो जायेगा। पाँच समिति, तीन गुप्ति। बिना शुक्लध्यान के केवलज्ञान कैसे? आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि जो दो शुक्लध्यान हैं, वे पूर्व-विज्ञ के ही होते हैं और इधर आप कह रहे हो कि अष्टप्रवचनमातृका के ज्ञाता निर्वाण को प्राप्त कर लेंगे। एक आचार्य कह रहे हैं कि पूर्वविद्या के ज्ञाता हुये बिना शुक्लध्यान नहीं होता है और बिना शुक्लध्यान के कैवल्य नहीं होता है, दूसरी ओर कुन्दकुन्द महाराज 'अष्टपाहुड' में लिख रहे हैं

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभुई केवलणाणी फुडं जाओ॥ भाव पाहुड़ 53॥

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' में इसका समाधान दिया है। यह सत्य है कि पूर्व-विज्ञ हुये बिना शुक्लध्यान नहीं होता, तो शिवभूति महाराज को केवली कैसे बनायें? उन्हें द्रव्यश्रुत का ज्ञान नहीं था, लेकिन भावश्रुत पूर्ण था, इसलिये वो बात घटित होती है। 'समयसार' की भाषा में पूर्वविज्ञ अर्थात् श्रुतकेवली, श्रुतपारंगत।

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा॥ स. सार 9॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा॥ स. सार 10॥

निश्चय की भाषा में, जो जीव निज आत्मा की लीनता को प्राप्त होता है, वही श्रुतकेवली है, ऐसा ऋषियों ने कहा है। यह दृष्टि निश्चयनय की है। तो फिर यदि हम आत्मा की बात करें, तो श्रुतकेवली हो जायें? ऐसा नहीं है। आचार्य जयसेन स्वामी ने 'समयसार' की गाथा संख्या 9, 10 की टीका में स्पष्ट किया है। जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है और जो सब श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है, यह व्यवहार है। ज्ञान आत्मा ही है, श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है अर्थात् जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है और वही परमार्थ है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानी को भेद से कहने वाले व्यवहार से भी परमार्थ कहा जाता है। जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है। इस परमार्थ का निश्चयनय के द्वारा कहना अशक्य है। इसलिये जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है।

भो ज्ञानी! जैसा पूर्व में उत्तम संहनन, शुक्लध्यान आदि बनता था, वैसा आज नहीं है। इसलिये आप श्रुतकेवली नहीं हो। चेतन आत्मा की शक्ति की अपेक्षा तू सिद्ध है, कहाँ श्रुतकेवली की बात कर रहा है? कारण-परमात्मा तो सभी में विराजे हैं, पर कार्य-परमात्मा तो सिद्धालय में ही हैं। इसलिये कारण-परमात्मा को कारण-परमात्मा स्वीकारो एवं कार्यपरमात्मा को कार्यपरमात्मा स्वीकारो। बिना कारण-परमात्मा के कार्य-परमात्मा नहीं है। जो साधकतम है, वही कारण कारण है। साक्षात् कारण-परमात्मा अरहंत भगवान् हैं। आप सिद्धों की कल्पना कर लेना, अरहंतों की कल्पना कर लेना, लेकिन तीर्थंकर की कल्पना मत करना। आपको भाणी भगवान् तो कहा जा सकता है, पर भावी तीर्थंकर नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भगवान् तो अनंत होते हैं, पर तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। आगामी चौबीसी के नाम आगम में आ चुके हैं। क्षायिक सम्यक्त्व और तीर्थंकर प्रकृति का बंध तीर्थंकर, केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है कि गुण अल्प हों पर बढ़ाकर कहना 'स्तुति' है। निमित्तकारण दो प्रकार के होते हैं। एक परम्परागत निमित्त कारण और दूसरा साक्षात् कारण। परम्परागत निमित्त कारण से कारण-परमात्मा चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है। परन्तु साक्षात् कारण तो केवली भगवान् ही हैं। मैं प्रमत्त नहीं हूँ, मैं अप्रमत्त नहीं हूँ। यह वास्तव में सविकल्प निश्चय ध्यान चल रहा है। इसका अर्थ है कि तू निर्विकल्प नहीं है। तू परम पारिणामिक में नहीं है। तू परम पारिणामिक स्वभावी है। जब तक शुद्ध दशा में नहीं पहुँच रहा है, तब तक शुद्ध दशा की प्राप्ति का चिन्तन करना। यह चिन्तन दशा है। समयसार ग्रन्थ का स्वाध्याय समयसार की लीनता नहीं है, समयसार स्वरूप का ज्ञान है। दृष्टि आपको चतुर्थ गुणस्थान से ही बनाके चलना पड़ेगी, तभी उत्तरोत्तर गुणस्थानों की वृद्धि होगी। वही व्यवहार 'व्यवहार' है, जिसमें परमार्थ-दृष्टि जुड़ी हुई है और परमार्थदृष्टि नहीं है तो जिनवाणी व्यवहार को व्यवहार नहीं मानती है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में लिखते हैं कि जैसे बीज के अभाव में उत्पत्ति, वृद्धि और फल संभव नहीं है, ऐसे ही सम्यक्त्व के अभाव में शुद्धोपयोग की उत्पत्ति, शुद्धोपयोग की वृद्धि और शुद्धोपयोग का फल कार्य-समयसार यानि शुद्धात्मा यानि सिद्ध भगवान् संभव नहीं है। सम्यक्त्व इन सबका बीज है। परन्तु सम्यक्त्व की महिमा को मंडित कर देना सम्यक्त्व नहीं है। कोई कहे कि मेरा पूरा जीवन निकल गया सम्यक्त्व की महिमा का गुणगान करते-करते, परन्तु आठ अंगों का पालन नहीं है तो काहे का सम्यग्दृष्टि। मंडित को मंडित नहीं किया जाता, अतः कुन्दकुन्दस्वामी ने सिद्धों को कोई मंडित नहीं किया। प्रभु!

आप तो अनुपमेय हो। अनुपम हो हम आपको किसका उपमेय बनायें? देखो, यह जीव भरतेश-जैसा बैठा हुआ है अर्थात् यह भरतेश नहीं है, भरतेश-जैसा झलकता है। जब योगी सामायिक में लीन होता है, तो लगता है कि साक्षात् सिद्ध परमेश्वर विराजे हैं। यह सिद्धस्वभाव है, लेकिन सिद्ध नहीं है। जब तक उपमायें रहेंगी, तब-तक उपमेय नहीं होगा। उपमान जो होता है, वह उपमेयातीत होता है। जब तक उपमायें रहती हैं, तब-तक उपमेय नहीं होता है।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि कर्मोपाधि निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय से सभी संसारी जीव सिद्ध-सदृश हैं। यह सुनकर खुश मत हो जाना। जब योगी शुद्धोपयोग में लीन होगा, उस समय जो प्रत्यक्षानुभूति चल रही है, वह वास्तव में परोक्षानुभूति है। सप्तम गुणस्थान में विराजे जो योगी आत्मानुभूति में लीन हैं, वह वास्तव में परोक्षानुभूति ही है। एक बात का ध्यान रखना कि अवधिज्ञान से और मनःपर्यय ज्ञान से कभी आत्मानुभूति नहीं होती है। यह ऋद्धियाँ हैं। वे दोनों संयम को मंडित तो कर रही हैं, ज्ञान को मंडित तो कर रही हैं, पर वह ध्यान का कारण नहीं है। इसलिये वह निर्वाण का कारण भी नहीं है। निर्वाण का कारण तो शुक्लध्यान यानि श्रुतज्ञान है। सप्तम गुणस्थान में जो आत्मानुभूति हो रही है, वो न अवधिज्ञान से हो रही है, न मनःपर्यय ज्ञान से हो रही है। मति-श्रुतज्ञान से हो रही है। मति-श्रुतज्ञान परोक्ष है। इंद्रिय-मन की सहायता हो रही है, इसलिये जिसे तू प्रत्यक्षानुभूति कहता है, आगम उसे परोक्षानुभूति कहता है।

भैया! यह मत कहना अब कि मन शून्य हो गया। मन शून्य नहीं होगा। यह मन से ही काम चल रहा है। बारहवें गुणस्थान तक मन ही काम करेगा। इसलिये तेरहवें गुणस्थान में कोई ध्यान नहीं होता। ध्यान की परिभाषा है चित्त का निरोध। जहाँ चित्त नहीं है, वहाँ ध्यान किसका और कौन करेगा? दूसरी परिभाषा पूज्यपाद स्वामी 'सर्वाथसिद्धि' में लिखते हैं कि ज्ञान की एकाग्रता का नाम ध्यान है। जहाँ पूर्ण ज्ञान हो चुका है, अब वहाँ ध्यान किसके लिये? तीसरा हेतु, जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है, उसकी प्राप्ति के लिये ध्यान किया जाता है। जिसे कैवल्य प्राप्त हो चुका है, वो ध्यान क्यों करेगा? इसलिये तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान कहा है, वो वास्तव में औपचारिक ध्यान है। ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है, ऐसा कथन पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' में, अकलंक देव ने 'राजवार्तिक' में किया है।

आचार्य ब्रह्मदेव सूरि ने 'परमात्म प्रकाश' ग्रन्थ में प्रश्न उठाया है कि शुद्धोपयोग प्रत्यक्ष अनुभूति है कि परोक्ष अनुभूति?"आद्ये परोक्षम्" यानि आदि के दो ज्ञान (मति, श्रुत) इंद्रिय और मन के द्वारा होते हैं। इंद्रिय, मन परद्रव्य हैं, इसलिये परोक्ष है। ज्ञान इंद्रिय का धर्म नहीं है। ज्ञान मन का धर्म नहीं है। ज्ञान आत्मा का धर्म है। अनुभूति भले ही इंद्रियों के द्वारा कराई

जा रही है। इंद्रियाँ करण-साधन तो हैं, कर्त्ता नहीं हैं। इसलिये आत्मानुभूति को परोक्षानुभूति इंद्रिय-मन की अपेक्षा से कहा है, पर ज्ञान की दृष्टि से देखेंगे तो प्रत्याक्षानुभूति ही है। अतः ज्ञानगुण की पर्याय अनुभवन जो है, वह ज्ञान करा रहा है कि दर्शन करा रहा है? लोग कहते हैं ज्ञानानुभूति, ज्ञानानुभूति; परन्तु अनुभूति जो निर्विकल्प होती है, वो ज्ञान की नहीं है। 'सविकल्पं ज्ञानं, निर्विकल्पं दर्शनम्।' ज्ञान स्व-पर ग्राही होता है, दर्शन स्वग्राही मात्र होता है। इसलिये 'द्रव्यसंग्रह' टीकाकर्त्ता ने लिखा है कि यद्यपि न्याय की अपेक्षा हम बाह्य द्रव्यों में दर्शन को लगाते हैं, पर जब अध्यात्म-दृष्टि, सिद्धान्तदृष्टि से देखेंगे तो यह सारा-का-सारा, जो निर्विकल्प सत्ता का द्योतक है, वो दर्शन है। दर्शन निर्विकल्प इसलिये है कि वो किसी से कुछ कहता नहीं है। पर कहलाने वाला कौन होगा? ज्ञान होगा। लेकिन अनुभवन कौन कर रहा है? अनुभूति दर्शन से हो रही है। दर्शन का सामान्य भाषा में अर्थ 'देखना' है। तो अचक्षु-दर्शन से आत्मानुभूति में दर्शन होगा कि नहीं? मात्र आत्मा, पुद्गल कहना ही द्रव्यानुयोग नहीं है। इन शब्दों के रट लेने को द्रव्यानुयोग का ज्ञातापना मत मान लेना।

भो ज्ञानी! उसे जो दर्शन (देखना) हो रहा है, उसमें आपके सभी उपयोग काम करेंगे। जो आप आत्मा का अनुभव कर रहे हो, निर्विकल्प ध्यान में बैठा योगी, वहाँ शुद्धोपयोग में दर्शन होगा कि नहीं? यहाँ सामान्य दर्शन की बात कर रहे हैं, सम्यग्दर्शन की नहीं। वहाँ भी दर्शन होगा, पर वो अचक्षु-दर्शन होगा। प्रतिक्षण ज्ञान, प्रतिक्षण अनुभूति होती रहेगा। ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं होगा छद्मस्थों का जिसमें दर्शन नहीं हो। दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होगा, क्योंकि दोनों उपयोग एकसाथ नहीं होंगे। केवली के युगपत् होते हैं। छद्मस्थ जो अनुभूति कर रहा था, उसका वेदकभाव चल रहा था। उस वेदकभाव के द्वितीय क्षण में तू जान भी रहा था, लेकिन निर्विकल्प है, शुद्धोपयोग की दशा में है, ध्यान की लीनता में है। इसलिये दोनों का ही अंदर-ही-अंदर में गमन चल रहा है। बाहरी परिणमन कुछ नहीं दिख रहा है। यह है शुद्धोपयोगी यति की दशा। आश्रय नहीं है, कारण-कार्य भाव है। दर्शन कारण है, ज्ञान कार्य है। यह एक समय में हो रहा है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान, इनमें भी कारण-कार्य भाव है, जैसे प्रकाश और अंधकार। दीपक का जलना, प्रकाश होना और अंधकार जाना, एक समय में होता है। 'सर्वाथसिद्धि' में पूज्यपाद स्वामी लिख रहे हैं कि मेघ-पटल के विघटित होने पर एक क्षण में सूर्यप्रकाश होता है और एक क्षण में प्रताप होता है। इसी प्रकार से मिथ्यात्व के मेघपटल के अभाव होते ही आत्मा में युगपत् सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रकट होता है।

'परीक्षामुख सूत्र' में लिखा है 'घटमहात्मना वैद्मि।' (8 प. मु.)। मैं घट को अपनी आत्मा से वेदन करता हूँ। जो-जो ज्ञान-दर्शन से जाना जा रहा है, वो आत्मा से ही जाना जा रहा है।फिर भी आत्मज्ञान नहीं है, क्योंकि वो ज्ञान पर में लगा है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 107 से निश्चय आलोचना अधिक का कथन प्रारंभ कर रहे हैं। व्यवहारदृष्टि से जब आलोचना को देखते हैं तो निर्ग्रन्थ गुरु के चरणों में दस दोषों से रहित होकर आत्मदोषों का निवेदन करना, इसका नाम आलोचना है। द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित विभावगुण-पर्यायों से रहित, ऐसा योगी जो आत्मा को ध्याता है, उसकी निश्चय आलोचना होती है। जब तक मैं कर्त्ता हूँ, मैं करण हूँ, मैं क्रिया हूँ, तब तक आप निश्चय आलोचना के भागीदार नहीं हो। भो ज्ञानी! हृदय से पूछो, कि व्यवहार आलोचना कितनी हो रही है? और कैसे-कैसे विपरीत परिणाम हुये? जो सुनाना था, वो नहीं सुनायेंगे तो चरणानुयोग कहेगा कि आप द्रव्यलिंगी भी नहीं हो। चरणानुयोग कहेगा कि आप समाधि के पात्र ही नहीं बचे। यह ध्यान रखना कि जब तक निर्दोष आलोचना नहीं है, तब तक समाधि संभव नहीं है। शल्य लगी हुई हो, काँटा जब तक रहेगा, कितने स्वस्थ रहोगे? जब जमीन पर पैर रखोगे, चुभेगा।जब तुमको ध्यान आयेगा कि दोष हुआ है और स्वदोषता में मरण हो गया, तो समाधि संभव नहीं है। आप 'नियमसार' सुन रहे हो, यही नियम का सार है। निश्चय आलोचना के पूर्व व्यवहार आलोचना पूर्ण कर लेना। बिना व्यवहार आलोचना के निश्चय आलोचना संभव नहीं है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द ने परम आलोचना अधिकार में यह संकेत दिया कि जीव जब तक निज निन्दा नहीं करेगा, तब-तक लोकनिन्दा से बच नहीं सकता। निज निन्दा करेगा, तो परनिन्दा से भी तू बचेगा और लोकनिंदा से भी बचेगा। वास्तविकता यह है कि जिस अवस्था में ये जीव है, यह समझ नहीं पा रहा है कि मैं दोष कर रहा हूँ कि नहीं। जिस दिन दोष का ज्ञान हो जायेगा, अपराधबोध हो जायेगा, उस दिन जीव आलोचना किये बिना नहीं रह सकता है। एक क्षण भी उसका बिना आलोचना के नहीं जायेगा। और जो तू परनिन्दा में तल्लीन था, वह निंदनीय हो या न हो, पर तू तो निन्दनीय ही है। निन्दा, गर्हा, आलोचना। जो साक्षीपूर्वक होती है, वो निन्दा कहलाती है। अपने अपराधों का स्वयं बोध करके जो चिन्तन चल रहा है कि मैंने गलत किया है, यह निन्दा है। निंदापूर्वक जो गुरु के चरणों में आलोचना की जाती है, वह गर्हा है।

भो ज्ञानी! जब जीव विचार करता है कि मैंने दोष किया है, फिर जाता है गुरु के चरणों में, कि मैंने दुष्ट किया है। शब्द पकड़ना। दुष्ट करे तो कह देता है, क्योंकि दिख गया, पर जो दुष्ट चिन्तन किया है, उसे नहीं कह पाता है। दुष्ट सोचा हो, दुष्ट कहा हो और दुष्ट किया हो, उन सारे-के-सारे दोषों का निवेदन करना, कैसे? बालकवत्। उसका नाम है आलोचना। आलोचना से तात्पर्य परनिन्दा नहीं है, निज निन्दा है और वह दस दोषों से रहित

हो। पहला दोष यदि यह भावना है कि प्रायश्चित ले लूँ, अपने अपराध से शुद्ध हो जाऊँ, लेकिन प्रायश्चित कम-से-कम मिले। 'महाराज! आप तो जानते हो कि हमारा शरीर बहुत कमजोर है, उपवास होता नहीं है और हम बीमार भी हैं।' ऐसा कहकर गुरु को दयार्द्र कर देता है। गुरु को दयार्द्र करके प्रायश्चित लेना, यह अकंपित नामक दोष है। यदि ऐसा करता है, तो आलोचना सदोष है। गुरु को देखा, गुस्से में दिखे, तो कुछ नहीं बोला। गुरु सामान्य हैं, तो बोला कि आपके लिये ये ग्रन्थ लाये हैं, यह अन्य सामग्री आपको भेंट करनी है। जब देख लिया कि गुरु प्रसन्न हो गये, तो कहा कि मुझे ये प्रायश्चित लेना है। उद्देश्य क्या था? प्रायश्चित कम मिले। यह अनुमानित नाम का दोष है। अनुमानित दोष करके प्रायश्चित लेना, यह आलोचना अधूरी है। बादर नाम का तीसरा दोष है। महाराज जी! मैं वहाँ गया था, वहाँ पर मुझसे एक बड़ा जीव खत्म हो गया, हमने उनसे ऐसा-ऐसा कह दिया था। मोटे-मोटे सभी दोष बता दिये। गुरु सोच रहे हैं कि जब इतने बड़े दोष बता रहा है, तो छोटे-छोटे दोष करता ही नहीं होगा और जितने छोटे दोष थे, सब छुपा लिये और कहा, महाराज! प्रायश्चित दे दो। और शुद्ध भी होना चाहता है। यह बादर नाम का दोष है।

ज्ञानी! कभी यह सोचता है कि बड़े-बड़े दोष बता दूँगा तो हो सकता है कि आचार्यश्री का हमारे प्रति विश्वास टूट जाये या बड़ा प्रायश्चित मिल जाये। 'महाराज जी! हम निकल रहे थे कि गीली भूमि पर पैर पड़ गया, आप प्रायश्चित दे दो।' इधर तूने महा अपराध कर लिया , तो-भी आलोचना नहीं कर रहा है और गीली जमीन पर जरा-सा पैर पड़ गया, उसकी आलोचना कर रहा है। तो गुरु समझे कि कितना दयार्द्र है, इतनी छोटी-सी आलोचना कर रहा है, यह तो कभी बड़े अपराध करता ही नहीं होगा। ध्यान रखो, तुम इस पर्याय में अपराध छुपा करके बहुमान भी प्राप्त कर लोगे, पर पर्याय छूट जायेगी लेकिन पाप नहीं छूटेगा, सल्लेखना संभव नहीं है। जब तक निर्दोष आलोचना नहीं होगी, समाधि नहीं होगी।

बहुजन/बहुत सारे लोग एकसाथ आलोचना कर रहे थे, शिष्य-समुदाय बैठा था, जल्दी-जल्दी सब अपराध कह दिये, बोले, 'महाराज! प्रायश्चित दो, हमने तो पूरा निवेदन कर दिया है।' आलोचना भी हो जाये और आप पूरा सुन भी नहीं पाये, प्रायश्चित भी कम मिले। यह बहुजन नाम का दोष है। शब्दभ्रमित दोष में क्या होता है? जब शोर हो रहा हो, उस समय कहना 'आचार्यभगवन्! मैं आलोचना करना चाहता हूँ और मेरे से ऐसे-ऐसे दोष हुये हैं, आप प्रायश्चित दे दो।' वे तो सुन नहीं पाये और तू अपने आप में खुश हो रहा है कि मैंने छुपाया नहीं, पूरा निवेदन कर दिया। यह शब्द-आकुलित नाम का दोष है। किसी के

कोई अपराध हो गया, वह खोजता है कि किससे प्रायश्चित लूँ। खोज करते-करते देखता है कि जैसा अपराध हमने किया है, वैसे अपराधी आचार्यमहाराज हैं। उन्हीं के पास प्रायश्चित ले लेंगे, वह कितना देंगे? जैसा अपराधी सामनेवाला था, वैसे ही अपराधी से प्रायश्चित लेने गया, जिससे कम प्रायश्चित मिले। यह तत्तसेवी नाम का दोष है, क्योंकि अपराधी दोनों हैं। छिन्न दोष में इस प्रकार पूछता है कि आचार्यश्री! किसी से इस प्रकार का दोष हो जाये, तो उसका प्रायश्चित क्या होता है? यह नहीं कहता है कि मैं दोषी हूँ। यानि प्रायश्चित पूछके प्रायश्चित कर लेना, परन्तु दोष को गुरु से नहीं कहना, यह छिन्न नाम का दोष है।

बहुजन दोष में एक प्रकार का और आता है। बहुत लोगों से पूछा कि इस दोष के लिये आपको क्या प्रायश्चित मिला था? जैसे चींटी का विघात हो गया तो गुरुमहाराज ने कहा था कि तीन कायोत्सर्ग कर लेना। ठीक है। अब गुरु के पास कौन जाये, मैं तीन कायोत्सर्ग कर लेता हूँ। अथवा बहुत सारे गुरुओं के पास जाता है और कहता है कि ऐसे दोष का क्या प्रायश्चित होता है? आचार्यों ने अलग-अलग बताया, तो जिसका कम था उसको कर लिया, बाकी का छोड़ दिया।

आचार्यपरमेष्ठी शिष्य के लोभ में अथवा राग में आकर शिष्य को उचित प्रायश्चित नहीं देते हैं और यह सोचते हैं कि कहीं शिष्य नाराज होकर चला न जाये, तो वह आचार्य परमेष्ठी शिष्य के शत्रु हैं। क्यों? क्योंकि उसने आपको समर्पित किया है तो आपका कर्त्तव्य बनता है कि उसके अंतरंग की अशुद्धि को बाहर निकाल करके शुद्ध करा देते, लेकिन आपने रागवश उसकी गलती का पोषण किया तो आपने उसकी पर्याय का नाश कर दिया। उसकी समाधि नहीं हो पायेगी। कोई शिष्य बहुत प्रभावी है, वो हमारे नाम की पूजा कर रहा है, सब जगह हमारा प्रचार भी कर रहा है, पर गल्तियाँ बहुत कर रहा है। यदि मैं मना करता हूँ, तो हमारी प्रभावना घटेगी, लोग जय नहीं बोलेंगे। ऐसी भावना में आकर उस शिष्य से कुछ नहीं कहना। प्रभु! आपने उस शिष्य के साथ बहुत छल किया है। शिष्य अज्ञानी ही होता है। शिष्य तो शिष्य ही होता है। आपने दायित्व का निर्वाह नहीं किया। आपने मोह में आकर यह ध्यान नहीं रखा कि ऐसा चलते रहने से इसकी कषाय भड़कती रहेगी। उस जीव को आपने धोखा दिया। उस बेचारे जीव का कल्याण तुमने रोक दिया। सर्प के काटने पर अंगुली को काटकर फेंक दिया जाता है और जो अंगुली के मोह में रहता है, उसका जीवन समाप्त हो जाता है। आचार्य गुणभद्र स्वामी 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में लिखते हैं कि यदि शिष्य तीव्र अपराध कर रहा है, तो उसके संसर्ग में पता नहीं कितने साधक बिगड़ जायेंगे। आप उसको अलग कर दो, अन्यथा शिष्य के लोभ में पूरे संघ का आप विनाश कर दोगे।

भो ज्ञानी! जैनसाधु गलियों में घूमते क्यों नहीं मिलते? जिस दिन यह संहिता समाप्त हो जायेगी, उस दिन नमोस्तु नमोस्तु शब्द समाप्त हो जायेगा। भावों मे सरलता लायें, निर्मलता लायें, पर चर्या को सरल करने की चर्चा कभी मत करें। कभी किसी साधक के पास पहुँचकर यह मत कहना कि महाराज! इतना तो चलता है, पंचमकाल है। आप यह कहोगे, फिर स्वयं ही आपके भाव नमोऽस्तु के नहीं बनेंगे। यह नमोऽस्तु शासन है। जैन सिद्धान्त है कि जितनी दृढ़ चर्या होगी, उतनी दृढ़ आस्था होगी। लोहा जितना तप जाता है, उतना अच्छी तरह से मुड़ जाता है। इसी प्रकार से साधक जितना तपेगा, वो अंदर की ओर मुड़ेगा। जितना बाहर-बाहर में घूमेगा, अंदर में उतना ही शुष्क हो जायेगा। इसलिये आलोचना तुम्हारी परम सखी है। बिना आलोचना के अंदर का शोधन संभव नहीं है। निज का भान ही नहीं है, जिन पर दृष्टि ही नहीं है।

भो ज्ञानी! मकान बनवाते हो तो नाली भी निकालते हो। नाली को बार-बार साफ करने का उद्देश्य क्या है? यदि नाली साफ नहीं करोगे, तो घर कचड़े से भर जायेगा, मल से भर जायेगा। ऐसे ही दीक्षा तो जीवन में एक बार होती है। दीक्षामयी भवन तो तुमने खड़ा कर लिया, लेकिन जैसे नाली की सफाई करते रहते हो, ऐसे ही साधक को निज परिणामों की सफाई करते रहना चाहिये, अन्यथा चारित्र-भवन में कीचड़ हो जायेगी। यही आलोचना है, यही प्रतिक्रमण है, यही प्रत्याख्यान है।

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस, कार्माण शरीर होता है, यह नोकर्म है। आठ द्रव्य-कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, वेदनीय, अंतराय, आयु, नाम, गोत्र हैं। कर्मोपाधिनिरपेक्ष, सत्ता ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय की अपेक्षा से जीव इन कर्म-नोकर्म से रहित है। मतिज्ञान आदि जीव का विभाव गुण है। आपको स्वभाव भी मानना पड़ेगा और विभाव गुण भी मानना पड़ेगा। विभाव नहीं मानोगे तो स्वभाव नाम की कोई वस्तु नहीं है। विभाव के अभाव का नाम स्वभाव है। विभाव में जो स्वभाव का चिन्तन होता है, वो स्वभाव प्राप्ति के लिये होता है। जो विभाव के साथ स्वभाव सोच रहे हो, वो वही स्वभाव है जो सिद्ध परमेश्वर में है। लेकिन अभी तुम्हारा स्वभाव प्रकट हुआ नहीं है, इस अपेक्षा से आप विभाव में ही हो। स्वभाव का चिन्तन करनेवाला विभाव में ही होता है। जो स्वभाव में होता है, उसके चिंतन और चिंतक भावना ही नहीं होती है। जो विभाव में होता है, वही स्वभाव प्राप्ति का चिन्तन करता है। जो चिन्तन बनेगा, वह मति-श्रुतज्ञान से बनेगा। मति-श्रुतज्ञान, यह जीव-द्रव्य की विभाव-गुण-व्यंजन पर्याय है। ऐसा श्री पद्मप्रभमलधारिदेव लिख रहे हैं। मतिज्ञानादि विभाव गुण और नर नारकादि जो व्यंजन पर्याय है, अथवा नर नारकादि जो चौरासी लाख योनियाँ हैं, यह सब विभाव-व्यंजन पर्याय हैं।

भो ज्ञानी! जीवद्रव्य जहाँ भी होगा, जैसा भी होगा, जिस पर्याय में होगा, परन्तु गुण विद्यमान रहेंगे। यदि आप नरक में होगे तो ज्ञान-दर्शन होगा, स्वर्ग में होगे तो ज्ञान-दर्शन होगा, निगोद में भी ज्ञान-दर्शन होगा, परन्तु पर्याय वही नहीं होगी, पर्यायी वही होगा। पर्याय क्रम से बदलती रहती है और गुण सहभावी होते हैं। पर्याय क्रमभावी होती है और गुण सहभावी होते हैं। आगमग्रन्थों में 'क्रमबद्ध' शब्द का उपयोग नहीं है। यह क्रमनियत शब्द है। इस प्रकार पर्यायों का बदलना नियत है। पर्याय क्रमनियत है, बदलेगी-ही-बदलेगी, निश्चित है। नियम से बदलेगी, नियत है, क्योंकि पर्याय क्षणवर्ती होती है। जो पर्याय तेरी होनी थी, हो चुकी है, वह केवली के ज्ञान की अपेक्षा से तो नियत है। भैया! केवलज्ञानी जो जान रहे हैं, उनको जानने दो। उनके जानने से तुम्हें कोई हानि नहीं है। उनके ज्ञान में झलक रहा है, उससे हमें कोई हानि नहीं है। ऐसा मत कहना कि हम वही जानते हैं जो केवली ने जाना है। जो-जो केवली जान रहे हैं, वही-वही होता है, कि जो केवली के ज्ञान में नहीं झलक रहा, वह भी होता है? अच्छा, जो केवली के ज्ञान में नहीं झलका, वो नहीं होता न? अच्छा, तो क्या जो केवली ने झलकाया, वो ही होगा? हाँ।

भो ज्ञानी! जो केवली ज्ञान में झलकायेंगे वो ही आप करोगे, तो आप में और ईश्वरवादी में कोई अंतर नहीं है। जो-जो हो रहा है, वो-वो झलकता है, न कि जो झलकेगा, वैसा करना पड़ेगा। भो ज्ञानी! आप तो केवलज्ञान के पराधीन हो गये। मेरी निजद्रव्य की सत्ता पराधीन हो गई। "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्"। केवलज्ञान को बाद में लेना। पहले मति-श्रुतज्ञान की बात करो। कोई कहता इंद्रिय-प्रमाण, कोई कहता लांछन प्रमाण और जैनदर्शन कहता है "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्"। अर्थआलोक से ज्ञान होता है। अर्थ अर्थात् पदार्थ, आलोक यानि प्रकाश। यदि आप कहते हो कि अर्थ-आलोक से ज्ञान होता है, पदार्थों से ज्ञान होता है, तो पदार्थ ज्ञान है, कि पदार्थ से ज्ञान है? पदार्थ 'ज्ञान' नहीं है। ज्ञेयों से ज्ञान होता है। यदि आप ज्ञेयों से ज्ञान मानते हो, तो जो ज्ञेय मैंने आज तक नहीं देखे हैं, उनका ज्ञान कैसे है? आपने केवली को नहीं देखा, महावीर स्वामी को नहीं देखा, और-तो-और आपने अपने दादा के दादा के दादा को नहीं देखा, तो उनको आप जानते हो कि नहीं? ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता, ज्ञान से ज्ञेय जाने जाते हैं। घट से ज्ञान नहीं है, पट से ज्ञान नहीं है। घट-पट का ज्ञान, ज्ञान से ही ज्ञान है। यदि प्रकाश से ज्ञान मानते हो, तो रात्रि में चमगादड़ को नहीं दिखना चाहिये, उल्लू को नहीं दिखना चाहिये। वह बिना प्रकाश के भी देख लेते हैं। सिंह आदि को रात्रि में भी दिखता है। इनकी आँखों से प्रकाश का ज्ञान होता है। यह घटित नहीं होता है, तो ज्ञान किससे होता है? ज्ञेय 'ज्ञान' नहीं, पदार्थ 'ज्ञान' नहीं, प्रकाश 'ज्ञान' नहीं, इसलिये जब ये ज्ञान नहीं हैं, तो प्रमाण भी ज्ञान नहीं है। मात्र कोई प्रमाण है तो, सम्यग्ज्ञान प्रमाण है।

यह मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल पाँच प्रकार का होता है। उनमें क्रमभावी भी है, अक्रमभावी भी है, परोक्ष भी है, प्रत्यक्ष भी है और देशप्रत्यक्ष भी है। अवधि व मन:पर्यय देशप्रत्यक्ष, केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष और मति-श्रुत परोक्ष ही हैं। उनमें कुछ मिथ्या, कुछ सम्यक् होते हैं। कुमति, कुश्रुत, कुअवधि यह मिथ्या हैं। मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत पदार्थों में जो विपरीत श्रद्धान बैठा हुआ है, वो है उसका मिथ्याज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान। जो ऊपर प्रतिमा विराजमान है, उसको बनानेवाला कोई मिथ्यादृष्टि था और उसने बिल्कुल शुद्ध भगवान् बनाये हैं तुम्हारे शास्त्रों के अनुसार। किस ज्ञान से बनाये हैं? कुमति, कुश्रुत से, क्योंकि उसे अरहन्त भगवान् नहीं दिख रहे, जैनियों की प्रतिमा दिख रही है। यदि बालक कह रहा है कि खेलने के लिये गुलेल चाहिये, तलवार चाहिये, तो समझ लो कि जीव का कुमतिज्ञान काम कर रहा है। खोटे कामों में बहुत रुचि जाती है यानि कुमति काम कर रही है। इसके जन्म से ही कैसी समझ है? परिणाम उसके विकृत हो रहे हैं। भो ज्ञानी! अब पकड़ना कि क्रमभावी ज्ञान कितना विस्तृत है। द्वादशांग जो पूरा निबद्ध है, वो सब क्रमभावी में है। आपका जो ज्ञान है, क्रमभावी ज्ञान है। केवली का ज्ञान अक्रमभावी है, क्योंकि विश्व में जो चराचर द्रव्य हैं, उनकी त्रैकालिक पर्याय आपके ज्ञान में झलकती है। भूत, भविष्य, वर्त्तमान की पर्याय झलकती क्रमवत है, परन्तु उनके ज्ञान में अक्रम है। अक्रम क्यों कहा? आप बताओगे तो क्रम से एक-एक करके बताओगे, पर उनके ज्ञान में सब एकसाथ झलक रही है, इसलिये अक्रम कहा। जो भी झलक रहा है, अक्रम से झलक रहा है। उनके ज्ञान में कोई क्रमपना नहीं है।

भो ज्ञानी! तर्कशास्त्र 'क्रमबद्ध' शब्द को स्वीकार नहीं करता। प्रभाचंद्र स्वामी के 'प्रमेयकमलमार्तंड' का स्वाध्याय करने पर स्पष्ट होता है कि केवली का ज्ञान क्रमबद्ध नहीं है, केवली का ज्ञान अक्रमबद्ध ही है। आपकी पर्याय क्रम से होती रहेगी, पर उनके ज्ञान में बद्धपना नहीं है। उनका ज्ञान तो अबद्ध ही देखता है। केवली के ज्ञान में द्रव्यों की त्रैकालिक पर्यायें हस्तावकमलकवत् (हाथ पर रखे हुये आँवले के समान) झलकती हैं। जैसे आपने गर्मी में साल भर के लिये गेहूँ खरीद कर रख दिया। घर के मुखिया की दृष्टि में है कि साल भर का काम हो गया। जो बनायेगा, वही पर्याय तीन सौ पैसठ दिन में क्रम से आयेगी। परन्तु द्रव्य झलक रहा है। अक्रम से झलक रहा है। यह केवली का ज्ञान है। अबद्ध है, बद्ध नहीं है। जो आपका ज्ञान है, क्रमभावी है।

भो ज्ञानी! जो केवली के ज्ञान में है, अबद्ध है। पर जो हो रहा है, क्रमभावी रूप में ही होगा, क्रम से ही होगा। लेकिन उनके ज्ञान को एकांकी मत लगा लेना, क्योंकि वह

त्रैकालिक पर्यायों को वर्त्तमानवत् देखते हैं। यदि 'बद्ध' जोड़ दोगे, तो अब एक झलकेगी, इसके बाद दूसरी झलकेगी, यानि केवली को छद्मस्थ बना दिया। 'प्रवचनसार' में उदाहरण दिया है। जैसे मणियों की माला का मोती क्रम से आता है, ऐसे ही जीव की पर्याय क्रम से आती है। पर ध्यान देना, दृष्टान्त एकदृष्ट घटित होता है। संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, निधत्ति, निकाचित आदि यह सब क्रम आपके क्रमभावी ज्ञान में (श्रुतज्ञान में) आता है। जो मणिमुक्ताहार की चर्चा है, वह आचार्यमहाराज ने मात्र यह समझाने के लिये की थी कि प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रम से होती है। आपके ज्ञान का विषय नहीं है कि यही होती है। वो केवली जाने। आप जीव-द्रव्य हो, यह नियत है, आपकी पर्याय हो रही है। यह नियत भी नियत है, पर आप इस नियत को लेकर बैठ गये तो अनाचार हो जायेगा। इसलिये आगम में स्पष्ट निर्देश है कि पाँचों समवाय देखें। यह जीव परभाव में न जाये, निज स्वभाव में ही रहे, इसलिये आगम में लिखा है कि जिस देश में, जिस काल में, जिस जीव का जन्म-मरण होना है, वो नियत है, टाल नहीं सकते हैं। मालूम, यह क्यों कहा जा रहा है? जब कोई कहता है कि हमारे दद्दा मर गये, हमारी मतारी मर गई, तो इन सब विकल्पों से बचाने के लिये आचार्यों ने कहा कि यह तो संसार की दशा है। आयुकर्म के क्षय होने पर मरण निश्चित है, नियत है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर मोक्ष नियत है। यह 'क्षय' शब्द क्यों लगा दिया? यह पुरुषार्थ की ओर इंगित कर रहा है। जब सम्यक् पुरुषार्थ होगा, तब मोक्ष होगा। इसलिये केवली के ज्ञान के पीछे अपने परिणामों को कलुषित मत करना।

भो ज्ञानी! ज्ञानीसाधक की दृष्टि रहती है कि संसार अनित्य है, फिर भी नित्य है। संसार अनित्य है, उसमें जो नित्य है, उसे प्राप्त करना है। पर्याय अनित्य है, द्रव्य (आत्मा) नित्य है, त्रैकालिक है। उस ध्रुव सत्ता की प्राप्ति के लिये साधक आगे बढ़ता है। अनित्य पर्याय से विरत होने के लिये और नित्यपर्याय की प्राप्ति के लिये साधक का मुख्य लक्ष्य होता है। न भूतकाल की चर्चा काम आयेगी, न भविष्य की चर्चा काम आयेगी, न वर्त्तमान की चर्चा काम आयेगी। यहाँ तो वर्त्तमान की निज परिणाति ही काम आयेगी। शब्दजाल भी काम नहीं आयेंगे। इस संयम पुरुषार्थ से ही मेरी शुद्ध पर्याय प्रकट होगी, यह श्रद्धा में बैठा हुआ है। और यदि यह श्रद्धा में नहीं बैठाओगे और यह सोचके बैठ गये कि ऐसा ही होगा, तो भाग्यवादी, बहिर्वादी, मिथ्यादृष्टि हो जायेगा, जो कहता है कि जो कुछ होगा, सो भाग्य से ही होगा। ये सम्यक्त्व नहीं है। वो पुरुषार्थी नहीं है, प्रमादी है। यह भवितव्यता, काललब्धि, होनहार आप संयम पक्ष में ही लगाते हो, वो दुकान, व्यापार, मकान के पक्ष में नहीं लगाते। ताला डालके आये कि नहीं? वहाँ तो ताले पर ताला और पहरेदार भी रखते हो। ये क्यों

नहीं सोचते कि लुटना है तो लुट जायेगा और नहीं लुटना है तो नहीं लुटेगा? आपको सब पक्षों पर दृष्टि डालना चाहिये। धर्म के पक्ष में, संयम न धारण करना पड़े तो वहाँ हम 'क्रमबद्ध' को बिठाल देते हैं और जहाँ भोगों की बात आती है, वहाँ पुरुषार्थ खड़ा हो जाता है। यह सम्यक्त्व की बात नहीं है।

भो ज्ञानी! सर्वज्ञदेव ने कहा है कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति यानि तेरह प्रकार का चारित्र धारण करेगा, तब तू मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह नियम नियत है। इसके बिना नहीं होगा, यह नियत है। जब भी सिद्धि होगी, तो न बद्ध कहने से होगी, न भावी कहने से होगी, न नियत कहने से होगी। तेरह प्रकार का चारित्र पालन करने से यह नियत है। कथन का अभिप्राय यह है कि अभिप्राय निर्मल होना चाहिये। यह अभिप्राय नहीं होना चाहिये कि बद्ध कहके छल ग्रहण करना चाहते हैं।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परम आलोचना अधिकार के प्रारंभ में 107 वीं गाथा में बहुत सहज सूत्र दिया। नोकर्म, भावकर्म, द्रव्यकर्म आदि विभाव-गुण-पर्यायों से रहित जो आत्मध्यान करता है, वही वास्तव में आलोचना है। जब मैं कर्म से युक्त नहीं हूँ, तो कर्म कौन करेगा? जब मेरे कर्म ही नहीं है, जब मैंने कर्म ही नहीं किये, तो आलोचना किसकी? आलोचना उसकी, जो कर्म से युक्त हो। आलोचना वह करे, जिसने कर्म किया हो। इसलिये मैं न आलोच्य हूँ, न आलोचक हूँ निश्चय नय से। विभावदृष्टि से यह जीव कर्म-नोकर्म से बद्ध है। भावकर्म से युक्त है और रागादिक भावों से पापकर्म किये हैं, इसलिये ज्ञानी! तू ही आलोचक है, तेरी ही आलोचना है व्यवहारदृष्टि से। यथार्थ दृष्टि यही है। जहाँ निज निन्दा प्रारंभ हो जाती है, वहाँ परनिन्दा समाप्त हो जाती है। जब तक निज निन्दा नहीं आ रही है, तब तक परनिन्दा ही झलकती है।

आचार्य जिनसेन स्वामी ने जब 'महापुराण' लिखा, तो आचार्यसंघों में बड़ी चर्चायें फैल गई कि यह कैसे बालब्रह्मचारी? इन्होंने स्त्री का नख से शिख तक वर्णन किया है। बहुत चर्चायें हुई। जिनसेन स्वामी कहने लगे कि बहुत अच्छा हुआ। यदि मैं अपनी कृति का संपादन कार्य किसी को देता, तो हाथ जोड़ना पड़ते। इतने सारे लोग हमारी कृति में शोधन कर रहे हैं। यह बिना बनाये इतने सारे संपादक मिल गये। अब हमारी कृति पूर्ण निर्दोष हो जायेगी। जिनसेन स्वामी ने भरीसभा में खड़े होकर श्रृंगाररस की चर्चायें की, तो जो अपने आपको धुंरन्धर कहते थे, वे कहने लगे कि अब शान्त हो जाओ। जब उन्होंने वैराग्य का कथन किया और उठकर चलने लगे, तो सारी सभा पीछे-पीछे चलने लगी। उनको लगा कि यह वाणी और शब्दों की शक्ति है।

परनिन्दा करने के पूर्व जीव अपनी निन्दा कर ले तो जीवन में परनिन्दा के भाव नहीं आ सकते हैं। अभी हम दूसरों को चर्म चक्षुओं से बाहर से देखते हैं। जब आँख बन्द करके निज को देखते हैं, तो समझ में आता है कि मेरा घट कितना मैला है। परघटों की सफाई से कल्याण नहीं होगा तीनकाल में भी। जब भी कल्याण होगा, निज घट को ही साफ करने से होगा। इसलिये निज निन्दा का कथन चल रहा है। परनिन्दा करते-करते आयुबन्ध का काल आ गया तो तू सोच रहा था कि मैं दूसरे की सफाई कर रहा हूँ, पर तेरा तो साफ ही हो गया। इसलिये भैया! ध्यान रखना, तुम किसको सुधार पाओगे? तीर्थंकर नहीं सुधार पाये। उपदेश देना तीर्थंकर का नियत है, पर किसी को सुधार देना, यह तीर्थंकर का भी नियत नहीं है। केवली का उपदेश देना नियत नहीं है, पर तीर्थंकर अरहन्तदेव का उपदेश देना नियत ही है। जो-जो तीर्थंकर होंगे, उनकी नियम से देशना खिरेंगी, क्योंकि तीर्थंकर का शासन चलता है, बिना वाणी के शासन चल नहीं सकता। ध्यान रखना, वाणी का खिरना नियत है, पर उससे दूसरे का कल्याण हो जाये, नियत नहीं है। यदि नियत होती, तो स्वयं मारीचि की पर्याय से पूछ लेना। निमित्त के साथ उपादान की योग्यता चाहिये पड़ती है। उपादान की योग्यता होने पर युगल मुनियों की देशना सम्यक्त्व का कारण बन गई।

भो ज्ञानी! वर्त्तमान में कुछ लोगों का सोच बन गया है कि हम दूसरों की निंदा नहीं करेंगे तो सुधार कैसे होगा? उनका सुधार तो उनकी भवितव्यता पर है, पर तुम्हारा बिगाड़ तुम्हारे हाथों में आ गया है। उनका सुधार हो या न हो, लेकिन आप अपने समय को अशुभ में लगाये हो, इसलिये तुम्हारा बिगाड़ तो निश्चित है। 'नियमसार' में पर-आलोचना की चर्चा नहीं है, निज आलोचना की चर्चा है। आलोचना परम सुगंधित साबुन है विकारी भावों को दूर करने के लिये। अंदर की सफाई आलोचना के बिना नहीं होती है। आलोचनापाठ पढ़के अंतरंग में जो शुद्धि हो रही है, हल्कापन लग रहा है, वही समयसार है।

भो ज्ञानी! पर्याय क्रमवर्ती होती है, क्रमभावी होती है और गुण सहभावी होते हैं। पर्याय बदलती रहती है और गुण द्रव्य के साथ त्रैकालिक रहते हैं। पर्याय परिणमनशील है। एक के बाद एक आयेगी, परन्तु गुण वही रहते हैं जो थे। गुणत्व की अपेक्षा एकत्व रहता है लेकिन गुण में भी परिणमन होता है। गुणों का परिणमन नहीं होगा तो मतिज्ञानी-श्रुतज्ञानी कभी भी केवलज्ञानी नहीं बन पायेंगे। जैसे-जैसे संयम व चारित्र की विशुद्धता बढ़ती है, वैसे-वैसे क्षयोपशम बढ़ता है और वह क्षायिकज्ञान के रूप में प्रकट हो जाता है। लेकिन मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अंश कभी नहीं होता है। कुछ लोगों को भ्रम है कि अंश त्रैकालिक रहता है। क्षायिक ज्ञान को क्षायोपशमिक ज्ञान का अंश कह देना, यह केवलज्ञान का अवर्णवाद

है। एक अतीन्द्रिय ज्ञान है और दूसरा इंद्रियजन्य ज्ञान है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपमा कभी भी इंद्रियज्ञान से नहीं दी जाती है। एकसाथ चार ज्ञान रह सकते हैं, पर एकसाथ पाँच ज्ञान नहीं होंगे और जब एक होगा, तो केवलज्ञान होगा। कहा जाता है कि हाथी के पैर में सबके पैर समाविष्ट हैं, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हाथी के पैर में सभी के पैर लगे हों। वो इसलिये कहा जाता है कि हाथी का पैर इतना बड़ा होता है कि उसका पंजा जहाँ रख जाये, वहाँ दूसरे पशु निकल जायें, तो उन सबके पैर उसमें समा जाते हैं। यह अर्थ नहीं है कि हाथी के पैर में गाय का पैर समाविष्ट हो, घोड़े का पैर समाविष्ट हो। ऐसे ही केवलज्ञान का कथन विशद्ज्ञान की अपेक्षा से किया है। जिसे मति-श्रुतज्ञान जानता है, उसे तो केवली जानते ही हैं। परन्तु वह केवलज्ञान से जानेंगे, मति-श्रुतज्ञान से नहीं जानेंगे। जब-तक क्षायिकज्ञान (कैवल्य) प्रगट नहीं हुआ, तब तक मति-श्रुतज्ञान निमित्तकारण है, पर जब कैवल्य प्रकट होगा, तो निमित्त भी नहीं बचेगा। मति-श्रुतज्ञान कैवल्य का कारण तो है, हेतु तो है, निमित्त है, परन्तु कैवल्य नहीं है। कारण-कार्य संबंध है।

भो ज्ञानी! तीन गुप्तियों से युक्त परमयोगी निर्ग्रन्थ मुनि निश्चय रत्नत्रय में लीन, निज स्वरूप में लीन नित्य अनुष्ठान में रहता है। यह प्रवचन का विषय नहीं है, वचन का विषय नहीं है, यह अनुभवन का विषय है। यहाँ द्रव्य-श्रमण की चर्चा नहीं है, भाव-श्रमण की है। परन्तु द्रव्य-श्रमण के बिना भाव-श्रमण जन्मता नहीं है। लेकिन द्रव्यश्रमणपना मात्र भावश्रमण नहीं है। भावश्रमण की हमेशा निश्चय आलोचना होती है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी 'अध्यात्म अमृतकलश' में कह रहे हैं–

मोह के विलास से विस्तार को प्राप्त और उदय में आता हुआ जो यह सब कर्म है, उसकी मैं आलोचना करता हूँ। कर्मों से शून्य और चैतन्यमयी अपनी आत्मा में नित्य ही अपनी आत्मा के द्वारा निवास करता हूँ। आचार्य योगिन्दुदेव 'परमात्म प्रकाश' में बड़ी सहज भाषा में कहते हैं कि जिसके हृदय में, अंतरंग में मृगनयनी निवास कर रही है, उसके हृदय में ब्रह्म का वास कहाँ? जहाँ ब्रह्म का वास नहीं, वहाँ शुद्ध दशा कहाँ? एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती हैं। जहाँ गुप्तियाँ, समितियाँ हैं, वहीं आलोचना संभव है। जहाँ आलोचना है, वहीं आत्मा की शुद्ध दशा है। निश्चय आलोचना की अपेक्षा व्यवहार आलोचना कुछ कठिन है। निश्चय बड़ा आनंद का विषय है। उसमें न प्रभु से कोई प्रयोजन होता है, न गुरु से प्रयोजन होता है। अपने ही गुरु, अपने ही प्रभु से अपने आप में मिलन होता है। वहाँ कोई निंदा, आलोचना नहीं होती है। अब यहाँ डर लगता है कि यदि मैंने आलोचना की और किसी ने सुन ली, तो लोग सोचेंगे कि हम इनको इतना अच्छा समझते थे, यह भी ऐसी गलती करते हैं। गुरु के

समक्ष आलोचना इसलिये नहीं कर पा रहा है कि मेरे विषय में गुरु ने कभी ऐसा सोचा नहीं होगा, यदि मैंनें आज आलोचना की और उनको यह मालूम हो जायेगा कि इनने ऐसा दोष किया, तो मेरा गुरु मुझे मानेगा नहीं। यानि सम्मान के पीछे तू अपने अंदर के मल को नहीं निकाल रहा है। जब तक अंदर का मल नहीं निकलेगा, तब तक वो काँटा चुभेगा और जब तक काँटा चुभेगा, तब तक तुम सामायिक करोगे या माला फेरोगे, तो मन कांटे में जायेगा। अनालोचक शिष्य की सल्लेखना कभी भी नहीं होती है। उसके जीवन में शल्य का काँटा चुभता रहेगा तो उसका शुद्धोपयोग बन ही नहीं सकता है। इसलिये कठिन निश्चय आलोचना नहीं है, कठिन तो व्यवहार आलोचना है। निश्चय आलोचना तो निज का रमण है, न किसी को बताना है, न किसी से पूछना है। अपने में मगन है। झगड़ा तो वहाँ है जहाँ पूछताछी होती है। व्यवहार आलोचना बुद्धिपूर्वक की जाती है और निश्चय आलोचना अबुद्धिपूर्वक हो जाती है। आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' जी की तीसरी गाथा में कहते हैं।

एयत्तणिच्छय गओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई।। स. सा. 3।।

हे श्रमण! एकत्व-विभक्त स्वरूप लोक में सर्वत्र सुन्दर है, क्योंकि बरतन में अकेला चना आवाज नहीं करता। अकेले जाके बैठ जाओ तो आपके जीवन में किसी से झगड़ा नहीं होगा। पर किसी से मिलना मत। आप जहाँ मिले, वहाँ विवाद हुआ। कर्म, कर्म अलग हो जायें और आत्मा, आत्मा अलग हो जाये। यदि आत्मा और कर्म अलग हो जायें, तो विसंवाद नहीं है। यह कर्म और आत्मा मिले हुये हैं, इसलिये तो विसंवाद चल रहा है। सिद्ध भगवान् कब किससे लड़ने आते हैं? नहीं आते। शुद्ध परमाणु निर्विवाद है, शुद्ध आत्मा निर्विवाद है। विवाद तो वहाँ है, जहाँ दो हैं। जहाँ बंध की कथा होती है, वहीं पर विसंवाद होता है। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि विसंवाद से बचना चाहते हो तो बिल्कुल अकेले हो जाओ। आदमी बोलकर ज्यादा फँसता है। आप शत्रु के घर मौन होके चले जाओ, वो शत्रु रह जायेगा, लेकिन दुश्मनी बढ़ेगी नहीं।

आगम की दृष्टि में आचार्य मनोवैज्ञानिक जैसा होता है। सभी साधक दिगम्बर होते हैं, एक से नजर आते हैं, तो भावों को पकड़ना होता है। पूरा प्रायश्चितशास्त्र भावों की पकड़ की बात करता है। तन के दोष तो प्रकट दिखते हैं और आचार्यमहाराज तुम्हारे तन की नहीं, मन की शुद्धि रखना चाहते हैं। इसलिये मन पर अधिकार करने वाला शासक होना बहुत कठिन होता है। यह चरणानुयोग है। अकर्त्तृत्व भाव में ले जाने के लिये कर्त्तृत्व भाव है। 'समयसार' जी का अकर्त्तृत्व भाव चारित्रशून्यता नहीं सिखाता। आपको स्वभाव का कर्त्ता बनाने की बात

करता है। अकर्त्तृत्व भाव से तात्पर्य है कि पर के कर्त्ता नहीं हो, परन्तु निज के कर्त्ता हो। पंचपरमेष्ठी स्व-पर भावों का निर्मल परिणमन कराने वाले निमित्तभूत कर्त्ता हैं, पर उपादानकर्त्ता तो प्रत्येक द्रव्य अपना ही है।

आप आचार्य हो, शिष्य को दीक्षा दी है, तो आपको प्रायश्चित दंड देना ही पड़ेगा। यह नहीं सोचना पड़ेगा कि इसका मन दु:खित होगा। हे आचार्य परमेष्ठी! आपका दु:ख भी दु:ख-मुक्ति का हेतु है। जैसे कुंभकार का घड़े को ठोकने का उद्देश्य है, ऐसे ही निर्दोष गुरु अपने शिष्य को डाँटता है, समझाता है। उसका उद्देश्य शिष्य के प्रति वैरभाव नहीं है। उसका हित हो, यह दृष्टि होती है।अन्यथा चरणानुयोग और आचारसंहिता एकदम नष्ट हो जायेगी चरणानुयोग कहेगा कि समझाना उचित है और करणानुयोग कहेगा कि तुम आचार्य पर छोड़ दो। आप समझाने की दृष्टि से भी आक्रोश भाव लाओगे तो कर्मसिद्धान्त कहेगा कि नियम से बंध होगा ही, उदय में भी आयेगा। इसलिये सल्लेखना के बारह वर्ष पूर्व ही आचार्य अपना पद छोड़ देते हैं और सामान्य निर्ग्रन्थ मुनि रहकर अपने आत्मसंस्कार को वृद्धिगत करते हैं। यह संन्यासकाल है। आचार्यपरमेष्ठी को जिनशासन का नेता भी कहा जाता है। राजनेता भी राजनीति से संन्यास लेते देखे जाते हैं। आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में तीर्थंकर को नेता कहकर नमस्कार किया है।

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वंदे तद्गुण लब्धये॥ त. सूत्र॥

नेता का अर्थ होता है मार्गनिर्देशक। तीर्थंकर केवलीभगवान् मोक्षमार्ग के नेता हैं। ऐसे ही आचार्यपरमेष्ठी भी एक सीमा तक निर्देशित करते हैं, बाद में वो निर्देशन को भी छोड़ देते हैं। वो भी एक परिग्रह है। शिष्यों को रखना बहुत बड़ा परिग्रह है। निर्देशित करना, आज्ञा देना भी परिग्रह है। इंद्र और सामानिक देव वैभव आदि में समान होते हैं, पर आज्ञा इंद्र की चलती है, इसलिये वो इंद्र है। सम्राट और उसके माता-पिता का वैभव समान है, पर आज्ञा चलने के कारण सम्राट है। आचार्य और मुनि दोनों 28 मूलगुणधारी हैं, पर आचार्य इसलिये ज्येष्ठ हैं कि उनको आज्ञा, प्रायश्चित आदि देने का अधिकार है, इसलिये उनके पद की गरिमा है। तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में सामान्य केवली भी अपनी गंधकुटी में विराजमान रहते हैं। बताओ, उनके सुख और इनके सुख में क्या अंतर है? उनके चतुष्टय और इनके चतुष्टय में क्या अंतर है? कोई नहीं। तो अंतर किस बात का है? मात्र पुण्य का अंतर है। एक का शासन चलता है, दूसरे का नहीं। तीर्थंकर का शासन चलता है, केवली का नहीं चलता है। मात्र शासकता का अंतर है, गुणों में कोई अंतर नहीं है। बहिरंग श्री में अंतर है, अंतरंग श्री

में कोई अंतर नहीं है। इसी तरह आचार्य, उपाध्याय, साधु में मुनित्व की अपेक्षा सब सामान्य हैं, मात्र आदेश, प्रायश्चित तथा विद्या उपदेश आदि की विशेषता से विशेषता है। जब सिद्ध बनेंगे, तो यह नहीं होगा कि यह अमुक आचार्य, अमुक उपाध्याय हैं। निर्वाण, सल्लेखना के समय आचार्य, उपाध्याय पद नहीं रहता, सामान्य मुनि रहते हैं। तीर्थंकर का धर्मशासन चलता है। इस समय भगवान् महावीर स्वामी का शासन चल रहा है, वह भले ही नहीं हैं। परन्तु तब तक चलेगा, जब तक कोई दूसरे तीर्थंकर को कैवल्य नहीं हेा जायेगा। एक समवसरण में कई गंधकुटी रह सकती हैं। एक आचार्य के संघ में कई मुनिराज रह सकते हैं। एक तीर्थंकर के समवसरण में कई केवली अपनी-अपनी गंधकुटी में विराजमान रह सकते हैं।

भो ज्ञानी! केवली क्षायिकज्ञानी होते हैं। श्रुतकेवली शास्त्रों के ज्ञानी, आगम के ज्ञाता होते हैं। वे परोक्ष ज्ञानी होते हैं। जो कैवल्य सिद्ध होते हैं, वे केवली भगवान् होते हैं। केवली, श्रुतकेवली अलग-अलग होते हैं। श्रुतकेवली से केवली तो बन जायेंगे, पर केवली से श्रुतकेवली कोई नहीं बनता है। एक बार जिसको केवलज्ञान हो गया, तो हो गया। श्रुतकेवली को केवली इसलिये कहा कि जो विषयज्ञान केवली को है, वैसा ही निर्मल परोक्ष रूप से श्रुतकेवली जानते हैं। इसलिये उनको केवली की संज्ञा दी है। पर वे केवलज्ञानी नहीं है। केवली भगवान का नियम से उसी भव से मोक्ष होता है, पर श्रुतकेवली तद्भव मोक्षगामी हों, यह नियम नहीं है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी हुये हैं। वे मोक्ष नहीं, स्वर्ग गये हैं।

परोक्ष और प्रत्यक्ष में अंतर है। श्रुतकेवली द्रव्य को जानते हैं। जब भी भाव श्रुत में होंगे, तो अंतर-ज्ञाता और श्रुत में होंगे, तो बाह्य-ज्ञाता। पर केवली भगवान् तो मात्र अंतरज्ञाता ही हैं। बाहर का तो झलकता है। श्रुतकेवली अपन के समान जानते हैं, झलकता नहीं है। श्रुतकेवली छद्मस्थ ही हैं। उन्हें जो द्वादशांग का ज्ञान है, उसका आधार केवली की वाणी से जो खिरा है, कैवल्य ही है। केवली की जो वाणी खिरती है और अपने कानों तक पहुँचती है, वह श्रुतज्ञान हो जाती है। श्रुतकेवली भगवान् मुनिराज ही होते हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। बिना भावलिङ्ग के श्रुतकेवली होते नहीं हैं। अभव्य जीव को, ज्यादा-से-ज्यादा ग्यारह अंगों का ज्ञान (द्रव्यलिङ्गी) को हो जायेगा, लेकिन द्वादशांग का ज्ञान भावलिंगी केवली अर्थात् श्रुतकेवली को ही होगा। गणधर परमेष्ठी का ज्ञान और श्रुतकेवली का ज्ञान श्रुत की अपेक्षा समान है। अंतर इतना है कि गणधर 63 ऋद्धियों से युक्त होते हैं और श्रुतकेवली भगवान् की 64 ऋद्धियाँ होती हैं।

मोह के विस्तार से रहित उदय में आये हुये संपूर्ण कर्मों की आलोचना करके आत्मा चैतन्य आत्मा में ही कर्म से रहित अपनी ही आत्मा में वर्तन करता है। 'उपासकाध्ययन' में कहा

है कि कृत, कारित, अनुमोदना से हुये संपूर्ण पापों की निष्कपट वृत्ति से आलोचना करके मरणकाल पर्यन्त संपूर्ण महाव्रतों को धारण करे। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं–

आलोच्य सर्वमनः कृत-कारितमनुमतं च निव्याजम्।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थासि निश्शेषम्॥ र. क. श्रा. 125॥

जो श्रावक सल्लेखना हेतु क्षपक के रूप में गुरु के पास आता है, वह संपूर्ण प्रकार से कृत, कारित, अनुमोदना से सम्पूर्ण पापों की निष्कपट भाव से आलोचना करता है। भैया! परिणाम बड़े विचित्र होते हैं, गुरु के पास भी कपट हो जाता है। जब आलोचना करने आये, उस समय तुम्हें पर्याय का विनाश दिख जाये तो विशुद्ध आलोचना हो जाती है। पर्याय की जरा भी यशः कीर्ति छिपी होगी, तो शुद्ध आलोचना नहीं हो सकती। साधक के अंदर अंतिम अवस्था, विनाश झलकती रहना चाहिये। जब सब विनाश दिख जाये, तो समझ लेना कि अविनाशी आलोचना हो गयी। जब तक विनाश नहीं दिखता, तब तक कुछ रहता है। वो विनाश बहुत आवश्यक है। जब तक हम अपना अस्तित्व बनाके चलेंगे, तब तक पर में श्रद्धा भी स्थापित नहीं कर पायेंगे। श्रद्धावान् बनने के लिये अपनी सत्ता को गौण करना पड़ेगा। सत्ता का विनाश नहीं कह रहे हैं। कितनी विशाल सरितायें बह रही हैं, बहने दो। जब तक तुम सागर में नहीं मिले हो, यह आत्मा उस सागर का भान करती रहे जो सिद्धशिला है। जब तुम सिद्धालय में चले जाओगे, तो कोई नहीं कहेगा कि ये तीर्थंकर सिद्ध हैं, ये सामान्य केवली सिद्ध हैं, ये मूककेवली सिद्ध हैं। सब सामान्य हैं। यह अस्तित्व या सत्ता का बोध तुझे बोधी प्रदान नहीं होने दे रहा है। मेरी सत्ता न चली जाय। पागल! तेरी सत्ता है ही कहाँ? जो सत् है, वो कभी विनशेगा नहीं और यह पुद्गल की सत्ता जो है, यह निश्चित विनशेगी, इसके पीछे तू समाधि भंग कर रहा है। उस स्वरूप की सत्ता को कोई मेट नहीं सकता है, यह भान हो जाये।

भो ज्ञानी! बहेलिया कभी सीधे बाण नहीं चलाता, झाड़ी का सहारा लेकर पशु-पक्षी का घात करता है। हे योगी! कहीं तूने अपनी लिप्सा की पूर्ति के लिये झाड़ी-रूपी इस वेश का सहारा तो नहीं ले लिया? यदि वेश का सहारा लेकर तू अपनी वृत्ति नहीं छोड़ पा रहा है, इच्छाओं की पूर्ति को नहीं छोड़ पा रहा है, तो तू संयम की चिड़िया को मार रहा है। जब तक अंतरंग में निर्मलता नहीं आयेगी, यह सब बातें सुन्दर हो सकती हैं, पर सुन्दर समाधि तभी होगी, जब सत्ता तुम्हारे अंदर से लुप्त हो जायेगी।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आलोचना का फल बताते हुये कह रहे हैं

आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं
शुद्धात्मानं निपधिगुणं चात्मैवावलम्बे।
पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां
नीत्वा नाशं सहज विलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि॥ कलश 152॥

जो इस घोर संसार से मुक्त होना चाहता है, संसार के मूल को नष्ट करना चाहता है, वह प्रतिदिन, प्रतिसमय सुकृत और दुष्कृत की बार-बार आलोचना करता है। उपाधि से रहित होकर गुणों से युक्त अपनी शुद्धात्मा का अपनी आत्मा के द्वारा आलम्बन लेता है। अनन्तर द्रव्यकर्म रूप समस्त प्रकृतियों का क्षय करके सहज विलास रूप केवलज्ञान-लक्ष्मी को प्राप्त करता है। जो शुद्धोपयोगी वीतरागी मुनि होते हैं, वे पुण्य-पाप दोनों की आलोचना करते हैं। दशवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म का जड़मूल से नाशकर पुनः शीघ्र ही बारहवें गुणस्थान के अंत में शेष घातिया कर्मो का नाश करके तत्क्षण केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। छठवें गुणस्थान तक मुनियों के केवल पापकर्मों की आलोचना का कथन है।सम्यक्त्व सहित पुण्य, परम्परा से मोक्ष का कारण है और सम्यक्त्वरहित पुण्य भी कदाचित् सम्यक्त्व आदि में कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'प्रवचनसार' की गाथा 45 (प्रथम अधिकार) में कहा है कि "पुण्यफला अरिहंता"। अतः पुण्य के लिये सर्वथा एकांत नहीं समझना चाहिये।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : आलोचना के स्वरूप के भेदों का कथन

गाथा : आलोयणमालुंछण, वियडीकरणं च भावशुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खणं समए॥ 108 ॥
जो पस्सदि अप्पाणं, समभावे संठवित्तु परिणामं।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएसं॥ 109 ॥

संस्कृत छाया : आलोचनमालुञ्छनमविकृतिकरणं च भावशुद्धिश्च।
चतुर्विधमिह परिकथितं आलोचनलक्षणं समये॥ 108 ॥
यः पश्यत्यात्मानं समभावे संस्थाप्यपरिणामम्।
आलोचनमिति जानीहि परमजिनेन्द्रस्योपदेशम्॥ 109 ॥

अन्वयार्थ : (आलोचनं) आलोचना (आलुञ्छनं) आलुंछन (अविकृतिकरणं) अविकृति करण (च) और (भावशुद्धिः च) भावशुद्धि ये (चतुर्विधं आलोचन लक्षणं) चार प्रकार आलोचना का लक्षण (इह समये) यहाँ आगम में (परिकथितं) कहा है॥ 108॥

(यः) जो (समभावे परिणामं संस्थाप्य) समताभाव में अपने परिणाम को संस्थापित करके (आत्मानं पश्यति) अपनी आत्मा का अवलोकन करता है (आलोचनं) वह आलोचना है (इति) ऐसे (परम जिनेन्द्रस्य उपदेशं) परम जिनेन्द्र के उपदेश को (जानीहि) तुम जानो।

नियमदेशना

भो मनीषियो! जो आलोचना गुरु के चरणों में की जा रही है, वह कोई लेन-देन की क्रिया नहीं है, आत्मशोधन की एक प्रक्रिया है। यह ऐसा नहीं है कि सब कर रहे हैं सो अपन कर रहे हैं। आलोचना वही है, जो गर्हा पूर्वक होती है। जो स्वसाक्षी में की जाती है, वह निन्दा है। जो गुरुचरणों में की जाती है, वो गर्हा है। पर अंतरंग में यह भावना होनी चाहिये कि मैं पापों से निर्लिप्त रहूँ, तब तो आलोचना है। अन्यथा वो आलोचना भी आलोचना नहीं है। दोष के बाद आलोचना के जो भाव हो रहे हैं, वह विशेष साधना है। आप मुझे जानते हैं, पर मैं दोषी हूँ या निर्दोष हूँ, आपको क्या मालूम? अपने दोषों को प्रकट कर देना सहज काम नहीं है। यह वीरों का काम है। हीन जीवों का काम नहीं है। अपने ही मुख से दण्ड माँगना, यह वीरता है। लोक में दंड दिया जाता है, लेकिन जिनशासन में दण्ड स्वयं लिया जाता है। रागी और विरागी की दण्डप्रक्रिया में महान अंतर है। रागी को दण्ड दिया जाता है और विरागी अपने दोषों को, चित्त की शुद्धि के लिये, स्वयं जाकर, कहकर प्रायश्चित

लेता है। जब ऐसी व्यवहार आलोचना होगी, तब परमार्थ आलोचना प्रकट होगी।। जब तक व्यवहार आलोचना नहीं होगी, तब तक परमार्थ आलोचना का उद्भव नहीं होगा।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 108 में चार प्रकार के आलोचना के भेद कह रहे हैं। आलोचना, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। शुद्ध निश्चयनय से परम आलोचना के चार भेद कहे गये हैं। आलोचना के इन भेदों को जानकर भव्यजीव अपनी आत्मा में ही स्थिति को प्राप्त होता है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव आलोचना से परिणत मुनि को श्रद्धापूर्वक नमस्कार कर रहे हैं तथा परमार्थ आलोचना में अपनी प्रगाढ़ रुचि प्रकट करते हुये कलश कह रहे हैं–

आलोचना भेदममुं विदित्वा, मुक्त्यङ्गनासङ्गमहेतुभूतम्।
स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीवः, तस्मै नमः स्वात्मनि निष्ठिताय॥ कलश 153॥

आलोचना से मुक्ति-सुन्दरी से मिलन होता है। ऐसे मिलन के कारणभूत आलोचना के भेदों को जानकर भव्यजीव निश्चितरूप से अपनी आत्मा में ही स्थिति को प्राप्त होता है। ऐसे अपनी आत्मा में स्थित मुनिराज को मेरा नमस्कार हो। इस कलश के द्वारा आचार्य श्री की मुनिराजों के गुणों के प्रति भक्ति प्रदर्शित हो रही है। जिसकी जिसमें रुचि होती है, वह उस गुण से युक्त की उपासना अवश्य करता है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 109 में कह रहे हैं कि जो अपनी आत्मा को देखता है अपने निज परिणामों को, साम्यभाव से स्थापित करके उसे आलोचना जानो। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। परम समता से युक्त भावों का नाम ही परम आलोचना है। जबरदस्ती प्रेरित कर-करके चले, आचार्यश्री के पास आलोचना करे। उसके मन में भाव ही नहीं बन रहा है और आप उसको जबर्दस्ती प्रेरित कर रहे हो। भो ज्ञानी! आप आलोचना भी करवा दोगे, प्रायश्चित भी दिलवा दोगे, परन्तु उसकी आलोचना हुई नहीं है। यह दण्ड कहला सकता है, पर आलोचना नहीं है। आलोचना वही है, जो स्वयं कहता है अंदर से कि तूने पाप किया है, दोष किया है, चलो, आलोचना करो। किसी के प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं है, धकेलने की जरूरत नहीं है। यह जिनशासन है, धक्का-मुक्की का शासन नहीं है, स्वतंत्र शासन है। भैया! प्रेरणा दो, पेरो मत। इतना तो कह सकते हो कि आप से दोष लगा है, आपको आलोचना करना चाहिये। अब वो जानकर नहीं करना चाहता है, तो अपन क्या कर सकते हैं? उसकी भवितव्यता बिगड़ चुकी है।

हे योगी! तूने सबकुछ छोड़ा है, उस छोड़ने का उद्देश्य क्या था? यदि कल्याण का उद्देश्य था, तो कल्याण के इच्छुक को दूसरे की आवश्यकता नहीं रहती है। इसलिये साधना के काल

में अपने आपको थोड़ा स्वतंत्र छोड़ना जरूरी है। किसान जब बैलगाड़ी लेकर चलता है, तो बैलों की दैनिक क्रिया की आवश्यकता को देखकर गाड़ी खड़ी कर देता है। इसे शांति से मल विसर्जित करने दिया जाय। भो ज्ञानी! इसी प्रकार से साधक तू साधना की क्रिया में इतना तल्लीन है, साधक आत्मा को तनक सोचने का मौका दो। साधना के साथ-साथ सोचने का मौका दो। क्योंकि साधना क्रियाभूत है और ध्यान भावभूत है। साधना के काल में ध्यान नहीं करोगे तो साधना नष्ट हो जायेगी, फीकी पड़ जायेगी। लोग ध्यान साधना से हटते नजर क्यों आते हैं? प्रारंभ में जो भाव थे, आज क्यों नहीं हैं? उसकी भूल नहीं है, वो वहाँ तक पहुँचा ही नहीं है। जिस दिन वह वहाँ पहुँच जायेगा, तो कोई साधक साधना को गलत नहीं कह पायेगा। मार्ग की सीमा होती है और मार्ग में चलता ही रहे, मार्गी न मिले, तो थकान आती है। वैसे आप सम्मेद शिखर जी की 27 कि.मी. की वंदना कर लेते हो, इतनी थकान नहीं आती, लेकिन आप भटक जाओ तो थकान आती है।

आप मंदिर आ रहे थे, बड़ा उत्साह था कि 'नियमसार' जी की वाचना सुनना है। बड़े आनंद के साथ आये और वाचना नहीं हुई, तो कुछ खोया-खोया-सा लगता है, कुछ मिल-सा नहीं रहा है, लौटने के भाव आते हैं। ऐसे ही साधक जब दीक्षा के मार्ग पर आता है, तो सोचता है कि मुझे कुछ मिलेगा। जब तक दीक्षा नहीं होती है, दीक्षा का लक्ष्य रहता है, बड़ा आनंद रहता है। दीक्षा के बाद तुम क्या करोगे? जो द्रव्य है, वहाँ तक नहीं पहुँच पाये, तो बाह्य क्रियाकांडों में उलझोगे या फिर वापस मुड़ने के भाव आते हैं। इसलिये जिनागम कहता है कि दीक्षा के बाद ध्यान का अभ्यास अनिवार्य है। ध्यान के द्वारा जो तेरा निज द्रव्य है, चैतन्य प्रभु है, उसे देखने का पुरुषार्थ करो। और न भी दिखे, तो चिन्ता नहीं करना। लेकिन विश्वास रखना, जब-जब तुम ध्यान करोगे, उस दिन आपको साधना का नया पन महसूस होगा। साधक के लिये साधना की नई उमंग की वस्तु ध्यान है। हर दिन आप नयापन महसूस करोगे, शरीर में भी स्फूर्ति रहेगी। रत्नत्रयधर्म में भी स्फूर्ति है। जिससे चेतन के रोग नष्ट होते हैं, तो तन के रोग नष्ट क्यों नहीं होंगे? अवश्य होंगे।

भो ज्ञानी! घर में सयानी बेटी है, सम्बन्धयोग्य है, उन माता-पिता से पूछना कि तुम्हारी परिणति क्या है? मुमुक्षु जीव की वही दृष्टि होती है कि यह दीक्षा-बेटी सयानी हो चुकी है अर्थात् दीक्षा का काल लम्बा हो चुका है, पर मेरा ध्यान से संबंध नहीं हुआ। ध्यान से संबंध नहीं होगा तो मुक्ति-वल्लभा से वरण कैसे होगा? मुक्ति-वल्लभा से मिलन करना है तो पहले ध्यान से संबंध जोड़ना होगा। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ध्यान का संबंध समता से है। समता अतीन्द्रिय/अनइंद्रिय का विषय है। परम समता भावना से युक्त सहज

वैराग्य-सुधा-सिन्धु तो परम भाव है। यह आलोचना कब प्राप्त होगी? जिसके अंतरंग में सहज वैराग्य के सागर की लहरें उठ रही हैं, उसके अंदर ही आलोचना के भाव उत्पन्न हो रहे हैं। निर्मल कमल सरस सरोवर में ही खिलते हैं। अग्नि में कभी कमल खिलते नहीं देखे जाते हैं। ध्यान-सुमन समता के सरोवर में ही खिलेंगे। ममता की अग्नि में ध्यान-सरोज खिलनेवाला नहीं है। ममता की भट्टी में तू कमल खिलाना चाहता है, जो तीन काल में संभव नहीं है। जिसे वैराग्य है, उसे अपने अंदर दोष-ही-दोष नजर आते हैं। जिसके अंदर वैराग्य नहीं है, उसे अपने पाप भी नजर नहीं आते हैं। जिसने वैराग्य को प्राप्त कर लिया है, उसे एक पग रखने में दोष नजर आता है।

भो ज्ञानी! यदि आज तूने नियम लिया है कि महाराजश्री! आज मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अंतराय का पालन करके भोजन करूँगा कि कहीं बाल तो नहीं है। लेकिन यदि तेरा नियम ही नहीं है, तो अभी जाओगे तो उठाके यूँ रख दोगे और भोजन कर लोगे, तो अंतराय किसका? जो अंतराय पाले, उसका अंतराय होता है। इसी प्रकार से जिस जीव को वैराग्य है, उसी जीव को दोष नजर आते हैं निज के और जिसे वैराग्य नहीं है, उसे दोष नजर नहीं आते। वह पर के दोष देखता है, पर के बहुत दोष नजर आते हैं, निज के नजर नहीं आते। जैसे कमल जल में खिलकर जल से भिन्न रहता है, ऐसे ही मुमुक्षुजीव संसारियों के बीच में रहकर संसारियों की भावना से दूर रहता है। संसारीभावना में चला गया, तो भव का भाव बढ़ गया।

आचार्यभगवन् यहाँ कह रहे हैं कि ऐसे सहज वैराग्यसिंधु के स्वामी, जिनके वचनों के समूह से परिपूर्ण पराग निकल रहा है, अर्धरात्रि के पूर्णचन्द्र के समान जो हमेशा अंतरंग में अपूर्व निरन्तर निज आत्मबोध के कोष हैं, ऐसे कारणपरमात्मा को निरवशेष रूप अंतर्मुख से अपने स्वभाव में लीन सहज अवलोकन दर्शन के द्वारा निरन्तर देखते हैं। कैसे देखते हैं? अपने निज परिणामों को समता का आलम्बन लेकर, परम संयमी होकर स्थित होते हैं। वही आत्म-आलोचना का स्वरूप है, तभी परम आलोचना का पात्र है। अभी तो भैया! आप परम आलोचना के पुजारी हो, उपासक हो। उपासना तो वीतरागी की ही होती है। आप लोग उपासक भी वित्तरागी के हो। यह वित्त का राग जो है, भो ज्ञानी! यह उपासना का स्थान नहीं है। जब तक रागदृष्टि है, तबतक वित्तराग की बातें कर रहे हो। वित्तराग की उपासना और वीतरागता की बातें, दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। वीतरागी के मुख से वित्त की बातें शोभाहीन होती हैं, ऐसे ही वित्तरागियों के मुख से वीतरागता की बात फीकी नजर आती है।

भो ज्ञानी! ज्ञान भी तभी प्राप्त हो सकता है, जब अज्ञानियों से दूर हटके रहा जायेगा। ज्ञान की पूर्ति फक्कड़ बनके ही हो सकती है। जहाँ कोई चिन्ता नहीं। जिसे निज का पेट

भरने की भी चिन्ता न करनी पड़ती हो, उससे बड़ा सौभाग्यशाली विश्व में कौन होगा? गृहस्थों को तो दुनियाँ भर की चिन्ता रहती है। निर्ग्रन्थ इन सबसे मुक्त रहते हैं।इसलिये वीतरागियों के मुख से वित्त की चर्चा शोभा नहीं देती है और वित्तरागियों के मुख से वीतरागता की शोभा फीकी नजर आती है। लेकिन आप उसको छोड़ना मत। हो सकता है कि वीतरागता की चर्चा करते-करते वित्त का राग छूट जाये और वीतराग भाव जग जाये। महाराज! जितनी वीतरागता की बात करो, उतना वित्त ज्यादा मिलता है, बड़े पंड़ित कहलाते हैं और सेठ भी ज्यादा सम्मान देते हैं। लेकिन ज्ञानी! यदि उस पुण्य को वास्तव में वीतरागता में परिवर्तित कर देते, तो यह वित्त तो तुच्छ था, समवसरण का वित्त मिल सकता था। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं–

आत्मा ह्यात्मानमात्मन्यविचलनिलयं चात्मना पश्यतीत्थं
यो मुक्तिश्रीविलासानतनुसुखमयान् स्तोककालेन याति।
सोऽयं वंद्यः सुरेशैर्यमधरततिभिः खेचरैर्भूचरैर्वा
तं वंदे सर्ववंद्यं सकलगुणनिधिं तद्गुणापेक्षयाहम्॥ कलश 154॥

जो आत्मा अपनी आत्मा में अपनी आत्मा के द्वारा ही अविचल रूप ऐसी आत्मा को देखता है, वह अतीन्द्रिय सुखमय मुक्तिलक्ष्मी को अल्प समय में प्राप्त कर लेता है। ये आत्मा इंद्रों से, संयमधारी मुनियों के समूह से, विद्याधरों से, भूमिगोचरियों से वंद्य है। ऐसे सभी से वंद्य संपूर्ण गुणों के निधान उस आत्मा की मैं उन गुणों के रहने के कारण वंदना करता हूँ। पद्मप्रभमलधारिदेव महाराज निश्चय रत्नत्रय से युक्त आत्मा की वंदना करते हैं। 'समयसार' जी की अतिक्ति गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्य-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥

जो मुनि आत्मा की भावना से युक्त होकर संयमित आचरण करता है, वह चिरकाल के संपूर्ण दु:खों से मुक्त हो जाता है। जो योगी आत्माभावना में लीन होता है, अल्पकाल में ही वह दु:खों से मुक्त हो जाता है। इसलिये जो प्रपंच हैं, उनसे परे होकर निज लक्ष्य की ओर दृष्टिपात करेगा तो यह जीव अल्पकाल में ही मुक्तिश्री को प्राप्त हो जायेगा। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में पुन: कह रहे हैं

आत्मा स्पष्टः परमयमिनां चित्तपङ्केजमध्ये
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितध्वान्तपुञ्जः पुराणः।
सोऽतिक्रान्तो भवति भविनां वाङ्मनोमार्गस्मि–
न्नारातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः॥ कलश 155॥

परम योगियों के चित्तरूपी सरोवर में आत्मा स्पष्ट दिखती है, जैसे निर्मल सलिल में पड़ा मोती झलकता है, ऐसे ही निर्मल चित्त है जिस संत का, उसके अंदर झलकता है वह आत्मा रूपी मोती, जो ज्योति से युक्त है, पापसमूह को नष्ट कर चुका है तथा पुराण प्राचीन है। वह आत्मा संसारी जीवों के वचन और मन के अगोचर है। ऐसे इस आरातीय प्राचीन परमपुरुष में क्या तो विधि है और क्या निषेध है? यह आत्मा कब से है? अनादिकाल से है। कब तक रहेगी? अनंतकाल तक। भो ज्ञानी! आप कब से हो संसार में? कब तक रहोगे संसार में? अनादि अनंत की चिन्ता नहीं करो। आप भगवान् की आराधना करो, जिनवाणी की साधना करो, गुरुओं की उपासना करो, आपका संसार चुल्लुप्रमाण रह जायेगा। यहाँ पर व्यवहार आलोचना का तो उपहास कर दिया, बोले, व्यवहार-व्यवहार की कोई बात मत करना। परन्तु आप अभी मत छोड़ देना, अभी तो आप करना। जब आप भी परम जिन योगीश्वर बन जाओगे, तो उपहास अपने आप हो जायेगा। जिस आत्माराम को परम मोक्षसुन्दरी दिख रही होवे, संसार की सुंदरियों का उपहास तो अपने आप करेगा। जिस जीव को निश्चयनय में लवलीनता हो, उसके लिये व्यवहार-आलोचना का उपहास अपने आप हो जाता है।

जयत्यनघचिन्मयं सहजतत्त्वमुच्चैरिदं
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजातकोलाहलम्।
नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरं
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम्॥ कलश 156॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि जयवंत हो क्या? अघ से रहित, निर्दोष, जो अतिशयरूप सहज-तत्त्व है, चैतन्यमयी तत्त्व है। जो सकलइंद्रिय से उत्पन्न कोलाहल से रहित है। भैया! तुमने कोलाहल को जन्म दिया है, कोलाहल में पले, कोलाहल को पाला, इसलिये हमें कोलाहल महसूस नहीं हो रहा है। ज्ञानी! सकल इंद्रियों के समूह के कोलाहल को योगी छोड़ देता है। सहज-तत्त्व नय और कुनय दोनों से दूर होता है, फिर भी योगियों के गोचर होता है। तुम निश्चयनय और व्यवहारनय करते रहो, यह तो विवाद है। आत्मा निश्चयनय नहीं है, आत्मा व्यवहारनय नहीं है। आत्मा तो चिद्रूप है। वह चिन्मयस्वरूप आत्मा योगियों के गोचर है। वह सदा शिवमय है। वह अज्ञानियों से बहुत दूर है, पर योगियों के बहुत नजदीक है। परमानन्दशालिनी, चैतन्यमालिनी, भगवान्-आत्मा ही तेरा परम स्वकीय है, उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ करो।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : आलुंछन रूप आलोचना का स्वरूप।

गाथा : कम्ममहीरुहमूलच्छेद-समत्थो सकीयपरिणामो।
साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं॥ 110 ॥

संस्कृत छाया : कर्ममहीरुहमूलच्छेदसमर्थः स्वकीयपरिणामः।
स्वाधीनः समभावः आलुञ्छनमिति समुद्दिष्टम्॥ 110 ॥

अन्वयार्थः (कर्ममहीरुहमूलच्छेद समर्थः) जो कर्मरूपी वृक्ष की जड़ को छेदने में समर्थ है (स्वाधीनः) अपने आधीन है और (समभावः) समभाव रूप है, ऐसा जो (स्वकीय परिणामः) अपनी आत्मा का परिणाम है वह (आलुञ्छनं) आलुंछन है (इति निर्दिष्टं) ऐसा कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव शुद्धात्म-तत्त्व के विषय में कलश में पुनः कह रहे हैं–

शुद्धात्मानं निजसुखसुधावार्धिमज्जन्तमेनं
बुद्ध्वा भव्यः परमगुरुतः शाश्वतं शं प्रयाति।
तस्मादुच्चैरहमपि सदा भावयाम्यत्यपूर्वं
भेदाभावे किमपि सहजं सिद्धिभूसौख्यशुद्धम्॥ कलश 157॥

शुद्धात्मा, अपने निज सुखरूपी अमृत से युक्त जो सागर है, उसमें ही निमग्न है। भव्य जीव ने परमगुरु के उपदेश से जान लिया है। बिना गुरु उपदेश के आत्मरमणी से मिलन संभव नहीं है। परमगुरु के उपदेश से जानकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी अपूर्व आत्मा के लिये मैं भी अच्छे रूप से उसी आत्मा की सदा भावना भाता हूँ।

यदि सम्यग्दृष्टि जीव पंचपरमेष्ठी की भी आराधना करता है तो आत्माराधना के लिए ही करता है, जिसमें आत्माराधना झलकती है। जिसे आत्माराधना नहीं झलकती है, उसकी पंचपरमेष्ठी की आराधना 'आराधना' नहीं है, क्योंकि बिना आत्मावलोकन के मिथ्यादृष्टि भी आराधना कर लेता है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'समयसार' जी में लिखते हैं–

धम्मं भोगणिमित्तं ॥ स. सा. 275॥

अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव भी श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है, धर्म करता है, किसके लिये? भोगों के निमित्त से। कर्म के क्षय के निमित्त से नहीं करता है। भो ज्ञानी!

मेरी आत्मा अशुभ में परिणमन न कर जाये, इसलिये मैं पंचपरमेष्ठी की आराधना कर रहा हूँ। लक्ष्य आत्मा का ही है। स्वाध्याय क्यों कर रहे हो? मेरी आत्मा का परिणमन कहीं अन्यथा न हो जाये, इसलिये मैं जिनवाणी पढ़ रहा हूँ। सत्संग क्यों कर रहे हो? मेरे उपयोग की धारा अशुभ में परिणत न हो जाये, कुसंगति में न चली जाये, इसलिये मैं सुसंगति कर रहा हूँ। माला क्यों फेर रहे हो? मेरी आत्मा का अंतर्जल्प अशुद्ध चिन्तन में न चला जाये, इसलिये मैं जाप कर रहा हूँ। जैसे कि चकोर को चाँद ही नजर आता है, ऐसे ही मुमुक्षु जीव को निज पूर्ण शुभ्र आकाश में विराजी, निर्मल चारित्र से पूरित, निज शशि का ही दर्शन होता है। सिद्धों की अनुभूति सिद्धरूप है, पर आपके ज्ञान में सिद्धों का स्मरण भी शुभोपयोग रूप ही है, शुद्धोपयोग रूप नहीं है। किसी भी परमेष्ठी का ध्यान करोगे, वहाँ शुभोपयोग ही बनेगा। भो ज्ञानी! शुद्धोपयोग में तो निजस्वरूप निजपरमेष्ठी का मिलन ही करना पड़ेगा।

भो ज्ञानी! वे भव्य नहीं हैं जो विषयों में लीन हैं और सम्यक्त्व की शक्ति से हीन हैं। ग्रैवेयक की यात्रा करने वाले योगी अभव्य ही थे, जो पुनः संसार में रूल रहे हैं। यहाँ अभव्य योगी की चर्चा नहीं है। भव्य योगी परमगुरु की कृपा से, प्रसाद से यश प्राप्त कर लेता है। शाश्वत सुख की ऐसी अपूर्व आत्मा की अवस्था, जिसमें भेद का अभाव है, सहज सिद्धि की उत्पत्ति का स्थान है, ऐसा शुद्ध जो सुख है, वह स्वभावरूप है। इसलिये आत्मस्वरूप की लवलीनता जो है, विभक्त नहीं है, अविभक्त है। पर विभक्त भाव को प्राप्त किये बिना अविभक्त अवस्था की प्राप्ति नहीं होगी। एकत्व-भाव निज में भाव है और विभक्त-भाव भेदविज्ञान है। एकत्व भाव निज में समवाय-भाव है, विभक्त-भाव जो है, वह भेदविज्ञान की अवस्था है। मैं पर से भिन्न हूँ, ऐसा जो मुमुक्षु का आत्मपरिणमन है, वो विभक्त-भाव है। मैं चिद्रूप अखंड हूँ, यह तेरा एकत्व-भाव है। जब तू चिद्रूप का वंदन करेगा, तत्काल में एकत्व-विभक्त पर ही दृष्टिपात होगा। पंचपरमेष्ठी की आराधना में लगे रहना, परन्तु इतना ध्यान रखना कि वे अविभक्त नहीं हैं, विभक्त ही हैं। प्रभु! मैं आपकी आराधना आप से कुछ माँगने के लिये नहीं कर रहा। आपसे तो मैं मोक्ष भी नहीं माँगता हूँ। वे जीव अज्ञानी हैं जो आपसे मोक्ष माँगने आते हैं।अहो! तू आया क्यों है? यहाँ मैं माँगने नहीं आया, मैं तो अपनी अशुद्ध परिणति से बचने के लिये आया हूँ। मेरा निज का परिणमन मुझे मोक्ष देगा। यह किसने कह दिया कि परमेष्ठी मोक्ष देंगे? परमेष्ठी मोक्ष नहीं देंगे। परमेष्ठी की आराधना अशुभ से बचने का हेतु है और मेरा जो शुभोपयोग है, वही परम्परा से शुद्धोपयोग में प्रवेश करायेगा। वह शुद्धोपयोग की दशा मेरी शुद्ध बनने की दशा है। इसलिये परमेष्ठी मार्गदर्शक तो हैं, पर मार्गी नहीं हैं। व्यवहारदृष्टि से पंचपरमेष्ठी परम्परा से मोक्ष के हेतु हैं। निश्चय दृष्टि से,

परमात्म दृष्टि से निज शुभ आत्मा ही मोक्ष का हेतु है और परमशुद्ध निश्चयनय से यह मोक्ष/संसार कोई विकल्प ही नहीं है।

भो ज्ञानी! कर्म से रहित जो तेरी चिद्रूप अवस्था है, वही तेरा मोक्ष है। कर्म कर्म में मिल जायेंगे और निज निज में मिल जायेगा। मोक्ष का कोई विकल्प मत करो। मुंच धातु से मोक्ष शब्द की उत्पत्ति होती है। चाहे वह मुंच आत्मा का कराओ, चाहे वह मुंच कर्मों का कराओ, पर मोक्ष दोनों का होना है। तो आप कर्मों का मोक्ष क्यों नहीं कहते हो, आत्मा का मोक्ष भर क्यों कहते हो? वे कर्म जो अपनी शुद्ध अवस्था को छोड़ तेरे से चिपके हैं, वे कार्माणवर्गणायें, शुद्ध पुद्गल परमाणु अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त कर लें, मेरी आत्मा में जितने चिपके हैं उन कर्मों का मोक्ष हो जाये तो मेरा मोक्ष हो ही गया। कर्म कहते हैं कि इस आत्मा का मोक्ष हो जाये तो हमारा मोक्ष हो जाये। "स्वार्थम् को न वाञ्छति" संसार में कौन स्वार्थ नहीं चाहता है? सभी स्वार्थी हैं। आप कर्मों को बांधे हो, कर्म आपको बांधे हैं। एक दूसरे का मुंचन हो जाये, छूट जाये, तो दोनों का मोक्ष हो जाये। यानि छूट जाना। आत्मा से कर्म छूट जाये, कर्मों से आत्मा छूट जाये तो जीव शुद्ध बन गया, पुद्गल अपने में मिल गया। दोनों का मिश्रण बंध है, इसलिये दोनों का मोक्ष होगा। कर्मों से मुक्ति, मोक्ष हो गया। भो ज्ञानी! जैनदर्शन में मोक्ष से मुक्ति नहीं होती, कर्मों से हो जाती है। श्रमण संस्कृति में शुद्धजीव दग्ध-बीज के समान होता है। जैसे दग्ध-बीज पुनः नहीं उगता, इसी तरह सिद्ध-आत्मा संसार में वापस कभी नहीं आती है।

निर्मुक्तसङ्गनिकरं परमात्मतत्त्वं
निर्मोहरूपमनघं परभावमुक्तम्।
संभावयाम्यहमिदं प्रणमामि नित्यं
निर्वाणयोषिदतनूद्भवसंमदाय॥ कलश 158॥

यहाँ आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि वह शाश्वत अवस्था कैसी है? जो मेरा परमार्थ तत्त्व है, वह संपूर्ण परिग्रह से रहित है, निर्मोह है, निर्दोष है और परभावों से रहित है। ऐसे इस परमात्म तत्त्व को समीचीन रूप से साम्यभाव से मैं नित्य ही नमस्कार करता हूँ। जो निर्वाणसुन्दरी उत्पन्न होने वाले अनंगसुख को देता है, वह परमतत्त्व मेरा चिद्रूप चैतन्य स्वरूप है। अगले कलश में आचार्य महाराज कह रहे हैं–

त्यक्त्वा विभावमखिलं निजभावभिन्नं
चिन्मात्रमेकममलं परिभावयामि।
संसारसागरसमुत्तरणाय नित्यं
निर्मुक्तिमार्गमपि नौम्यविभेदमुक्तम्॥ कलश 159॥

वह परमतत्त्व कैसे प्राप्त होगा? भो ज्ञानी आत्माओ! संपूर्ण विभावों को छोड़ दो। विभाव व स्वभाव युगपत् नहीं होते हैं। एक समय में ग्रीष्मकाल हो, उसी समय शीतकाल हो, यह संभव नहीं है। जो जीव भोगों में योग खोज रहा है, वह गीष्मकाल में शीतकाल का वेदन करना चाहता है। जो जीव भोगों में निज सुंदरी का रमण करना चाहता है, वह जीव अग्निकुंड में कमल को खिलाना चाहता है। जो जीव इंद्रिय-लिप्तता में अतींद्रिय अवस्था से मिलना चाहता है वह पश्चिम दिशा से सूर्य उगाना चाहता है, जन्म से अंध की आँखों से निहारना चाहता है। ये संभव नहीं है, तो भोगों से योग भी संभव नहीं है। योग तो योग है, भोग तो भोग है।

भो ज्ञानी! वैज्ञानिकों ने सूर्य की तपन से बचने के लिये अनेक प्रकार के साधन, छतरियाँ बना दी, पर काम के ताप से बचने के लिये कोई छतरी नहीं बना पाये। इससे बचने के लिये संयम की छतरी ही संभव है। ये जीव जब विषयों के सेवन की सोचता है कि इसमें से कुछ निकलेगा, मिलेगा, पर शक्ति क्षीण हुई, धातु का निर्गमन हुआ, सुख कहाँ था? कमजोरी प्रारंभ हो गई। पहले प्राप्ति की चिन्ता में झुलस रहा था, अब पश्चाताप की भट्टी में झुलसता है। कहता है कि अब संयम का पालन करूँगा, कब तक? जब-तक शक्ति नहीं है। यह वैराग्य नहीं था, यह थकान थी। थकान की भावुकता में वैरागी मत बन जाना। कुछ घर की थकान से, परिवार की थकान से मोक्षमार्ग में आ जाते हैं और जैसे ही थकान मिटी, पुनः संसार में लौटना प्रारंभ कर देते हैं। यह मोक्षमार्ग थकान का नहीं,विश्राम का नहीं है। यह कषायों के शमन का है।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, संसार में तेरा सबसे बड़ा शत्रु कोई है तो वह विकारी भाव ही है। आप अविकारी दशा की चर्चा सुन रहे हो। वो अविकारी दशा की चर्चा इतनी निर्मल है, तो अविकारी दशा कितनी निर्मल होगी? विभाव मेरे निज भावों से अत्यन्त भिन्न हैं। जयसेन स्वामी ने 'समयसार' की टीका में लिखा है कि शिष्य ने पूछा, 'ध्यान कैसे करें?' उन्होंने कहा—'गुफा में बैठ जाओ और चिन्तन करो कि महिषोऽहं, महिषोऽहं।' उसने यह चिन्तन प्रारंभ कर दिया। थोड़ी देर बाद आवाज आती है, 'गुरुदेव! मैं इस गुफा से कैसे निकलूँ? बोले, 'बेटा! क्या हो गया?' बोला, 'मेरे सींग बहुत लम्बे हो गये हैं। अब मैं कैसे निकलूँ? गुरुदेव ने कहा, 'तू सच्चा ध्याता हो गया है। अब तू वहीं बैठकर ध्यान कर 'सोऽहं, सोऽहं।'

भो ज्ञानी! ऐसा नहीं है कि आपके अंदर एकाग्रता नहीं है। जिसके प्रति जब तेरी दृष्टि होती है, तू जाग्रत अवस्था में, स्वप्न अवस्था में भी उसका चित्र देखता है, चेहरा देखता है। तू भगवान् के चरणों में भी खड़ा होकर, जिसके प्रति रागभाव है, वह आँखें बन्द होने पर भी दिखती है। सामने खड़े भगवान् नहीं दिखते हैं। जब तुम परोक्ष में पर में पर रमणी के

रहने पर भी रमण कर सकते हो, तो भो चेतन! निज की आत्मरमणी से तू रमण क्यों नहीं कर सकता है? इसका तात्पर्य है कि पर-अंगनाओं में राग ज्यादा है, लिप्तता ज्यादा है, निजरमणी के प्रति उत्साह नहीं है। इसलिये यह सबकुछ हो रहा है, जबकि यह निजभावों से भिन्न है।

परभावों से भिन्न, अमल मेरा स्वरूप है। मैं उसी की भावना भाता हूँ, जो संसार-सागर से उत्तीर्ण कराने वाले हैं। चौबीस घंटे ऐसा चिंतन चले, यही कहने-सुनने को मिले। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी कहते हैं, हे चेतन! छः माह तू एकान्त में बैठकर यदि ऐसा चिन्तन कर ले, तो तुझे भगवान् आत्मा के दर्शन हो जायेंगे। पर ध्यान रखना, चेला, चेली, भक्त, अभक्त इन सबसे दूर रहना होगा। ये सब कल्याण के साधन नहीं हैं। यह धर्म मानके बैठ गये कि जितने चेला-चेली बढ़ेंगे, उतना ही मेरा धर्म बढ़गा, तो धर्म नहीं, प्रचार बढ़ेगा, पर धर्म कम हो जायेगा।

भो ज्ञानी! जिनवाणी कह रही है कि मेरा राग भी मेरा नहीं है। मति-श्रुतज्ञान मेरा नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय धर्म भी मेरा निज-धर्म नहीं है। एक अखंड चिद्रूप चेतन निश्चय आत्मरमण ही मेरा धर्म है। केवलज्ञान-केवलदर्शन यह आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। ऐसे स्थान में 13 वाँ 14 वाँ गुणस्थानवर्ती मुनि विराजता है। परमचारित्र ही मेरा धर्म है। जबतक तू अपनी आत्मा के प्रथम गुणस्थान से लेकर 14वें गुणस्थान तक नहीं निहारेगा, तब तक अ इ उ ऋ लृ का समय मिलनेवाला नहीं है। इस तनक-से समय के लिये इतना समय चाहिये पड़ता है।

भो ज्ञानी! जिस भाव से यह सबकुछ वैभव दिख रहा है, वह निजभाव से भिन्न है। ''विभावमखिलं निजभाव भिन्नं''! संपूर्ण विभावों को छोड़कर निजभाव भिन्न है। जो संपूर्ण विभाव-भाव हैं, उनसे मेरा भाव भिन्न है। संसारसागर से पार होने के लिये हमेशा ऐसी भावना भाता हूँ। अभेद रूप से कथित ऐसे मोक्षमार्ग को मैं नमस्कार करता हूँ। पर को छोड़ो, अध्यात्म में कितना आनंद है। अज्ञानियों का यह कहना है कि करो कुछ मत, आनंद लूटो। तुम भोग भोगो, ये मिथ्यादृष्टि का कथन है। जो निज भाव से संपूर्ण पदार्थों को भिन्न कह रहा है, वो कैसे कह सकता है भोग भोगो?

भो ज्ञानी! आडम्बरों में प्रसन्नता तो हो सकती है, पर खुशी नहीं आ सकती है। बाहर की बात में वाह-वाही तो होती है, पर अंदर की बात, स्वरूप की बात ही सुख देती है। जैसे मूसलाधार वर्षा बरसी, सो बह गई। जो रिमझिम पानी गिरता है, वह किसान की खुशी बढ़ा देता है। भैया! इस पावन वाङ्गंगा के नीर को चेतन की भूमि में अंदर प्रवेश करा देना। वीतरागता के अंकुर उत्पन्न हो जायेंगे तो तू भी एक अखण्ड चेतन-अवस्था को प्राप्त कर लेगा।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने आलोचना के 4 भेद बताये थे। उसके दूसरे भेद आलुंछन का कथन गाथा संख्या 110 में कर रहे हैं। यहाँ किसी दूसरे को मत बुलाना कि जो लेना है सो ले लेना। हमारे यहाँ जो वृक्ष खड़ा हुआ है, उसको उखाड़ कर फेंक दो, इस तरह का काम यहाँ नहीं चलेगा। इस कर्म के वृक्ष को उखाड़ने के लिये अनुचर की आवश्यकता नहीं है। इस कर्म-वृक्ष को उखाड़ने की शक्ति तेरी स्व की आत्मा में ही है। कर्मरूपी वृक्ष को छेद करने में समर्थ कौन है? मेरे स्वयं के परिणाम। यह व्यवहार-अवस्था की बात है। हे योगी! यदि आप व्यवहार-अवस्था से प्रारंभ करके, उसको प्रधान बनाके कार्य करोगे, तो व्यवहार-अवस्था निश्चय-अवस्था की ओर ले जायेगी। यदि आप संतुष्ट हो गये, तो उस ओर कब जाओगे? इस भवन की प्रथम सीढ़ी आपको ऊपर ले जाने में समर्थ थी, पर जिस जीव ने प्रथम सीढ़ी पर पैर रखा और उसको उपकार की भावना आ गई कि ये मेरा उपकारी है, क्योंकि ये ऊपर लाया है। मैं मना नहीं कर रहा हूँ कि ये तेरा उपकारी नहीं है। लेकिन ये ध्यान रखो कि महल की प्रथम सीढ़ी भी व्यवहार है और अंतिम सीढ़ी भी व्यवहार है। लेकिन प्रथम सीढ़ी को छोड़ना पड़ेगा, तभी आप मध्य, अंतिम लक्ष्य की ओर पहुँच सकोगे।

भो ज्ञानी! पंचपरमेष्ठी की आराधना करना चाहिये, उसका निषेध मत समझना, लेकिन तुम स्वाध्याय भी करो, जिससे पूजा-पाठ करने का उद्देश्य समझ में आये। अब तुम शास्त्र ही पढ़ते रहोगे क्या? असंयम भाव भी छोड़ो। बोले, हमको तो शास्त्र से ही राग हो गया है। नहीं, इसको भी छोड़ो, क्योंकि इसको भी माध्यम बनाया था। भगवान महावीर ने आपको चार अनुयोग दिये। उनको पढ़ते जाओ और आगे बढ़ते जाओ। चार सूचनापट्ट इसलिये लगे हैं कि आप मार्ग में मत भटक जाओ। कौन ऐसा पथिक होगा जो सूचनापट्ट को ही पकड़ कर बैठ जाये कि मुझे इससे ज्ञान हो रहा है? तो आगे नहीं बढ़ पाओगे। ज्ञान करो, आगे बढ़ो। जिनवाणी पढ़ो, आगे बढ़ो। मार्ग में यातायात (ट्रेफिक) पुलिस होती है। उनसे रास्ता पूछ लो, लेकिन उसके चरण पकड़कर नहीं बैठ जाना। उसको सम्मान देना, पूछ लेना और आगे बढ़ जाना। रास्ता बता दिया पंचपरमेष्ठी ने, उनका सम्मान करो, पूजा करो, लेकिन बैठ नहीं जाना, आगे बढ़ते चलो। यह व्यवहार चल रहा है। अभी निश्चय नहीं है। तुम जिस प्रदेश में पहुँच गये हो, उस प्रदेश की भाषा का वेदन करो, अन्यथा तुम आगे नहीं बढ़ पाओगे। अब तुम द्रव्यानुयोग के प्रदेश में पहुँचे हो, व्यवहार-चारित्र को शुद्ध पाल रहे हो। अब यहाँ मत उलझे रहो, निश्चय की भावना भाओ। वहाँ विचारो 'मैं परद्रव्य से भिन्न हूँ'। यह भी व्यवहार है। इस व्यवहार में इतना वेदन करो कि वास्तव में अंदर में विश्वास आ जाये कि यह व्यवहार है और जिस दिन विश्वास आ गया, बस, हटते देर नहीं लगेगी। आप निज में

प्रवेश कर जाओगे तो व्यवहार शब्द समाप्त हो जायेगा, निश्चय भाषा समाप्त हो जायेगी, निश्चय वेदन प्रारंभ हो जायेगा।

भो ज्ञानी! यह जो धर्म दिख रहा है मंदिर और शास्त्रों वाला, ये अभी आपके लिये उचित है। योगी! अब तू स्वयं मंदिर है, तेरे अंदर स्वयं प्रभु है। भरतेश मकर सक्रान्ति के दिन अपने महल की छत पर खड़े होकर सूर्य के विमान में स्थित जिनबिम्बों को देखता था। उसकी सामर्थ्य इतनी थी। जब तक सामर्थ्य नहीं रहती है, तब तक चश्मा लगाते हो। आवरण है, इसको हटाते जाओ। जिनकी जैसी सामर्थ्य है, उनको वैसे ऊपर बढ़ना चाहिये। सप्तम गुणस्थान का निश्चयनय, अष्टम गुणस्थान का निश्चय अनुवेदन, नौवें, दशवें, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान का स्वानुभव, तेरहवें गुणस्थान का स्वानुभव, चौदहवें गुणस्थान का स्वानुभव, संपूर्ण स्वानुभव में तारतम्यता है। वृद्धिमान-वृद्धिमान ऊपर दृष्टि से और हीयमान-हीयमान नीचे दृष्टि से। ऐसे ही अव्रती में सम्यग्दृष्टि का व्यवहारिक पक्ष, देशव्रती का व्यवहारिक पक्ष और महाव्रती का व्यवहारिक पक्ष, इनमें तारतम्यता से हीनता है। अव्रती सम्यक्दृष्टि का व्यवहारपक्ष बहुत बड़ा है, देशव्रती का कुछ कम हो गया, महाव्रती अब ये नहीं करेंगे कि उदकचंदनतंदुल। यह व्यवहार पक्ष ही तुमसे कह रहा है कि अब तुम बहुत ऊपर हो गये हो, अब तुम कहाँ उदक, चंदन, तंदुल में लगे हो? परन्तु आपसे कहेंगे, कि तुम उदक-चंदन-तंदुल करो।

भो ज्ञानी! प्रपंच मोक्ष नहीं है। मोक्ष तो छोड़ो, मार्ग भी नहीं है। कुछ नया करना है। नये करने का तात्पर्य जिनमार्ग से विपरीत करना नहीं है, बल्कि निज का नयापन, निज अनुभूति का नयापन तात्पर्य है। दो सज्जन आये, बोले, हम लोगों का पुण्य है कि एकसाथ बैठ रहे हैं। भैया! तेरी भवितव्यता निर्मल है, तभी तो एकसाथ बैठ रहे हो। ऐसे घर आपको मिल जायेंगे जिनकी माँ कहीं जा रही है, बेटा कहीं जा रहा है, पिता कहीं जा रहा है। धर्म के नाम पर एक दूसरे से बोल नहीं रहे हैं। ये कैसा धर्म है?धर्म तो कहता है कि प्राणीमात्र में वात्सल्य भाव बनाओ। क्या निश्चय, क्या व्यवहार? यदि वास्तव में निश्चय, व्यवहार को जान लिया होता, तो सब एकसाथ बैठे मिलते। पर जाना नहीं है। सल्लेखना के काल में तुम्हारे परिणाम सुधारने भगवान् नहीं आयेंगे, गुरुमहाराज नहीं आयेंगे, तुम्हें स्वयं सुधारने होंगे। वे हाथ-पाँव दबा देंगे, सिर दबा देंगे, परन्तु भावों को तुम्हें ही दबाके चलना पड़ेगा। वे जिनवाणी सुना देंगे, इतना उपकार तो कर देंगे, फिर भी सुनना तुम्हें ही पड़ेगा। इसलिये अभी से अभ्यास करो सुनने का, साम्यभाव रखने का। यही आत्मा का परिणाम है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी 'नियमसार' जी के परम आलोचना अधिकार की गाथा 110 में आलोचना के चार भेदों में आलुंछन नाम का भेद है, उसको समझा

रहे हैं। जीव निज की अधीनता से, निज की सामर्थ्य से कर्मों को नष्ट करने में समर्थ है। उन कर्मों के क्षपणा की जो क्रिया है, उसे सहज-अवस्था में देखो। जैसे कि गरम तवे के ऊपर पानी की बूँद डाल दी, बूँद आखों के देखते-देखते नष्ट होती दिखती है। ऊपर नहीं गई, नीचे नहीं गई, वहीं-की-वहीं विलीन हो गई। इसी प्रकार जब यह आत्मा अपने अंतस् में ध्यान की अग्नि को प्रज्वलित कर लेती है, तो आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर जो कर्मबंध हैं, जैसे तपे तवे पर पानी छनकता है, ऐसे ही कर्म छनक जाते हैं। सूर्य के विमान का प्रताप आपको दिख रहा है, यह सूर्य का आताप नामकर्म है। जितना यहाँ उष्ण दिख रहा है, उतना ही वह मूल में शीतल है, उसकी किरणें गर्म हैं। ऐसे ही निर्ग्रन्थ योगी, जो संयम में तो गर्म हो, ध्यान की अग्नि में झुलस रहा हो, कर्मों को जला रहा हो, परन्तु परिणामों में शीतल हो, सूर्यविमान के तुल्य। ऐसे योगी की ही कर्मों की क्षपणा होगी। जब-तक मूल में गर्म और किरणें ठंडी, तो कर्मों की क्षपणा संभव नहीं है। तात्पर्य समझना। व्यवहारिकता में बहुत आगे है, परन्तु निज की साधना में शून्य है। सबको संभालने की कला है, सबको सुधारने की कला है, पर स्वयं पूर्ण असुधरे बैठे हैं। उस जीव के लिये कर्मों का आलुंछन होने वाला नहीं है। हाँ, समता है, लोक में आपको वात्सल्यमूर्ति कहा जाये, बहुत बड़ी उपाधियाँ दी जायें, लेकिन 'समयसार' की भाषा में, पुरुषार्थसिद्धि में निजआत्मधर्म में लीनता ही योगी का वात्सल्य गुण निश्चय से है। निज चारित्र में परिपूर्णता ही योगी का वात्सल्यभाव है। यदि उस वात्सल्यभाव को आप यहाँ नहीं लाओगे, तो वे निर्ग्रन्थ सम्यक्त्व के आठ अंगों से हीन हो जायेंगे।

एक निर्ग्रन्थ मुनिराज जंगल में विराजमान थे। उन्हें देखकर डाकुओं ने अपने सरदार से कहा—इनको यहाँ से भगा दो। सरदार कहता है कि इनको यहाँ से मत भगाओ। डाकू बोले, अपन चोरी करेंगे तो यह बता देंगे। सरदार बोला कि यह जैनसाधु हैं, किसी के हित-अहित पर दृष्टि नहीं डालते हैं। इनको पर से कोई प्रयोजन नहीं है। इनसे कुछ मत कहो। चलो। एक माँ अपनी आभूषणों से सुसज्जित पुत्री का संबंध करने जा रही थी। उसने मुनिराज को देखकर पूछा, 'कोई खतरा जंगल में तो नहीं है?' उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। आगे बढ़ी तो डाकुओं ने सारा सामान लूट लिया। सरदार ने कहा कि मैंने कहा था कि इन साधु से कोई खतरा नहीं है। यह सुनकर माँ ने डाकुओं के सरदार से कहा कि तुमने संपत्ति लूट ली, इसका मुझे दु:ख नहीं है। परन्तु आप अपनी कटार दो। सरदार ने पूछा, क्यों? माँ ने कहा कि मैं उस अपवित्र कोख को चीरना चाहती हूँ, जिससे मैंने मुनि—जैसे पुत्र को जन्म दिया, वो अपनी बहन की भी रक्षा नहीं कर सका। ऐसे पुत्र से मेरी कोख अपवित्र हो गई है। ये शब्द सुनकर डाकुओं के हृदय बदल चुके थे। उन्होंने कहा माँ! ऐसे अशुभ शब्द मत कहो।

उन निर्ग्रन्थ तपोधन ने आपकी कोख को अपवित्र नहीं किया है। आपने ऐसे महान पुत्र को जन्म दिया है कि जिनको जन्म देने वाले के प्रति भी राग नहीं है। वे लोकव्यवहार में अच्छे नहीं, पर परमार्थ में उनसे अच्छा संसार में कोई नहीं। ये निस्पृही संत हैं।

भो ज्ञानी! इसे आप वात्सल्य कहोगे या अवात्सल्य कहोगे? उन्हें पर में वात्सल्य नहीं था, पर निज वात्सल्य से भरे थे। वे सम्यक्त्व गुण से रहित नहीं थे, सम्यक्त्व गुण से युक्त ही थे। जब स्व-वात्सल्य में जाते हैं, तो पर से आँख बन्द हो जाती है। कर्मों का लुंचन करना चाहते हो तो केशलुंचन के साथ-साथ राग का लुंचन भी करना पड़ेगा। राग का लुंचन नहीं किया, केश का लुंचन हो भी गया, तो कर्मलुंचन नहीं हो पायेगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'रयणसार' जी में लिखा है

पुव्वं जो पंचिंदिय, तणु-मण-वचि-हत्थ-पाय मुंडाओ।
पच्छा सिर मुंडाओ, सिवगदिपहणायगो होइ॥ रयणसार 76॥

सर्वप्रथम आप हाथ-पैर का मुंडन करो, फिर मन-वचन-काय का मुंडन करो, उसके उपरान्त भस्म लगाकर सिर का मुंडन करना, तो मोक्षमार्ग के पथिक हो पाओगे। ज्ञानी! हाथ-पैर का मुंडन करने कहीं कुल्हाड़ी लेकर हाथ-पांव नहीं काटने लगना। हाथ-पैर के मुंडन का अर्थ है हाथ-पैर की अशुभ प्रकृति को रोकना। राग-द्वेषरूप जो परिणति बन रही है, उसको रोकना, मन-वचन का मुंडन है। काय का मुंडन शरीर की स्थिरता को लाना है। इसके उपरान्त सिर का मुंडन करो तो आप शिवगति के पथिक हो जाओगे। आगम में लिखा है कि पांच इंद्रियाँ, मन, वचन, काय, हाथ, पैर की चंचलता पर विजय, ये 10 प्रकार के मुंडन हैं। तभी आप मुंडे कहलाओगे। 'नाममाला' में धनंजय कवि ने शिष्यों के नाम गिनाये हैं अन्तेवासिन, शिष्य, छात्र, मुंडे। जिसने 10 प्रकार के मुंडन कर लिये हैं, वे ही सच्चे मुंडे हैं।

भो ज्ञानी! व्यवहारदृष्टि में शुभोपयोग में आओ। धर्म-धर्मात्माओं से वात्सल्यभाव रखना और जब तुम निज की ओर जाओ, तो निज चैतन्य गुण से वात्सल्यभाव रखना। धर्म-धर्मात्मा से वही वात्सल्यभाव रख सकता है, जिसका निज आत्मगुणों में वात्सल्यभाव है। लोचन निर्मल है, तो लुंचन हो सकता है। यदि लोचन निर्मल नहीं है, तो लुंचन नहीं हो सकता है। संयम के साथ केश उखाड़ना तो लुंचन है, नहीं तो पराधीनता है। भेड़ के बाल खींचे जाते हैं, पर केशलुंचन कोई नहीं कहता। सारे शरीर के बाल खींचे जाते हैं, पराधीनता है। यह संयम की महिमा है, यहाँ स्वाधीनता है, ये केशलुंचन है। पराधीनता में आप कई दिन भूखे रह लेते हो, पर 'उपवास' संज्ञा नहीं है। घर में झगड़ा हो जाये तो आप भूखे रह जाते हो, इस कषाय

में कितनी शक्ति है? इस कषाय की शक्ति को वैराग्यशक्ति में परिवर्तित कर दो, तो कल्याण हो जायेगा। शरीर में शक्ति तो है, पर मन कहीं गड़बड़ कर रहा है, करने नहीं दे रहा है, नहीं तो आप सब केशलोंच कर लेते। यहाँ इतनी सारी चिन्ता, मण्डी की, दुकान की, समाज की, परिवार की चिन्ता, इतने सारे की चिन्ता है। भो ज्ञानी! ऐसी चिन्तायें यहाँ नहीं हैं। सब जगह कर्त्ता मत बनना, तब कोई तनाव नहीं रहेगा और जरा-से भी कर्त्ता बन गये तो समझ लो कि विकल्प-ही-विकल्प हैं। लघु बनके रहना, फिर देखना कि क्या आनंद आता है। गुरुमहाराज ने पिच्छि उठाई, तेा तुम उठा लेना; वे बैठ गये तो आप बैठ जाना; चलने लगे, तो चल देना। पर अपने में चलते रहना, फिर देखना कि क्या आनंद आता है? यहाँ-जैसा सुख आपको कहीं नहीं मिलेगा। बस, कर्तृत्व भाव मत लाना।

ज्ञानी! दो बातों के कारण तनाव आता है, संकल्प-विकल्प। ये ही जीव को दु:खित करने के मूल सूत्र हैं। "अहमेदं संकल्पं, ममेदं विकल्पं।" मैं इनका हूँ, यह मेरा है। ये माने या न माने, पर तू मेरे-मेरे में तो लगा है, सो विकल्प में जी रहा है। मैं ऐसा हूँ संकल्प, अहंकार, ममकार इसे कहते हैं। वे तेरे न हों, पर तू चिपका है। जबकि जैनदर्शन कहता है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। ये जैनदर्शन के मूल सिद्धान्त को लोग भूल रहे हैं। इसे कोई टाल नहीं सकता है। ज्ञानी! किसी को केंसर हो जाये तो डाक्टर/वैद्य बता देते हैं कि कितने दिन का मेहमान है। वे अवधिज्ञानी का काम कर रहे हैं। यह आपका सौभाग्य है कि अब आपको मृत्यु का ज्ञान हो सकता है। तुम जो चाहो सो साधना कर लो, पर रागी-भोगी यही कहता है कि चमेली का तेल लगा दो। एक घटना हुई। डॉक्टर ने कहा कि घंटे भर के मेहमान हैं। बड़े भैया ने पत्नि से कहा कि तुम णमोकार सुनाना, मैं कुये पर जाकर भोजन करके आता हूँ। फिर क्या मालूम कब हो ? पत्नि ने णमोकार नहीं सुनाया। भैया ने आकर पूछा कि अंत में उनकी क्या दशा थी? बोली, वे कह रहे थे कि चमेली का तेल लगा दो। जीव की भवितव्यता देखो। जीवन भर 'समयसार' आदि ग्रन्थ पढ़े थे, लेकिन अंतिम दशा ऐसी हुई। इससे लगता है कि अशुभ आयु का बंध हो गया होगा, कोई बचा नहीं सकता।

भो ज्ञानी! अभ्यास अभी से करो। चौबीस घंटे परमेष्ठी का उच्चारण करते रहो, जिससे शुभ परिणाम अंत समय तक बने रहें। न हम काम आयेंगे, न भगवान् काम आयेंगे। काम आयेगी तुम्हारी भावना। हम उपस्थित भी रहेंगे, तो सम्बोधन आदि कर देंगे, लेकिन वह संबोधन कब काम करेगा? जब तुम्हारे सुनने के परिणाम रहेंगे, तब काम करेगा। जब मशीन निर्मल होगी, तो शब्द भर जायेंगे। मशीन निर्मल नहीं होगी, तो अच्छा-से-अच्छा बोलना भी भरा नहीं जा रहा है। ऐसे ही अपनी मशीन को व्यवस्थित रखना आज से ही, जंग न खाने पाये।

अंतिम समय बजने लग जाये, बस, इतना ध्यान रखना। भो ज्ञानी! विचार हुआ कि आज महामस्तकाभिषेक देखेंगे। चार छह लोगों को जमा कर लिया। आपने सारे तामझाम इकट्ठे कर लिये। अंतिम समय में बिजली चली गई, आपके परिणाम कैसे होंगे? इन्वर्टर की व्यवस्था कर ली और जैसे ही पहला चित्र दिखने वाला था, कैसेट फँस गई। उस समय के परिणाम बता सकते हो आप लोग? भो ज्ञानी! ऐसे ही जब तेरे अंतिम समय में निज की कैसेट देखने और सुनने के भाव बन रहे थे, उसी समय कैसिट फँस गई, अब बताओ क्या होगा? इसलिये प्रतिक्षण संभलो। मैं पुनः कह रहा हूँ कि मैं काम नहीं आऊँगा, आपके परिणाम ही काम आयेंगे।

भो ज्ञानी! मरणकंडिका, भगवती आराधना में स्पष्ट लिखा है कि अंतिम धर्म-उपदेश "ॐणमो अरिहंताणं", अंतिम स्वाध्याय " ॐ"। बस, "ॐ" को निहारो जिन-जिन की समाधि की भावना हो। एक माला रोज फेरा करो "णमो अरिहंताणं" की। हे प्रभु! मेरे कर्मशत्रुओं का हनन हो, इसलिये मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने तो हनन कर लिया है, पर मेरी जो असाता है, हनन को प्राप्त हो जाये। 'णमो अरिहंताणं' ये आगमवचन हैं। सल्लेखना वालों को इसकी जाप करना चाहिये। अंत समय में इंद्रियाँ स्वस्थ रहें, मन स्वस्थ रहे। जैसे आप रोज चूर्ण खाते रहते हो, जिससे अच्छा खाना खाते रहें, ऐसे ही रोज जिनवाणी का तनक चूर्ण ले लिया करो, जिससे अंदर का पेट साफ रहे, परिणाम साफ रहें।

आचार्यभगवन् परमभाव के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। भव्यजीव का पारिणामिक भाव स्वभाव से जो परमस्वभाव है, वह पंचमभाव औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिक, इन चार विभाव-स्वभावों के अगोचर है। परमपारिणामिक भाव पर दृष्टि नहीं की तो कुछ भी नहीं है। परम पारिणामिक भाव यानि शुद्ध भाव, पंचम भाव, शुद्धात्मा का परम जीवत्व स्वभाव। भव्य, अभव्य कब तक? जब तक संसारी है। जो मुक्त हो जाते हैं, वे न भव्य, न अभव्य। तो क्या है? एकमात्र परम जीवत्व भाव। ऐसे जीवत्व का प्रादुर्भाव स्व से ही होगा। इसलिये शरीर से साथ रहो, कोई दोष नहीं है, लेकिन रागभावों से दूर, अकेले ही रहना। सब के साथ रहना, फिर भी अकेले रहना, परम पारिणामिक भाव को प्राप्त करना, यही तुम्हारी दृष्टि हो। यह भाव कहता है कि जिसमें तू है ही, उसको भी तू अपना मत देख। बाहर के परिग्रह छूट गये। निष्परिग्रह कोई जीव है तो मात्र सिद्ध भगवान्, क्योंकि आपने धन, धरती को परिग्रह माना, मान को परिग्रह माना, अंतरंग बहिरंग ये गिने ही। भो चेतन आत्मा! जो-जो निज भाव से पर होते हैं, वे सब परिग्रह होते हैं। हे प्रभु! जब ये सब हट जायेंगे, तभी मैं निसंगस्वभावी परमेश्वर बनूँगा। यह निःसंगता-सामर्थ्य आपकी नहीं है, ऐसा कहो,

लेकिन वस्तुव्यवस्था तो यही है। पर जितनी है, उतना करना नहीं चाहते, आम का छिलका उतार दिया तो बीच में बड़ा मीठा मिलता है। ऐसे ही पूरी प्रतिष्ठा बड़ी मीठी होती है। हे योगी! तूने छिलका तो उतार दिया, पर एक पूजा का दल आ गया। लेकिन ध्यान रखो, जितना ज्यादा दल खाते हो आम का, उतने फोड़े ज्यादा होते हैं। तेरा लक्ष्य गुठली के फोड़ने की ओर जा ही नहीं रहा। यदि फोड़ों को मिटाना चाहते हो तो उसी आम के अंदर दवाई है। उस गुठली को तोड़ दो, अंदर जो मिगी निकलेगी, उसे खा लो या लगा लो। ऐसे ही पुण्य के दल में फँस गया तो जिनवाणी माँ कह रही है कि दल से अंदर घुसो, राग की गुठली फोड़ दो, अंदर वीतरागता की मिगी रखी हुई है। अगर वो मिल गई, तो कल्याण है। भो ज्ञानी आत्माओ! दल में ही मत फँसो। दल के बाहर भी कुछ है, पर तोड़ना पड़ता है।

भो ज्ञानी! पंचमभाव की ओर चलना है तो चार भावों (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक) को छोड़ दो। भो ज्ञानी! इन भावों से परे होकर जब तू जियेगा तभी तेरा कल्याण है। जीव के पांच असाधारण भाव होते हैं। इन पांच भावों में परम उपादेय कोई है, तो परम-पारिणामिक भाव है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ये सब अशुभ पारिणामिक हैं। ये सामान्य रूप से हेय हैं और विशेष रूप से हेय-उपादेय हैं, परन्तु परम उपादेय तो एक परम-पारिणामिक है। इन चार भावों के अगोचर ही वो पंचमभाव है। जब तक ये चार भाव रहेंगे, तब-तक पंचमभाव नहीं होगा। हमारा इन चार भावों से कोई प्रयोजन नहीं बचा, इसलिये पंचमभाव भावरूप में अभी भी है। त्रैकालिक है। परन्तु जब तक ये चार रहेंगे, वो प्रकट होगा नहीं। इसलिये यहाँ क्षायिक भाव को भी अशुद्ध कह दिया। क्यों कह दिया? 'क्षय' शब्द जुड़ा है। कहीं-न-कहीं आपके कर्म की सत्ता बैठी है। 'कर्म' शब्द की उपाधि तुम्हें परेशान किये है। जैसे किसी त्यागी को 'त्याग' शब्द परेशान करता है। पहले ग्रहण शब्द परेशान करता था, अब त्याग शब्द। मैंने ये छोड़ा, वो छोड़ा।

भैया! धर्म के स्थानों पर धन का बहुमान होने लगेगा तो गरीब धर्म से विमुख हो जायेंगे। वो भी सोचेगा कि धन की महत्ता है। पहले तीर्थों पर एकजैसे कमरे बनते थे। अब वहाँ पर भी वी. आई. पी. कमरे बना देते हैं। बोले कि अमुक जी आयेंगे तो वहाँ रुकेंगे। मालूम, लोगों के परिणाम खराब होते हैं। सोनागिर में जितने जैनसमाज हैं, सबके मंदिर हैं। एक दृष्टि से अच्छा है, पर दूसरी दृष्टि से देखो। मात्र पारसनाथ मंदिर आदि लिखवा देते। वहाँ तो अमुक जाति, अमुक आम्नाय का मंदिर है, ऐसा लिखा है। इससे जीव के मन में राग आता है कि वो हमारी जाति का मंदिर है, वहीं चलो। इससे भावना गड़बड़ होती हैं। सेठ पाहुड़ ने खजुराहो में विश्वप्रसिद्ध जैनमंदिर बनवाया। उसने प्रशस्ति में लिखवाया कि मेरा दिया हुआ दान नहीं

बचेगा, मेरे द्वारा दी गई भूमि नहीं बचेगी। मैं उस व्यक्ति के दास का दास हूँ, जो इन जिनालयों की रक्षा करेगा। सेठ पाहिल नहीं बचेगा, उसका वंश नहीं बचेगा, उसका दान नहीं बचेगा। मैं उसका दास का दास हूँ, जो इन जिनालयों की रक्षा करेगा, सेवा करेगा। यह प्रशस्ति भगवान् आदिनाथ के मंदिर में चौखट के पास लिखी है। इस मंदिर की प्रतिष्ठा आचार्य प्रभाचंद्र, जो 'न्याय कुमुदचंद्र' जैसे ग्रन्थों के रचयिता हैं, के सान्निध्य में हुई थी। पहले दिगम्बर-आचार्य 'भट्टारक' शब्द का प्रयोग करते थे। भट्ट महावीरो। 'भट्ट' शब्द एक उपाधि है। जैसे भट्ट अकलंकदेव। 'राजवार्तिक' में भट्ट अकलंकदेव लिखा है। यह शब्द आचार्यपरमेष्ठी के लिये विशेष उपाधि थी।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि एक भाव ही परमरूप है, अन्य चार भाव अपरम रूप हैं। संपूर्ण कर्मरूपी विष-वृक्ष के मूल के उखाड़ने में समर्थ, त्रिकाल निरावरण निज कारण-परमात्मा के स्वरूप का जो श्रद्धान है, उससे विपरीत जो मिथ्यात्व कर्म है, उसके तीव्र उदय से मिथ्यादृष्टि जीव के परम-भाव विद्यमान रहते हुये भी अविद्यमान ही हैं। निश्चयनय से जैसे मेरू के नीचे भाग में रहनेवाली सुवर्ण राशि में भी सुवर्णपना है, उसी प्रकार अभव्यों के भी परमस्वभावपना है, किन्तु वह वस्तु में स्थित है, व्यवहार के योग्य नहीं है। जो सम्यग्दृष्टि अत्यासन्न भव्यजीव हैं, उनमें सदा निरंजनरूप होने से वह परम सफलीभूत हैं, क्योंकि वह समलजकर्मरूपी विषम विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ने में समर्थ है। इस परमपंचम भाव के द्वारा अत्यासन्न भव्य जीव के यह निश्चय परम आलोचना के भेद में होने वाली आलुंछन नाम की आलोचना है। भैया! अपने को शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध समझकर प्रसन्न नहीं हो जाना चाहिये, प्रत्युत उस शुद्ध अवस्था को प्रकट करने पुरुषार्थशील होना चाहिये।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष का वर्णन–

गाथा : कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थभावणाए, वियडीकरणं ति विण्णेयं॥ 111 ॥

संस्कृत छाया : कर्मणः आत्मानं भिन्नं भावयति विमलगुणनिलयम्।
मध्यस्थभावनायामविकृतिकरणमिति विज्ञेयम्॥ 111 ॥

अन्वयार्थः (कर्मणः भिन्नं) कर्म से भिन्न और (विमलगुणनिलयम्) विमलगुणों का निवास-गृहरूप (आत्मानं) आत्मा को (भावयति) जो भाता है (मध्यस्थ भावनायां) उस मध्यस्थ वीतराग भावना में (अविकृतिकरणं) अविकृतिकरण होता है (इति विज्ञेयं) ऐसा जानना चाहिये।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परम आलोचना अधिकार में ये बार-बार संकेत दिया कि निज निन्दा तो करना, पर उसमें संक्लेशता नहीं रखना। आलोचना तो आलोचना है, संक्लेशता नहीं है। जो दोष हो गया, तो निन्दा/गर्हा कर लेना, यहाँ तक तो ठीक है, और उस पाप को भी बार-बार मत दोहराओ, क्योंकि उसको दोहराने से परिणाम संक्लेशित होते हैं। कोई दोष हो गया, अपराध हो गया, अपराध की आलोचना बालकवत् कर लो, आलोचना करने के पश्चात प्रायश्चित ले लो। अब पुनः पुनः मत सोचो कि हमसे ऐसा दोष हुआ, क्योंकि शोधन कर चुके हो। अन्यथा आप उसी दोष में फँस जाओगे और आगामी तुम्हारा जो सोच था ऊपर उठने का, वहीं के वहीं रह जायेगा। संतान को जन्म देनेवाला मुनि बन सकता है कि नहीं? बन सकता है। वर्त्तमान में पांच बालयति एवं शेष गृहस्थ चक्रवर्ती आदि चौबीस तीर्थंकर हुये हैं।

भो ज्ञानी! जब दृष्टि बदलती है, तो दृष्टि बदलते ही तेरा परिणमन निर्मल होता है। एक अन्तर्मुहूर्त पहले पापी था, दूसरे अंतर्मुहूर्त में केवलीभगवान् बन गया। लेकिन वे आचार्यमहाराज कैसे थे, जिन्होंने पापी को दीक्षा दे दी? यानि आपको पहले की पर्याय, पाप की पर्याय दिख रही है। आपने यह नहीं देखा कि उसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है और पुण्य की पर्याय प्रकट हो चुकी है। ज्ञानीजीव पूर्व की पर्याय को लेके नहीं बैठता है। प्रत्येक क्षण की पर्याय को देखता है। घोर पापी के अंतरंग में भी घोर पुण्य का उदय होता है।

भैया! आप कहो कि महाराज! ये तामझाम, पंडाल, माइक, मंच आदि की क्या आवश्यकता है? आचार्यों ने तीर्थंकरों के समवसरण के वैभव को सम्यक्त्व उत्पत्ति का हेतु

कहा है। वैभव को देखकर लोगों के परिणाम शांत होते हैं, उपशम होता है, मान का गलन होता है। जिस समय राम, लक्ष्मण और सीता वनवासकाल में जंगल में भोजन व्यवस्था कर रहे थे, उस समय सीता के मन में आता है कि अवधपुरी में होती तो निर्ग्रन्थ मुनि को आहार देती, फिर भोजन करती। मेरे पाप का उदय है कि कहीं मुनि देखने को नहीं मिल रहे हैं। उधर एक निर्ग्रन्थ मुनि यह विधि लेके निकले कि जो मिट्टी के पात्र में भोजन देगा तो आहार लेंगे। ध्यान रखना, मिट्टी के बर्तन एक ही बार काम आते हैं। लक्ष्मण खड़े थे, उन्होंने कहा कि महाराज जी आ रहे हैं। राम-सीता ने पड़गाहन किया। एक मांसभक्षी गिद्ध पेड़ पर बैठा था। वो आहार लेते मुनिराज को निहार रहा था। पर्याय पापी थी, पर परिणाम पुण्यरूप चल रहे थे। वो सोच रहा था कि मैं मनुष्य होता तो इनको आहार देता। ठीक है, मैं आहार नहीं दे पा रहा, लेकिन चर्या निर्दोष हो जाये, कोई विघ्न न आये। जैसे ही आहार पूर्ण हुये, वह पक्षी डाल से उड़कर उस पात्र में बैठ गया जहाँ अंजुली से जल गिर रहा था। उसके पंख स्वर्णमय हो गये। मुनिराज ने उस जीव से कहा कि पूर्व में तूने मायाचारी की थी,सो तू गिद्ध हुआ है। अब तू इस कृत्य को छोड़ दे। वह इस पर्याय में क्या कर सकता था? उसने सीता की तरफ निहारा। सीता उसका आशय समझ कर बोली, महाराज! नियम दिला दो, पालन मैं कराऊँगी।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि यति का शरीर ही मोक्षमार्ग का उपदेश देता है। भो ज्ञानी! आलोचना तो करना, परन्तु आलोचना में संक्लेशता नहीं लाना। आलोचना शुभोपयोग है, संक्लेशता अशुभोपयोग है। पापों से छुटकारे का उपाय तो करना, परन्तु आर्त्तध्यान में मत चले जाना। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव परम पारिणामिक भाव, पंचमभाव की महिमा बतलाते हुये दो कलशरूप श्लोक कह रहे हैं–

एको भावः स जयति सदा पञ्चमः शुद्धशुद्धः
कर्मारातिस्फुटितसहजावस्थया संस्थितो यः।
मूलं मुक्तेर्निखलयमिनामात्मनिष्ठापराणां
एकाकारः स्वरसविसरापूर्णपुण्यः पुराणः॥ कलश 160॥
आसंसारादखिलजनतातीव्रमोहोदयात्सा
मत्ता नित्यं स्मरवशगता स्वात्मकार्यप्रमुग्धा।
ज्ञानज्योतिर्धवलितक कुम्भमण्डलं शुद्धभावं
मोहाभावात्स्फुटितसहजावस्थमेषा प्रयाति॥ कलश 161॥

जो कर्मशत्रु से रहित सहज-अवस्था से विद्यमान है, आत्मा के स्वरूप में लीन है, ऐसे ही संयम धारण करने वालों के लिये मुक्ति का मूलकारण पंचमभाव है। अपने रस अनुभव

के विस्तार से पूरा भरा हुआ है, पवित्र है, पुण्यरूप है, पुराण है, सनातन है, शुद्ध में भी शुद्ध है, ऐसा पंचमभाव सदा जयवंत रहे।

अनादिकाल से यह संसारीजीव तीव्र मोह के कारण मत्त हो रहा है, विवेकहीन हो रहा है, काम के वशीभूत हो रहा है, जिसके कारण अपनी आत्मा के कल्याण के विषय में सोच नहीं पा रहा है, न कुछ कर पा रहा है।जब मोह का अभाव हो जाता है, तो सहज-अवस्था प्रगट होती है। ज्ञानज्योति से समस्त दिशाओं के अंधकार को नष्ट कर देता है और शुद्धभाव को प्राप्त कर लेता है। मोहजाल में फँसने के कारण अपने स्वभाव से यह जीव पराङ्मुख है। विभाव में फँसा रहता है। सदैव अपनी बुद्धि विषयों के सेवन में लगाये रखता है, जिससे स्वभाव का ज्ञान ही नहीं कर पाता है। 'सागार धर्मामृत' में पं. आशाधर जी कहते हैं कि अनादिकालीन अविद्या रूपी दोष से उत्पन्न हुये आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञारूपी ज्वर से पीड़ित रहता है। ऐसे गृहस्थ सदैव अपने आत्मज्ञान से विमुख रहते हैं, विषयों में निरन्तर लगे रहते हैं। जब मोह का अभाव होता है और ज्ञानज्योति प्रकट होती है, तब वही सहज दशा का अनुभव कराती है।

ज्ञानी! मोह का अभाव होने पर, मंदता पर आलोचना समतापूर्वक होती है। हे प्रभु! मैंने दुष्ट किया हो, दुष्ट कहा हो, दुष्ट चिन्तन किया हो, उन सबका मैं त्याग करता हूँ। आलोचना करना, प्रत्याख्यान करना। आलोचना तो की, प्रत्याख्यान नहीं किया, प्रायश्चित ले लिया, तो आपकी संक्लेशता दूनी बढ़ जायेगी। आप आलोचना करें, संक्लेशता न करें। आलोचना इसलिये करवा रहे हैं कि आर्त्त-रौद्रध्यान समाप्त हो जाये। यदि आर्त्त-रौद्रध्यान बराबर रहा, तो फिर आलोचना कहाँ रही? भो ज्ञानी! आलोचना तो निर्जरा का कारण है। आलोचना संवर का कारण है। आलोचना ही मोक्ष का कारण है। महाराज जी जो कर्म कर चुके हैं, वो तो उदय में आयेंगे। जितनी संक्लेशता से तुमने बंध किया है, उतनी ही तीव्रता से तुमने तपश्चरण किया तो उदीरणा करके, समय से पहले कर्मों को नष्ट करके मोक्ष भी चले जाओगे, फिर उदय में कौन आयेगा? कोई यों कहे कि कर्म किये हैं तो उदय में आयेंगे ही। चरमशरीरी ने कर्म किये, घोर पाप किये, अब वे उदय में कब आयेंगे? चरमशरीरी जीव है, उसने बहुत युद्ध किये, रक्त की नदियाँ बहाई और उसी पर्याय में ऐसी घनघोर तपस्या की है कि सारे कर्मों को उदयावली में लाकर उदीरणा कर दी। पर ये ध्यान रखना कि जिसने संचित किया है, उसे ही नष्ट करना होगा। जितनी ज्यादा गर्मी होगी, तापमान होगा, उतनी जल्दी पानी सूख जायेगा। जितना तापमान तेरा तेज होगा तपस्या का, उतनी जल्दी कर्मों का शोषण हो जायेगा।

भो ज्ञानी! कभी-कभी साता असातारूप हो गई। अब तुम्हारा वर्त्तमान का पुरुषार्थ कैसा

है, उस पर दृष्टिपात करो। वर्त्तमान में तुम्हारी दशा क्या रहेगी, उस पर दृष्टिपात करो। इसलिये बहुत संभल-संभलकर जीने की आवश्यकता है। काँच के बर्तन को संभाल सकते हो, मौन होके बैठ सकते हो, परन्तु एक मिनट में सात समंदर भागने वाले को संभालो। यदि वो संभल गया, तो तुम पाप नहीं कर सकते हो। इंद्रियाँ जड़ हैं। इंद्रियाँ कभी भी पाप में नहीं जाती। परिणति पाप में होती है तो इंद्रियाँ काम करती हैं। जैसे भोगी एक-इंद्रिय के भोग में लिप्त होकर चारइंद्रिय के भान का अभाव कर बैठता है, ऐसे ही योगी अतीन्द्रिय में लिप्त होकर इंद्रियों को गुप्त कर देता है। पंचमकाल में मोक्ष नहीं, पर मोक्षमार्ग का अभाव नहीं है। जिस दिन मार्ग का अभाव हो जायेगा, उस दिन पंचमकाल नहीं बचेगा, छठवाँ काल होगा। जब घर में कोई आपत्ति-विपत्ति आती है, महीनों-महीनों संघर्ष चलता है, तो पता नहीं कितने महीने ब्रह्मचर्य का पालन कर लेता है। जैसे ही वो संकट टलता है, तो देखो कितने विचार आने लगे। इसलिये योगी प्रतिदिन/प्रतिक्षण अपने को संकट में मानकर चलता है, क्योंकि बिना संकट में डाले आप शान्त नहीं रह सकते हो। जैसे गाय के गले में लकड़ी का कुंडा डाल देते हैं कि वो भागे नहीं, ऐसे ही निर्ग्रन्थ योगी के गले में चार बार के स्वाध्याय की लकड़ी डाल देते हैं कि तुम भगो, कैसे भग सकते हो?

आगमचक्खू साहू, इंदिय चक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥ प्र. सा. 234॥

जैसे देवों का नेत्र अवधिज्ञान है, सामान्य जीवों का नेत्र आँखें हैं, सिद्धों का नेत्र सर्वांग है, इसी तरह योगी का नेत्र आगम है। ये साधु विचार करता है कि कैसे उठे, कैसे बैठे, कैसे ठहरे, कैसे भोजन करे, कैसे शयन करे, कैसे भाषण करे, जिससे आस्रव न हो। भैया! अध्यात्मविद्या की चर्या बिना योगी बने संभव नहीं दिखती है। यदि गृहस्थ उस चर्या को करने लगेगा तो गृहस्थी भ्रष्ट हो जायेगी। तू नोकर्म की बात कर रहा है, तू वेद की बात कह रहा है, तू वेदों को निहार रहा है, तू वेद-विकार की बात कर रहा है। योगी को वेदों के भेदों का विकार नहीं होता। जब तक तेरी दृष्टि में स्त्री, पुत्र आदि हैं, तब तक उसे न साधु कहना, न संत कहना, कुछ भी नहीं कहना, क्योंकि तुम कहीं-न-कहीं विकारों से जुड़े हो। अध्यात्म का साधक वो होगा, जिसे भेद के विकार का भान नहीं होगा। उसकी दृष्टि में न स्त्री झलकेगी, न पुरुष झलकेगा। उसे तो मात्र जीवद्रव्य झलकेगा। ये विद्या शरीर की नहीं है, ये विद्या दिमाग की नहीं है, ये विद्या बुद्धि की नहीं है, ये विद्या सीधे आत्मा की है।

ज्ञानी! ध्यान रखना, इंद्रियाँ सशक्त नहीं होती हैं। सशक्त तो परिणति होती है। परिणति को निर्मल कर लो। पेट कितना भी खाली हो, भोजन पर परिणति मत ले जाना। भूख लगेगी,

पर भोजन की इच्छा नहीं होगी। आप जीव को भूख का ज्ञान होने कहाँ देते हो? भूख लगने के पहले भोजन कर लेते हो। भूख का ज्ञान उसे हो, जिसको भोजन न मिले। यदि भूख का ज्ञान हो जाये, तो तुम किसी को भूखा नहीं छोड़ोगे। अपने द्वारे से किसी को भूखा नहीं जाने दोगे। भूख की पीड़ा जिसे नहीं होती, उसे भूखे व्यक्ति को देखकर भी दया नहीं आती है। इसी प्रकार से जिस जीव को आत्मा की भूख लग जायेगी, उसकी बाहरी भूख स्वतः समाप्त हो जायेगी।

भो ज्ञानी! दोष कितने हो सकते हैं? जितने व्रत होते हैं। उन व्रतों को जो नहीं पाल रहा, वे सब दोष हैं। जितने आपकी आत्मा में दोष हैं, उतने भगवान् में गुण हैं। इसलिये दोषों को अंगुलियों पर मत गिनना। जैसे संसारी जीव दोषों का पिण्ड होता है, ऐसे ही परमात्मा गुणों का पिण्ड होता है। सम्पूर्ण दोषों का अभाव होना ही तो परमात्मा है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 111 में कह रहे हैं, हे योगी! इन विषमताओं से भी तुम परे हो जाओ। वस्तुस्वरूप को समझना है और आत्मा की वास्तविक अवस्था को समझना है तो व्यवहार, लोकव्यवस्था इन सबसे शून्य होना पड़ेगा। यदि साधक किसी से बँधकर रहता है, तो कभी भी सत्य को नहीं समझ पायेगा। यदि तुम बँध कर रहे होगे, तो बन्ध होगा, निर्बन्धता नहीं होगी। आप साधकों के पास जाना, विनयपूर्वक वंदन करना, नमस्कार करना, सब कुछ करना, पर बांधने का प्रयास नहीं करना। उनकी विशालता को विशालता में जाने देना, संकुचित करने का प्रयास नहीं करना।

जो हाथी नाना जीवों को कुचलता हुआ, लाल-लाल नेत्र लिए हुये मुनिराज पर आक्रमण करने आ रहा है, फिर भी मुनिराज कह रहे हैं, 'जीव! ये तू क्या कर रहा है?' वे रात्रि में मौन लिये थे, पर मौन को छोड़ दिया। उन्होंने देखा कि मेरे मौन के खुलने से एक जीव की रक्षा हो रही है। बोले, 'हे जीव! पूर्व में भी तूने मेरी बात नहीं मानी थी, सो आज हाथी बना घूम रहा है।' ये भगवान पार्श्वनाथ का जीव था। राजा अरविन्द ने उसे समझाया था कि अपने भाई कमठ के पास मत जाओ, लेकिन नहीं माना। आर्त्तध्यान से मरकर हाथी हुआ। मुनिराज के पास वीतरागवाणी की शक्ति थी, उनके पास कोई अंकुश नहीं था। उन्मत्त मन भी संयम के अंकुश से ही वश में होगा। आप चाहो कि कोरी चर्चा करते रहें, तो वश में होने वाला नहीं है। जब तक यहाँ है, तब तक वश में रहेगा और जैसे ही असंयम के क्षेत्र में जायेगा, तो असंयम के भाव आयेंगे ही। संयम का अर्थ पदार्थों को छोड़ना मात्र नहीं है। छोड़ने के साथ-साथ परपदार्थों के क्षेत्र में जाना भी छोड़ना पड़ेगा। जिन क्षेत्रों में जैसे पदार्थ होंगे, उन पदार्थों को देखकर वैसे तेरे परिणाम होंगे, भाव होंगे। जैसे स्फटिक मणि के सामने

जिस रंग का पुष्प आता है, वैसा रंग दिखने लगता है। यहाँ बैठे हो तो लगता है कि मुनिराज बन गये होते तो कितना अच्छा होता? कितना सुहावना जीवन है? पर जैसे ही बाहर गये, बोले कि घर-गृहस्थी भी तो देखना है।

भो ज्ञानी! विशालता में जिओ और विशालता में जीने दो। पंडितजी! आप समाज में रहेंगे तो समाज के विद्वान् कहलायेंगे। मोहल्ले में गये तो छोटे हो गये। घर में गये तो और छोटे हो गये। कमरे में पहुँचे तो वहीं तक सीमित हो गये। अगर विशाल बनना चाहते हो तो सबको छोड़ दो। भैया! राग यानि छोटापन, ओछापन। आचार्यअमृतचंद्र स्वामी 'पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय' में लिख रहे हैं–

एकेनाकर्षन्ती, श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥ पु. सि. 225॥

जैसे गोपिका मक्खन को मथानी से भाती है, तो एक रस्सी को एक हाथ से खींचती है और उसी समय दूसरी रस्सी को दूसरे हाथ से ढीला छोड़ती है। यदि वो सोचे कि हम तो खींचकर रखेंगे, तो मक्खन बननेवाला नहीं है। यह जैननीति है कि एक दृष्टि चल रही हो तो दूसरी दृष्टि को ढील कर दो। जब निश्चयदृष्टि है, तो व्यवहारदृष्टि को ढीला कर दो। अभाव नहीं कर देना, नहीं तो मथानी नहीं चलेगी। जब व्यवहारदृष्टि चल रही हो तो निश्चयदृष्टि को ढीला कर दो। इसलिये "अर्पितानर्पित सिद्धे"। एक को गौण किया जाता है, दूसरे को मुख्य किया जाता है, लेकिन अभाव किसी का नहीं किया जाता है। जब तेरी आत्मा में सम्यक्त्व है, तभी सम्यक्त्वाचरण होगा। यह करणानुयोग कहेगा कि सात प्रकृतियों का क्षयोपशम है। सम्यग्दृष्टि कहे कि मैं शुद्ध हूँ या यह कहे कि मैं भगवान् हूँ, तो करणानुयोग तुम दोनों को नहीं मान रहा। अनुमान हो सकता है, ये भाषा करणानुयोग नहीं मानता है। 'उपचार से लगा लेना'—ये करणानुयोग में नहीं चलता है। पंचमगुणस्थान यानि पंचमगुणस्थान, छठवां गुणस्थान यानि छठवां गुणस्थान, चौथा गुणस्थान यानि चौथा गुणस्थान। उपचार से महाव्रती हैं, पर करणानुयोग कभी नहीं कहेगा। करणानुयोग कहेगा कि अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ, सर्वघाती प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और देशघाती संज्जवलन कषाय जिस जीव के परिणामों में चल रहा है, उसका नाम छठवाँ गुणस्थान है, तीव्र उदय है तो। मंद उदय है तो सातवाँ गुणस्थान। संज्जवलन की तीव्रता में छठवाँ गुणस्थान और संज्जवलन की मंदता में सातवाँ गुणस्थान बनता है।

भो ज्ञानी! जो आँखों से दिखता है, वह सब व्यवहार है और जो अतीन्द्रिय है, वह निश्चय है। चैतन्य-आत्मा कर्मों से भिन्न है। जो निर्मल गुणों का समूह है, खजाना है, घर है, ये कह

रहा है कि माध्यस्थ भाव बनाके चलना पड़ेगा। माध्यस्थ भाव नहीं होगा तो कहीं-न-कहीं आप जुड़े होंगे और जुड़े होंगे तो निकलना कठिन होगा। जब आप खुले हो, तो जहाँ चाहो जा सकते हो। जैसे मुनिराज का पड़गाहन हो गया, श्रावकों ने तीन फेरे लगा लिये, अब आप कहीं दूसरी जगह नहीं जा सकते हो।

जो कर्म से भिन्न आत्मा को भाता है, वह विचार भी करता है कि आत्मा विमल गुणों का निवासगृह है। उस माध्यस्थ भावना में अविकृतिकरण होता है। यहाँ आचार्यभगवान् शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष को कह रहे हैं। जो पापरूपी अटवी के लिये पावक है। जंगल में वृक्ष कब तक हैं? जब तक बांसों का घर्षण नहीं हुआ, अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई। भो ज्ञानी! इस आत्मा में कर्मों का जंगल कब तक है? जब तक ध्यान की अग्नि नहीं लगाई है पाप रूपी अटवी को जलाने के लिये। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म, इनसे रहित भिन्न आत्मा का सहज गुण है। ऐसी वीतराग भावना को योगी मध्यस्थ होकर भावता है। मध्यस्थ तो होना ही पड़ेगा। मध्यस्थ नहीं होगे तो भगवान् का नाम लेते-लेते कर्म का बन्ध होगा। मैं भगवान् आदिनाथ की जाप करूँ या पार्श्वनाथ की जाप करूँ? इन चौबीस में से किसकी जाप करूँ? कहीं ये नाराज न हो जायें? वे तो नहीं हो रहे, पर तेरे मन में विकल्प आ रहे हैं। मंदिर में जाते हैं तो सोचते हैं कि इस वेदी के दर्शन नहीं करेंगे तो भगवान् नाराज हो जायेंगे। अभिषेक के समय यह सोचते हैं कि सब भगवान् के अभिषेक नहीं करेंगे तो वे नाराज हो जायेंगे। आपको सब वेदियों के दर्शन करना चाहिये, परन्तु ये भावना नहीं रखनी चाहिये कि वे नाराज हो जायेंगे। आप भक्ति की भावना जितनी निर्मल रखोगे, वैसा फल मिलेगा। ये भावना मत रखो कि एक का अभिषेक-पूजन किया तो कहीं कुछ हो न जाये। इसलिये मध्यस्थ भाव रखो। आगम में पूर्वानुपूर्वी पश्चातानुपूर्वी और यथातथ्यानुपूर्वी जाप करने का कथन किया है। जाप चाहे पीछे से कर लो, आगे से कर लो, बीच से कर लो, कहीं से भी भगवान् का नाम ले लो, विकल्प मत करो कि कहीं कुछ न हो जाये। णमोकार मंत्र का पाठ आप क्रम से प्रारंभ करो। णमो अरिहंताणं से भी कर सकते हो, णमो लोए सव्वसाहूणं से भी प्रारंभ कर सकते हो, णमो आयरियाणम् से भी प्रारंभ कर सकते हो। कहीं से भी प्रारंभ कर सकते हो, पर पांच पदों का जाप होना चाहिये। पीछे से या बीच से जाप करने में मन को बड़ा सावधान रखना पड़ता है, जिससे मन कहीं इधर-उधर न भटके।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा संख्या 111 में पूर्व में यह संकेत दिया कि योगी मध्यस्थ भाव से युक्त होकर निज आत्मतत्त्व का चिन्तन करे। मध्यस्थ की कोई सीमा नहीं है, अपने आप में मध्यस्थ असीम है। धाराओं की सीमा है, तट की सीमा

है, पर विस्तार जो है असीम है। तट नदी नहीं है, तट के मध्य में जो बह रही है, वो नदी है। नदी बहती नहीं है, बहता तो नीर है और वो मध्यस्थ होकर ही बहता है। यदि किसी एक तट को पकड़ लेता है, तो उसका बहाव बंद हो जाता है। माध्यस्थ भाव मध्य नहीं है। माध्यस्थ भाव विस्तीर्ण है। उन दोनों तटों के मध्य में बहकर पानी जाकरके सागर में मिलता है। ऐसे ही मध्यस्थ के तट में बहनेवाली आत्म-सरिता जाकरके सिद्ध-समुद्र में मिल जाती है। तट कहीं हट जाये, तो पानी फैल जायेगा, सागर तक नहीं पहुँच पायेगा।

भो ज्ञानी! पंचमकाल होने के कारण तेरा क्षयोपशम ज्ञान, तेरा दर्शन, तेरा चारित्र बहुत न्यून है। यदि धारा को सागर में जोड़ना चाहता है तो नाली बनाते चलो और बीच में बहते जाओ। कहीं तट को तोड़ मत देना, अन्यथा नाली तो बनी रहेगी, पर पानी से सूखी रहेगी। निश्चय व व्यवहार दो तट हैं, मध्यस्थता सिखाते हैं। इनके बीच जो बह रहा है, वह रत्नत्रय का नीर है। यदि आपने दोनों में से किसी भी तट को तोड़ दिया तो आप बिखर जाओगे, सागर में नहीं मिल पाओगे। इसलिये माध्यस्थ भाव छोटा नहीं है। तट कहाँ तक है? जहाँ तक नदी जा रही है। फिर भी संकुचित है। विस्तार किसका है? नदी का है। कछुआ संकुचितता से जीवित रह पाता है। प्रकृति ने जब कछुओं को जन्म दिया, तो साथ में कवच भी दिया है। कछुये को मोटी चमड़ी दे दी और एक विद्या सिखा दी कि जब तुम्हें कोई दिख जाये, तो तुम संकुचित हो जाना। फिर कोई कितनी लाठी पटके, तुम पर असर नहीं होगा। आचार्यभगवान् कहते हैं, हे योगी! जैसे कछुआ हाथ-पैर-सिर को संकुचित कर लेता है, वैसे ही तुम पांच इंद्रिय और मन को संकुचित कर लो। यदि संकुचित नहीं कर सके, तो कभी भी कोई काम, क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी शत्रु तुझे नष्ट कर देगा।

भो ज्ञानी! विस्तार संकुचितता से होता है। विस्तार से कभी विस्तार हुआ ही नहीं है। जो विस्तार से विस्तार चाहता है, वो कभी विस्तृत नहीं हो पायेगा। जब तक तू मध्यस्थ भाव नहीं लायेगा, तो कहीं राग की आँख खुलेगी, कहीं द्वेष की आँख खुलेगी, तो तेरा जितना द्रव्य था, राग-द्वेष के द्वारा निकल गया। भैया! तुम्हारे जीवन की श्वासें चाहे काम करो या न करो, उपयोग कहीं भी ले जाओ, वो क्षीण हो रही हैं। जीरो बाट का बल्ब जलाओगे तो भी मीटर तो घूमेगा ही। इसलिये चाहे तुम इस क्षयोपशम को विकारों में लगा दो, चाहे साधना में लगा दो, किसी विराधना में लगा दो, परन्तु मेरे ज्ञान-दर्शन का उपयोग तो वहाँ हो रहा है। कितने कूलर, पंखे लगा डाले और फिर जब 5000 रु. का बिल आया तो बोले भैया! मैंने तो कुछ किया ही नहीं है। तुमने तो कुछ नहीं किया, पर वहाँ तो मीटर पर नम्बर आ गये। ऐसे ही कर्म कहता है कि देखो, पूरा नम्बर चल रहा है, पूरी रिकार्डिंग चल रही है,

पूरा सब स्पष्ट चल रहा है और जब आयुकर्म आयेगा, तब पता चल जायेगा। इसलिये भो चेतन! मध्यस्थ हो जाओ, अन्यथा उपयोग तो जायेगा तो फिर जो द्रव्य रखा है, वो समाप्त होगा और जो द्रव्य नहीं आना चाहिये था, वो आयेगा। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होता जो जाने के बाद कुछ देकर नहीं जाये। कोयले को आपने जलाया, खाना बनाया, आपको लगा कि आपका काम हो गया, पर वो भी तुम्हें कुछ दे गया, राख दे गया। तेरी दृष्टि अपने कार्य पर थी, इसलिये तूने राख को जाना नहीं है, पर वहाँ राख का ढेर पड़ा है। ऐसे ही ज्ञानी! जब तू जायेगा, तो कुछ छोड़के जायेगा। श्मशान में शरीर की राख तो कुछ समय में समाप्त हो जाती है। तुम जो छोड़के जाते हो, वह लोगों के हृदय में रहता है। राग-द्वेष, यश-अपयश, पुण्य-पाप यह सबको समझ में आता है। भगवान् महावीर को गये हजारों वर्ष बीत गये, परन्तु जो वो छोड़के गये, वो आज भी है। मारीचि की पर्याय में जीव जो छोड़ गया था, वो महावीर बनके चले गये, लेकिन उसे वे भी नष्ट नहीं कर पाये।

भो ज्ञानी! पानी सूख जाता है, नदी निकल जाती है, परन्तु निशान से पता चल जाता है कि पानी यहाँ से बहा था। ऐसे ही आप जिस अवस्था से निकलोगे, निशान पड़े रह जायेंगे। आप चले जाओगे, पर निशान दुनियाँ को निशाना बनाके चले जाते हैं। मध्यस्थ होके चलना पड़ेगा विस्तृत होना है तो। लम्बे समय तक आपको प्रकाश चाहिये तो इनवर्टर के अन्य निर्गम को बन्द करके रखना पड़ेगा। उसको मध्यस्थ करना पड़ेगा। आपके अंदर जो नौ बल्व लगे हैं, उनको बंद कर दो, तो संचय अंदर हो जायेगा। तेरी विद्युत का जो संचय होगा, फिर एकमात्र दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जोड़ देना तो जाज्वल्यमान चमकेगा। यदि नौ बन्द नहीं किये, तो कहीं-न-कहीं से शक्ति तुम्हारी चली जायेगी। जब आपको चित्र/सिनेमा/टी.वी. देखना होता है, तो सब खिड़कियाँ बन्द कर देते हो। आप आत्मचित्र को देखना चाहते हो, लेकिन खिड़कियाँ बन्द नहीं कर रहे हो, तो कैसे दिखेगा? यह तो व्यवहार की बात है। प्रकाश होगा, तो आपको अच्छे से चित्र नहीं दिखेगा। एकसाथ दो चित्र कैसे निहार सकते हो? एक ओर असंयम का चित्र हो और दूसरी ओर चारित्र का चित्र है, खिड़की तो बंद करना ही पड़ेगी। बिना खिड़की बन्द किये चित्र की बातें तो की जा सकती हैं, पर चित्र तभी दिखेगा, जब खिड़की बन्द कर देते हैं। भो ज्ञानी! जबतक विषयों के द्वार खुले रहेंगे, तो संवर कहाँ से होगा। बिना चारित्र के संवर नहीं होता है। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने 'द्रव्यसंग्रह' में लिखा है

वदसमिदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा॥ वृ. द्र. सं. 35॥

व्रत, समितियाँ, गुप्तियाँ, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र इनके द्वारा कर्मों का संवर होता है। यदि ये नहीं हैं, तो मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत संवर नहीं होगा। संवर कब होगा? जब चारित्र होगा। चारित्र कब होगा? जब मध्यस्थ भाव होगा। बिना मध्यस्थ भाव के चारित्र पलता नहीं है। आप बूढ़े भी हो गये हो और माता-पिता से पूछकर एकाशन करना चाहते हो, तो उनका राग यही कहेगा कि भैया! दो टाइम खा लो। वो राग बोल रहा है, जबकि वे स्वयं एकाशन कर रहे हैं, पर वे यही कहेंगे भैया! दो टाइम खा लो। राग करोगे तो एकाशन होगा नहीं। जब भी संयम पलेगा, मध्यस्थ भाव से ही पलेगा। मध्यस्थ-भाव संकोच नहीं, विस्तार है। मध्यस्थ-भाव माध्यम है। लता कभी भी अपने बल पर नहीं चढ़ती है। बेल दूसरे का माध्यम बनाके कितनी ऊँचाई पर पहुँच जाती है। ऐसे ही निर्ग्रन्थ योगी मध्यस्थ भाव का आलम्बन लेकर संयम की लता को त्रिलोक के शिखर पर भेज देता है। मध्यस्थ में किसी का आश्रय नहीं है, मध्यस्थ ही आश्रय है। द्वेष को हटा दिया, राग को हटा दिया, अब बीच में क्या आया? वैराग्य। पहले वैराग्य, फिर चारित्र। वैराग्य के अभाव में चारित्र तो विधवा के श्रृंगार के समान है। वैराग्य के अभाव में संयम तो विधवा का शृंगार है। नारी का शृंगार पति के लिये होता है। जिसका पति ही समाप्त हो गया है, तो शृंगार किसके लिये? इसका तात्पर्य है कि यदि संयम गड़बड़ है, तो वैराग्य नहीं और चारित्र वैराग्यपूर्वक होता है। वैराग्य नहीं, तो चारित्र नहीं। जो चारित्र होता है, वो वीतरागता के लिये होता है। पति का संयोग विषयों के लिये नहीं, संतान के लिये होता है। संतति चलेगी, तो धर्म चलेगा। एक ज्ञानी संतान की उत्पत्ति धर्म चलाने के लिये कर रहा है। एक की दृष्टि में धर्म दिख रहा है और दूसरे की दृष्टि में भोग दिख रहा है। काम दोनों के एकसे हैं। वीतरागता के लिये चारित्र है। उसको बचाने वाली कोई वस्तु है, उसका नाम मध्यस्थ भाव है। जब तू चारित्र और वैराग्य से समाहित होगा, फिर तू वीतरागता की ओर होगा। निश्चयनय से वीतराग स्वभाव, क्योंकि परम आलोचना अधिकार है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' के सातवें अध्याय में मध्यस्थभाव की चर्चा की है।

मैत्रीप्रमोद-कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु॥ त. सू. 11/7॥

प्राणीमात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, क्लिश्यमानों में करुणावृत्ति और अविनयों में मध्यस्थ भाव करना चाहिये।

आचार्य अमितगति स्वामी ने भी 'भावना द्वात्रिंशतिका' में कहा है–

सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणिषुप्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥ भा. द्वा. 1॥

समस्त प्राणीमात्र से मेरी मित्रता हो, गुरुओं के प्रति प्रमोदभाव हो, संक्लेशित जीवों के प्रति दया/अनुकम्पा भाव हो, जो विपरीत बुद्धि वाले हैं उनके प्रति माध्यस्थ भाव हो। जो शासन के विरुद्ध चल रहे हैं, जिनवाणी के विरुद्ध चल रहे हैं, आपकी बात को स्वीकार ही नहीं करना चाहते हैं, ऐसे लोगों से झगड़कर क्या कर लोगे? अतः मध्यस्थ हो जाओ।

जो राग है, वो मेरा शत्रु है। जो द्वेष है, वो मेरा शत्रु है। ये दोनों ही मेरे आत्मगुणों का घात करने वाले हैं। आपने दोनों में से किसी एक का भी सत्कार किया, तो आपका अहित होगा। इसलिये योगी दोनों में मध्यस्थ हो जाता है। कथंचित, क्योंकि चार कषायों में दो रागरूप हैं और दो कषाय द्वेषरूप हैं। इसलिये भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सभी आत्मा की विभाव अवस्था है, इसलिये विभावदृष्टि से एक है। लेकिन भिन्न-भिन्न रूप देखेंगे तो अलग-अलग हैं। माध्यस्थ भाव कह रहा है कि मेरे से बड़ा सखा इस लोक में कोई नहीं है, क्योंकि मैं प्रत्येक जीव को शान्त बनाता हूँ। जो उलझनें कभी न सुलझें, वे माध्यस्थ भाव से क्षणमात्र में सुलझ जाती हैं। विभाव में कोई भी द्रव्य अधिक समय तक नहीं टिकता है, ध्यान रखो। जब विभाव का काल पूर्ण नहीं होता है, आप कितना भी समझाओ, नहीं समझता है। रामचन्द्र जी को देव भी नहीं समझा पाये। जैसे ही विभाव का काल पूर्ण हुआ, तो जीव को स्वयं समझ में आ जाता है।

भो ज्ञानी! आत्मा ही चतुर है, यह सब नाटक करा रही है, पुद्गल को व्यर्थ में बदनाम किये है। जीव आनंद खुद लूटता है और कहता है कि पुद्गल सब करा रहा है। धर्म की बात उठती है तो यह कहता है कि जड़कर्म घुमाता है मुझको, जबकि संयम की बात आये तो वहाँ स्वभाव आ जाता है, राग-द्वेष भाव आ जाता है। ये किसमें आ रहे हैं? आत्मा में आ रहे हैं, शरीर में नहीं आ रहे हैं, शरीर तो मध्यस्थ है। यदि आप माला फेरना चाहो, तो माला फिरवा देता है। आप मंदिर आना चाहते हो, स्वाध्याय सुनना चाहते हो, तो आ गये कि नहीं? राग और द्वेष के बीच में जो आत्मा बैठी हुई है, ये दोनों पक्षों पर हाथ रखे हुये है। ये राग की पीठ भी पकड़े है, द्वेष की पीठ भी पकड़े है। जहाँ लाभ दिखा, तो राग को उकसा दिया। जब देखा कि यहाँ सीधे से काम नहीं बन रहा, तो क्रोध राजा को खड़ा कर दिया और आनंद लूट रहा है। चाहे ये बने, चाहे वो बने, दोनों तो हमारे हैं। ये राग-द्वेष की महिमा नहीं, ये आत्मा की महिमा है। इसलिये यदि पकड़ना है तो आत्मा को पकड़ो। न राग होगा, न द्वेष होगा। एक ही भाव, मध्यस्थ भाव होगा।

भो ज्ञानी! जब किसी का बेटा अपराध करके भाग जाता है, तो पूरे परिवार को पकड़कर त्रास दिया जाता है, जिससे वे स्वयं पता बतायेंगे। ऐसे ही जब राग-द्वेष बढ़ने लगे, तो वे जिनके बेटे हैं, किनके? आत्मा के विभाव सुत हैं, उन राग-द्वेष विभाव-सुतों को नहीं पकड़

पाओ तो पिताजी को पकड़ लो और कहना कि अब बताओ, इन बेटों को आप समझा रहे हो कि नहीं? तो कहेंगे कि भैया! हमसे नहीं समझ रहे। हमारे दो स्वभाव-सुत और हैं उनसे कह दो, वो समझा देंगे। ज्ञान और दर्शन स्वभाव-सुत हैं। भैया! आत्मा बड़ा चालू है। सबकी व्यवस्था की है, तभी तो इतनी बुद्धि चल रही है। ये पुद्गल की बुद्धि नहीं चल रही है। ये क्षयोपशम पुद्गल में नहीं है, यह क्षयोपशम आत्मा में है। सारे-के-सारे नाच विश्व में जो चल रहे हैं, आत्मा के चल रहे हैं और धीरे से कहता है कि पुद्गल का परिणमन है। चिन्ता नहीं करो, जब फाँसी पर लटकोगे, तब कहना कि पुद्गल लटकेगा। किसको फाँसी लगेगी? कह दो, पुद्गल को लगेगी। फाँसी में तो फँसे बैठे हो। 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी कहते हैं कि जैसे कैद में हथकड़ी/बेड़ी डाल देते हैं, ऐसे ही आयुकर्म ने आपको बाँधके रखा है। कौन बँधा है? पुद्गल। शब्दों में कुछ भी कहो, पर पुद्गल के बीच आत्मा फँसी है, कर्मों के बीच आत्मा फँसी है। कर्म कहते हैं कि मुझे दोष नहीं दो। जो कुछ हो रहा है, आप कर रहे हो। अपने को दोष दो। अच्छा होता है तो कहते हो कि हमारी आत्मा ने किया है और बुरा होता है तो पुद्गल ने किया है। पुद्गल का सहयोग जीव लेता है, क्योंकि अच्छे-बुरे जितने काम हैं जीव करा सकता है और कोई नहीं करा सकता है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव शुद्धोपयोग के सन्मुख करने वाली भावना को भाते हुये कलश कह रहे हैं—

आत्मा भिन्नो भवति सततं द्रव्यनोकर्मराशे—
रन्तः शुद्धः शमदमगुणाम्भोजिनीराजहंसः।
मोहाभावादपरमखिलं नैव गृह्णाति सोऽयं
नित्यानंदाद्यनुपमगुणश्चिच्चमत्कारमूर्तिः॥ कलश 162॥

भो ज्ञानी! यह आत्मा सदैव द्रव्यकर्म और नोकर्म समूह से भिन्न है। आत्मा का सुख कैसा होता है? किसी को किसी कारण से तनाव हो गया। जब वह तनाव से मुक्त हो जाता है, उस दिन वेदन करना कि कैसा लग रहा है? कुछ दिया नहीं, कुछ लिया नहीं, फिर भी प्रसन्न दिख रहा है। बिना लिये, बिना दिये जो सुख होता है, वही आत्मा का सुख होता है। जिस प्रकार राजहंस कमलों में केलि करता है, उसी प्रकार यह आत्मारूपी राजहंस शान्तभाव और कषायों का शमन और इंद्रियों का दमन रूपी गुणों में रमण करता है। जिसका मोह का अभाव हो चुका है, वह संपूर्ण संसार के द्रव्यों का ग्रहण नहीं करता है। नित्यानंद आदि अनुपम गुणस्वरूप और चिद्-चमत्कार की मूर्ति, ऐसा वह हंस-आत्मा निज आत्मद्रव्य के अंदर उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों का ही सेवन करता है। मिथ्यात्व-मल का सेवन नहीं करता है। असंयम का सेवन नहीं करता है। राग का सेवन नहीं

करता है। द्वेष का सेवन नहीं करता है। एकमात्र वीतरागता का सेवन करता है। शुद्धोपयोग के सन्मुख ले जाने वाली भावना को भाते हुये अलग कलश आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं–

अक्षय्यान्तर्गुणमणिगणः शुद्धभावामृताम्भो–
राशौ नित्यं विशदविशदे क्षालितांहः कलङ्कः।
शुद्धात्मा यः प्रहतकरणग्रामकोलाहलात्मा
ज्ञानज्योतिः प्रतिहततमोवृत्तिरुच्चैश्चकास्ति॥ कलश 163॥

यह आत्मा अक्षय, अनन्त गुणों की मणियों से युक्त है और जिसने अत्यंत शुद्ध भाव रूपी अमृत के समुद्र के नीर से अपने पापकलंक को धो डाला है। नदियों के नीर से तन तो साफ हो सकता है, पर मन साफ होने वाला नहीं है। तन की सफाई तो अनंत बार कर चुके हो। अब चेतन मन की सफाई भी कर लो। मन साफ नहीं है, तो कितने ही गोरे बने रहना, परन्तु अंदर से तो बगुला ही हो। बगुले का रंग बाहर से गोरा होता है, पर अंदर से परिणाम काले होते हैं। भो चेतन! तेरे अन्तरंग ग्राम में कितना कोलाहल हो रहा है, तू शांति व्यवस्था क्यों नहीं बनाता? मोहल्ले में, गाँव में कुछ हो तो तुरन्त थाने पहुँच जाता है कि हमारे यहाँ अशांति का वातावरण होने की संभावना है। कभी गये हो बताने कि हमारे यहाँ भोगों के लुटेरे आ रहे हैं, कषायों के डाकू उपद्रव मचाने वाले हैं? लेकिन ज्ञानी योगी अपने इंद्रिय-ग्राम के कोलाहल को समाप्त कर देता है। ज्ञानज्योति के द्वारा अंधकार दशा को नष्ट कर देता है तो शुद्धात्मा अतिशयरूप से प्रकाशमान होने लगती है। यह शुद्धोपयोगी जीव की परिणति विशेष है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परमशुद्ध आलोचना अधिकार की गाथा 111 में मध्यस्थ भाव की चर्चा की। आत्मा के लिये यदि उत्थान का परम कोई सोपान है, तो मध्यस्थ भाव है। किसी जीव के अंतस् भाव को आप नहीं जानते हो, किसी के अंतस् को आप सुधार नहीं सकते हो। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि स्व अंतस् को संभालना है तो मध्यस्थ हो जाओ। इसी बात को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलशों के माध्यम से समझा रहे हैं–

संसारघोर सहजादिभिरेव रौद्रै–
र्दुःखदिभिः प्रतिदिनं परितप्यमाने।
लोके शमामृतमयीमिह तां हिमानीं।
यायादयं मुनिपतिः समताप्रसादात्॥ कलश 164॥

इस संसार में कितनी सहज-अवस्था है? दु:ख भी सहज है, सुख भी सहज है। कोई आश्चर्य नहीं है। जब तुम दु:खों को सहजता में, सुखों को सहजता में सहन कर सकते हो, तो दु:ख भी सहज हैं। ऐसे सहज दु:खों से, रौद्र दु:खों से प्रतिदिन संतप्त होते हुये इस जगत में मुनिनाथ समता के प्रसाद से शमभावरूपी अमृतमयी हिम-समूह को प्राप्त कर लेते हैं। जब ओले गिरते हैं, पानी बरसता है, तो आप भवन का सहारा लेते हो। भो चेतन! ऐसे ही कष्टों के पर्वत, ओले-शोले गिरें, पानी गिरे, तो मुनिराज समता के भवन में प्रवेश कर जाते हैं। जब कोई आपको वसूला मारने आता है, तो आप अपनी रक्षा के लिये भवन की ओर दौड़ते हो। लेकिन ध्यान रखना, कर्म वहाँ भी छोड़ने वाला नहीं है। यदि कर्म से सुरक्षित कोई स्थान है, तो समता का भवन ही एक सुरक्षित स्थान है, जहाँ वसूले का प्रवेश नहीं है। भो ज्ञानी! क्लेश रूपी अग्नि से शांत होना चाहते हो तो साम्यभाव रूपी हिम/बर्फ का सहारा लो। यदि मुनि समता के प्रासाद में प्रवेश कर जाते हैं तो क्लेश की अग्नि लेशमात्र भी नहीं सताती है।

मुक्तः कदापि न हि याति विभावकायं
तद्धेतुभूतसुकृतासुकृतप्रणाशात्
तस्मादहं सुकृत-दुष्कृत-कर्मजालं
मुक्त्वा मुमुक्षुपथमेकमिह व्रजामि॥ कलश 165॥

आचार्यश्री कह रहे हैं कि मुक्त हो गया जीव, सिद्धत्व को प्राप्त हुआ जीव फिर कभी विभाव अवस्था को प्राप्त नहीं होता है। न निमित्त दिखेंगे, न उपादान दिखेंगे। वहाँ तो कार्य-ही-कार्य है। निज द्रव्य में, निज पदार्थ में व्यक्ति अनुभव करते हुये सहजता में पहुँच जाता है। आपने भवन खड़ा कर लिया, प्राकृतिक प्रकोप आ गया, भवन छूट गया, फिर भी आप अपना पुरुषार्थ नहीं छोड़ते हो, सफाई कर लेते हो, छपाई कर लेते हो, टूटी दीवाल व छत जोड़ लेते हो। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि परिणामों का भवन प्राकृतिक प्रकोपों से गिरने वाला नहीं है, फिर भी अपने भवन की सुरक्षा रखो, आप अपने परिणामों को संभालो, यदि किसी निमित्त से भवन गिर रहा है तो। संसार के प्रत्येक द्रव्य से अंत में भिन्नत्व का वेदन करना ही पड़ेगा, तभी सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हो। जब-जब पर को आप सहयोग/सहारा समझोगे, तब-तब आप धोखे में जिओगे।

मुमुक्षुजीव व्यवहारिकता के नाते लोकव्यवस्था, चरणानुयोग इन सबके साथ रहता तो है, पर फिर भी अपने आप को भिन्न मान लें, अन्यथा राग बढ़ जायेगा, तो जीव की विभाव अवस्था में परिणाम कलुषित हुये, तो आपको वेदना होगी। आप भाइयों के साथ शांति के साथ रह रहे हो, फिर भी आप भिन्नता का वेदन करते रहना, क्योंकि यह संसार है, जीव

के परिणाम हैं, कब क्या परिणति बन जाये? इसलिये आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि कर्म के जाल से मुक्त होना चाहते हो तो कर्म के जाल को जाल मान कर ही चलना। जाल स्वभाव से नहीं होता है, जाल डाला ही जाता है और जाल को हटाना ही पड़ता है। भो चेतन! कर्मों का जाल तेरे ऊपर पड़ा हुआ है। उस जाल को बंधन स्वीकार कर तोड़ने का प्रयास करो। जाल में संतुष्ट मत हो जाना। लोक जाल है, लोक की व्यवस्थायें जाल हैं, लोक का सहयोग जाल है। अंतरंग दृष्टि से देखना। एकत्व-विभक्त ही अपना है। भो ज्ञानी! जीवन में भूल हो जाय तो उसे किसी से मत कहना। यहाँ तक कि अपने मित्र से भी मत कहना। आज वो मित्र है, कल उसके भाव बिगड़ गये। उसने देखा कि आप उत्कर्ष में हो तो ईर्ष्या से भरकर वह दोष उजागर कर सकता है। अगर भूल कहना हो तो निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु के चरणों में ही निवेदित करना।

भो ज्ञानी! धर्मक्षेत्र में भी नीति-रीति से ही चलना पड़ेगा अन्यथा तुम परास्त हो जाओगे, हताश हो जाओगे, सल्लेखना बिगड़ जायेगी। जीवन में पाप तो होते हैं, आपसे भी हो गये। आपने बड़ी सहजता से अपने मित्र को बता दिया और कहा कि अंत समय में मुझको संभालना। इस बीच कहीं आप के मित्र में विकार हो गया। जो सल्लेखना के समय संभालने वाला जीव था, वो आके कहता है कि सुनो, याद है तुम कैसे थे? वो उस पाप की याद दिला रहा है जब जीव के प्रयाण का अंतिम समय है। उस समय तू विष खिला देता तो पीड़ा नहीं देता, जितनी पीड़ा तूने पुरानी याद दिलाकर आत्मा को कलुषित किया है, क्लेशित किया है। रागी-द्वेषी जीवों के बीच में समाधि नहीं हो पाती, इसलिये निषेध किया है।

भो ज्ञानी! जीवन में कोई साथ देने वाला है, तो मात्र स्वयं का परिणाम है। क्योंकि बाहर के जीव उभय निमित्त तो बनते हैं, परन्तु उभयलोक के सुख के हेतु नहीं हैं। यदि आपको इंद्रियसुख भी पर के माध्यम से होता है, वो भी वास्तव में नहीं होता है। इंद्रिय भोग भी पर से नहीं होता है। जिसे तू स्त्री के सहयोग से सुख मानता है, यदि तेरे शरीर में शक्ति नहीं है, तो स्त्री में स्त्रीसुख नहीं है। तेरे शरीर की धातु के क्षीण होने में ही सुख है। रसना इंद्रिय में जो तंतु हैं, उसी स्थान पर मीठे व नमकीन का स्वाद आता है। रसना में सब जगह स्वाद नहीं आता है। यदि तन्तु विकृत हो गये हैं, तो कोई स्वाद नहीं आयेगा। बंध को कराने वाले ऐसे इंद्रियों के सुख तो दुःखरूपी हैं। आचार्य उमास्वामी ने लिखा है कि इंद्रियसुख सब दुःखरूप ही हैं। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि निज भवन को ही सुरक्षित करना होगा, निज भवन में ही रहना होगा। ज्यादा दिन कोई तेरी रक्षा नहीं करेगा। यदि तेरे पाँव में दर्द है, लंगड़ापन आ गया है, तो कोई परेशानी नहीं है, कोई मंदिर आदि ले जायेगा। यदि

भाव में लंगड़ापन आ गया, तो कोई नहीं संभाल पायेगा। भावों की रक्षा आप स्वयं ही कर सकते हो।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि प्रभु! आप तो चले गये। अब आप कभी विभाव-अवस्था को प्राप्त नहीं करोगे। संसार में भटकाने वाले दो हेतु थे। पुण्य और पाप, सकृत और दुष्कृत। दोनों हेतुओं का अभाव हो चुका है। पुण्य स्वर्ग में भेज देगा, पाप नरक में भेज देगा, पर संसार से एक भी नहीं निकाल पायेगा। संसार से तभी निकलोगे, जब पुण्य और पाप दोनों का विनाश हो जायेगा। पुण्य को तो करना, पर उपादेय ही मानके मत बैठ जाना। पुण्य में निदानबंध भी किया, तो वो संसार में ही घुमायेगा। सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं है, पर मिथ्यादृष्टि का पुण्य संसार का ही कारण है। आचार्य देवसेन स्वामी ने 'भावसंग्रह' में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता है, वह मोक्ष का ही हेतु होता है, यदि वो निदान नहीं करता है तो यदि निदान करता है तो उसका पुण्य भी संसार का कारण होता है। यदि मुनिराज निदान कर ले, तो उनका गुणस्थान गिर जायेगा। आर्त्तध्यान के चार भेद हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तन, निदान। पंचम गुणस्थान तक चारों होते हैं। यदि पंचम गुणस्थान में निदान करेगा, तो भी अनंतानुबंधी कषायजन्य नहीं करेगा। यदि अनंतानुबंधी कषायजन्य करेगा, तो पंचम गुणस्थान नहीं बनेगा। छठवें गुणस्थान में कोई निदान नहीं होता। यदि निदान कर लेते हैं, तो गुणस्थान गिर जाता है। नारायण का जो जीव होता है, वह तपस्वी मुनि होता है, लेकिन विभूति देख करके निदान कर लिया , तो गुणस्थान गिर गया। पर तपस्या घोर की थी, तो फल मिला। उसका भोग इतना किया कि वो नीचे चला गया, वो भी निदान है। कार्य करो, निदान मत करो। पुरुषार्थ करो, निदान मत करो। निकांक्षित अंग पहले कह दिया है। आगम में दो प्रकार के निदान कहे गये हैं। एक अप्रशस्त निदान होता है, दूसरा प्रशस्त निदान होता है।

ज्ञानी! तुम प्रशस्त निदान रोज करते हो। 'प्रभु! मेरे दु:खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, मुझे बोधि की प्प्ति हो, मेरा समाधिमरण हो, मेरा सुगति में गमन हो, हे जिनदेव! आपके गुणों की संपत्ति प्राप्त हो, यह सब प्रशस्त निदान है। यह सराग अवस्था में सम्यग्दृष्टि जीव को होता है, पर वीतराग अवस्था में यह भी नहीं होता है। सरागता में भगवान् से यह भी कह लेता है कि मेरी तो तोसों बनी, तातें करत पुकार। जबकि आप जानते हो कि वह स्वतंत्र हैं, मैं स्वतंत्र हूँ। वह वीतरागी हैं, मैं रागी हूँ। वह मुझे क्या बनायेंगे, क्या बिगाड़ेंगे ? लेकिन यह भक्ति की भाषा है। हे भगवन्! आपने पुण्य और पाप दोनों का नाश कर दिया है, इसलिये मैं भी सुकृत व दुष्कृत कर्म के जाल को छोड़ करके, जो मुमुक्षु का पथ है, मैं उसी में

गमन करता हूँ। यहां मुमुक्षु से तात्पर्य वीतराग महामुनि से है, क्योंकि वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित साधु ही पुण्य-पाप ऐसे सभी कर्मों का संवर करते हैं। वे ही मुमुक्षु कहलाते हैं।

प्रपद्येऽहं सदाशुद्धमात्मानं बोधविग्रहम्।
भवमूर्तिमिमां त्यक्त्वा पुद्गलस्कंधबंधुराम्॥ कलश 166॥

यहाँ आचार्य महाराज कह रहे हैं कि मैं प्राप्त करता हूँ। किसको? शुद्ध आत्मा को। कैसे? जो भव की मूर्ति है, उसे छोड़कर। कौन-सी मूर्ति? जो सुन्दर पुद्गल स्कंधों से बनी है। जब-तक इस शरीररूपी पुद्गल मूर्ति में राग रहेगा, तब तक अमूर्तिक अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकोगे। इसलिये आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि उसको छोड़कर मैं सदा शुद्धात्मा को प्राप्त करता हूँ। जो कैसी है? ज्ञानशरीरी है। उस अवस्था को प्राप्त करने के लिये पुद्गल के स्कंधों का राग छोड़ना ही पड़ेगा।

अनादिमलसंसाररोगस्यागदमुत्तमम्।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना॥ कलश 167॥

आचार्यभगवान् कह रहे हैं, अहो ज्ञानी जीवों! आप अनादिकाल से ही संसाररोग से ग्रसित है। जन्म, जरा, मृत्यु यह तीन रोग हैं। पुद्गल की दवाइयाँ अनंत बार की हैं। उन दवाइयों को खाते-खाते अनेक भव बीत गये, पर स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचन ही परम औषधि हैं। अब इन औषधि का उपयोग कर लो तो जन्म, जरा, मृत्यु रोग का विनाश हो जाये। शरीर के एक-एक अंगुल में 96-96 रोग हैं। अब तू कहाँ निरोग होने की बात करता है? इस सड़े-गले रोगी पुद्गल पिण्ड से तत्त्व की बात कर ले, तत्त्व का अभ्यास कर ले, चैतन्य निज स्वभाव पर दृष्टिपात कर ले, उससे लाभ है।

भो ज्ञानी! भोजन से शरीर चलता है, यह कथंचित सत्य है, पर यह सोचना कि जितना अच्छा खायेंगे उतना चलेगा, ऐसा सही नहीं है। जो चक्रवर्ती, नारायण आदि शलाकापुरुष होते हैं, उनकी दाढ़ी-मूँछ नहीं होती, गाल पिचके नहीं होते, सदा युवा-जैसा चेहरा चमकता रहता है जीवन भर। यह पुण्य दिख रहा है। ऐसे पुण्यात्मा को भी भोग नीचे टपका देते हैं। इनको निहार जन्म से ही नहीं होता। तीर्थंकरप्रकृति का उदय तो तेरहवें गुणस्थान में होता है, लेकिन निहार जन्म से नहीं होता। ये सब पुण्य का फल है। उनके केश घुंघराले होते हैं, दाढ़ी-मूँछ नहीं होती है। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि ऐसे अनादि संसार में इस रोगरूपी जड़शरीर में तू निरोगता की भावना भा रहा है। भो ज्ञानी! परमेष्ठी की आराधना करके तू अच्छे शरीर को प्राप्त कर लेगा, स्वर्ग में चला जायेगा, वहां रोग नहीं होता है शरीर में। पर भोग रूपी रोग होता है, जो सबसे बड़ा रोग है। जिसको शरीर से राग होता है, वह शरीर

में रोग हो जाने पर चौबीस घंटे व्यथा में जीता है कि अब मैं करूँ तो क्या करूँ? पीड़ा-चिन्ता नामक आर्त्तध्यान चलता है। रोग के चिन्तन से रोग ठीक नहीं होगा। प्रभु की आराधना करोगे, तो निरोग हो जाओगे, परन्तु इस शरीर का रोग ठीक नहीं होगा। कर्मों का रोग ठीक हो सकता है। वर्त्तमान शरीर को तो बदलना ही है। यदि आप इसको सदा एक-सा रखना चाहते हो तो प्रकृति के परिणमन पर तुम प्रश्नचिन्ह लगा दोगे।

ज्ञानी! कुछ लोग शरीर के जर्जर/बूढ़े होने पर भी सफारी सूट पहनते हैं जिससे लगे कि कोई युवा आ रहा है। तुम शरीर की प्लास्टिक सर्जरी भी करवा लो, परन्तु वृद्धावस्था छिपने वाली नहीं है। परिणाम भी वृद्ध हो जाते हैं। शरीर भी ठीक से काम नहीं करता है। लोग जीने के लिये अंगों का प्रत्यारोपण भी करवा लेते हैं। पता नहीं क्या लोभ सताता है जीवों को जीने का? जबकि उसे मालूम है कि लोक से बाहर नहीं जाना है, दूसरी पर्याय में जी लेना है। मरने का अवसर आ जाये तो यह सोचना कि इस संसार से बाहर जाना नहीं है, इसी संसार में रहना है, सड़ी-गली पर्याय छूट रही है तो नियम से नई पर्याय मिलना है। वहाँ जी लेंगे। तुम बस, इस काल में मोक्ष नहीं जा सकते हो, यह निश्चित है। एक काम कर लो, अच्छा काम कर लो, तो अच्छी गति मिल जायेगी। प्रभु की भक्ति करने से सुन्दर रूप की प्राप्ति होती है। औषध दान करने से निरोगी शरीर मिलता है। साधु सेवा करने से उत्तम संहनन की प्राप्ति होती है। चारित्रवानों की निन्दा करने से चारित्रमोहनीय का आस्रव होता है। यदि आप किसी के परिणाम खराब करते हो तो इससे चारित्रमोहनीय का आस्रव होता है। निमित्त बने हो तो कर्मबंध होगा ही। जड़ निमित्त नहीं है, चेतन निमित्त होता है। बिना भाव के तुम निमित्त कैसे बन सकते हो? इसलिये आस्रव तो होगा ही।

भो ज्ञानी! जीव इस संसार में रोगी अनादि से है। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि उत्तम औषधि क्या है? शुभ-अशुभ से रहित जो मेरी चेतन भावना है, वही परम औषधि है। यदि वो नहीं है, तो अंदर के रोग को समाप्त करने वाली और कोई औषधि नहीं है। आत्मा तो निरोगी है, पर विभाव-भाव के रोग लगे हैं, इसलिये आप रोगी हो, यह सौपादिक है। असेव्य के सेवन करने से ही रोग होता है। आपने रस पिया, मीठा खाया और पानी पी लिया, अब कह रहे हो कि जुकाम हो गया। ज्ञानी! वो जुकाम क्या करे? असेव्य का सेवन किसने किया?अंतरंग निमित्त भी कहां से आया? बिना राग के खाया कैसे? बिना लोभ के खाया कैसे? अंतरंग निमित्त को बुलाया किसने? कुछ लोग यही भूल कर रहे हैं। एक विद्वान् जो त्यागी भी थे, बोले कि क्या त्याग करना, क्या छोड़ना? यह त्याग, उपवास आदि बूढ़े लोगों का काम है। अपन को तो पढ़ना-लिखना चाहिये, ज्ञान उपार्जन करना चाहिये। भैया! ज्ञान

का फल क्या है? बोले कि बस, जो है, सो हो रहा है। मैंने कहा कि बिना राग के आप खा नहीं रहे हो। अध्यात्म भाषा का सहारा लेकर भोगवृत्ति को मत बढ़ाओ। हम लोग अध्ययन भी करते हैं, त्याग भी करते हैं। बोले कि यह आपके अध्ययन की उम्र है। हमने कहा कि ठीक है, अध्ययन की उम्र कहके जीवन नष्ट कर लो, फिर बूढ़े हो जाना तो कहना कि अवस्था नहीं बची तपस्या करने की।

भो ज्ञानी! ज्ञान नहीं कहता कि अध्ययन मत करो। अध्ययन करो और संयम भी करो। एक घंटा अध्ययन करने के बाद ग्रन्थ बन्द करके पांच मिनट विश्राम करो। एक गाड़ीचालक भी जड़ वाहन को थोड़ी देर के लिये बन्द कर देता है कि गर्म हो गया है, ठंडा हो जाने दो। इससे मशीन खराब नहीं होगी। अध्ययन करने से अध्ययन होता है, अध्ययन करने के तनाव करने से अध्ययन नहीं होता है। साधना का मार्ग सहजता का मार्ग है। 'नियमसार' में एक शब्द आता है 'सहज'। सब सहज है। उपसर्ग सहज है, परीषह सहज है। जिन पर आना है, तो आना है। नहीं आना है, तो नहीं आना और टलना भी सहज है। आप बोलो कि किसी ने कष्ट दिया, ज्ञानी! नियोग किसी पर्याय का चल रहा था, वो आना ही था। अज्ञानदशा में जीव को विकल्प आ जाते हैं और लगता है कि इन्होंने ऐसा कर दिया। पर वास्तविकता यह थी कि अबाधाकाल पूरा हुआ, उदय में आ गया। आचार्य जयसेन स्वामी 'समयसार' में कहते हैं कि जैसे काम से पीड़ित व्यक्ति कामासक्त हुआ। जब तक उसके शरीर से वीर्यपात नहीं होता, तब तक तीव्र झुलसता है। जैसे ही उसके शरीर से धातु का क्षय प्रारंभ हुआ, वो कितनी भी कोशिश कर ले, अपनी धातु को रोक नहीं पाता है। उस पतन के काल में ही पश्चाताप शुरू हो जाता है। ऐसे ही कर्म का जब अबाधाकाल पूरा हो जाता है, तो उसको उदय में आने से कोई रोक नहीं सकता है। फिर संक्रमण नहीं हो सकता है।

भो ज्ञानी! कर्म का विपाक आपसे कहता है कि जब तक हम उदय में नहीं आये हैं तब तक आप हमारा संक्रमण कर सकते हो, उत्कर्षण या अपकर्षण कर सकते हो। जिस दिन हम भुज्यमान में आ जायेंगे, फिर आप कुछ भी नहीं कर पाओगे। बद्धमान कर्म का उत्कर्षण भी होता है, अपकर्षण भी होता है, संक्रमण भी होता है। लेकिन भुज्यमान को तो भोगना ही पड़ेगा। पुण्य का फल भोगना पड़े, यह नियम नहीं है, परन्तु प्रकृति अपना काम करेगी। जैसे चक्रवर्ती के पुण्य का उदय है, भोगसामग्री उसके पास होगी, उसने संयम धारण कर लिया तो आप यह नहीं कह सकते कि उसके पुण्य का फल समाप्त हो गया। संयम के काल में पुण्य यशरूप आकर खड़ा हो गया, वह पुज रहा है। जैसे बहुत सारे मुनिराज, आचार्य हैं। जिसका राजयोग है, वह दीक्षा लेने के पश्चात भी त्यागियों, श्रावकों पर राज

कर रहे हैं। गृहस्थ अवस्था में होते तो रागियों पर राज करते। लेकिन ध्यान रखना, ये आचार्यपद या राज करना मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग तो रत्नत्रय धर्म मात्र है। संत-शरीर मोक्षमार्ग नहीं है। संत-वेश मोक्षमार्ग नहीं है। संतस्वभाव ही मोक्षमार्ग है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव अगले कलश में कह रहे हैं।

अथ विविधविकल्पं पञ्चसंसारमूलंशुभमशुभसुकर्म प्रस्फुटं तद्विदित्वा।
भवमरणविमुक्तं पञ्चमुक्तिप्रदं यं तमहमभिनमामि प्रत्यहं भावयामि॥ कलश 168॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि विभाव से हटकर स्वभाव प्राप्ति का लक्ष्य बनाते हैं। ऐसा कौन-सा जीव होगा जो विभाव से मुक्त होने की भावना नहीं भायेगा, जो अनेक विकल्पों से मुक्त होने की भावना नहीं भायेगी, जो नाना प्रकार के विकल्प हैं, यह पंचसंसार का मूल हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ऐसे पांच प्रकार के संसार का मूलकारण अनेक भेदरूप शुभ-अशुभ कर्म हैं। अशुभ से बचने का एक सुन्दर उपाय है। जब अशुभ भाव हों तो अशुभ भावों को जानो। अशुभ भावों को नहीं जानने के कारण अशुभ क्रिया हो जाती है। जैसे कोई आपके घर पर पत्थर फैकने वाला था, आपने देख लिया तो उसकी हिम्मत नहीं पड़ती है। जो तुम्हारे ऊपर गिरने वाला था, वह कहीं और गिर जाता है। ऐसे ही जो क्षयोपशम की शक्ति विकार पर जा रही थी, वह शक्ति मुड़ करके अविकार में चली गई। जैसे कोई बादल आया, तो लगा कि यहाँ बरसेगा, पर तेज हवा आई तो बादल कहीं दूसरी जगह जाकर बरस गया। यही तेरे परिणामों की दशा है कि समय टाल दो। यदि जीव एक अंतर्मुहूर्त तक कषाय टाल दे, तो कषाय बदल जाती है, क्योंकि कषाय एक अंतर्मुहूर्त तक ही ठहरती है। एक मुहूर्त सम्भल गया, तो समझ लो कि आप संभल गये।

भो ज्ञानी! कर्म आपको संभलने का मौका देता है। अबाधाकाल का अर्थ ही है कि आप संभल जाओ। पर आज तक नहीं संभले, इसलिये इस पंचमकाल तक पहुँच गये। आचार्य-भगवान् कह रहे हैं कि जन्म-मरण से रहित पंचमगति अर्थात् मुक्ति को प्रदान करने वाला जो शुद्धात्मा है, प्रतिदिन उसकी भावना करो, उसके प्रति आदरभाव रखो, नमस्कार करो।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : शुद्ध निश्चयआलोचना के अधिकार का उपसंहार

गाथा : मदमाणमायलोहविवज्जियभावो दु भावसुद्धि त्ति।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं॥ 112॥

संस्कृत छाया : मद-मान-माया-लोभ-विवर्जितभावस्तु भावशुद्धिरिति।
परिकथितो भव्यानां लोकालोकप्रदर्शिभिः॥ 112॥

अन्वयार्थ : (मदमानमाया लोभ विवर्जित भावः तु) मद-मदन, मान, माया और लोभ रहित ही (भावशुद्धिः) भावशुद्धि है (इति) ऐसा (लोकालोक प्रदर्शिभिः) लोक और अलोक को देखनेवाले जिनेन्द्रदेव ने (भव्यानां) भव्यों को (परिकथितं) कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परम आलोचना अधिकार के अंतर्गत माध्यस्थ भाव की चर्चा की।आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका में यह संकेत दिया कि पंचम भाव को प्राप्त करना चाहता है तो पंचमगति के हेतुभूत जो संयम है, उसकी आराधना करो। पंचमभाव यानि परम पारिणामिक भाव और पंचम गति यानि विशुद्ध गति और पंचम संयम यानि यथाख्यात संयम। जब तक यथाख्यात संयम नहीं है, तब तक कितनी ही बातें करना, लेकिन पंचमगति संभव नहीं है। इस कलिकाल में, पंचमकाल में सामायिक चारित्र ही पलता है, यथाख्यात चारित्र की, संयम की गंध भी नहीं है। आगम में पांच संयम कहे गये हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात। पंचमकाल में दो ही संयम हैं, सामायिक और छेदोपस्थापना। छठवें से नवमें गुणस्थान तक सामायिक-संयम चलता है। मात्र छठवें-सातवें गुणस्थान में परिहारविशुद्धि संयम होता है। परिहार विशुद्धि आगे नहीं होगा। दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म साम्पराय नामक चारित्र होता है। यहाँ कषायें सूक्ष्म हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से यथाख्यात संयम प्रारंभ होता है और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में परम यथाख्यात चारित्र होता है। इसलिये पंचमकाल में होने वाले जीव अभागे हैं।

परिहार विशुद्धि यद्यपि छठवें-सातवें गुणस्थान में होता है, पर पंचमकाल में वह नहीं होगा। परिहार विशुद्धि संयमधारी तीस वर्ष तक राजसुख भोगता है। तीस वर्ष होते ही जैनेश्वरी दीक्षा ले लेता है। दीक्षा लेने के उपरान्त तीर्थंकर के पादमूल में बैठकर नौवें प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करते हैं। वह मुनिराज गव्युति-प्रमाण अर्थात् दो कोस प्रतिदिन विहार करते हैं। चातुर्मास का कोई नियम उनके लिये लागू नहीं होता। क्योंकि विशुद्धि के कारण उनको ऐसे

संयम की सिद्धि रहती है जिससे किसी की हिंसा नहीं होती, किसी जीव का घात नहीं होता। इसे परिहार विशुद्धि संयम कहते हैं। आगे के गुणस्थानों में क्यों नहीं होता परिहार विशुद्धि? क्योंकि आगे के गुणस्थान में हिंसा का कोई प्रसंग नहीं बनता। सातवें गुणस्थान के आगे के सभी गुणस्थान ध्यान के हैं। गमनागमन, आहार, निहार, विहार ये सब छठवें गुणस्थान तक ही हैं। झूलते रहते हैं छठवें, सातवें में, पर क्रिया छठवें में ही होती है। छोटे-मोटे घराने का परिहार विशुद्धि का धारक नहीं हो सकता, क्योंकि सिद्धान्त के अनुसार राज्यसुख चाहिये। तीस वर्ष तक विशेष सुख भोगेगा, इसके बाद परिहार विशुद्धि संयमी बनेगा। पंचमकाल में परिहार विशुद्धि संयम नहीं होता। गुणस्थान तो है, पर तीर्थंकर का पादमूल भी चाहिये, वो नहीं है। पादमूल में ही प्रत्याख्यान पूर्व का अध्ययन करेंगे।

भो ज्ञानी! पंचमकाल में दो ही संयम होते हैं, सामायिक और छेदोपस्थापना। पंचमकाल में पंचमसंयम नहीं होता, पंचमभाव नहीं होता, इसलिये पंचमगति भी नहीं होती। परन्तु पंचमकाल में पंचमभाव की साधना तो होती है। आपको करना चाहिये, क्योंकि पंचम भाव की प्राप्ति एक-दो भव में नहीं होती। पंचमभाव की प्राप्ति में तीर्थंकर-जैसे पुण्यात्मा जीव को दस-दस भव लग गये, तब पंचमभाव प्रकट हुआ। पंचमभाव अर्थात् परमपारिणामिक भाव। परम पारिणामिक भाव यानि सिद्धस्वभाव। आत्मा का जो शुद्ध जीवत्वभाव है, वह पंचमभाव, परम पारिणामिक भाव है। जो आत्मा का परिहार स्वभाव है, वो वचन के अगोचर है, वो अनुभूति का विषय है। इस बात को पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं।

अथ सुललितवाचां सत्यवाचामपीत्थं
न विषयमिदमात्मज्योतिराद्यन्तशून्यम्।
तदपि गुरुवचोभिः प्राप्य यः शुद्धदृष्टिः
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः॥ कलश 169॥

जो परमश्री, मुक्तिश्री, वही है कामिनी। उस मुक्तिकन्या के कंत बनना चाहते हो तो ज्ञानी! शुद्ध आत्मा का ध्यान करो। यह आत्मज्योति जिसका कोई आदि नहीं है, जिसका अंत नहीं है। वह सुन्दर ललित वचनों का विषय नहीं है।संगीत कर लो, भजन गा लो, आत्मा के सुंदर-सुंदर शब्द सुन लो, परन्तु आत्मा वचनों का विषय नहीं है। यहाँ तक कि सत्यवचनों का विषय नहीं है, असत्य की तो छोड़ो। वह शुद्धात्मज्योति सत्यवचनों के भी गोचर नहीं है। फिर भी गुरुओं के वचन के प्रसाद से सम्यग्दृष्टि जीव उस आत्मज्योति को प्राप्त कर लेता है और कामिनी कामरूपा मुक्तिश्री का स्वामी हो जाता है। यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि ललित-वचन का विषय नहीं है, सत्य-वचन का विषय नहीं है, परन्तु गुरुप्रसाद

का विषय है। वचनों से आप सुन सकते हो, ललित वाणी को कर्ण का विषय बना सकते हो, परन्तु अनुभूति का विषय, जो गुरु अनुभव कर रहे हैं, वो ही बता सकते हैं। देशनालब्धि भी सम्यक्त्व प्राप्ति का साधन है।

भो ज्ञानी! जैसे शुद्धात्मा में लवलीन योगी के लिये अर्घावतारण, असिप्रहारण में सदा समता की दृष्टि बनती है, उतनी ही एकाग्रता मंत्रसाधक की होती है। उतनी एकाग्रता लंकेश ने की थी। कितना उपसर्ग हुआ था उसके ऊपर, फिर भी एकाग्रता के कारण विद्या सिद्ध हुई थी। मंत्रसाधक बड़ा एकाग्र होता है। यदि वह आत्मसिद्धि करने लग जाये, तो उसको बहुत जल्दी सिद्धि होगी। यह मंत्र जो है शब्दसिद्धि है, परन्तु मंत्र से भी ऊपर निकल जाये, वह आत्मतंत्र है। मंत्र में द्वैत भाव होता है। मंत्रसाधना द्वैत साधना है और आत्मसाधना अद्वैत साधना है। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने 'वृहद् द्रव्यसंग्रह' में लिखा है कि पैंतीस, सोलह, पांच आदि अक्षरों के जाप कर रहे हो तो ध्यान रखो, पहले गुरु का उपदेश प्राप्त कर लेना। गुरु-उपदेश से तात्पर्य जो उस विषय (मंत्रशास्त्र) का ज्ञाता हो। कोई मुनिराज इस विषय को नहीं जानते हैं तो वे उसका उपदेश न करें। हम तो धर्म के गुरु हैं, उस विषय के गुरु नहीं हैं। यदि उस विषय का ज्ञान नहीं है, तो मंत्र आदि में प्रवेश न करे। आप भगवान् की माला फेरना चाहते हो, अवश्य फेरो आत्मकल्याण के लिये, परन्तु सिद्धि करने मत बैठ जाना। आत्मसिद्धि सबसे बड़ी सिद्धि है, अतः आदि व अन्त से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करो।

जयति सहजतेजः प्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः।
विषयसुखरतानां दुर्लभः सर्वदायं
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः॥ कलश 170॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यह आत्मा अपने सहज तेज से युक्त, स्वभाव से ही तेजवान् है, कांतिवान् है। जिसने राग के अंधकार को नष्ट कर दिया है, ऐसी आत्मा जयवंत हो। यह आत्मा मुनियों के, मनुष्यों के गोचर है। भैया! जैसी ललक आपको व्यापार या नौकरी के प्रति होती है, वैसी ललक पंचपरमेष्ठी के प्रति हो जाये, शुद्धात्मा के प्रति हो जाये। लोक में दो ही शरण हैं। व्यवहार से पंचपरमेष्ठी और निश्चय से शुद्धात्मा।

भो ज्ञानी! जिसको तनाव में डालना हो, उसको जिम्मेदारियाँ सौप दो। सलाहकार वह होते हैं, जिनके पास जिम्मेदारियाँ नहीं होती हैं। जिस दिन जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं, वे सलाह देना बंद कर देते हैं, फिर उनकी समझ में आता है कि कैसे करना पड़ता है। जब तक पिता नहीं बनता, तो बेटा पिता के बारे में समझाता है कि ऐसा होना चाहिये और जब जिम्मेदारी

आती है, तब मालूम चलता है। खाली गाड़ी दौड़ती है तो आवाज ज्यादा करती है, भरी गाड़ी शांति से गुजर जाती है। यदि कोई जीव ज्यादा बोल रहा हो, तो उसको समझाओ मत, जिम्मेदारी सौंप दो। गृहस्थों को शुद्ध आत्मतत्त्व का वेदन नहीं हो पाता है, क्यों? जिम्मेदारियाँ बेचारे के पास ज्यादा रहती हैं। उसके पास इतना समय ही नहीं रहता है कि अपने विषय में सोच पाये। जिसके पास कोई जिम्मेदारी नहीं, खाली बैठा हो, तो उसे जो विषय दे दो, उसमें प्रवेश कर जायेगा। इसलिये शुद्धात्म में लीनता का हेतु साधु को कहा जाता है।

भैया! विद्वान्-पंडित अक्सर गरीब देखा जाता है, क्यों? जिन्हें विद्या का व्यसन लग जाता है, वह छोड़ा नहीं जाता। दिन में घंटे तो चौबीस ही होते हैं, अब विद्याध्ययन करे कि पैसे कमाये? पैसा कमाने वाले विद्वान् नहीं होते क्योंकि उन्हें विषय का गहरा ज्ञान नहीं होता, क्योंकि पैसा कमाने के लिये कुछ ऊपरी कलायें सीखनी पड़ती हैं। जिसका मन विद्याध्ययन, चिन्तन में लगा है, उसे पैसा कमाने की विद्या नहीं आती। इसलिये सामान्य रूप से समाज की सेवा करने वाले विद्वान् मिलते हैं। जिनके पुण्य तेज थे, उन्हें सर्विस मिल गई, तो स्थिति ठीक-ठाक रहेगी। आप पुरानी पीढ़ी में चले जाओ, उनके पास विद्याध्ययन से समय ही नहीं बचता था कि संपत्ति कमा सकें। विद्याध्ययन में तुम संपत्ति नहीं जोड़ पाओगे, इसी तरह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में तुम अन्य संपत्ति में नहीं जा पाओगे, क्योंकि समय तुम्हारे पास उतना ही है, चाहे धन इकट्ठा करने में लगा लो, चाहे प्रपंच में लगा लो, चाहे स्वात्म चिन्तन या अध्ययन में लगा लो। ये भी हो सकता है कि ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम बहुत तीव्र हो और लाभ-अंतराय कर्म का क्षयोपशम न हो।

भो ज्ञानी! 'धर्म-रत्नाकर' ग्रन्थ में श्रावकों के लिये लिखा है कि आप विद्वान् का सम्मान नहीं रखोगे तो कोई माता-पिता अपने बेटे को विद्वान् नहीं बनायेगा। जब कोई विद्वान् नहीं बनायेगा तो आपको अपने बेटे के फेरे भी लगवाने होंगे तो 'मंगलं भगवान् वीरो' की जगह कुछ और सुनना पड़ेगा। भगवान् की प्रतिष्ठा, मूर्तियों के संस्कार कौन करायेगा? विद्वानों को त्यागियों का सम्मान रखना चाहिये। त्यागियों को भी विद्वानों का सम्मान रखना चाहिये। गृहस्थ का काम गृहस्थ करे, साधक का काम साधक करे, तभी सामंजस्य बनेगा।

भो ज्ञानी! जितने सिद्धक्षेत्र हैं, अधिकांश उत्तरभारत में हैं। दक्षिणभारत ने आचार्य-परम्परा को जीवित रखा है, पर उत्तरभारत ज्यादा प्रशस्त क्यों है? दक्षिणभारत में आचार्य-परम्परा चलती है और उत्तरभारत में तीर्थंकर-परम्परा चल रही है। तीर्थंकरों का उद्भव हुआ उत्तर में, वाणी खिरी उत्तर में और वाणी की रक्षा हुई दक्षिण में। भो ज्ञानी! जबतक मुनिमन नहीं बनेगा, तब तक शुद्धात्मा नहीं झलकेगी, क्योंकि वो शुद्ध में भी शुद्ध है, ये मुनिराजों के गोचर

है। विषयसुख में आसक्त हुये जीवों को सदैव दुर्लभ है। शुद्धात्मा कैसा है? परमसुख का समुद्र है। जिसने निद्रा को भी जीत लिया है, ऐसा शुद्धज्ञानस्वरूप जयवन्त हो, जयशील हो। सबसे प्रचंड कोई शत्रु है, तो निद्रा पिशाचिनी है। जीते-जी व्यक्ति को मरणतुल्य कर देती है। कितने हमारे शुभोपयोग/शुद्धोपयोग के समय को खा जाती है। सामायिक कर रहा था, ध्यान कर रहा था, कि निद्रादेवी आ गई। मूलाचार, भगवती आराधना में कहा है कि निद्रा से बड़ा शत्रु साधक का कोई नहीं है, जो मरणतुल्य कर देती है। निद्रा में आस्रव होता रहता है। नींद में खोटे संस्कार के कारण खोटे स्वप्न आते हैं। यदि अच्छे संस्कार हैं, तो अच्छे स्वप्न आते हैं, पर आस्रव-बंध तो निरन्तर है। कुछ स्वप्न पूर्व-संस्कारों के कारण आते हैं, कुछ स्वप्न वर्त्तमान में तुम जिस विषय में लिप्त हो उसके आते हैं। स्वप्न तो कई प्रकार के, कई कारणों से आते हैं। परन्तु कुल मिलाकरके संस्कारों को निर्मल रखने की आवश्यकता है।

भो ज्ञानी! यदि निद्रा को जीतना चाहते हो तो चिन्ता करने लगो। जैसे कि घर में सयानी बेटी हो, शादी करने के लिये पैसा नहीं हो, सिर पर कर्ज हो, कलह करनेवाली नारी हो, इतनी सारी बातें हों, तो देखना कितनी अच्छी नींद आती है? नींद नहीं आती है। जैसे सयानी लड़की का पिता शादी की चिन्ता में नींद को खो देता है, ऐसे ही साधु/योगी मुक्तिकन्या से शादी करने के लिये इतना चिन्तारत होता है कि नींद खो जाती है। इसकी चिन्ता चिन्तनरूपी होती है। गृहस्थ की चिन्ता आर्त्तध्यान रूप होती है और साधु की चिन्ता धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान रूप होती है। गृहस्थ की चिन्ता पराधीन और योगी की चिन्ता स्वाधीन होती है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि चिन्ता करो। यदि इतना गहरा चिन्तन बने, तो नींद नहीं आयेगी, अपने आपको भूल जाओगे कि नींद होती है कि नहीं। इसे जित्निद्रा कहा है।

परम आलोचना अधिकार के उपसंहार रूप में आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 112वीं गाथा में कह रहे हैं कि जिसने मद यानि अहंकार, मदन यानि कामवासना, माया और लोभ का विसर्जन कर दिया है, उसी के भावशुद्धि होती है। मायापूर्वक लोभ होता है और मानपूर्वक क्रोध होता है। ये सब परिग्रह संज्ञा में समाविष्ट हो जाती हैं। जिसने इनको छोड़ दिया है, कितने समय के लिये छूटा है? कुछ समय के लिये कषायों में मंदता आती है और भावशुद्धि इनके अभाव में होती है। एक का भी उदय होगा तो भावशुद्धि नहीं होगी। परिणामों की निर्मलता का नाम ही विशुद्धि है? ऐसा 'पाण्डव पुराण' में कथन है। विदुर कौरवों को समझा रहा है। दुर्योधन विदुर के पास यह पूछने को गया था कि आप ऐसा उपाय बतायें कि मैं निश्चिन्त होकर राज्य कर सकूँ और पाण्डवों को कुछ भी न दूँ। विदुर समझा रहे थे दुर्योधन

को, यह आगम वचन है कि परिणामों की निर्मलता ही विशुद्धि है और विशुद्धि के अभाव में कोई कार्यसिद्धि नहीं है। उचित यह है कि राज्य के दो भाग करो, एक पाण्डवों को दे दो और आप निश्चिंत होकर राज्य करो। दुर्योधन बोले कि रहते तो हो मेरे राज्य में और पाण्डवों के प्रति भाव छिपे हुये हैं। वास्तव में यही होता है कि कोई किसी के राज्य में रह कर उसके गुण भले ही गाये, पर हृदय से सत्य की ही गवाही देता है।

भो ज्ञानी! राग बड़ा ही कठोर होता है, क्या-क्या नहीं करा देता है। मल में भी मुख लगा देता है। जघन्य स्थान में भी मुख लगा देता है। दूसरे के बेटे के चेहरे को देख करके यूँ कर लेते हो और स्वयं के बेटे का मल उठाकर हाथ से फेंक देते हो। सौतेली माँ से पूछना जो सौतेले बेटे को कैसे देखती है और अपने बेटे की नाक साड़ी से पोछ लेती है। यह मल नहीं था क्या? राग के पीछे मल के पिण्ड को भी अपना कहता है। यह शरीर तो मल का ही पिण्ड है। आप कहते हो मेरा बेटा, मेरा बेटा। बेटा भले न कहे कि आप मेरे हो। किस में राग है? इस मल में, शरीर में राग है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी परम आलोचना अधिकार के उपसंहार में कह रहे हैं कि तीव्र चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के बल से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद तीनों वेदों की वासनायें कंडे के तुल्य हैं, घास की अग्नि के तुल्य हैं। कुछ जीवों के विकार मात्र द्रव्य में नहीं, भाववेद में भी होते हैं। कुछ ऐसे पुरुष भी हो सकते हैं जिनको समलिंगी में रमण के भाव आते हैं अर्थात् स्त्री को स्त्री में, पुरुष को पुरुष में रमण के भाव आते हैं। कुछ को दोनों में रमण के भाव आते हैं। कुछ को विषमलिंगी में अर्थात् पुरुष को स्त्री में, स्त्री को पुरुष में रमण के भाव आते हैं। नेमिचंद्र स्वामी ने 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' में उल्लेख किया है।

भो ज्ञानी! जब वेदकर्म की उदीरणा सताती है, तो जीव के परिणाम संक्लेशित हो जाते हैं। जब परिणाम संक्लेशित होते हैं, तो जीव यह नहीं देखता है कि क्या गुण है, क्या दोष है, क्या मेरा यश फैलेगा, क्या मेरा अपयश फैलेगा। बुद्धिशून्य हो जाता है। जो विवेक वेद की इच्छापूर्ति के बाद उत्पन्न होता है, वो विवेक घंटा भर पहले आ जाता, तो क्या अच्छा होता। ब्रह्म में कितना सुख होता है, यह किसी ब्रह्मचारी से मत पूछना, किसी व्यभिचारी से पूछना। महाराज! वो क्या बता पायेगा? अरे! वह यह तो बता पायेगा कि अशुभ क्रिया करने के बाद कितना दु:ख होता है? उसके विपरीत जो है, वही तो सुख है। जिस शिला को अंगुली से छूने मात्र से करेन्ट-सा लग रहा है, उस पर आप बैठोगे कैसे? जिस अशुभ की सत्ता में शुभभाव स्पर्श नहीं कर पा रहा है, उस अशुभ की सत्ता में शुद्धात्म उपयोग कैसे बैठेगा? एक ज्ञानी बोले कि मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि बैठूँगा, चाहे जलता रहूँ। भो ज्ञानी!

निश्चय ही करना है तो रत्नत्रय की ओर कर लो, उपसंहार तो सुन्दर होगा। यहाँ परम आलोचना अधिकार का उपसंहार चल रहा है। भैया! आपके जीवन का भी उपसंहार चल रहा है। सुन्दर होना चाहिये।

भो ज्ञानी! यहाँ मद शब्द का अर्थ कामपीड़ा, मदन से लिया गया है, क्योंकि मद भी मद उत्पन्न करता है, मदन भी मद उत्पन्न करता है। तीव्र चारित्रमोह के उदय के बल से पुरुषवेद नामक नोकषाय का विलास 'मद' कहलाता है। शरीर की सुन्दरता से अपने में अहंकार होना 'मान' कहलाता है। गुप्त पाप से 'माया' होती है। योग्य स्थान में धन का व्यय न करना 'लोभ' कहलाता है। निश्चयनय से समस्त परिग्रह का त्याग, निज परमात्म तत्त्व के परिग्रह को छोड़कर अन्य मात्र को स्वीकार करना 'लोभ' है। इस प्रकार चारों भावरहित ही भावशुद्धि है। ऐसा अरिहन्तदेव ने भव्यों के लिये कहा है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने परमशुद्ध आलोचना अधिकार के उपसंहार के रूप में संकेत दिया कि मदन-मद, मान, माया, लोभ इन विकारी भावों का जिसने त्याग कर दिया है भावशुद्धिपूर्वक, ऐसा जीव ही लोकालोक प्रकाशक शुद्ध-अवस्था को प्राप्त करता है। यह कथन सर्वज्ञदर्शी ने भव्यों के लिये कहा है। अभव्यों के लिये नहीं कहा है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने बहुत सुंदर सूत्रों में कहा है कि मद और मदन आत्मा के दो प्रबल शत्रु हैं। मद उतरता है तो मदन चढ़ जाता है, मदन उतरता है तो मद चढ़ जाता है। मदन की फिर भी सीमा है। वह एक उम्र तक चढ़ता है, फिर उम्र ढलने पर उतर जाता है। परन्तु मद जन्म से ही चढ़ता है और मृत्यु तक चलता है। एक बालक जब जन्म लेता है तो रोता-चिल्लाता है, क्यों? तुम सब खड़े हो और मैं नीचे पड़ा हूँ। एक छोटे बच्चे को गोदी से उतार कर दूसरे बच्चे को ले लेना, वो उसकी टांग पकड़कर खींचता है। छोटा-सा शिशु भी कषाय से समन्वित है। एक वृद्ध दादाजी को किसी ने बूढ़ा कह दिया तो वे बोले कि मुझे बूढ़ा कह रहा है? मैं नहीं कह रहा हूँ, मैं तो आपको लाल कह देता, बालक कह देता, पर आपका शरीर ही कह रहा है कि वास्तव में वृद्ध हैं। वास्तव में अहंकार सत्य को नहीं कहने देता। आपसे छोटे आपका नाम नहीं ले सकते, पत्नि आज तक नाम नहीं लेती है। अहंकार ने ऐसी मर्यादा बांध दी है कि नाम नहीं ले सकते।

भो ज्ञानी! मदन की सीमा है, मद असीम है। मदन का एक रूप है, मद के आठ रूप हैं। मदन में एकमात्र नोकषाय चलती है, मद में अनंतानुबंधी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, संज्जवलन चारों कषायें चलती हैं। मदन चारित्र का घात करता है। मद ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों का घात करता है। हानिकारक दोनों ही हैं। आत्मा में अहंकार का भाव आना ही 'मान'

है। जो मान को पी लेता है, अच्छा है, परन्तु कर्मबन्ध तो होगा। अच्छा हुआ आपने मात्र अपना घात किया है। जो पीना नहीं जानता, वो दूसरे का भी घात कर देता है और स्वयं का भी घात करता है। अंगारे को उठाया, तब स्वयं का हाथ जला और अंगारे को दूसरे पर फेंक दिया, तो वो भी जला। भो ज्ञानी! क्रोध का अंगारा फेंकने में तुझे हिंसा नहीं लगती क्या? कितने क्षण उसके परिणाम कलुषित रहेंगे? कितने क्षण तक उसकी विशुद्धि का ह्रास हुआ? आप उसके आस्रव के निमित्त बने, आपको पाप नहीं लगेगा क्या? लगेगा। यह वीतरागवाणी है, यहाँ अग्नि को दूसरे पर फेंकने को पाप तो कहा ही है, परन्तु कषाय को दूसरे पर फेंकने को महापाप कहा है। आपने किसी को कुपित होकरके डाँट दिया, उसकी हालत गंभीर हो गई। आपने कहा कि मैं तो उसके पास गया नहीं। ज्ञानी! बाण दूर से ही चलाये जाते हैं, पास में जाकर नहीं। बाण तो मात्र शरीर को बींधता है, पर शब्दबाण हृदय को भेद देता है। जैसे अस्त्र को फेंकने में हिंसा है, ऐसे ही अशुभ वचनों को फेंकना हिंसा है।

आचार्यभगवान् माया की परिभाषा बताते हुये कह रहे हैं कि माया अर्थात् गुप्त पाप। गुप्तरूप से किया गया पाप। बिना माया के पाप होते ही नहीं हैं। किसी ने भोजन करने का मन बनाया, लेकिन मर्यादा रखना चाहते थे कि बच्चे देख न लें। बाहर से आया था, रात्रि में खाना चाहता था। सो पत्नि से कहा कि थोड़ा रुक जाओ, बच्चों को सो जाने दो। बच्चे सो गये, आपने भोजन कर लिया। यहाँ बच्चों से प्रयोजन नहीं है, तेरी कषाय से प्रयोजन है। परिणाम तुम्हारे छुपाने के थे। इसे किसी भी विषय पर लगा देना। मायाजन्य कषाय का आस्रव होगा। आप कहो कि बच्चे तो हमारे थे, तो आपका और बच्चे का पर्याय मात्र का संबंध है। वो पर्यायी कहीं दूसरी पर्याय में जायेगा, फिर नहीं कहोगे कि मेरा बालक है। बालक तो छोड़ो, जीवन में किसी तिर्यंच के सामने भी पापाचार नहीं करना। भो ज्ञानी! नकुल, सिंह, शूकर आदि ने मुनि की चर्या को देखा, अनुमोदना की। वही जीव भरत, वृषभसेन आदि महापुरुष हुये। जब तुम्हारी शुभ प्रवृति की अनुमोदना एक तिर्यंच कर सकता है तो तुम्हारी अशुभ प्रवृत्ति का धिक्कार भी तिर्यंच कर सकता है।

'मरणकंडिका' में एक कथा आती है। महाराजा और महारानी चौपड़ खेल रहे थे। तोते का पिंजरा रनिवास में ऐसा था कि जब रानी की जीत होती, तो रानी के अच्छे भोजन कराने के राग के कारण प्रसन्नता से चीखता था। रानी को लगता था कि मेरे पक्ष में तोता है, तो उसका उत्साह बढ़ जाता था। तोता राजा के पक्ष में कुछ नहीं कहता था। राजा सोच रहा था कि मैं हार जाऊँगा और वास्तव में हार ही गया। जब हार गया तो उसको इतनी गुस्सा

थी कि तोते को पिंजरे से निकालकर उसकी गर्दन मरोड़ दी। तोता आर्त्तध्यान से मरण कर व्यंतर देव हुआ। कालांतर में राजा ने दीक्षा ले ली। जब वे मुनिराज तपस्या कर रहे थे, तब तोते के जीव व्यंतर ने आकर घोर उपसर्ग किया।

भो ज्ञानी! यदि निर्विकल्प साधना करना चाहते हो तो कभी किसी से बैर रखकर नहीं चलना, क्योंकि आप पार्श्वनाथ नहीं हो, इतनी सामर्थ्य तुम्हारे पास नहीं है। कहीं साधना के बीच कोई विध्न करने आ गया और आप समता नहीं रख सके, तो आपने अपना घात किया और नमोस्तु शासन का घात किया। लोग यह नहीं कहेंगे कि मुनिराज पर उपसर्ग किया। लोग कहेंगे कि साधु का धर्म होता है, उपसर्ग सहन करना चाहिये। इसलिये जिन जीवों को निर्मल साधना करना है, उन्हें किसी जीव के साथ वैर बाँधके नहीं चलना चाहिये। यदि कुछ भी हो जाये तो इन्हें क्षमा कर देना। एक समय का भी विलम्ब नहीं करना। क्योंकि भव का कोई भरोसा नहीं है।

माया बहुत तीखी कषाय है। जैसे बांस की जड़ को पकड़ना बहुत कठिन होता है, ऐसे ही मायाचारी की बातें बहुत घूमी-घूमी होती हैं। सीधे कुछ नहीं कहता है, घुमाफिराकरके कहता है। घर में नमक रखा है, और कह रहे हो कि कल नमक ले आना, खत्म हो गया है। सीधे से क्यों नहीं कहते कि चार दिन का है, ले आना, पाँचवे दिन समाप्त हो जायेगा, इसलिये पहले से ले आना। पूर्व की पर्याय में मायाचारी की तो स्त्रीपर्याय मिली। अब कहाँ जाना चाहते हो? आपने पूर्व में स्त्रीपर्याय का बंध नहीं किया था, मनुष्य पर्याय का बंध किया था, पर मायाचारी करने के कारण मनुष्यनी बनना पड़ा। चाहे मायाचारी स्वयं करो, दूसरे से करवाओ, अनुमोदना करो, बन्ध होगा। मायाचारी स्वयं करने से तिर्यंच पर्याय का बन्ध होता है। माया जो कषाय है, वह मोह से ग्रसित रहती है। माया रागरूप कषाय है। इसलिये गुप्त पापक्रिया करना माया है।

आचार्यभगवान् लोभ के विषय में बताते हुये कह रहे हैं कि योग्य स्थान पर धन का व्यय नहीं करना लोभ है। किसी ने कहा कि सेठ जी! जिनालय बनवा दो, प्रतिमा दान कर दो। आपने कहा कि नहीं कर पाऊँगा। कोई अनुपयुक्त स्थान है, लेकिन वहाँ नाम होगा, तो वहाँ व्यय कर दिया। यह लोभकषाय है। लोभ का त्याग करना दान है, द्रव्य का देना मात्र दान नहीं है। लोभकषाय के त्याग का नाम दान है। यदि दान में लोभी है तो मालूम क्या कहेगा? खरीदा है। किसी ने कमरे हेतु दान बोला, जाकर देखा कि नाम का पटिया नहीं लगा है, तो बोले कि मैं दान नहीं दूँगा। आजकल जो तीर्थ स्थापित हो रहे हैं, दान से नहीं हो रहे हैं, नाम के लोभ से स्थापित हो रहे हैं। ज्ञानी! सम्मान का लोभ, यश का लोभ भी

लोभ ही है। आगम के अनुसार, अनुग्रह के लिये जो स्वयं का द्रव्य दिया जाता है, उसका नाम दान है। अनुग्रह किसका? स्व और पर का। जिसने दिया है उसकी कषाय घटी है, इसलिये स्वयं का उपकार हुआ। दिया है सुपात्र को, उस सुपात्र ने आपके द्रव्य से धर्मसाधना की है, इसलिये उसने आपका भी उपकार किया है।

भो ज्ञानी! आगम में चार प्रकार के दान कहे गये हैं। पैसे को कहीं दान नहीं लिखा है। यह तो लिखा मिलेगा कि अमुक व्यक्ति ने जिनालय का निर्माण आदि कराया। परन्तु किसी को धन दिया, यह लिखा नहीं मिलेगा। औषधि, शास्त्र, अभय और आहार, ये चार प्रकार के दान कहे गये हैं। दान अपनी शक्ति के अनुसार करता है। न किसी से लेता है, न किसी को देता है। स्वयं करता है। आचार्य शुभचंद्र स्वामी लिखते हैं कि संतान को जन्म दिलाना, निर्ग्रन्थ गुरु के हाथ पर ग्रास रखना, जिनेन्द्र के चरणों में द्रव्य चढ़ाना, ये तीनों नौकरों से नहीं कराया जाता। किसी से करवाने पर जिनवाणी उसे दान नहीं स्वीकार करती। आप व्यवस्था में किसी को सहयोगी तो बना सकते हो, परन्तु वास्तविक स्थिति ये है कि स्वयं देना चाहिये। अपने द्रव्य का ही दान दिया जाता है, दूसरे के द्रव्य का नहीं दिया जाता है। यह अन्य धर्म की व्यवस्था है कि इतने पैसे दो, हम तुम्हारे तरफ से पूजा-हवन आदि कर देंगे। अपने यहाँ यह नहीं है।

भो ज्ञानी! ये संसार विचित्र है। वो किसी को नहीं छोड़ता, सब को प्रभावित करता है। इसलिये अपने हाथों से उत्तम क्रिया करना। आपने पाप अपने हाथों से किया है, तो प्रक्षालन भी अपने हाथों से करना पड़ेगा। स्वयं का किया हुआ कर्म स्वयं को ही फलित होगा। दूसरा कोई कराने लग जाये तो स्वयं का किया हुआ व्यर्थ हो जायेगा। ईश्वरवाद खड़ा हो जायेगा। जीव कमाता है लोभ से, गँवाता है मान से और इनाम में पाता है आस्रव। लोभ से कमाया, मान से गँवाया और पुरस्कार में आस्रव पाया। इसलिये लोभ नहीं करना। करना हो तो आयुकर्म का लोभ करना। यह पूरा भोगों में गवाँ नहीं देना। इसको कुछ पुण्य में भी लगा देना। परमाणु मात्र भी परद्रव्य को स्वीकारना लोभ है। निश्चय से संपूर्ण परिग्रह का त्याग है जिसका लक्षण, ऐसा निरंजन निज परमात्मतत्त्व के परिग्रह के अतिरिक्त किसी को ग्रहण नहीं कर रहा है।

लोभ की दो परिभाषायें हैं। एक सामान्य व्यवहारिक और एक आध्यात्मिक। उपयुक्त स्थल पर लोभकषाय के वश होकर व्यय नहीं करना, लोभ है। एक क्रियारूप अवस्था है। संपूर्ण परिग्रह का त्याग है परमार्थ स्वभाव। उस परमार्थ निरंजन स्वभाव को न ग्रहण करके अन्य परमाणु मात्र को स्वीकार कर रहा है, परद्रव्य को स्वीकारने की भावना रखता है, वो लोभ है। लोभ की परिभाषा कह रही है कि परद्रव्य को स्वीकारो ही मत, और स्वीकार कर

लिया है तो उसको छोड़ दो। एक में लोभ को स्वीकारा ही नहीं जा रहा है, दूसरे में लोभ को छुड़ाया जा रहा है। पहली परिभाषा कह रही है कि लोभ छोड़ दो। दूसरी परिभाषा कह रही है कि लोभ करो ही मत। यदि आपने स्वीकार कर लिया है, तो सद्स्थान में दान कर दो। गौरव की प्राप्ति दान से होती है, इसलिये यदि स्वीकार लिया है, तो छोड़ दो। जब तक बादल बरसते नहीं हैं, तब तक काले रहते हैं। पर जब जल छोड़ देते हैं, तो सफेद हो जाते हैं। यदि आपको हृदय को सफेद करना है, तो तुमने जो इकट्ठा कर रखा है उसको छोड़ना शुरू कर दो।

भो ज्ञानी! भावों की शुद्धि करना है तो चारों परभावों को छोड़ दो। जब तक चार कषायों में से एक भी कषाय रहेगी, जबतक मद, मान आदि परिणाम रहेंगे। विकारभाव रहेंगे तब तक भावशुद्धि नहीं होगी। जब तक भावशुद्धि नहीं होगी, तब तक शुद्धोपयोग की दशा नहीं बनेगी। भावशुद्धि बनाना है तो अंतरंग शुद्धि करना पड़ेगी। पर बाह्य शुद्धि के बिना अंतरंग शुद्धि नहीं होगी। बाहर से छोड़ना नहीं चाहता है और धीरे से कहता है महाराज जी! मेरा अंतरंग शुद्ध है। ज्ञानी! अंदर से शुद्ध हो और बाहर से न दिखे, ऐसा नहीं हो सकता है। भैया! पहले रक्त अशुद्ध होता, कि फोड़ा होता है? रक्त अशुद्ध न हो, तो फोड़ा कभी हो नहीं सकता। जिसको फोड़ा-फुन्सी नहीं, समझ लो कि उसका रक्त शुद्ध है। जिसके फोड़ा-फुन्सी दिख रहे हैं, उसका रक्त दूषित है। तो जिनके बाह्य परिग्रह दिख रहा है, समझ लो कि अंदर कितना शुद्ध होगा। यह व्याप्ति है। अंतरंग शुद्धि बहिर् शुद्धि और बहिर् शुद्धि, अंतरंग शुद्धि। यदि किसी जीव ने अंतर्मुहूर्त भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया और फिर उसका छूट गया, नियम से वह मोक्षमार्गी बन चुका है और अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के अंदर-अंदर मोक्ष प्राप्त कर लेगा। भावशुद्धि करो, यह मत कहो कि मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि यह चार कषायें जब तक चल रही हैं, तब तक भावशुद्धि नहीं है। जब तक कषायभाव का अभाव नहीं होगा, तबतक भावशुद्धि नहीं होगी। ऐसा भगवान् अरिहन्तदेव का कथन है—

अथ जिनपतिमार्गालोचनाभेदजालं
परिहृतपरभावो भव्यलोकः समन्तात्
तदखिलमवलोक्य स्वस्वरूपं च बुद्ध्वा
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः॥ कलश 171॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि भगवान् जिनेन्द्रपति का जो मार्ग है, जिनेन्द्रदेव का जो शासन है, वह स्वर्गलोक मार्गलोचन है। ऐसे भगवानजिनेन्द्र के शासन में आलोचना के संपूर्ण

भेदों को जान करके, देख करके भव्यजीव! तू परभावों को छोड़ दे। कैसे? संपूर्ण रूप से। और जो संपूर्ण रूप से अपने स्वरूप को जान लेता है, वह परमश्री कामिनी कामरूप मुक्तिवधू का पति हो जाता है–

आलोचना सततशुद्धनयात्मिका या
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रम्।
शुद्धात्मत्त्वनियताचरणानुरूपा
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः॥ कलश 172॥

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो आलोचना सतत् शुद्धनय स्वरूप है, वह संयमियो के लिये शीघ्र ही मुक्तिमार्ग के फल को फलित करने वाली है। शुद्धात्मतत्त्व का नियत आचरण साधक को हमेशा शुद्धात्मचरण में लवलीन रखने वाला है। यह आलोचना मेरे जीवन में कामधेनु है। यह पद्मप्रभमलधारिदेव महाराज कह रहे हैं। जैसे कामधेनु विद्यारूप गाय होती है, उससे जब चाहो, जितना चाहो दूध ले सकते हो। वैसे ही यह आलोचना संपूर्ण कर्मों का प्रक्षालन करने के लिये सुन्दर कामधेनु के समान है। ज्ञानियो! इसलिये आलोचना को कभी मत छोड़ना। यहाँ पर निज-आलोचना की चर्चा है, पर-आलोचना की नहीं है। पर की आलोचना करके तुम बिगड़ ही जाओगे, साफ नहीं होगे। तुम यह सोचो कि हम इनकी आलोचना कर-करके इनको साफ करके ही छोड़ेंगे, तो भैया! धोबी को तो दूसरे के कपड़े साफ करने के पैसे मिलते हैं, तुम्हें कौन-से पैसे मिल रहे हैं कि तुम धर्म-धर्मात्मा की आलोचना में लगे हो? कर्मों के पैसे तुम्हें अवश्य मिलेंगे, इसे कोई टालने वाला नहीं है। लेकिन आश्चर्य होता है कि जीव को अपनी पर्याय का बिल्कुल विवेक नहीं है कि मेरी दशा क्या होगी? अनन्तकाल से पर की आलोचना किये, सो आज यहाँ पड़े हो। निज की निन्दा कर लेता, तो परमात्मा बन जाता। कभी कोई किसी की आलोचना करके उसे सुधार नहीं सकता है। पर की निन्दा वही करता है, जो स्वयं की प्रशंसा चाहता है। ज्ञानी! परनिन्दा से कभी स्वयं की प्रशंसा होती नहीं है। नीति कहती है कि निंदक की भी प्रशंसा करो तो तुम्हारी प्रशंसा हो जायेगी। ऐसा नहीं है कि निंदक के पास कोई गुण न हो। कहा भी है–

निंदक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिन, निर्मल करे सुभाय॥

इसलिये निंदक को कभी बुरा मत कहना। वो तो परम मित्र है। बिना कुछ लिये आपकी शुद्धता करा रहा है। निंदक जीवन में अनिवार्य है, अन्यथा तुम सतर्क नहीं रहोगे। निंदक आपका मार्ग प्रशस्त करता है। कहीं शिथिलाचार हो रहा होगा, वह आपके दोष देख रहा होगा, तो

आप और अधिक व्यवस्थित रहोगे। उसकी निन्दा से संभलकर रहोगे, तो तुम्हारी चर्या की प्रशंसा होगी। निंदक जो चाहता था, उससे उल्टा हो जायेगा। इसलिये ध्यान रखना जीवन में, निंदक! अपना हित चाहते हो तो स्वनिन्दा करना, दूसरे की निंदा कभी नहीं करना।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'प्रवचनसार' में लिखा है कि जैसे तीर्थंकर का उठना, बैठना, गमन करना सहज होता है, ऐसे ही नारी का मायाचारी धर्म सहज है। यह नारीपर्याय का दोष है कि कितने भी ऊपर पहुँच जाये, पर स्वभाव जाता नहीं है। यह नारी की आलोचना नहीं है, दुर्गुणों की आलोचना है। वैसे द्रव्य तो "अस्ति पुरुषचिदात्मा" भगवान्-आत्मा है। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि निश्चय-आलोचना कामधेनु के समान इच्छित मोक्षफलदायिनी होती है, तो लौकिक फल की बात ही क्या? वे तो मिल ही जाते हैं। तद्भव मोक्षगामी के लिये यह अलौकिक फल को देने वाली ही होती है।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने 112वीं गाथा में परम आलोचना अधिकार का उपसंहार किया। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में यह संकेत कर रहे हैं कि शुद्ध दशा को प्राप्त करना चाहते हो, वस्तुस्वरूप को समझना चाहते हो, तो संयमभाव को प्राप्त करो। जब तक संयमभाव नहीं होगा, तब तक परम शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति संभव नहीं है। संयम स्वभाव और परमशुद्ध सत्ता की प्राप्ति अविनाभाव है। कोई जीव अव्रत दशा में कितनी ही शुद्ध-स्वभाव की व्याख्या कर ले, लेकिन शुद्ध-स्वभाव की सिद्धि तो संयमभाव से होगी। जबतक संयमपना नहीं है, जब तक चित्त शांत नहीं है, वहाँ स्थिर ध्यान संभव नहीं है, निर्विकल्प साधना संभव नहीं है। संयम भाव के अभाव में शुद्ध स्वभाव का उदय नहीं होता है—

शुद्धं तत्त्वं बुद्धलोकत्रयं यद्
बुद्ध्वा बुद्ध्वा निर्विकल्पं मुमुक्षु :।
तत्सिद्ध्यर्थं शुद्धशीलं चरित्वा
सिद्धिं यायात् सिद्धिसीमन्तिनीशः।। कलश 173।।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि मुमुक्षु जीव! तीनों लोकों में जानने के लिये जो निर्विकल्प सत्ता है, उस सत्ता को समझने के लिये शुद्धतत्त्व को जान करके, उस निर्विकल्प सत्ता को प्राप्त करने के लिये शुद्ध शील का आश्रय लो। अशुद्ध शील से उस निर्विकल्प सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकेगा। शुद्धशील के आश्रय का तात्पर्य है कि जहाँ चारित्र का विकल्प समाप्त हो चुका है, जहाँ कुछ करने का विकल्प समाप्त हो चुका है। स्वभावलीनता शुद्ध शील है। ये स्त्री-पुरुष के रमण का त्याग तो पशुवृत्ति का त्याग है। स्त्री-पुरुष के परस्पर में रमण

का त्याग, ये तो सप्तम प्रतिमा में ही हो गया था। यहाँ शील से मतलब वेद-विकार नहीं है। यहाँ शील से मतलब स्वभाव की विपरीतता से हटकर स्वभावलीनता का नाम शील है। जो जीव शुद्ध शील का पालन करता है, शुद्ध शील में लीन होता है, ऐसा जीव सिद्धि-कान्ता का स्वामी होता हुआ सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है–

सानन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिंजल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम्।
शुद्धज्ञानप्रदीप प्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारं
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लङ्घने यानपात्रम्।। कलश 174।।

इस कलश में आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि आनन्दसहित तत्त्व में निमग्न हैं जो मुनिराज, उनके हृदयरूपी सरोवर में कमल के केशर के आनन्द के साथ विद्यमान है, बाधा रहित है, विशुद्ध है, कामदेव के वाणों की विशाल सेना को भस्मसात करने के लिये अग्नि के समान है और जिससे शुद्ध ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा संयमियों के अन्दर के घोर/गहन अंधकार को समाप्त कर दिया है तथा जो वीतराग मुनियों के द्वारा वंदनीय है, जो भवसागर को पार करने के लिये जहाज के समान है, ऐसे उस तत्त्व की मैं वंदना करता हूँ। यह शुद्धात्म-तत्त्व तत्त्वज्ञानी भव्य मुनिराजों को संसारसागर से पार करा देता है।

अभिनवमिदं पापं यायाः समग्रधियोऽपि ये
विदधति परं ब्रूमः किं ते तपस्विन एव हि
हृदि विलसितं शुद्धं ज्ञानं च पिण्डमनुत्तमं
पदमिदमहो ज्ञात्वा भूयोऽपि यान्ति सरागताम् ।। कलश 175।।

इस कलश में आचार्यमहाराज बहुत ही गहन बात कर रहे हैं। कोई व्यक्ति जिसने सम्पूर्ण बुद्धि को प्राप्त किया है, विशाल बुद्धि को प्राप्त किया है, ऐसा व्यक्ति किसी से कहे कि इस नवीन पाप को करो। बात को समझो। कोई व्यक्ति ज्ञानी है, पण्डित है, विद्वान् है, त्यागी है, उसके पास कोई पहुँचे और वो उससे कहे कि अभी आपकी उम्र क्या है, कुछ कर लो यानि साधक के मुँह से ये शब्द निकले कि अभी तुम पढ़-लिख लो, आगे संयम धारण करना, अभी आपने देखा ही क्या है? सामनेवाला ज्ञानी होगा, तो यही कहेगा कि महाराज जी को चारित्र भारभूत लग रहा है। चारित्रवान् जिसे चारित्र में आनन्द आता है, वह यही बोलेगा कि भैया! कल नहीं, आज ही संयम को स्वीकारो। किसी को सद्मार्ग का उपदेश देना और कहना कि तुम मोक्षमार्ग पर चलना, विषमतायें बहुत होंगी, लेकिन तुम सबको सामान्य रूप से, सहज रूप से निकाल देना। ऐसा कहना तो सम्यक्त्व है। परन्तु आप यह कहें कि भैया! यहाँ कुछ

नहीं रखा है, घर में ही साधना करो। ऐसी वाणी जिस साधक के मुख से निकल रही है, समझना कि वो धोखे में साधु बन गये। उनके मुख से ये शब्द शोभा नहीं देते। उनके मुख से तो यही शब्द शोभा देते हैं कि परीषह/उपसर्ग तो आयेंगे, लेकिन शान्ति का मार्ग यही है। सुविधाओं के लिये नहीं, व्यवस्थाओं के लिये नहीं, ये मोक्षमार्ग आत्मा को व्यवस्थित करने का मार्ग है। व्यवस्थाओं का मार्ग नहीं है, ये आत्मतत्त्व को व्यवस्थित करने का मार्ग है।

भो ज्ञानी ! जो तपस्वी के वेश में असंयम का पोषण करे, शिथिलाचार का पोषण करे, जो पिच्छि, कमंडलु, शास्त्र इन तीन उपकरणों के अलावा शेष उपकरणों के लिये किसी को प्रेरित करे, उत्साहित करे, आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि वो तपस्वी कहलाने का पात्र नहीं है। कोई सुपात्र नहीं नजर आ रहा है, तो उसे मुनिदीक्षा नहीं देंगे और मना भी नहीं करेंगे। सम्यक् है। ऐसा नहीं कहेंगे कि अभी तुम घर में ही रहो। उसकी श्रद्धा को डांवाडोल नहीं करना। यदि लगता है कि पात्रता नहीं है, तो उसे समझायेंगे, लेकिन अश्रद्धा उत्पन्न नहीं करायेंगे। जो कोई सच्चा वीतरागी भावलिंगी मुनि होगा, वो कभी नहीं कहेगा कि तुम घर में ही रहो।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' में लिखा है कि जो प्रवक्ता मुनिमार्ग का उपदेश पहले नहीं देता है, वो दण्ड का भागीदार है। सबसे पहले मुनिचर्या का उपदेश देना चाहिए। इसके बाद जब वो स्वीकार नहीं कर सकता, तो श्रावक के व्रतों की चर्चा करे। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि यहाँ आश्चर्य की बात है कि जिसके हृदय में शोभायमान हो रहा है शुद्ध ज्ञान पिण्डमयी सर्वोत्तम पद, फिर भी सरागता को प्राप्त हो जाये, तो धिक्कार हो तुम्हारी परिणति को। मुनिमुद्रा शुद्धोपयोग में लीन होने का मार्ग है, शुभ-उपयोग में लीन होने का मार्ग है और उस मुद्रा को प्राप्त करके तुम सरागता में प्रवेश कर गये। भो ज्ञानी! तूने मुनिमुद्रा की तीव्र अवहेलना की है। ये परम-अलोचना अधिकार का उपसंहार चल रहा है। यहाँ बाहरी प्रपंचों के लिए कोई स्थान नहीं दिया जा रहा है। भैया! कुछ कराने की भावना हो, तो मुनिराज बनने के पहले करा लेना। मुनिमुद्रा प्राप्त करके किसी से पैसों के लिये भीख माँगना मुनिमुद्रा के बिल्कुल विपरीत है। अयाचक वृत्ति में दोष नहीं लगाना। आचार्य समंतभद्र स्वामी 'रत्नकरंड श्रावकाचार' में मुनि की परिभाषा करते हुये कह रहे हैं–

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह :
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ।। र. क.श्रा. 10।।

जहाँ आरंभ-सारंभ हो रहा हो, निर्ग्रन्थ योगी क्या ऐसे स्थान की प्रेरणा करेगा? जहाँ एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, वनस्पति आदि, सामान्य को छोड़कर, पंच-इंद्रिय के घात की संभावना

हो, वहाँ सुनिश्चित ही हिंसा है, उसे कोई टाल नहीं सकता है। विषय-कषाय मात्र स्पर्शइंद्रिय का विषय नहीं होता। मान-सम्मान, ख्याति, पूजा की भावना भी विषय है, विषयाशा है। जितने भवन, धर्मशाला बनवा रहे हो, उसमें कौन ठहरेगा ? मुनिराज रोज नहीं आ रहे हैं। गृहस्थ उपयोग करेंगे। उनके पीछे आपने अपने व्रत में दोष लगाया। बहुत अच्छा होता कि कमरों का निर्माण करवाने के बजाय निजभवन का निर्माण करते। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव संवेद प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि मुनि सरागता को प्राप्त हो रहा है–

जयति सहजं तत्त्वं तत्त्वेषु नित्यमनाकुलं
सततसुलभं भास्वत्सम्यग्दृशां समतालयम्।
परमकलया सार्धं वृद्धं प्रवृद्धगुणैर्निजैः
स्फुटितसहजावस्थं लीनं महिम्नि निजेऽनिशम् ।। कलश 176।।

यहाँ आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जो सहजतत्त्व है, वो नित्य ही अनाकुल है। 'छहढ़ाला' में दौलतराम जी कहते हैं कि "आत्मा को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये"। आत्मा का हित कहाँ है? निराकुलता में। पंचमकाल में तू कहाँ जायेगा? एकमात्र निराकुलता का स्थान साधुवृत्ति है। यदि साधुवृत्ति में ही नाना विकल्प आने लगें, सताने लगें, तो वर्त्तमान में भरतक्षेत्र में निराकुलता का कोई स्थान नहीं बचा। एकमात्र साधुसंघ में निराकुलता है। यदि तू वहाँ भी शान्ति से नहीं जी पा रहा है, तो तुम्हें कहीं शान्ति मिलने वाली नहीं है। वहाँ भी पंथ, पक्ष का राग सताने लगा, तो धर्म का लक्ष्य समाप्त हो गया। यदि तुम्हें किसी से जुड़ना ही था, तो यह मानसिक तनाव था। जब हमने सबकुछ छोड़ दिया, तो प्रपंचों में पड़ने की क्या आवश्यकता है? यदि जुड़ना ही है, तो जिनेन्द्रवाणी/आगम से जुड़ना।

भो ज्ञानी! जो चारदीवारी से बाहर निकल आये, वो साधुस्वभाव है। यदि चारदीवारी में घिरे हो, तो अभी विशालता में नहीं आ पाये हो, कमी है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि आत्म-तत्त्व तो बहुत सुलभ है। वाह्य द्रव्य के लिये अनेक क्रियायें करनी पड़ती हैं, अपने को जानने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता, आँखें बन्द करके बैठ जाओ। भगवान् की प्रतिमा भी बनवानी होती है तो किसी दूसरे के प्रति आँख खोलके देखना पड़ता है। किसी सेठ से चर्चा करनी होगी। आपको पराधीनता में जीना पड़ेगा। परन्तु अपनी प्रतिमा को देखने के लिये सामनेवाले को देखने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि अपनी आँख बन्द करने की आवश्यकता होती है। अपनी प्रतिमा देखना है तो आँख बन्द करने की आवश्यकता होती है। अपनी प्रतिमा देखना है, तो आँख बन्द कर लो और पद की प्रतिमा देखना चाहते हो, तो हाथ पसारने ही होंगे।

भो ज्ञानी! योगी का मन मंदिर होता है, इसमें चैतन्य प्रभु विराजमान हैं। वही जिनविम्ब है। ये निश्चयदृष्टि है। स्थूलदृष्टि से 'मन' कहा है, पर वास्तव में मन भी जड़ है। योगी का निज उपयोग ही मंदिर है, इसलिये हमेशा सुलभ है। ऐसा शोभायमान, भासमान समता का आलय है योगी का। योगी परभवनों में नहीं, निज समता-आलय में निवास करते हैं। परम कला से युक्त प्रवृत्त गुण के साथ-साथ वृद्धि को प्राप्त हुये अपने निज के गुणों को, जो सहज अवस्था रूप हैं और निरन्तर अपनी महिमा में लीन हैं, ऐसा महान निज का ईश जयवन्त हो। यहाँ पर की कोई चर्चा नहीं चल रही, इस समय तो मात्र निज के स्वामी की चर्चा है–

सहजपरमं तत्त्वं तत्त्वेषु सप्तसु निर्मलं
सकलविमलज्ञानावासं निरावरणं शिवम्।
विशदविशदं नित्यं बाह्यप्रपञ्चपराङ्मुखं
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ।। कलश 177।।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जो परम तत्त्व है, वह सहज है और सात तत्त्वों में से कोई निर्मल तत्त्व है तो एकमात्र आत्मतत्त्व है। जो सम्पूर्ण निर्मलज्ञान का आवास है, जो निरावरण है, शिवस्वरूप है, विशद् से भी विशद् है। जो नित्य ही बाह्य प्रपंच से पराङ्मुख है। ऐसे विशद्तत्त्व में लीन योगी के लिये जो मन, वचन, काय से दूर है, ऐसे तत्त्व को हम नमस्कार करते हैं। जो मुनियों से भी दूर है, ऐसे परमतत्त्व को मैं नमस्कार करता हूँ। भो ज्ञानी ! जब तू मुनिवेश में लीन होगा, उस समय परमतत्त्व में लीन नहीं होगा। पाखंडीलिंग या गृहीलिंग में जो निरत है, वह संसारमार्गी है, मोक्षमार्गी नहीं है। पाखंडीलिंग यानि मुनिलिंग, गृहीलिंग यानि छुल्लक या ऐलक लिंग। बिना मुनिराज बने स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। मुनिवेश का राग भी स्वरूप की प्राप्ति में बाधा है। व्यवहारदृष्टि से मुनिवेश का राग भी मोक्षमार्ग है। भैया! द्रव्यसंयम जरूरी है, क्योंकि मुनिवेश ही मोक्षमार्ग है। जब तू वेश में स्थिर हो जाये, फिर जिनवाणी कहेगी कि ये मुनिवेश मोक्षमार्ग नहीं है। अब आपको वीरागता की ओर ले जा रहे हैं, अब भावमुनि की बात कर रहे हैं। पहले तो आपको द्रव्यमुनि में स्थिर कर लिया, द्रव्यसंयम में स्थित कर लिया, अब भावसंयम की ओर चलो। द्रव्यसंयम छूट गया तो भावसंयम का कोई अवसर नहीं। इसलिये पहले द्रव्यसंयम को स्थिर करना, फिर भावसंयम की बात करना। इसलिये मुनिवेश की भी आवश्यकता है। यहाँ पर इस तत्त्व को मुनि के मन-वचन से दूर इसलिये कह दिया कि शुक्लध्यानरूप वीतरागता निर्विकल्प समाधि की अवस्था में वीतरागी मुनियों के अनुभव का विषय है। यह अवस्था बारहवें गुणस्थान की है। इस परमतत्त्व के प्राप्त होते ही केवलज्ञान प्रकट हो जाता है–

जयति शांतरसामृतवारिधि—
प्रतिदिनोदयचारुहिमद्युतिः।
अतुलबोधदिवाकर दीधिति
प्रहतमोहतमस्समितिर्जिनः ।। कलश 178।।

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो परम जिनस्वरूप है वह शांत रूपी अमृत का वारिधी है, सागर है। प्रतिदिन ही वृद्धि को प्राप्त करने वाले सुन्दर चन्द्रमारूप तथा अतुलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से मोह-अंधकार-समूह को नष्ट करने वाले, ऐसे जिनदेव जयवन्त हो।

विजितजन्मजरामृतिसञ्चयः
प्रहतदारुणरोगकदम्बकः।
अघमहातिमिर व्रजभानुमान्
जयति यः परमात्मपदस्थितः ।। कलश 179।।

यहाँ आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि वे परमात्मा जयवन्त हों जिसने जन्म, जरा, मृत्यु को जीत लिया है। जिन्होंने दारुण रोग के समुदाय को प्रकर्ष रूप से नष्ट कर दिया है। जो पापरूपी घोर अंधकार-समूह है उसको समाप्त करने लिये सूर्य हैं। जो ऐसे परम पद में स्थित आत्मा है, वह जयवन्त हो।

इस आलोचना अधिकार में शुद्धनय के आश्रित निश्चय आलोचना का ही विस्तार से वर्णन किया है। जो साधु व्यवहार-चर्या में पूर्ण निष्णात हैं, वे निष्पन्न योगी ही इस निश्चय आलोचना को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु सामान्य साधुओं को इसकी भावना सदैव भाना चाहिये। तथा व्यवहार आलोचना में पूर्ण निर्दोषिता लाना चाहिये। इस प्रकार से सुकविजन रूपी कमलों के लिये सूर्य के समान, पंचेद्रिय के विस्तार से रहित, शरीरमात्र ही जिनका परिग्रह है ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित 'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति टीका में परमालोचना अधिकार नाम का सातवाँ श्रुतस्कन्ध पूर्ण हुआ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।
नमोऽस्तु शासन जयवन्त हो।

नियमसार

शुद्धनिश्चय-प्रायश्चित्त-अधिकार (8)

उत्थानिका : निश्चय प्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन

गाथा : वदसमिदिसीलसंजमपरिणामो करणणिग्गहो भावो।
सो हवदि पायच्चित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो॥ 113॥

संस्कृत छाया : व्रतसमितिशीलसंयमपरिणामः करणनिग्रहो भावः।
स भवति प्रायश्चित्तं अनवरतं चैव कर्त्तव्यः॥ 113॥

अन्वयार्थ : (व्रत-समिति-शील-संयम-परिणामः) व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणाम तथा (करण निग्रहः भावः) इन्द्रियों के निग्रहरूप भाव, (सः प्रायश्चित्तः भवति) वह प्रायश्चित्त होता है (अनवरतं च एव कर्त्तव्यः) तथा उसे हमेशा ही करना चाहिये।

गाथा : कोहादिसगब्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छितं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो॥ 114॥

संस्कृत छाया : क्रोधादि स्वकीयभावक्षयप्रभृतिभावनायां निर्ग्रहणम्।
प्रायश्चित्तं भणितं निजगुणचिंता च निश्चयतः॥ 114॥

अन्वयार्थ : (क्रोधादि स्वकीय भाव क्षय प्रभृति भावनायां) क्रोध आदि स्वकीय भावों के क्षयादि की भावना (निर्ग्रहणं) रहना, (निजगुण चिन्ता च) और अपने गुणों का चिन्तवन करना, (निश्चयतः) निश्चय से (प्रायश्चित्तं भणितं) प्रायश्चित्त कहा गया है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'नियमसार' जी में आठवाँ अधिकार शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त-अधिकार प्रारम्भ कर रहे हैं। जिससे चित्त की शुद्धि हो, उसका नाम प्रायश्चित्त अथवा चित्तशुद्धि का नाम ही प्रायश्चित्त है। विकल्पों का होना, उन विकल्पों का बार-बार उत्पन्न होना, यह दोष है। उन विकल्पों का समापन होना, इसका नाम प्रायश्चित है। निश्चय प्रायश्चित्त, व्यवहार प्रायश्चित्त। व्यवहारदृष्टि से आचार्यपरमेष्ठी के चरणों में पहुँचकर अपने दोषों का निवेदन करके, आलोचना करके, अपने संयम की शुद्धि के लिये, दण्ड प्राप्ति के लिये जो निवेदन किया जाता है, उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। सामान्य रूप में दुनियाँ में शासक दण्ड देते हैं, लेकिन जिनशासन में दोषी स्वयं दण्ड की याचना करता है। यहाँ दण्ड स्वेच्छा से लेते हैं। जब प्रायश्चित लेने की, शुद्ध होने की दृष्टि है, तो फिर मायाचारी नहीं झलकती है।

आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रायश्चित्त के भेद किये हैं, कि किस प्रकार से प्रायश्चित दिये जाते हैं और कैसे साधक लेता है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका में बड़ी मीठी डाँट रूप कथन किया है और मीठी डाँट भी लगाई है, साथ में सोचने को भी बाध्य कर दिया है। उन्होंने यह स्पष्ट लिख दिया है कि चित्तशुद्धि रहेगी तो ही योगी ब्रह्म का पालन कर सकता है अन्यथा अब्रह्म में प्रवेश होगा परिणामों का और परिणामों का प्रवेश अब्रह्म में होगा तो शरीर का बचना कठिन हो जाता है। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि आप पहले से ही चित्त पर ध्यान रखो कि विचलित न हो सकें। अखिल द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के सम्यक् प्रकार से त्याग में कारणभूत, ऐसे शुद्ध निश्चय-प्रायश्चित्त अधिकार का कथन कर रहे हैं

भो ज्ञानी! आप निर्दोष पालन करने लग भी जाओगे, पर जो दोष पूर्व में लग चुके हैं, इसके अलावा आप निर्दोष संयम का पालन करते भी रहेंगे, फिर भी चित्तशुद्धि नहीं होगी।

जब-जब तुमको पुराना याद आयेगा तो आगे नहीं बढ़ सकते हो। माना कि आप मुनिराज भी बन गये, आपके मन में एक काँटा चुभता रहेगा कि मैंने ब्रह्मचर्य व्रत लेकर भंग कर दिया था, मैं पापी हूँ। जब तक वो काँटा नहीं निकलेगा, तब तक शुद्धोपयोग तो क्या, शुभोपयोग भी नहीं बनेगा। जब-जब ब्रह्मचर्य की बात होगी, तो खटकेगा। या तो व्रत के प्रति उदासीनता आयेगी या अपने आप से उदासीनता आयेगी या कहने वाले के प्रति आपका आदर-भाव नहीं आयेगा, क्योंकि आपको लगेगा कि व्रत शायद ही पलते होंगे। आप से कोई व्रत नहीं पलता, जानके दोष लग गया, फिर भी प्रायश्चित्त ले लेना। पुनः दोष लग गया, फिर प्रायश्चित्त ले लेना। बोले, महाराज! ऐसा कब तक प्रायश्चित्त? बात को पकड़ना। जब तक प्रायश्चित्त लेता रहेगा, उसे पाप से डर लगता रहेगा। यदि ये सोच लिया कि हमसे होता ही है, तो संतुष्ट हो जायेगा, फिर अवसर कम दिखेंगे। इसलिये अतिचार का भी प्रायश्चित्त होता है, अनाचार का भी प्रायश्चित्त होता है।

'छेद' नाम का प्रायश्चित्त अनाचारी का ही होता है। छेद अर्थात् पंच महाव्रतों में से किसी का भी पूर्णतः खण्डन। छेद प्रायश्चित्त में पूरी दीक्षा भंग करके फिर से उनको दीक्षित किया जाता है। तुम 10 वर्ष के दीक्षित थे, जो आपसे 5 वर्ष बाद के मुनिराज दीक्षित थे, वे आपसे बड़े हो गये। आप उनके बाद चर्या को निकलेंगे, उनके पीछे बैठेंगे यानि छोटे हो गये। दोष तो बड़ा लगा था, मगर मध्यम दोष था, उन्हें छेद-प्रायश्चित्त दे दिया। मूल-प्रायश्चित्त तो महाव्रतों के एकाध अंग-भंग हो जाने पर दिये जाते हैं। फिर भी प्रायश्चित्त-दाता और लेनेवाले दोनों वंदना के पात्र हैं। प्रायश्चित्त-दाता अत्यन्त उद्वेलित हो जाता है कि मैं इसको कैसे

प्रायश्चित्त दूँ? कितना बड़ा प्रायश्चित्त दूँ? कितना सोचते हैं। लेनेवाला रो रहा है, देनेवाले के मन में विकल्प उठ रहे हैं कि मैं जिसे अग्रिम पंक्ति में बिठालता था, आज उसको अंतिम पंक्ति में बिठाल रहा हूँ। उनको दु:ख तो होता है, पर सोचते हैं कि यदि नहीं देते हैं तो संघ की व्यवस्था बिगड़ती है। दोनों की विशुद्धि के लिये दिया जा रहा है। जब आप प्रायश्चित्त ले लेंगे, तो आपको अनुभव होगा कि कितनी विशुद्धि बनती है।

आप से कुछ वर्ष पूर्व दोष हो गया, आपने छिपा कर रखा, फिर कहीं योग-संयोग मिला, गुरु की वाणी सुनी, तो स्मृति में आया। अथवा एक साघक थे, दोष कर लिया, उनको 'भगवती आराधना' दे दी, आकर चरण छू लिये, कहा कि महाराज ने हमारा उपकार कर दिया और जैसे ही आचार्यश्री मिले, पूरा निवेदन कर दिया। 'भगवती आराधना' पढ़ते ही उस जीव के भाव बदल गये। हम तो यह सोच रहे थे कि बतायेंगे तो महाराज क्या सोचेंगे? हमने पूछा, क्या आपके भाव अच्छे लगते थे? बोले, भाव की कुछ मत पूछो। बिल्कुल भी नहीं लगते थे। कोई हमें ब्रह्मचारी कहे तो चिढ़ छूटती थी। बोले, क्यों? बोले, मैं ब्रह्मचारी हूँ नहीं। अब शांति मिलती है। लगता है कि व्रत का पालन कर रहा हूँ। इसलिये जीवन में ध्यान रखना, भाव बिगड़ जाते हैं, परन्तु तुरन्त प्रायश्चित्त कर लेना बहुत जरूरी है, अनिवार्य है। अन्यथा साधना चलती रहेगी, शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा, परन्तु शुद्धि नहीं हो पायेगी।

भैया! जीवन के अंतिम समय में भी जागृति आती है। आपसे कोई भी दोष पूर्व में हुये हों तो उसका प्रायश्चित्त ले लो। उत्तमार्थ प्रतिक्रमण जो होता है, वो संल्लेखना के कुछ समय पहले ही किया जाता है। माना कि कदाचित् लोकलाजवश, भयवश दोष निवेदन नहीं कर पाये। आचार्यमहाराज का एक **उत्पीड़क** नामक गुण होता है। जैसे वैद्य रोगी के लिये या तो वमन कराता है या विरेचन कराता है, ऐसे ही आचार्यपरमेष्ठी ऐसी बात कहते हैं कि शिष्य अपने आप सब कहना शुरू कर देता है। उसको लगता है कि आचार्यश्री को सबकुछ पता चल गया है।

भो ज्ञानी! अंतिम प्रायश्चित्त आलोचना सुनिश्चत दिन, सुनिश्चित क्षेत्र में, जहाँ जिनालय हो, हरे-भरे वृक्ष हों, ऐसे स्थान पर आलोचना सुनी जाती है। खंडहर में, शुष्क वृक्ष के नीचे अंतिम आलोचना नहीं सुनी जाती है, क्योंकि अंतिम विदा में अपशकुन न हो जाये, ये दृष्टि है। यदि सूखे वृक्ष पर कौआ बैठा हो, तो अंतिम आलोचना नहीं। आचार्यमहाराज ध्यान रखते हैं कि जीवन की अंतिम विदा निर्विकल्प, निर्मल रूप से हो।

भैया! आलोचना के बाद प्रायश्चित्त, उद्देश्य मात्र चित्त की शुद्धि। कितना ही कठोर प्रायश्चित हो, यदि वास्तव में शुद्धि के उद्देश्य से लिया है, तो आपको कठोर प्रायश्चित्त महसूस

नहीं होगा, आपकी प्रसन्नता बढ़ेगी। कभी-कभी क्या होता है कि श्रावक नहीं जानते और साधु संघ की व्यवस्था में प्रवेश कर जाते हैं। आचार्यमहाराज ने कठोर प्रायश्चित्त दिया, कोई शिष्य रो रहा था, आप पहुँच गये, बोले, यहाँ भी रो रहे हैं, यहाँ पर भी इतनी दया नहीं है, आचार्य महाराज को इतना नहीं करना चाहिये था। तू आचार्यमहाराज पर अंगुली उठा रहा था, पर ये तो देखता कि आगम-व्यवस्था क्या कह रही है? आचार्यमहाराज उसको रुला नहीं रहे थे, हँसा रहे थे। जब रो करके तैयार हो जाता है, फिर आनंद आता है। आपने हमको अपना जीवन सौंपा है और वो ही हम आपका बिगाड़ दें, तो उचित नहीं होगा। इसलिये प्रायश्चित्त का विधान किया है। मेरा स्वयं का गुरु स्वीकार नहीं करेगा तो गुरु का प्रायश्चित्त कोई काम का नहीं। आप आलोचना तो करना, पर उसमें शोक मत करना। प्रायश्चित्त लेने की भावना रखना, पर उसमें शोक मत करना।

भो ज्ञानी! कोई क्षपक आचार्य की खोज में निकला। आयु पूर्ण हो गई, प्रायश्चित्त नहीं ले सका। फिर भी वो प्रायश्चित्त और आलोचना ही है, क्योंकि भावना थी, आचार्यमहाराज के पास जा रहे थे और बीच में ही सल्लेखना हो गई। वे निर्दोष ही कहलायेंगे, सदोषी नहीं हैं, क्योंकि उनके लेने के भाव थे, छुपाने के भाव नहीं थे। भो ज्ञानी! निज स्वरूप में लीन होना ही निश्चय प्रतिक्रमण है, निश्चय प्रत्याख्यान है, निश्चय सामायिक है। वही चारित्र है, वही प्रायश्चित्त है। वो कितनी बार होता है? जीवन में अनेक बार होता है। जब-जब शुभोपयोग में आयेगा, तो निश्चय-प्रायश्चित्त से च्युत हो जायेगा। जब-जब शुद्धोपयोग में जायेगा, तब-तब निश्चय प्रायश्चित्त, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान सब हो गया। कोई लेने-देने की भाषा ही नहीं होती है। मात्र स्वरूपलीनता है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 113 में सहज रूप से कह रहे हैं कि प्रायश्चित्त लिया कब जाता है? दिया कब जाता है? जब व्रत, संयम, शील में कोई दोष लगे। जब व्रत, संयम, शील का अनवरत पालन कर रहा है, कोई दोष लग ही नहीं रहा है, तो प्रायश्चित्त किस बात का हो रहा है? ज्ञानी! जो हमने अव्रत अवस्था में, असंयम अवस्था में पापों का संचय किया है, उसी का तो प्रायश्चित्त चल रहा है। संयम पालन कर रहे हैं, वही तो प्रायश्चित्त है। जो पूर्व में हमने विभाव में जिया है, असंयम-भाव में जिया है, उसको छोड़ा है। इंद्रिय विषय को छोड़ने में पीड़ा होती है और उसे आप छोड़कर शांत बैठे हो, यही तो प्रायश्चित्त है। आचार्यमहाराज क्या प्रायश्चित्त देंगे? उपवास करो, नीरस करो, धूप में खड़े होकर सामायिक करो, जाप करो।

व्रत, समिति, शील और संयम रूप परिणाम तथा इंद्रिय-निग्रह-रूप भाव प्रायश्चित्त होता है। आपने अव्रत, असंयमता में जो पाप किये हैं, उनका प्रायश्चित्त देने का उद्देश्य पापों का क्षय है। हमने पूर्वपर्याय में, असंयम अवस्था में जो पाप किये हैं, उनका प्रायश्चित्त ही तो वास्तव में **संयम** है। आपने कहा कि पाप हो गया। महाराज जी ने कहा कि जिनगुणसंपत्ति, कर्म दहन, पंचपरमेष्ठी व्रत कर लो, चारित्रशुद्धि कर लो। दीक्षा के पश्चात तप स्वीकार कराया जाता है मुखशुद्धि के समय। उसका उद्देश्य यही है कि जो पूर्व में आपके अशुभ भाव हुये हैं, वर्त्तमान में तो भावशुद्धि है, संयमी बन चुके हो, लेकिन पूर्व में जो संचय कर चुके हो, उनका क्या होगा? संयमी अवस्था में यदि पुण्य नहीं है, तो परिणाम निर्मल नहीं रहते हैं, इसलिये वहाँ भी पुण्य की आवश्यकता है। अरिहन्त-अवस्था पुण्य से ही प्राप्त होती है। "पुण्य फला अरिहन्ता।" अरिहन्त-अवस्था के बाद ही पुण्य का क्षय होता है। पाप का क्षय तो कर चुके हैं। चौदहवें गुणस्थान में पापप्रकृतियों का क्षय नहीं किया जाता, बल्कि पुण्यप्रकृतियों का ही क्षय किया जाता है। पापप्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान में क्षय हो जाती हैं। यह गुणस्थान समझाने की शैली है। जब स्वयं में होता है, तो क्षय होता चला जाता है। आगम-भाषा में कहते हैं कि इस गुणस्थान में इतनी प्रकृतियों का क्षय किया। ऐसा लगता है जैसे सामने हो रहा है, लेकिन सब क्रियायें अबुद्धिपूर्वक ही होती हैं। सातवें गुणस्थान से ही अबुद्धिपूर्वक व्यवस्था है। जब सिद्धान्तग्रन्थ पढ़ते हैं, तो वहाँ की भाषा यही होगी कि इतनी प्रकृतियों का अमुक गुणस्थान में इस जीव ने उपशम किया, इसके आगे क्षयोपशम-अवस्था को प्राप्त हुआ, इसके आगे क्षय-अवस्था को प्राप्त हुआ है।

भो ज्ञानी! आप क्यों कर रहे हो पुण्य? पाप क्षयार्थ, कर्म क्षयार्थ। पुण्य भी एक कर्म है, वो भी क्षय हो जायेगा, लेकिन पुण्य की मिठास में फँस मत जाना, क्योंकि मिठास चखते-चखते अनंत पर्याय धारण कर ली हैं, अनंत भव बीत गये और सोच यही रहे थे कि छूट जायेगा। वास्तव में व्यक्ति पाप नहीं करना चाहते। एक सिद्धान्त चला था कि भोग लो सब, उससे शांति मिल जायेगी। व्यक्ति पाप नहीं करना चाहता है। गलत कार्य जानके पश्चाताप तो करता है। जो विषयों में लिप्त है, वह यह सोचता है कि देखो मैं भोग लेता हूँ। फिर उदासीनता अपने आप आ जायेगी। उदासीनता आ जाये तो अपने आप में हम लीन हो जायें। जबकि उदासीनता आती नहीं है। शक्ति क्षीण हो गई तो एकाध दिन को शांत हो गया और जैसे ही शक्ति बढ़ी, फिर वो प्रक्रिया शुरू हो गई। ये क्लान्ति, थकान को शुभ-उपयोग या शुद्धोपयोग में लगा लेता है, समाधि में लगा लेता है। जो तुम्हारी वासनाओं के सेवन में थकान बढ़ी है, एकदम अचेत-सा हो गया, सोचता है कि मैं संतुष्ट हो गया।

अब तो मैं अपने आप भगवान् को देख रहा हूँ। ज्ञानी! तू भगवान् को नहीं देख रहा है। आयुर्वेद कहता है कि अब शरीर में हिलने-डुलने की सामर्थ्य नहीं बची, तो तू कह रहा है कि मैं समाधि में जा रहा हूँ। तुम समाधि में नहीं, कहीं और जा रहे हो, श्मशान की ओर जा रहे हो। वास्तविकता यही है कि थकान को अज्ञानियों ने समाधि मान लिया है।

भो ज्ञानी! समाधि वो है कि इंद्रियाँ प्रबल हैं, भोगशक्ति प्रबल है, फिर भी भोगवृत्ति नहीं। भोग की शक्ति हो, इंद्रियाँ सशक्त हों, फिर भी भोग की भावना नहीं आ रही है, इसका नाम समाधि है। 'परमात्म प्रकाश' में योगीन्दुदेव ने समाधि की चर्चा की है। समाधि यानि ध्यान। धी यानि बुद्धि। बाह्य द्रव्यों में साम्यबुद्धि है जिसकी, उसका नाम समाधि है। वेदकर्म पर भी साम्यबुद्धि है। यही समाधि चलती है। दशम द्वार प्रारम्भ होता है। जो तुम प्राणायाम करते हो, यह शरीर-शुचिता के हेतु है, आत्मशुचिता कम है। जब श्वासोच्छवास से जाप किया जाता है, तो सहजता आती है। जितना प्रबल ध्यान होगा, उसकी श्वासें उतनी मंद होंगी। जिसके विषयकषाय अथवा विकार तीव्र होंगे, उसके श्वास की गति बढ़ी मिलेगी। आपकी दो नाड़ियाँ होती हैं। चन्द्र नाड़ी, सूर्य नाड़ी। जब चन्द्र नाड़ी चलती है, तो कामविकार सताते हैं। जब सूर्य नाड़ी चलती है, तो व्यक्ति को भूख लगती है। जब सूर्य नाड़ी चले, उस काल में भोजन करे, तो वो कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता है। दायाँ, बायाँ सुर। सूर्य नाड़ी के चलने पर अगर भोजन करता है, वो अस्वस्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें गर्मी होती है। चन्द्रनाड़ी शीतल होती है। शरीर शीतल होता है तो कामविकार सताते हैं।

'ज्ञानार्णव' में आचार्यमहाराज कहते हैं कि साधक कुछ न करे। पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर रहा है अंतरंग में और मात्र श्वासों पर ध्यान रख रहा है। कितना भी तीव्र कामविकार आपको सता रहा हो, ज्वर सता रहा हो, आप शान्त बैठ जाना और अपनी श्वासों को मंद करना। जितनी श्वासें मंद होती जायेंगी, 10-15 मिनट में विकार अपने-आप समाप्त हो जायेगा। जितनी श्वास खींचते हो, वो बिन्दु पर जाकर पहुँचती है। जैसे तुम्हारी ठंडी श्वास निकलती है, वो जाकर कामतंतुओं को प्रभावित करती है और इच्छा मिटने के बजाय बढ़ जाती है। अज्ञानियों ने क्या किया? हल घोषित कर दिया कि इच्छाओं की पूर्ति करते जाओ, कभी-न-कभी अनिच्छा होगी, बस, वही समाधि है। जबकि ऐसा नहीं है। समाधि कोई भिन्न वस्तु नहीं है। थकान का नाम समाधि नहीं है। हँस रहे, नाच रहे, कूद रहे, अब अच्छी तरह से थक गये, बोले, अपने आप में चले गये। अरे भाई! घर का काम करने वाला थक जाये, उसको अच्छे शान्त स्थान पर बैठा दो, वो भी समाधि में चला जायेगा। क्यों, ऐसा है न? और ज्यादा मेहनत करवा दो तो पूरी समाधि में चला जायेगा।

निश्चय-प्रायश्चित्त के स्वरूप का कथन करते हुये कह रहे हैं कि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, शील और सम्पूर्ण इन्द्रिय तथा वचन, मन, काय के संयमरूप परिणाम हैं और जो पंचेन्द्रियों का निरोध है, वह परिणति-विशेष प्रायश्चित्त है। प्रचुरता से निर्विकार रूप चित्त प्रायश्चित्त कहलाता है। जब कोई विकल्प मन में होते हैं, तो सामान्य शांति भी नहीं मिलती है, अंदर की शांति तो बहुत दूर है। जितने द्रव्य बढ़ जाते हैं, उतने विकल्प बढ़ जाते हैं। आप विदिशा में सर्विस कर रहे हो, आपको भोपाल से पत्र आया अधिक वेतन का। अब आपके मन में उथल-पुथल हो रही है। एक दिन पहले कोई विकल्प नहीं था। कुछ पता ही नहीं था। जैसे ही पत्र आया, परिणामों में विकल्प प्रारम्भ हो गया। दो-चार लोगों से चर्चा करेगा कि भोपाल जाऊँ या नहीं? एक जरा-सी कषाय ने इतना उथल-पुथल कर दिया, तो जहाँ पाँचों इंद्रियों के विषयकषाय चल रहे हों, क्या होगा?

भैया! जब तक निर्णय नहीं होता है, तब तक अशांति रहती है। चाहे तत्त्व का निर्णय हो, चाहे अतत्त्व की बात हो। निर्णय हो जाने पर विकल्प समाप्त हो जाता है। आचार्यमहाराज ने क्रम रखा है वचन, मन, काय। वचनों से व्यक्ति ज्यादा उथल-पुथल करने लगता है तो पहले वचन। फिर मन को वश में कर लो, इसके बाद शरीर को। उमास्वामी महाराज ने "तत्त्वार्थ सूत्र" में पहले शरीर को लिया है। जो निर्विकार चित्त है, उसका नाम प्रायश्चित्त है। पर होगा कैसे? इंद्रियाँ आदि के संयम का पालन अनवरत रूप से करो। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ये पूरा विषय स्वयं पर ले जा रहे हैं। ऐसे अन्तर्मुखाकार, परमसमाधि से युक्त, परमजिन योगीश्वर के द्वारा पापरूपी अटवी को जलाने के लिये जो अग्नि है, पाँच इंद्रियों के विषयों से रहित, गात्रमात्र परिग्रह धारी, सहज वैराग्यरूप महल के शिखर की शिखामणि स्वरूप, ऐसे परमागम के मकरन्द से उत्पन्न हुआ अमृत स्वरूप पुष्परस जिनके मुख से झरता है, ऐसे मुझ पद्मप्रभमुनि के द्वारा प्रायश्चित्त करना चाहिये।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव प्रायश्चित्त का लक्षण स्पष्ट करते हुये कलश कह रहे हैं।

प्रायश्चित्तं भवति सततं स्वात्मचिंता मुनीनां
मुक्तिं यांति स्वसुखरतयस्तेन निर्धूतपापाः।
अन्या चिंता यदि च यमिनां ते विमूढ़ा स्मरार्त्ताः
पापाः पापं विदधति मुहुः किं पुनश्चित्रमेतत्॥ कलश 180॥

यह कलश अपने आप में बहुत ही गूढ़ बात कह रहा है। जो स्वात्म-तत्त्व में लीन मुनि हैं, ऐसे मुनियों के सतत ही स्वात्मचिन्ता रूप प्रायश्चित्त होता है। उस प्रायश्चित्त से वे मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। जो स्व-सुख रति करते हैं, उसके द्वारा पापों का क्षालन कर मुक्ति

को प्राप्त कर लेते हैं। यदि साधक स्वयं में दत्तचित्त नहीं रहता है, अन्य की चिन्ता में रहता है, तो आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि तू मूढ़ है। नियम से तू काम में तल्लीन हो जायेगा, विकारों में चला जायेगा। पाप को करके पुनः पाप में चला जायेगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यदि तू अपने आपको इंद्रियविषय से दूर नहीं रखेगा, विषयों से दूर नहीं रखेगा, ज्ञान-ध्यान में लीन नहीं रहेगा, तो अंत में तू पापों में लिप्त हो जायेगा और फिर तेरी विडम्बना वही होगी जो आज तक होती रही है। यहाँ टीकाकार ने स्वात्मचिन्ता को ही प्रमुख कहा है, क्योंकि वही सर्वोत्तम है और मोक्ष को प्रदान करने वाली है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 114 में प्रायश्चित का स्वरूप एवं सामर्थ्य बता रहे हैं। क्रोधादि स्वकीय भावों के क्षय की भावना करना, उनका निग्रह करना, उसे प्रायश्चित्त कहा है। अपने गुणों का चिन्तन करना, निश्चय से प्रायश्चित्त कहा गया है। विश्व में जितने गुण हैं, वे सम्पूर्ण गुण तेरे हैं, तेरे अंदर हैं, लेकिन अवगुण छूट जायें तो वे प्रकट हो जायें। क्या आप लोग ब्रह्मचारी नहीं हो? मुनिराज नहीं हो क्या? लेकिन आप उन गुणों पर ध्यान नहीं दे रहे हो। उन गुणों पर ध्यान देने लग जाओ तो आप भी मुनिराज हो। पर अभी नहीं हो, क्योंकि वे गुण आप प्रकट नहीं कर रहे हो।

भो ज्ञानी! संपूर्ण कर्मों के निर्मूल करने में समर्थ निश्चय-प्रायश्चित्त को कहा है। क्रोध आदि सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष भाव के स्वभाव के क्षय का कारण कौन होगा? निज कारण-परमात्मा होगा। जब तू निज-कारण है, तो निज कार्य भी तू ही होगा। लेकिन उस निजकारण का कारण कोई है, तो उसका नाम संयमाचरण है। यदि संयमाचरण नहीं है, तो निजकारण कार्यरूप परिणत कभी नहीं होगा। भो चेतन आत्मा! निजकारण का तू कार्यरूप शुद्धात्मा तो है, लेकिन जब तक तेरा बाह्य कारण नहीं हो रहा है, तब तक अंतरंग कारण जाग्रत नहीं होगा, और जब तक अंतरंग कारण जाग्रत नहीं होगा, तब तक अंदर का कार्य भी पूर्ण नहीं होगा। आप कारण-शुद्धपर्याय क्यों कह रहे हो? आप तो कार्य-शुद्ध-परमात्मा कहो। अरे भैया! आप तो पर्याय को भगवान् बनाना चाहते हो। जब तेरा द्रव्य भगवान् बन जायेगा, तो पर्याय अपने आप भगवान् बन जायेगी। अज्ञानी जीव पर्याय की शुद्धि में लगे हैं और ज्ञानीजीव तो द्रव्य की शुद्धि कर लेते हैं तो पर्याय अपने आप शुद्ध हो जाती है। भो ज्ञानी! सभी द्रव्य शक्तिअपेक्षा शुद्ध हैं, लेकिन वास्तव में शुद्ध तभी होगा, जब गुण-पर्याय साथ में शुद्ध होगी। जब तक गुणपर्याय शुद्ध नहीं होगी, तब तक द्रव्य में शुद्धि त्रैकालिक नहीं है, क्योंकि "गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्"। जिस द्रव्य की पर्याय अशुद्ध, उस समय वो द्रव्य भी अशुद्ध है। लेकिन जो द्रव्य शुद्ध कहा जाता है, वो द्रव्यदृष्टि से त्रैकालिक शुद्ध है।

'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : चार कषायों पर विजय पाने के उपाय के स्वरूप का कथन

गाथा : कोहं खमया माणं, समद्देवणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खु ए चहुविहकसाए॥ 115॥

संस्कृत छाया : क्रोधं क्षमया मानं स्वमार्दवेन आर्जवेन मायां च।
संतोषेण च लोभं, जयति खलु चतुर्विधकषायान्॥ 115॥

अन्वयार्थः (क्रोधं क्षमया) क्रोध को क्षमा से (मानं स्वमार्दवेन) मान को निजमार्दव से (मायां च आर्जवेन) माया को आर्जव से (च) और (लोभं संतोषेण) लोभ को संतोष से (चतुर्विधकषायान्) इस प्रकार चतुर्विध कषायों को (खलु जयति) साधु निश्चितरूप से जीतते हैं।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने परमशुद्ध प्रायश्चित अधिकार में कहा कि प्रचुर रूप से चित्त की शुद्धि जिस निमित्त से होती है, उसी का नाम प्रायश्चित है। विकारी भाव, कषाय भाव का जहाँ अभाव है, वही यथार्थ में प्रायश्चित है। शारीरिक दण्ड का नाम यहाँ प्रायश्चित नहीं कहा है। यहाँ तो परिणामों की निर्मलता का नाम ही प्रायश्चित है और वह परिणामों की निर्मलता स्वयं के द्वारा ही होगी। व्यवहारदृष्टि से गुरु के निमित्त से होगी। इसलिये आचार्य महाराज ने आठवें अधिकार को प्रारम्भ करते ही संकेत दिया है कि व्रत, संयम, शील, चारित्र रूप जो परिणाम है, उसका नाम ही प्रायश्चित है। प्रश्न है कि दोष लगे तब प्रायश्चित और आपने कह दिया कि व्रत, संयम, शील का पालन और तद्रूप परिणाम का होना, इनका नाम प्रायश्चित्त है। ये प्रायश्चित्त कौन से अपराध का है? जो तूने अनादि से असंयम का सेवन किया है, जो अनादि से तूने मिथ्यात्व का सेवन किया है, उस दुष्कर्म का ही प्रायश्चित्त संयम, शील है।

आचार्यमहाराज से किसी ने कहा कि महाराज! अब मैं साधु तो बन गया, तपस्या क्या है? अरे ज्ञानी! तू समझ नहीं पाया। साधु पद की प्राप्ति ही तपस्या है। तीर्थंकर जिस दिन संयम स्वीकार करते हैं, दीक्षा लेते हैं, वह तपकल्याणक कहलाता है। असंयम से बचना, संयम में लीन होना और निज परिणामों को प्रचुर रूप से उज्जवल बनाके रखना, यही वास्तव में तपस्या है। इस तपस्या में जो निष्णात हैं, वे ही तपस्वी हैं। जितनी बाह्य क्रियायें हैं, वे सब परिणामों की निर्मलता मात्र के लिये हैं। जितनी व्यवहारिक क्रियायें है, बाह्य आचरण है, ये सब अंतरंग आचरण की निर्मलता के लिये ही हुआ करते हैं। यदि अंतरंग में निर्मलता नहीं

है, तो बाहरी आचरण कितना भी निर्मल हो, उसको जिनवाणी निर्मल नहीं कहेगी। इसलिये प्रायश्चित्त अधिकार में स्पष्ट कथन किया है कि भावों की विशुद्धता को ही प्रायश्चित्त कहा है। क्यों? उद्देश्य क्या है? ये रुढ़ि नहीं है कि दिन में दो बार आचार्यमहाराज से प्रायश्चित्त लेना। अहो! रात्रि में मेरे परिणाम में यदि कदाचित विकल्पता आई हो, तो मुझे प्रायश्चित्त देकर मेरे चित्त को शुद्ध करें। साधक अपने आप में सजग है, उस सजगता में भी प्रमादवश अज्ञात भाव से स्वप्न में तू सो रहा था, रात्रि में भोजन कर लिया स्वप्न में, तुझे ज्ञात नहीं था, जानकर नहीं किया था, स्वप्न में किया था, लेकिन उसका भी प्रायश्चित्त था। ये मत कहना कि प्रमाद नहीं था। सोना अपने आप में प्रमाद था। 15 प्रमादों में निद्रा नाम का एक प्रमाद है।

ज्ञानी! चार विकथा, चार कषाय, पाँच इंद्रियाँ, स्नेह और निद्रा ये 15 प्रमाद हैं। आप आहार करके आ चुके थे, ईर्यापथ में नवकोटी से आहार का प्रत्याख्यान कर चुके थे और श्रावक आ गया, आपने स्नेहवश उस जीव को भोजन के लिये भेजा, आपकी एषणा समिति थी, आप प्रत्याख्यान कर चुके थे, स्नेहवश दोष लग गया, इसलिये इसे प्रमाद में रखा है। आपका उपवास था, किसी को भोजन के लिये भेजा तो आपके अनशन व्रत में दोष लग गया। 'भगवती आराधना' में हर व्रत के अतिचार लिखे हैं। उपवास का अतिचार हो गया। आपने दूसरे को भोजन पर भेज दिया, आपका त्याग था, तो आपके व्रत में दोष लग गया। उसका प्रायश्चित्त करेंगे कि नहीं? बोले, महाराज! दूसरे को दूसरे का भोजन कराया और स्वयं प्रायश्चित्त लें? यही जिनशासन है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय' में लिखा है "मुनिनां अलौकिकी वृत्तिः" मुनियों की वृत्ति अलौकिक होती है। जिसे लोक धर्म कहता है, उसे मुनिचर्या में अतिचार कह रहे हैं। आप भोजन करा रहे श्रावक को, अतिथि संविभाग व्रत चल रहा तुम्हारा, सो आपका व्रत हो गया और कहीं मुनिराज ने कह दिया कि भोजन कर लो अथवा करा दो, तो उनके व्रत में दोष लग गया। श्रावक-आचरण अलग है, मुनि-आचरण अलग है। इसलिये यहाँ पर आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यदि कदाचित् स्नेहवश, प्रमादवश, ज्ञात-अज्ञात भाव से किसी प्रकार का दोष लगा हो, तो वे प्रायश्चित्त करते हैं।

प्रायश्चित्तंह्युक्तमुच्चैर्मुनीनां काम कोधाद्यन्यभावक्षये च।
किं च स्वस्थ ज्ञानसंभावना वा सन्तो जानन्त्येतदात्मप्रवादे॥ कलश 181॥

आचार्यपद्मप्रभमलधारिदेव इस कलश में कह रहे हैं कि मुनियों के प्रायश्चित को ही अतिशय रूप से प्रायश्चित कहा है। काम-क्रोधादि भावों का क्षय ही मुनियों का उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है। विकारी भावों का अभाव होना ही साधुओं का उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है। अथवा अपने ही ज्ञान की जो सम्यक् भावना है, उसे अतिशय रूप में प्रायश्चित कहा गया है।

चौदह पूर्व होते हैं, सातवाँ पूर्व जो आत्मप्रवाद पूर्व है, उसमें साधुओं के प्रायश्चित्त का विधान है। आज अपने पास द्वादशांग नहीं है, लेकिन उसका अंश मौजूद है। प्रायश्चित्त ग्रन्थ, जो सातवें आत्मप्रवाद पूर्व का अंश है, वह मौजूद है। आत्मप्रवाद पूर्व में जैसा प्रायश्चित का कथन किया है, आचार्यमहाराज अपने शिष्यों के लिये वही और वैसा ही प्रायश्चित स्वीकार करें। इस कथन का उद्देश्य यह है कि लोग ये न समझें कि पद्मप्रभमलधारिदेव महाराज अपने अनुमान से या अपने द्वारा ही कथन कर रहे हैं। इन्होंने ये घोषित कर दिया है कि हम वही कह रहे हैं, जो श्रुत-परम्परा से प्राप्त हुआ है। आप हिंदी ग्रन्थों के साथ मूलग्रन्थों को भी रखो, अन्यथा ऐसा काल आयेगा जब वर्त्तमान प्रवचन आदि की पुस्तकें ही मूल कहलाने लगेगी। मूल आगम से ही तुम्हारी रक्षा है। आप अध्ययन करना चाहते हैं तो मूल आगम के साथ-साथ प्रवचन की पुस्तकें भी पढ़े, अन्यथा मालूम चलेगा कि आगम गौण हो गया और वर्त्तमान की चर्चा ही प्रमाणरूप आयेगी। प्रायश्चित कभी भी सुभाषित में नहीं होता।

भो ज्ञानी! गुरु के अभाव में अरिहन्त प्रतिमा के सामने व्रत तो ले सकते हो, लेकिन प्रायश्चित नहीं ले सकते। भगवान् कुछ कहते नहीं। आप रोज दोष करेंगे और रोज प्रायश्चित को आ जायेंगे। मन की संतुष्टि के लिये आप जाप करते हैं, लेकिन उसे प्रायश्चित की संज्ञा मत दे देना। गुरु अपने हिसाब से प्रायश्चित देते हैं। आगम में गुरु को वैद्य कहा है। जैसे वैद्य रोगी को देखकर, उसकी शक्ति को देखकर, समझकर, औषधि देता है, ऐसे ही गुरु शिष्य की योग्यता, उसकी कषाय परिणति और ज्ञातभाव में योग की चंचलता यह सब दृष्टि में रखकर प्रायश्चित देते हैं। चार शिष्यों ने एक-से दोष किये, पर चार प्रकार के प्रायश्चित मिले। कोई देखनेवाला कहेगा कि तुम्हारे गुरु बहुत **दुभात** करते हैं। किसी को कम, किसी को ज्यादा, ऐसा क्यों? ये उनका विषय था। चारों में से प्रारम्भिक गल्ती किसकी थी? बोले महाराज! इनने कहा था, तो हमने ऐसा कर दिया। तुमने क्यों किया? बोले, वे कर रहे थे, सो हमने भी कर दिया। चौथे से पूछा, तुमने ऐसा क्यों किया? बोले, महाराज! हम तीन के साथ अकेले थे, तो हमने सोचा कि ऐसा ही करना पड़ता होगा, सो हमने कर दिया। ठीक, आपको दो उपवास, आपको एक उपवास, आपको एक नीरस, आपको एक माला। प्रायश्चित अलग-अलग हो गये। अपराध की परिणति चारों की एक-सी नहीं थी। न्याय भी यही कहेगा। भो ज्ञानी! प्रायश्चित की गद्दी पर आचार्य बैठते हैं, यदि गुरुभाव से नहीं बैठेंगे, तो प्रायश्चित नहीं दे सकते, क्योंकि वहाँ कठोर होना पड़ता है। मुस्करायेंगे नहीं। वहाँ मुस्करायेंगे तो तुम्हारा पूरा प्रायश्चित बाहर निकल जायेगा। उस समय की दृष्टि अलग होती है। शिष्य को डांट रहे हैं, ये भी दृष्टि है कि डाँट कहीं ज्यादा न निकल जाये। खिंची भी रहे और टूट न जाये। इसलिये प्रायश्चित देने का अधिकार गुरु को होता है। अपने आप प्रायश्चित नहीं लिया जाता

कि हमने ऐसा दोष कर लिया है तो हमने प्रायश्चित ले लिया।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 115 में बहुत अच्छी बात कह रहे हैं। वे योगी जो प्रायश्चित में लीन हैं, किस प्रकार से कषायों की जीतते हैं? गुरु साक्षी में प्रायश्चित का विधान क्यों किया? यदि किसी शिष्य से भूल हो जाती है, तो गुरु को कैसे मालूम चल जाता है? तो वे दृष्टि रखते हैं। और शिष्य सोचता है कि अब मैं यदि पुनः करूँगा तो महाराज क्या सोचेंगे? तो सजग रहेगा। यदि भगवान् की प्रतिमा के सामने प्रायश्चित लेके आ गये, उनने न आपको प्रायश्चित दिया है, न आप से कुछ कहा है, आपने भगवान् के सामने हाथ जोड़े, 'भगवन्! मेरे से दोष हो गया है, मैं तो चार माला फेरे लेता हूँ' और इतने में संतुष्ट हो गये। दूसरे दिन पुनः दोष लग गया। 'ठीक, हे भगवन्! मैं पुनः माला फेरे लेता हूँ।' परिणाम यह निकलेगा कि कभी शुद्ध नहीं हो सकोगे। तुम्हारा भय समाप्त हो चुका है। इसलिये अचेतन से प्रायश्चित नहीं लिया जाता है। अचेतन की वंदना करो, नमस्कार करो, आराधना करो, पूजा करो, परन्तु चित्त की शुद्धि के लिये चेतन गुरु चाहिये। कषाय का उपशम स्वयं के चित्त से होगा और दण्ड गुरु के चित्त से होगा आगम के अनुसार। भो ज्ञानी! उत्कृष्ट मार्ग तो यह है कि कभी गुरुचरण छोड़े न जायें। वे भाग्यशाली हैं जो गुरुचरणों में ही रहते हैं। यदि गुरु-आज्ञा से बाहर भी हैं और गुरु तुम से दूर हैं, लेकिन परिणामों से दूर मत हो जाना। जिस दिन दोष हो, उस दिन से ही प्रायश्चित लेने के भाव रखना। लिख लेना। जब गुरु मिलें तो अपने दोष का निवेदन कर प्रायश्चित ले लेना। गुरु नहीं मिले तो भूल मत जाना, लिखकर रखे रहना।

आपने जो क्रोधादि कषाय के अभाव को प्रायश्चित कहा है, हम अभाव करें तो कैसे? तो विधि बता रहे हैं कि क्रोध को क्षमा से जीतें, मान को अपने मार्दव धर्म से जीतें, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीतें। चार कषायों को चार धर्मों से आप जीतो। ये मत कहना कि जब पर्युषण के दिन आयेंगे तो हम दस दिनों में दस धर्म की आराधना कर लेंगे। वास्तव में दस धर्म तो पूजा के विषय नहीं है, वे धर्म तो पूज्य बनने के विषय हैं। आप लोग तो दस दिन में एक-एक धर्म की अच्छी तरह से पूजा कर लेते हो बस, हो गये पर्युषण पर्व पूर्ण। लेकिन आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि वो दश धर्म आपके प्रतिक्षण/प्रतिपल के हैं। दुनियाँ के लोग खाना-पीना, मौज-मस्ती से पर्व मनाते हैं, परन्तु हमारे यहाँ पर्व आत्मा के उत्थान के लिये आते हैं, आत्मा को पावन बनाने के लिये आते हैं। दस दिन में तुम सीख लो और पूरे वर्ष भर उनका पालन करो।

भो ज्ञानी! जघन्य, मध्यम, उत्तम के भेद से क्षमा तीन प्रकार की है। जघन्य क्षमा का व्याख्यान कर रहे हैं। एक सत्य घटना है कि आचार्य महावीरकीर्ति महाराज कटनी में चातुर्मास

कर रहे थे। तेज बुखार था। खड़े होकर प्रतिमा के सामने सामायिक कर रहे थे। उसी बीच में काले नाग ने अंगुली दबा ली। देखना समता महाराज की। बोले—हे जीव! 'यदि आपका बैर है, तो बिलम्ब मत कर और नहीं है, तो मुझे सामायिक करने दे, परेशान मत कर।' साँप ने अंगुली छोड़ दी और चला गया। कटनी से सम्मेदशिखर पहुँचे। रात्रि में पर्वत पर साधना कर रहे थे, अचानक बहेलिया भाला लेकर निशाना बांधने लगा, कि आज तो बाबा पकड़ा गया। मृग नहीं मिला, कोई बात नहीं है, ये तो अकेले हैं। धन्य हैं वे योगी। शान्त खड़े हैं। आप बताओ, सामने वाला सशस्त्र है, आप भागकर कहाँ जाओगे? कहोगे तो क्या कहोगे? ज्ञानी को समझाया जा सकता है, पर अज्ञानी से क्या कहोगे? वे धीर योगी निश्चल हो गये, बहेलिया पास में आ गया। जिस आँख से निशाना बांध रहा था, वो योगी की आँख से मिल गई। जैसे ही उन पर दृष्टि पड़ी, उसका हृदय बदल गया। उसने भाले को फेंक दिया और चरणों में शीश झुकाकर बैठ गया। ऐसा क्यों हो गया? गर्मी को गर्मी से शान्त नहीं किया जा सकता, गर्मी को शीतलता से शांत किया जा सकता है। यदि मुनिराज भागते, तो बहेलिया की गर्मी बढ़ती। जब वे शांत खड़े रहे, तो वह भी शान्त होकर चरणों में बैठ गया।

जिन मुनिराज को देखके एक रागी भी साम्यता को प्राप्त कर ले, उन का नाम योगी है। यदि महाराज ये सोचते कि मेरे पुण्य से टल गया, तो आपने पुण्य में कर्त्तृत्व भाव रख दिया, तो आपकी क्षमा जघन्य हो गई। क्यों? किसी मिथ्यादृष्टि जीव ने बिना कारण अप्रिय वचन कहे, अकारण मुझे त्रसित करने का उद्यम किया, परन्तु यह समाप्त हो गया। उसने मारा नहीं था, अभी मारने को कहा भी नहीं था, मारने का मन में विचार किया था, उद्यम किया था और उस काल में तुम्हारे भाव आ गये कि देखो, मेरे पुण्य से उपसर्ग टल गया, तो आपके अंदर हल्का-सा रागभाव आया है और पुण्य पर चले गये आप, इसलिये आपकी क्षमा जघन्य हो गई। आप चिल्ला-चिल्ला कर कहो कि हमने तुम्हें क्षमा कर दिया, अरे भाई! क्षमा तो अंदर का भाव था और आपने प्रतिकार नहीं किया तो वैसे ही मालूम चल गया। अब कहने के भाव क्यों आये? इसका तात्पर्य है कि क्रोधकषाय तो चली गई, पर मानकषाय ने नहीं छोड़ा। क्रोधकषाय को तो सहन कर लिया, परन्तु मान के धक्के को सहन नहीं कर सका।

बिना कारण के कोई संक्लेश कर रहा है, ये जो मारने के वचन बोल रहा था, मुझे मारने को उद्यत हो रहा था, वह मेरे सुकृत से दूर हो गया। ये मध्यम क्षमा है, द्वितीय क्षमा है। प्रथम में भी नहीं हुआ, द्वितीय में भी नहीं हुआ। अब उत्कृष्ठ क्षमा, उत्तम क्षमा। शत्रु ने आकर बाण मार दिया, चील ने नेत्र निकाल लिये, गजकुमार मुनिराज के सिर पर सिगड़ी रख दी, उस समय का चिन्तन करो। रखनेवाले के भावों को मापो। जिसके सिर पर रखी थी, उसके भावों को मापो। दोनों उत्कृष्टता में थे। एक की कषाय की चरमसीमा और दूसरे की समता

की चरम सीमा। रखनेवाला कोई गैर नहीं था, श्वसुर था। भैया! परिवार के लोगों से, संबंधियों से बहुत सम्भलकर रहना। सबसे ज्यादा परिणाम यही खराब करते हैं। जब भी तुम्हारी समाधि भंग होगी, तो बाहर के लोगों से नहीं होगी, क्योंकि पड़ोसी तो पड़ोसी होता है। घर के कुरूवा से ही आँख फूटती है। बहुत संभलकर रहना। पता नहीं किसकी इच्छापूर्ति नहीं कर पाये, कौन बैर बांधके चला गया और जब तेरी साधुपर्याय हुई तो उपसर्ग करने आ गया। नहीं सहन कर पाया तो भोग भी गये, योग भी गया, भव बिगड़ गया। इसलिये आपको सल्लेखना करना है तो पहले से ही समत्व भाव में चले जाओ, साधुसंघ में चले जाओ। कुछ महीनों पहले मना कर देना कि हम आपके नहीं हैं, जिससे उनके अन्दर सहजता आ जाय, अन्यथा सुकुमाल, सुकौशल जैसा न हो। हे माँ! बेटे ने कौन-सा अपराध किया था? मात्र दीक्षा ही ली थी। पर माँ ने राग के वश होकर रौद्रध्यान से अपने ही बच्चे के तन को भख लिया। जिसे कभी पेट में रखा था, उसी से पेट भर लिया। देखो संसार की दशा। ज्ञानी! अभी से अभ्यास करो। समाधि भंग कराने वाली वस्तु रसना इंद्रिय है। खाने की भावना तीव्र रहती है। सब छूट जाता है, लेकिन खाना-पीना नहीं छूटता। शरीर काम नहीं कर रहा है, फिर भी तृषा सताती है।

भो ज्ञानी! क्रोध और मान, दो कषाय बहुत सताती हैं। लोभ और माया गौण भी हो जाती है। शरीर कमजोर हो गया है तो कषाय भड़कती है। इसलिये उत्तमक्षमा का अभ्यास करने की आवश्यकता है। वध होने पर भी मुनिराज विचार कर रहे हैं कि मैं अमूर्त्त हूँ, परमब्रह्मस्वरूप हूँ, इसके अपकार करने से मेरी क्या हानि हुई? इसके पुद्गल ने मेरे पुद्गल को चबाया है, मेरे चैतन्य का तो घात नहीं किया है। ज्ञानी! इसके लिये बहुत ताकत चाहिये, शक्ति चाहिये। कोई दो बात सुना दे तो बोले कि हमारा दिमाग खराब हो गया है। जिनके शरीर पर अग्नि रखी जाती हो, तप्त लोहे के आभूषण पहनाये जाते हों, करोंत से छीला जा रहा हो, फिर भी शांत हैं। घानी में पेला जा रहा है, फिर भी शान्त हैं। धन्य हो। ऐसे ऋषियों की वंदना है। वे सोचते हैं कि मुझे दु:ख ही क्या है? मृत्यु तो महामहोत्सव है।

मित्र तो मित्र होते हैं, पर ज्ञानी तो शत्रु को मित्र मानते हैं। ये मुस्कराहट दिलानेवाले लोग आपको अपने से हटा देते हैं, पर पीड़ा देनेवाले लोग आपको अपने का ज्ञान करा देते हैं। लगने लगता है कि संसार असार है, सब स्वार्थी हैं, अपने से बाहर हैं। पर ज्यादा राग में लिप्त हो गये तो सालों-साल बीत जाते हैं, लेकिन पता ही नहीं चलता कि हम न्यारे हैं। वात्सल्य से न्यारे नहीं होना, परन्तु राग से न्यारे बनके ही रहना, क्योंकि प्रायश्चित का कथन चल रहा है। ऐसे परम समरसी भाव में स्थित योगी की उत्तमक्षमा है।

भो ज्ञानी! समयसारभूत आत्मा को स्पर्श करने के लिये कितने द्वारों से निकलना पड़ेगा? पर भावना आज से शुरू कर देना। घर को पाठशाला कहना शुरू कर दो, तो आपको क्रोध

नहीं आयेगा। यदि अध्यापक ने गाल पर चाटा मार दिया और कह रहा था कि हम तुम्हारे पिताजी से शिकायत करेंगे, आप पढ़ाई करो। वास्तव में आप पिता होंगे तो प्रसन्न हो जाओगे कि देखो ईमानदारी से हमारे बच्चे को अध्ययन करा रहा है। दु:ख नहीं होगा पाठशाला में गाल पर पड़े चाँटे का। ऐसे ही घर को पाठशाला मानेगा तो कष्टों को सहन करने का अभ्यास हो जायेगा, फिर शेर की हुंकार को भी सहन कर पाओगे।

पं. गोपालदास जी बरैया एक बार पूस माह में बाहर प्रवचन करने गये। शाम को विलम्ब से ठिठुरते हुये आये। देर से आने के कारण पंडितानी ने पहले से व्यवस्था कर ली थी। जैसे ही पंडित जी ने बोला 'दरवाजा खोलो', दरवाजा तो नहीं खोला, ऊपर से ठंडे पानी से भरी बाल्टी उड़ेल दी। पंडित जी की समता तो देखो। बोले, देवी! अभी तक तू गरजती थी, आज बरस भी गई। पंडित जी शान्त थे। अब सोचना, जब बरसी होगी तो कितनी तीव्र कषाय होगी, कितने विकल्प किये होंगे कि ऐसे-ऐसे पानी डालेंगे, कितना आस्रव किया होगा? वहाँ पर भी यही चिन्तन करना, प्रभु! इस जीव का दोष नहीं है, मेरा ही दोष है। मेरे ही निमित्त से बेचारा इतनी कषाय कर रहा है। मेरे निमित्त से अपने कर्मों का बन्ध कर रहा है। काश! मेरा निमित्त न होता, तो उसके ऐसे परिणाम न होते। वहाँ पर भी अपने को संभाल रहे हैं और उसकी गल्ती को भी अपनी गल्ती मान रहे हैं। इससे बड़ी साधना और क्या हो सकती है?

भो ज्ञानी! इस प्रकार से क्षमा के द्वारा क्रोधकषाय को जीतकर, मानकषाय को मार्दव से, मायाकषाय को आर्जव के द्वारा, लोभकषाय को संतोष से, इस प्रकार से चारों कषायों के जीतने के उपाय बताये हैं। आपको उपाय तो बता दिये। भोजन तो बनाके रखा जा सकता है, लेकिन खाने के लिये आपको अपना मुँह तो चलाना पड़ेगा। कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि हमने उपाय तो बता दिये हैं, पर चलना आपको ही पड़ेगा। अब आपको जैसा रुचे, वैसा करो। जब आप अपने बेटे को समझाकर थक जाते हो, तो कहते हो कि जैसा लगे, वैसा करो। कुन्दकुन्द स्वामी 'रयणसार' में लिख रहे हैं–

असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुहसुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चदे तं कुज्जा।। रयणसार 57।।

आपको जैसा रुचे, वैसा करो। लेकिन ध्यान रखना अशुभ परिणति से नरक का आस्रव होगा, शुभ से स्वर्ग का आस्रव होगा और शुद्ध से सिद्धि की प्राप्ति होगी। तीनों को समझ लो और जैसा आपको अच्छा लगे, वैसा कर लो। भो ज्ञानी! शुद्ध ही अच्छा लगे तो अच्छी बात है। समता के, संतोष के जल से अपने कर्मपुंजों को धो लेना।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : शुद्ध ज्ञान को स्वीकार करने वाले को प्रायश्चित होता है

गाथा : उक्किट्ठो जो बोहो, णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं।
जो धरइ मुणी णिच्चं, पायच्छित्तं हवे तस्स॥ 116॥

संस्कृत छाया : उत्कृष्टो यो बोधो ज्ञानं तस्यैवात्मनश्चित्तम्।
यो धरति मुनिर्नित्यं प्रायश्चित्तं भवेत्तस्य॥ 116॥

अन्वयार्थः (तस्य एव आत्मनः) उसी आत्मा का (यः उत्कृष्टः बोधः) जो उत्कृष्ट बोध है (ज्ञानं) ज्ञान है (चित्तं) चित्त है, उसको (यः मुनिः नित्यं धरति) जो मुनि नित्य ही धारण करते हैं (तस्य) उनके (प्रायश्चित्तं भवेत्) प्रायश्चित्त होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने शुद्ध निश्चय-प्रायश्चित अधिकार की गाथा 115 में चार कषायों को जीतने का उपाय बताया। क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, मायाचारी को आर्जव से और लोभ को संतोष के माध्यम से जीतें। आचार्यभगवन् ने क्षमा के तीन भेद किये। उत्तम, मध्यम, जघन्य। उत्तम क्षमा वहीं है, जहाँ साधक यह समझता है कि मेरे ब्रह्मस्वरूप को शत्रु ने कुछ नहीं किया। जो कुछ हुआ है, यह देहजन्य है, कर्मजन्य व्यवस्था है। परन्तु इसने मेरी आत्मा का कोई घात नहीं किया। ये घात कर भी नहीं सकता था, क्योंकि अमूर्तिक पर मूर्तिक का कभी प्रहार होता नहीं। वह मूर्तिक है, मूर्तिक ने मूर्तिक का ही प्रहार किया है, लेकिन हमारी अमूर्तिक आत्मा पर इस जीव ने कुछ भी नहीं किया है। और जो शरीर के माध्यम से हमें पीड़ा हुई है, वह इसकी अज्ञानता का ही परिणमन है। यदि ये ज्ञानी होता, तो ऐसा क्यों करता? इस प्रकार का निर्मल चिंतन साधक करता है।

आचार्य गुणभद्र स्वामी 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ में कह रहे हैं–

चित्तस्थमप्यनवबुद्धय हरेण जाड्यात्
क्रुद्धवा बहिः किमपि दग्धमनङ्ग बुद्धया।
धोरामवाप स हि तेन कृतामवस्थां
क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः॥ आत्मानुशासन 216 ॥

महादेव ने अपने चित्त में स्थित कामदेव को नहीं जानकर, जड़ता से कुद्ध होकर, किसी व्यक्ति को कामदेव समझकर, तृतीय नेत्र प्रकट कर, उसको ध्वस्त कर दिया। जबकि वे ही घोर काम की पीड़ा से अपने आपकी अवस्था को क्या स्वस्थ कर पाये? उनकी हालत क्या

हुई? काम के बाण से विंध कर उन्होंने अपने पूरे जीवन की विद्याओं को ही नष्ट कर लिया। इसलिये आचार्य महाराज कह रहे हैं, कि क्रोध के उदय से किसकी हानि नहीं होती? कभी-कभी बनते हुये काम भी बिगड़ जाते हैं। जो तुम्हारे थे, वे पराये हो जाते हैं। वे आपका पूरा सहयोग कर रहे हों, पर आप भ्रमवश उन्हीं पर बरस पड़े, कुपित हो गये। भो ज्ञानी! किसी के सिर को पकड़कर जबर्दस्ती अपने चरणों में रखवा भी लोगे तो वो वंदना नहीं कहलायेगी। यह वंदना नहीं है। वह बेचारा अपनी कृतज्ञता से पीड़ित होकर तुम्हारे चरणों की वंदना कर रहा है। जब वंदनीक के प्रति वंदनीय भाव होते हैं, वह वंदना है। ध्यान रखना जीवन में, क्रोध के कारण अपने कार्य की हानि मत कर लेना। क्रोध के माध्यम से होनेवाली क्षति का कथन किया, अब आचार्यमहाराज आगे मानकषाय की बात कर रहे हैं–

चक्रं विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं
यत्प्राव्रजन्ननु तदैव स तेन मुच्येत्।
क्लेशं तमाप किल बाहुबली चिराय
मानो मनागपि हतिं महतीं करोति॥ आत्मानुशासन 217॥

जब भरतेश जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध में पराजित हो गये, तो उन्होंने कुपित होकर बाहुबली पर चक्र चला दिया। वह चक्र बाहुबली की तीन प्रदक्षिणा देकर वापस चला गया। जिनके दक्षिण बाहु पर स्थापित हुआ चक्र, ऐसे चक्र को छोड़कर बाहुबली ने दीक्षा ले ली और इतनी घोर तपस्या की, कि उनको उसी समय मोक्ष हो जाना चाहिये था। लेकिन नहीं हुआ। क्यों? वे बाहुबली स्वामी क्लेश को प्राप्त करके चिरकाल तक खड़े रहे, क्यों? उनके अन्दर मान था, मान के पीछे एक वर्ष तक खड़े रहे। अहो! तृतीयकाल में उत्पन्न, श्रेष्ठ संहनन से युक्त, कामदेव, चक्रेश भरत के लघु भ्राता, तीर्थंकर के पुत्र, गणधर के भैया, ऐसे पुण्यात्मा जीव भी एक मानकषाय के पीछे एक बरस तक खड़े रहे।

भो ज्ञानी! आप क्या हो? तनिक से मान के पीछे हम क्या नहीं करते? और मान ही मायाचारी को उत्पन्न करा देता है। जीव सोचता है कि येन-केन-प्रकारेण सम्मान तो प्राप्त करना ही है। तो फिर मायाचारी करता है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि किंचित् मान भी महाहानि करता है। इसलिये मान का विसर्जन करो। आगे आचार्यभगवान् मायाकषाय के विषय में कह रहे हैं–

भेयं मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिन् लीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादि विषमाहयः॥ आत्मानुशासन 221॥

भो ज्ञानी! यहाँ माया की चर्चा कर रहे हैं। तू संसार के बाह्य दृश्यों से बहुत डरता है, राहु से डरता है, दु:खों से डरता है, लेकिन दु:ख प्रदान करने वाली माया से भयभीत नहीं होता है। भो ज्ञानी! तूने नरक के दु:खों को नहीं देखा। एक तिर्यंच के दु:खों को देख लो। तुम्हारे आँखों के सामने उस पर छुरी चलाई जा रही है, छीला जा रहा है, काटा जा रहा है, वो मुख से आवाज भी नहीं निकाल पा रहा है। जो मायाचारी की थी, उसका परिणाम तिर्यंच रूप में सामने है। आप छुड़ा भी नहीं सकते उसको। परन्तु अपने आपको उस पर्याय में जाने से छुड़ा लो। उन पर दया नहीं कर पा रहे हो, कम-से-कम अपने पर दया कर लो। इसलिये भयभीत हो जाओ मायाचारी से। ये जीव सहजता में कितनी मायाचारी कर लेते हैं, धर्मक्षेत्र में भी। नमस्कार करने के भाव नहीं हैं, लेकिन समाज में रहना है, इसलिये नमस्कार कर रहा है। बंध तो होगा ही। आप शुद्धोपयोग की बात कर रहे हो, शुभोपयोग का ही घात हो गया।

भैया! माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य हैं। जब तक तीन शल्य दूर नहीं हो रहे हैं, तब तक व्रती भी नहीं हो। "नि:शल्यो व्रती"। पद्मपुराण में कथा आती है कि एक मृदुमति नाम के मुनिराज थे। एक ऋद्धिधारी मुनिराज ने एक पर्वत पर चातुर्मास किया था। वहाँ देव, नगरवासी वंदना करने आते थे। चातुर्मास के उपरांत वे विहार कर गये और वहाँ मृदुमति नाम के मुनिराज विराजमान हो गये, तो लोग उनकी वैसी ही पूजा करने लगे। मुनिराज के मन में भाव आ गया कि यदि मैं बता दूँगा कि मैं वो मुनिराज नहीं हूँ, तो लोग वैसी पूजा नहीं करेंगे। चतुर्थ काल का वह श्रमण, जो सिद्ध बनने जा रहा था, मायाचारी के प्रभाव से तिर्यंचगति का बन्ध किया और आगे चलकर त्रिलोकमंडल नाम का हाथी हुआ, जो लंकेश का प्रधान हाथी था। इतना बड़ा दृष्टान्त, मुनिराज का दृष्टान्त क्यों रखा? आचार्यमहाराज बताना चाह रहे हैं कि एक महाव्रती के भाव ऐसे हो जायें तो हाथी बन सकता है, तो हे अणुव्रतियो, अव्रतियो! तुम्हारी क्या दशा होगी? कभी कोई नाराज न हो जाये, इसलिये हम उसके सामने उस जैसी बात कर लेते हैं, लेकिन ये छल है, मायाचारी है। बंध तो होगा ही।

भो ज्ञानी! क्षणिक सुख, क्षणिक वाहवाही के पीछे त्रैकालिक सुख की सत्ता मत खोओ। जो परदे के राम होते हैं, वे लक्ष्मण के वियोग में फूट-फूटकर रोते हैं। देखनेवाले लोग रोने लग जायें लेकिन परदे के अंदर रावण के साथ पान खाते मिलते हैं। ये परदे के राम की क्रिया है। कौशल्या के राम कभी ऐसा नहीं करते। इसलिये जीवन में कौशल्या के राम बनने का प्रयास करना, परदे के राम नहीं बनना। भैया! भयभीत हो जाओ, किससे? इस मायारूपी महा गड्ढे से। वो गड्ढा कैसा है? मिथ्यात्व के घोर अंधकार से व्याप्त है। इस अंधकार के

कारण क्रोध आदि जो सर्प बैठे हैं, दिखते नहीं हैं। मायाचारी के कारण क्रोधकषाय, मिथ्यात्व भी आ जाता है। इसलिये मायाचारी से बचने का प्रयास करना चाहिये।

भो ज्ञानी! नाटक को नाटक कहो। जो नाटक को वास्तविकता कहता है, वह मायाचारी करता है। आप नाटक के ब्रह्मचारी हो तो नाटक के ब्रह्मचारी ही कहना। नाटक के ब्रह्मचारी हो और वास्तविक बनके पूजा करा रहे हो, तो ध्यान रखना, परिणाम तुमको ही भोगना पड़ेगा। नाटक में कोई मुनि बने, तो कोई उसको नमोऽस्तु नहीं करता, क्योंकि सबको मालूम है कि नाटक का पाठ कर रहे हैं। परन्तु तुम मुनि बनके नाटक करोगे तो छल-कपट होगा। नाटक में मुनि तो बना जा सकता है, पर मुनि बनके नाटक नहीं किये जा सकते।

स्वामी ब्रह्मगुलाल की कथा सुनो अचरजकारी।
हँसी-खेल में स्वाँग रचाया, जिनमत की दीक्षा धारी॥

ब्रह्मगुलाल बहुरूपिया बनके स्वाँग रचाता था। राजा ने एक बार कहा कि दिगम्बर मुनि बनकर आओ। ब्रह्मगुलाल कहने लगा, राजन्! बन तो सकता हूँ, पर एक सप्ताह का समय लगेगा, क्योंकि ये मिटनेवाला वेश नहीं है, ये बननेवाला ही वेश है। आठवें दिन ब्रह्मगुलाल मुनिराज बनके आ गये। दिगम्बर मुद्रा, पिच्छि-कमंडलु धारण करके। राजा ने खड़े होकर नमोऽस्तु किया और उच्चासन दिया राजसभा में। ब्रह्मगुलाल मुनि ने धर्म का उपदेश दिया। सभा विसर्जित होने पर राजा ने कहा, कि अपने असली वेश में आ जाओ। 'राजन्! असली वेश में आना होता तो हमने आपसे सात दिन क्यों माँगे थे? असली वेश को नकली वेश बनाने की बात कर रहे हो, असली वेश तो बन चुका है।' राजा समझाता है कि नहीं-नहीं, आपने ये स्वाँग रचाया था। उस समय ब्रह्मगुलाल कहते हैं कि खेल-खेल में साधु तो बना जा सकता है, पर साधु बनके खेल नहीं होते। अब जो स्वीकार किया, तो किया। पत्नि समझाती है, माँ समझाती है, तो क्या कहते हैं? किसकी स्त्री, किसकी माँ? ये पर्याय के धर्म हैं, इनको छोड़ो। धन्य हो। एक बहुरूपिया मुनिराज बन गया। भो ज्ञानी! मुनिराज बनके बहुरूपिया मत बनना।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि माया के गड्ढे में मिथ्यात्व का अंधेरा है, क्रोधरूपी नाग बैठा है। अतः तुम भयभीत हो जाओ। उस माया के गड्ढे में मत जाओ। यदि सांप की वामी में गिर जाये तो बच सकता है, मंत्रवादी मंत्र पढ़के जहर उतार सकता है, लेकिन मायामति के शरीर की आत्मा में जो जहर भरा है, वह मंत्रवादी से नहीं उतरता। उसमें तो आर्जवधर्म का मंत्र ही काम में आ सकता है, और कोई मंत्र काम नहीं कर सकता। आचार्यमहाराज गुणभद्र स्वामी अब पापों के पिता चौथी लोभकषाय की चर्चा कर रहे हैं–

वनचरभयाद्धावन् दैवाल्लताकुलवालधिः
किल जडतया लोलो वालव्रजेऽविचलं स्थितः।
बत स चमरस्तेन प्राणैरपि प्रवियोजितः
परिणततृषां प्रायेणैवंविधा हि विपत्तयः॥ आत्मानुशासन 223॥

ये जीव प्रतिदिन सुनता है कि क्रोध, मान, माया , लोभ कषाय हैं, ये पाप के हेतु हैं। ये जब प्रकट होते हैं, तब विवेक कहाँ चला जाता है? रोज सुन रहा है, रोज समझ रहा है, फिर भी विवेक एक क्षण को कहाँ विलय को प्राप्त हो जाता है? राग की दशा देखो, जंगल में स्वतंत्र विचरण कर रही है चामरी गाय। शिकारी के भय से व्याकुल होकर चामरी गाय तेज दौड़ती है कि कोई पकड़ नहीं सकता। लेकिन लता-बेल में उसके पूँछ के बाल उलझ गये, तो बालों के राग के कारण खड़ी हो जाती है, कि बाल टूट न जाये। मोह के कारण वह शिकारी द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। राग की दशा देखो कि विशाल काठ के वृक्ष को खोखला करने वाला भौंरा कमलपुष्प को नहीं छेद सका और मृत्यु को प्राप्त हो गया। रणभूमि में हजारों योद्धाओं को परास्त करने वाले, उनकी भुजाओं को तोड़ने वाले वीर सुभट कमला की भुजा से अपनी भुजाओं को नहीं छुड़ा सके और नरक में आकर गिर पड़े। तृष्णा से परिणत हुए जीवों को प्रायः करके ऐसी विपत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कषाय को जीतने की प्रेरणा देते हुये कहते हैं–

क्षमया क्रोधकषायं मानकषायं च मार्द्दवेनैव।
मायामार्जवलाभाल्लोभकषायं च शौचतो जयतु॥ कलश 182॥

क्षमा से क्रोधकषाय को, मानकषाय को मार्दव के द्वारा, मायाकषाय को आर्जव द्वारा और लोभकषाय को शौचधर्म के द्वारा जीतो।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 116 नं. की गाथा में कह रहे हैं कि जो आत्मा का उत्कृष्ट बोध है, ज्ञान है, चित्त है, उसको नित्य धारण करता है, वह आत्मा में ही चित्त को लगाता है, पर में नहीं, उनके ही प्रायश्चित है। जो चित्त को निज ज्ञान को, निज बोध को, निज में लीन किये है, उनके ही उत्कृष्ट प्रायश्चित नाम का तप है। यहाँ कह रहे हैं कि शुद्ध ज्ञान को स्वीकार करने वाले को ही प्रायश्चित होता है। जो विशिष्ट धर्म है, वह ही सही बोध है, ऐसा अर्थ लगाना है। यह मत समझना कि बहुत शास्त्रों को जान लिया तो उत्कृष्ट ज्ञानी हो गये। जो उत्कृष्ट धर्म अर्थात् स्वात्मा में लीन हैं, वे मुनि ही उत्कृष्ट ज्ञानी हैं।

भो ज्ञानी! ज्यादा ज्ञान करोगे, तो ज्यादा विकल्प बढ़ेंगे, लोगों से परिचय बढ़ेगा। अज्ञानी बनके रहोगे, तो लोग तुमसे दूर रहेंगे, अज्ञानी समझेंगे, लेकिन तुम अपने आप में ज्ञानी होगे।

पैसा जब भी संभालते हो, भीड़ में नहीं संभालते, गुप्तरूप से संभालते हो। ऐसे ही निज ज्ञान को संभालने के लिये बहुत गुप्त स्थान चाहिये। किसी विषय को समझना बहुत सरल होता है, परन्तु उसे व्यवस्थित करके उससे लाभ निकाल लेना बहुत कठिन होता है। एक व्यक्ति दानों से कुछ नहीं कर पा रहा है और दूसरा व्यक्ति दानों से अनेक दानें उत्पन्न कर गोदाम भर रहा है। यही तो बीजबुद्धि ऋद्धि है। एक अक्षर, एक शब्द सुना, तो सब समझ लिया। तो ऐसा है परमबोध। जिनकी संयमाचरण में लीनता ही स्वरूपाचरण में लीनता है, ऐसे योगी की चर्चा कर रहे हैं। बोधज्ञान और चित्त, ये पर्यायवाची शब्द हैं। यह बोधज्ञान, जीव के जो प्रकाशरूप से चित्त है। जो परम संयमी हैं, वे नित्य ही ऐसे चित्त को धारण करते हैं। उनके ही निश्चित रूप से निश्चय-प्रायश्चित होता है, ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य यह समझना कि जो परमयोगी निजस्वरूप में रमण कर रहे हैं, उनके ही निश्चय-प्रायश्चित है, शेष के नहीं। वही मोक्ष का हेतु जानना।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : निश्चय-प्रायश्चित समस्त आचरणों में परम आचरण है

गाथा : किं बहुणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माण खयहेऊ॥ 117॥

संस्कृत छाया : किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षिणां सर्वम्।
प्रायश्चितं जानीह्यनेककर्मणां क्षयहेतुः॥ 117॥

अन्वयार्थः (बहुना भणितेन तु किं) बहुत कहने से क्या (महर्षिणां सर्वं वरतपश्चरणं) महर्षियों के सभी श्रेष्ठ तपश्चरण को (प्रायश्चित्तं जानीहि) प्रायश्चित्त जानो (अनेक कर्मणां) जो कि अनेक कर्मों के (क्षयहेतुः) क्षय का कारण है।

नियमदेशना

मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने 116 वीं गाथा में यह बताया कि जो उत्कृष्ठ ज्ञान है, वही आत्मा का स्वरूप है, वही बोधि है। उस बोधि को जो योगी धारण करते हैं, वे ही निश्चय-प्रायश्चित हैं और निश्चय-प्रायश्चित का उपभोग व्यवहार-प्रायश्चित से ही होता है। व्यवहार प्रायश्यित के अभाव में निश्चय प्रायश्चित संभव नहीं है। यह सब कथनशैली है, वास्तव में स्वरूपाचरण की ही चर्चा है। निश्चय शब्द जहाँ क्रियाओं में लगा हो, वहाँ समझ लेना कि यह निर्विकल्प दशा है। निश्चय शब्द किसी भी आवश्यक में जुड़ा हो, किसी भी मूलगुण में जुड़ा हो, ज्ञान में जुड़ा हो, दर्शन में जुड़ा हो, चारित्र में जुड़ा हो, तो यह ध्यान रखना कि यह निश्चय शैली है, परन्तु वास्तव में अवस्था शुद्धोपयोग की है। निश्चय ज्ञान, निश्चय दर्शन, निश्चय चारित्र, निश्चय सम्यक्त्व, निश्चय आवश्यक, निश्चय प्रायश्चित, यह सब योगी की अंतरंग दशा है। इस अंतरंग दशा की प्राप्ति का हेतु बहिरंग रत्नत्रय की अनिवार्यता है। यहाँ विकल्प रूप से करने को कुछ भी नहीं है, परन्तु वास्तव में सबकुछ यहीं से प्रारंभ होता है। करने को सबकुछ हो रहा है, परन्तु उपयोग की निश्चय दशा है। और यह सारा-का-सारा विषय आप चतुर्थ से नहीं, पंचम से नहीं, षष्टम से नहीं, यह सप्तम गुणस्थान की और उससे आगे की व्यवस्था है। जहाँ मिथ्यात्व का अभाव है, असंयम का अभाव है, ऐसे अप्रमत्त दशा में बैठे योगी की यह निर्विकल्प दशा है।

यः शुद्धात्मज्ञान संभावनात्मा प्रायश्चित्तंह्त्र चास्त्येव तस्य।
निर्द्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं वन्दे नित्यं तद्गुण प्राप्तयेऽहम्॥ कलश 183॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इस कलश में कह रहे हैं कि जिन्होंने शुद्ध आत्मज्ञान की सम्यक् भावना से आत्मा को जाना है, उसी आत्मा के ही प्रायश्चित होता है। जिस जीव ने निज ज्ञान के द्वारा निज आत्मा को जान लिया है, ऐसे मुनीन्द्र के ही प्रायश्चित होता है। जिन्होंने नष्ट कर दिये हैं पाप के समूह, ऐसे योगीन्द्र की मैं नित्य वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। क्यों करता हूँ? ऐसे योगी के गुणों की प्राप्ति के लिये उन मुनीन्द्र के चरणों में नमस्कार करता हूँ। जिन्होंने निज शुद्धात्म-ज्ञान के द्वारा निज आत्मगुणों को जान लिया है, वे निश्चय-प्रायश्चित से युक्त हैं, ऐसे निर्विकल्प योगी के चरणों में हमारी वंदना है।

भो ज्ञानी! जब तक संयम में अनुराग नहीं, तब तक संयम की भावना कहाँ? और संयम की भावना जिसके नहीं है, उसके संयम कहाँ? किंचित् भी नहीं, कदापि नहीं, संभव नहीं है। आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 117 में कह रहे हैं कि अब मैं बहुत क्या कहूँ? ये महाऋषियों के सम्पूर्ण व्रत, तप, आचरण यह सभी प्रायश्चित हैं। तपस्या कर रहे, वह भी प्रायश्चित है। व्रत कर रहे है, वह भी प्रायश्चित है। साधना कर रहे, वह भी प्रायश्चित है। बोले, किस बात का प्रायश्चित? भो चेतन! अनादि से जो असंयम भाव किये आपने, उन असंयम भावों का प्रायश्चित ही तो संयमभाव है। जितना घोर असंयम किया है, उतनी घोर साधना करनी होगी, तभी तो घोर पापों का क्षय होगा। जो प्रायश्चित लिया जाता है, जो प्रायश्चित दिया जाता है, वह तो प्रायश्चित का प्रायश्चित होता है।

एक बोले, महाराज जी! हम व्रती नहीं बनना चाहते। क्यों? बोले, दोष लगाने से क्या लाभ है ? क्योंकि पंचमकाल चल रहा है। ठीक है, आप व्रती नहीं हो तो निर्दोष हो क्या? व्रती नहीं, तो निर्दोष नहीं। अरे भाई! आप व्रती बन गये, फिर दोष लगेगा, तो दोष धोने के भाव तो आते हैं। तुम दोषी होकर भी दोषी नहीं मानते और संतुष्ट हो। बोले, हम तो अव्रती हैं। भैया! किसी दशा में अव्रती महान नहीं है और व्रती सदोष भी महान है। इसका तात्पर्य दोष का पोषण नहीं समझ लेना। वास्तव में चर्या तो निर्दोष ही होना चाहिये। यदि कदाचित किसी जीव की असमर्थता से उसके दोष लग गया, तो उसके भाव आते हैं तो प्रतिक्रमण करेगा, प्रायश्चित करेगा, प्रत्याख्यान करेगा। जिस समय प्रतिक्रमण कर रहा है, दोष धोने की क्रिया कर रहा है, तो जितने काल में प्रतिक्रमण होगा, उतने काल तक अशुभ से बचेगा। फिर उसने प्रत्याख्यान किया, तो अशुभ से बच गया। फिर उसने गुरु के सामने आलोचना की, इसके बाद प्रायश्चित लिया, यह किसने किया? संयमी ने। देखो संयम का प्रभाव कि उसे दोष, दोष नजर आ रहा है। देखो असंयम का प्रभाव कि वह इंद्रियविषय भोगते हुये भी संतुष्ट है। बोला, हमारा क्या दोष है? यह तो हमारा अव्रत गुणस्थान है।

भो ज्ञानी! संयमी जो प्रायश्चित लेने जा रहा है, वह प्रायश्चित जो कर रहे थे, उस प्रायश्चित करने में जो दोष लगा है, उसका प्रायश्चित कर रहा है। तात्पर्य यह है कि हमने पूर्व में अनादि से अनाचार किया है, उसका प्रायश्चित है। वैराग्य क्यों होता है? संयम धारण के परिणाम क्यों होते हैं? जब व्यक्ति अंतरंग में छटपटा जाता है। मधु राजा को देखो। इधर से उधर से बाण छूट रहे हैं, खून की नदियाँ बह रही हैं, राज्य के पीछे कुछ नहीं देख रहा है। या तो मैं या शत्रुघन। गज पर बैठा सम्राट मधु, गज से उतर गया, बाण छोड़ना बंद कर दिया, केशलुंचन प्रारंभ कर दिया। शत्रुघन चरणों में गिर गया। मधु कहाँ रहा? वे मुनिराज बन गये। 'नमोस्तु, स्वामिन्! क्षमा करो'। रणभूमि ही वैराग्यभूमि बन गई। यही है भेदविज्ञान, ज्ञान की दशा है। वही ज्ञान की दशा है जिसमें चारित्र परिणत हो जाये। प्रायश्चित तो गज पर बैठे शुरू हो चुका था, 'मैंने इतने जीवों का बध किया है, इससे धुलने का उपाय एकमात्र महाव्रत है।' समरभूमि में ही दीक्षा ले ली। ये समरभूमि में मरे जीवों का प्रायश्चित था। केश उखड़ गये, युद्ध बन्द हो गया। सब सहज ही हो गया, कुछ करना नहीं पड़ा। सहज में नहीं लगता है कि हमने पुरुषार्थ किया है, थकान नहीं आती है। जब सहज नहीं होता है, तब कार्य बने या न बने, लेकिन थकान होती है, क्योंकि करने में कर्तृत्वभाव आता है। कर्तृत्वभाव होने पर भी 'सहज' शब्द आ जाये, तो थकान नहीं आती है। इसलिये कर्त्ता नहीं बनना, पर करते रहना।

एक ज्ञानी बोले, महाराज जी! मुनि बनने का कर्तृत्वभाव भी संसार है। भो ज्ञानी! वह कर्त्तापन भी श्रेष्ठ है जिसका फल अकर्तृत्वभाव है, परन्तु वह अकर्तृत्वभाव श्रेष्ठ नहीं है जिसके पीछे विषय भोग छिपे हुये हैं, नरक-निगोद छिपा है। तुम सुबह से सर्विस करने जाते हो, व्यापार करने जाते हो, परिवार चला रहे हो और शब्दों में कहते हैं महाराज श्री! सब सहज हो रहा है। वास्तव में ये अकर्तृत्वभाव में भ्रम है। वास्तव में अकर्त्ता कहने का भाव लाना ही तेरा कर्त्ता होना है। "यः करोति सः कर्त्ता"। जो भाव भी करे, तो कर्त्ता। इसलिये "मैं अकर्त्ता हूँ" यह शब्द भी जिसके अंदर नहीं आ रहा है, "मैं कर्त्ता हूँ" यह शब्द भी नहीं आ रहा है, तब क्या हो रहा है? बस, हो रहा है। कर्त्तापने का कभी त्रैकालिक अभाव अंदर होता नहीं, अकर्तृत्व भाव कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है अन्यथा सिद्धात्मा/शुद्धात्मा शुद्ध सुख का कर्त्ता कैसे होगा? द्रव्य कूटस्थ हो जायेगा। शुद्ध परमेश्वर भी शुद्धभाव का कर्त्ता है, शुभ स्वभाव का कर्त्ता है, पर कर्तृत्वपने का विकल्प नहीं है। 'समयसार' जी यह नहीं कहता कि तुम अकर्त्ता बन जाओ। वह कहता है कि कर्त्तापने के अहंकार का अभाव कर दो। कर्त्ता तो कभी नष्ट हो नहीं सकता, ये जीव त्रैकालिक कर्त्ता रहता है।

'समयसार' जी का कर्त्तृ-कर्म अधिकार कर्त्तृत्वभाव का विनाश नहीं कराता, कर्त्तृत्व भाव में लगे राग का त्याग कराता है, नहीं-तो पूरा जैनदर्शन का सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा। कर्त्तृ-कर्म अधिकार लिखने का कुन्दकुन्द स्वामी का उद्देश्य सांख्य मत का खण्डन है। मैं कर रहा हूँ, मैं करूँगा, मैंने किया, मैंने करवाया, मैं करवा रहा हूँ, मैं करवाऊँगा, मैं करने की अनुमोदना कर रहा हूँ, मैंने करने की अनुमोदना की थी, मैं अनुमोदना करूँगा। ये त्रैकालिक कर्त्तृत्वभाव विकल्प ही तुझे संसार में रखे हुये हैं। मैं द्रव्य का परिणामी नहीं हूँ। मैं परद्रव्य भाव के उपादान का कर्त्ता नहीं हूँ। मैं परद्रव्य के उपादान को कराने वाला नहीं हूँ। परद्रव्य के उपादान को कराऊँगा नहीं। उपादान मेरे नहीं कराने पर भी हो रहे हैं। कराओ आप, इसमें परिणमन क्या करा सकते हो? हो रहा है कि नहीं? इसको तो छोड़ो, यह अत्यन्त भिन्न है। जिस शरीर में तुम बैठे हो, उसको करके दिखा दो। क्या आपने अपने शरीर को वृद्ध किया है, आप वृद्ध करोगे, आप इसको पुनः शिशु बना दोगे? भो ज्ञानी! इस भ्रम में मत पड़ना। ये परिणमन इसमें हो रहा है, ये परिणमन इसका होगा, इसका परिणमन हुआ है। फिर कहना "होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।" ये निज भावों पर मत लगाना, परभावों पर लगाना। अज्ञानी निज भावों पर लगा बैठता है और नरक में चला जाता है। मैं पर का परिणामी नहीं हूँ, पर मेरा परिणामी नहीं है। मैं स्वयं का परिणामी हूँ और पारिणामिक भी हूँ। मैं जगत का कर्त्ता नहीं हूँ, जगत मेरा कर्त्ता नहीं है। यदि सब सहज हो रहा है, तो पाप भी सहज है, तो फिर पाप को हेय क्यों? पुण्य को उपादेय क्यों? पाप-पुण्य से रहित अवस्था परम-उपादेय क्यों? जब-तक यह बुद्धि नहीं दौड़ेगी, तब तक सिद्धान्त समझ में नहीं आयेगा। इसलिये "निष्क्रियाणि च" क्या कह रहा है? जीव व पुद्गल तो सक्रिय हैं, परन्तु शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। किस अपेक्षा से? क्षेत्रांतरण की अपेक्षा से। परन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अपेक्षा से सभी सक्रिय हैं। अपने आप में सब सक्रिय हैं। मुर्दा भी सक्रिय है, क्योंकि वह पुद्गल है। यदि सक्रियपना उसमें नहीं होता, तो कोई अपने कंधों पर रखके श्मशान तक नहीं ले जा सकता था। उसकी क्रियावती शक्ति उसे वहाँ तक लेकर जा रही है। तुम चार निमित्त थे, जो उसमें कंधा लगाये थे। यदि आप कहो कि मैं ही चलाता हूँ, यदि निमित्त हो, तो धर्मद्रव्य को चलाके दिखाओ। अधर्मद्रव्य को चलाके दिखाओ, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य को चलाके दिखाओ। दिखा सकते हो क्या? तो मुर्दे को कौन ले गया? उस पुद्गल की क्रियावर्ती शक्ति के प्रभाव से आप ले जाने में निमित्त थे। यदि उसमें क्रियावर्ती शक्ति नहीं होती, तो आप नहीं ले जा सकते थे।

भो ज्ञानी! आप गाड़ी से यहाँ आये हो। गाड़ी आपको लेके आई है, कि आप गाड़ी को लेके आये हो? गाड़ी में क्रियावर्ती शक्ति थी और आप में क्रियावर्ती शक्ति थी, दोनों

की क्रियावर्ती शक्ति के प्रभाव से आप आ गये, परन्तु उसमें बहुत सारी वस्तु निमित्त थी, पेट्रोल, चक्के, ड्राइवर आदि। यह सब बाह्य निमित्त थे, परन्तु अंतरंग कर्त्ता तो क्रियावर्ती शक्ति थी।

भो ज्ञानी! आपको मनुष्यपर्याय तक कौन लाया? ये पुद्गल की क्रियावर्ती शक्ति का संयोग तेरे साथ न होता तो आज तू मनुष्यपर्याय में नहीं आ पाता। "होता स्वयं जगत परिणाम" ये जो बोल रहा है, ये भी तू नहीं बोल रहा है, पुद्गल की क्रियावर्ती शक्ति बुलवा रही है। पुद्गल शक्ति ओठ से ओठ टकरा रहे हैं, जीभ अंदर हिल रही है, सोच अन्दर बन रही है, शब्द बाहर निकल रहे हैं, ये सब पुद्गल का परिणमन है। एक दूसरे का सहयोग चल रहा है, मिली-जुली सरकार है। जीव की संसारी अवस्था मिली-जुली सरकार है। स्वतंत्र सत्ता तो सिद्ध बनके सिद्धशिला पर है।

आप किसी के साथ गाड़ी में बैठकर गये। गाड़ीमालिक गाड़ी रोककर कहीं चला गया और आप गाड़ी में बैठे हो। वह गाड़ी आपकी नहीं है, लेशमात्र भी तेरा उसमें नहीं है। जब तक गाड़ीमालिक नहीं आ जाता है, तब तक आप उसमें अपनत्व भाव रखते हो, क्योंकि उसमें बैठकर आये हो। भो ज्ञानी! ऐसे ही ये पुद्गल 'पर' की गाड़ी है। त्रैकालिक सत्ता तो यही है कि गाड़ी मेरी नहीं है, लेकिन मुझे बिठाल कर लायी है। इसी प्रकार ये पुद्गल मनुष्यपर्याय में रखे हुये है। तू इसको भोजन-पानी देता है, ये कर्त्तृत्व भाव से दे रहा है या कर्त्तव्य भाव से दे रहा है? देखना, कर्त्तव्य भाव और कर्त्तृत्व भाव में कितना अंतर है? इस शरीर से मैं रत्नत्रय की आराधना करता हूँ, इसलिये अपना कर्त्तव्य बनाता है कि इसे एक बार भोजन दे दो। कर्त्तृत्व भाव कहेगा, अरे भाई! अच्छा लगता है, शरीर को पुष्ट रखो, भोग भोगो। कर्त्तृत्व और कर्त्तव्य की परीक्षा एक मिनट और कर लो, उसका नाम सल्लेखना है। कर्त्तव्य भाव से देखता है कि गाड़ी अब चल नहीं रही है, क्या करूँ? अब ऐसा करो कि इसे छोड़ दो और कर्त्तृत्व भाव क्या कहता है? अरे भाई! वैद्य को बुलाओ। ये शरीर काम नहीं करेगा तो दुकान कैसे चलाऊँगा, खेत कैसे जाऊँगा? इसलिये दवाई आदि खिला दो, जिससे तनक और चल जाये। ये कर्त्तृत्व भाव बोल रहा है और कर्त्तव्य भाव क्या कहेगा? जब तक निर्विकल्पता चले, तब तक देते जाओ। जब निर्विकल्पता का घात करने लगे, तो इसको हटाओ। गाड़ी छोड़ दो, नई खरीद लो। जब कर्त्तव्य भाव का भी अभाव हो जाता है, फिर वहाँ स्वभाव-भाव ही रहता है। फिर वहाँ कहना षट्कर्त्तव्य के भाव भी परभाव हैं, निजभाव ही मेरा निज स्वभाव है। स्वभाव-चारित्र व्यवहार-चारित्र के अभाव में कभी चलता नहीं है। परन्तु व्यवहार-चारित्र में स्वभाव-चारित्र पलता है।

भो ज्ञानी! जब योगी अंदर जाता है, तो अंदर में स्वयं जानता है, बाहर के व्यक्ति अंदर को नहीं जानते। जब अंदर में जाता है, तो बाहर का पता नहीं होता कि क्या हो रहा है? ऐसे ही व्यवहार में जीने वाले को विभाव का पता नहीं चलता। इसलिये आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि अब बहुत क्या कहें? व्रत, तपश्चरण ये सब प्रायश्चित है, ऐसा जानना और यह प्रायश्चित अनेक कर्मों के क्षय का हेतु है। जब आप प्रायश्चित ही नहीं कर रहे हो, कर्मक्षय का हेतु ही आपके पास नहीं है, तो कर्मक्षय किस बात का? त्रैकालिक सत्ता तो ऐसी है जैसे होटल में रखा पकवान। तुम्हारे पास दाम नहीं है, यदि देखके भूख मिटाई जा सकती हो, तो मिटा लो। प्रायश्चित, संयम आदि दाम अगर तुम्हारे पास नहीं है, तो त्रैकालिक सत्ता तो त्रैकालिक दिख रही है, लेकिन भोगने को तुम्हें मिलनेवाली नहीं है।

भो ज्ञानी! मैं कर्म से बद्ध हूँ, यह जानते हैं मुनिराज। मैं कर्म से लिप्त हूँ, यह भी जानते हैं मुनिराज। मैं कर्मस्वभावी नहीं हूँ, यह भी जानते हैं मुनिराज। मुनिराज वे ही कहलाते हैं, जो निर्ग्रन्थ होने के उपाय में लगे होते हैं। मुनिराज वे ही होते हैं, जो निर्बन्ध दशा की प्राप्ति पर चलते हैं। वे ये भी जानते हैं कि मैं इस शत्रु से छूट रहा हूँ, परन्तु वो ये भी जानते हैं कि इस शत्रु से अभी मिलके चलना है। मुनिराज ये जानते हैं कि किराये के भवन में हूँ, लेकिन यदि हमने गड़बड़ कर दिया तो काम बिगड़ जायेगा, इसलिये थोड़ा रुक जाओ। जैसे ही ध्यान की अग्नि लगाई, तो अब मौका है छोड़ने का। पहले करी सेवा। खूब खिलाया, खूब पिलाया और देख लिया कि मौका है तो एक क्षण में त्रैकालिक सत्ता को पकड़ा और उसको यूँ धक्का दिया कि परमाणु बिखरकर गिर गये। परन्तु देखना अंदर की क्रिया को। स्वयं ने किया है और बाहर के देखने को सबके सामने किया है। ये सब चल रहा है। स्वाध्याय कर रहे हैं, प्रतिक्रमण कर रहे हैं, सब दिख रहा है, सब देख रहे हैं, नमोऽस्तु कर रहे हैं। पर अंदर का लक्ष्य कुछ और है। निजी लक्ष्य है। इसलिये भो ज्ञानी! आचार्यभगवान् जो कह रहे हैं, उसको स्वीकार कर लो। प्रायश्चित ही परम तप है, वह लक्ष्य है। साधक का लक्ष्य पुद्गल को खिलाना, सजाना नहीं होता है, परन्तु मकान खाली करना है तो सब करना होता है। किरायेदार से काम निकालना है तो उसे खिलाना भी पड़ता है। इस शरीर को किराये का भवन ही मानके चलना और आज से पुरुषार्थ करना शुरू कर देना। यह किराये का ही है और अपना मानके बैठे हो, यह भूल कब तक रहेगी? भो ज्ञानी! इस पर्याय में विवेक मिला है, इसलिये अब इसी पर्याय में सुधार कर लो। भविष्य की पर्याय का पता नहीं कहाँ परिणमन हो जाये। इसलिये सुधर जाओ, संभाल लो, प्रायश्चित कर लो अपने कर्मों का।

भव्य बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने 117 वीं गाथा में निश्चय-प्रायश्चित

अधिकार में कहा कि बहुत कहने से क्या? व्रत, तपश्चरण आदि ये सभी महाऋषियों में जो हैं, ये प्रायश्चित हैं। जो परम तपस्या में निरत हैं, ऐसे परम योगीश्वरों के समस्त आचरण ही परमाचरण हैं। जो भी तपस्या है, जो भी साधना है, वह सब प्रायश्चित ही है। प्रायश्चित में एक तप नामक प्रायश्चित भी होता है। आपको उपवास करना है, अनशन नामक तप हो गया। नीरस करना है, इसका त्याग हो गया। आप जो तपश्चरण आदि कर रहे हो, यह सब आपका प्रायश्चित है। निश्चय-व्यवहारात्मक जो परम तपश्चरण है, वह परम जितेन्द्रिय योगियों के संसार से प्रतिबद्ध द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के नाश करने का हेतु है। वही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित है। तपश्चरण ही प्रायश्चित है, ऐसा जानो।

भो ज्ञानी! ज्यादा कहने से क्या लाभ? क्योंकि ज्यादा बातें करना भी असत्य की कोटि में आ जाता है, जिसे मोखरिया/वाचाल कहा जाता है सत्य व्रतों में और अनर्थदण्ड में मोखर है, तो उसके लिये कह रहे हैं बहुप्रलाप। जो साधक समितिपूर्वक भाषण करता है, तो उसे बहुतकुछ कहने के लिये सोचना पड़ता है और जहाँ आपने बहुत बोलना शुरू किया, तो फिर स्खलन प्रारम्भ हो जाता है। कि ये ही तो कहा, यह तो नहीं कहा। अब ये कह रहे है कि यद्यपि हमने बहुत परिणमन कर दिया। अब असत्य से तात्पर्य झूठ नहीं लेना। असत्य से तात्पर्य बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह निश्चय का कथन चल रहा है। असत्य से व्यवहारदृष्टि और सत्य से निश्चयदृष्टि। व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और निश्चय को भूतार्थ कहा है। अभूतार्थ यानि असत्यार्थ , भूतार्थ यानि सत्यार्थ। यहाँ असत्य से तात्पर्य व्यवहार लगाना, असत्य से तात्पर्य झूठा नहीं लगाना। यानि व्यवहार की बातें करने से क्या लाभ? जो तपश्चरण होता है, वह सबका-सब प्रायश्चित है। सम्पूर्ण कर्मों के विनाश का कारण शुद्ध निश्चय-प्रायश्चित है।

अनशनादितपश्चरणात्मकं
सहजशुद्धचिदात्मविदामिदम्।
सहजबोधकलापरिगोचरं
सहजतत्त्वमघक्षयकारणम्॥ कलश 184॥

मनीषियो! जो जीव यह कहते हैं अध्यात्मशास्त्र को अपने रूप ढालना, ये अध्यात्म का अविनय है। अध्यात्म के अनुसार ढालना, ये आगम का विनय है, अध्यात्म का विनय है। ये मत कहना कि तपश्चरण आदि असत्य हैं, झूठे हैं। मैंने अध्यात्म को पढ़ करके अपने स्वरूप में जाने का ज्ञान कर लिया है, यही तो आचरण है। नहीं है? अध्यात्मशास्त्र जिस आचरण की बात करता है, अभी उस आचरण की अव्रती अवस्था में सुगंध भी नहीं है। व्यवहार आचरण

तो द्वार है। व्यवहार आचरण के बाद जो आचरण प्रारम्भ होता है, उसका नाम अध्यात्मशास्त्र का आचरण है। उसी का नाम आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मानुभवन है। जब व्यवहार-संयम को अभूतार्थ कह दिया, तो असंयम को भूतार्थ कहाँ लिखा होगा? जिनकी दृष्टि में 28 मूलगुणों को पालना अभूतार्थ है, उनकी दृष्टि में इंद्रियों के भोग भोगना कैसे भूतार्थ होगा? इंद्रियों के भोग कितने हैं? 27 इंद्रियों के और 1 मन का। अध्यात्मशास्त्र में कुन्दकुन्द देव कह रहे हैं कि 28 मूलगुणों के पालन की परिणति भी अभूतार्थ है। व्रत, संयम, शील को पालन करने वाला जीव निर्वाण को प्राप्त नहीं होता। यह कुन्दकुन्द स्वामी ने 'समयसार' जी में लिखा है। तो फिर कौन जायेगा निर्वाण को? असंयमी जायेगा क्या? पूरी गाथा का अर्थ देखो। यदि व्रत, संयम, शील का पालन परमार्थ से बाह्य होकरके कर रहा है, तो निर्वाण को प्राप्त नहीं करेगा और परमार्थदृष्टि से युक्त होकर करेगा, तो नियम से निर्वाण को प्राप्त करेगा। कुन्दकुन्द स्वामी की दृष्टि से वही निश्चय-व्यवहार है, जिससे निश्चय की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है और जिस व्यवहार से परिणति नहीं बनती, वह व्यवहार नहीं, व्यवहाराभास है।

भो ज्ञानी! दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पालन ही व्यवहार है तो आप निश्चय को तो छोड़ो, व्यवहार में भी नहीं हो, क्योंकि 'समयसार' की गाथा नं. 7 में लिखा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो भेद हो रहा है, वह व्यवहार है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र की व्यवहार-भेद परिणति जो चल रही है, वह व्यवहार है। दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा में लीनता, वह निश्चय है। छठवें-गुणस्थान से व्यवहार से शुरू होकरके 14 वें सिद्ध तक चलेगी रत्नत्रय की परिणति। आप जो समझेंगे 14 वें गुणस्थान तक की भूमिका, वह सब व्यवहार से समझोगे, परन्तु जो जाननेवाला है, वहाँ परम निश्चय ही विराजा है, क्योंकि उनके विकल्प तो आप करा रहे हो। वह ऐसी दशा है कि जैसे जिसका जिसके साथ संबंध होना है उसे जितना विकल्प नहीं है, पर उनके माता-पिता को कितना विकल्प है? जब तक सात फेरे नहीं पड़ जायें, तब-तक माता पिता को घोर विकल्प है कि कुछ हो न जाये। जिसका संबंध हुआ है, वह इंद्रियसुख में लीन है, परन्तु संबंध कराने वाले अभी भी चर्चाओं में लीन हैं कि ऐसे बारात आई, ऐसे सबकुछ हुआ। परन्तु वो एकान्त में इंद्रियभोग में लिप्त है। ऐसे ही निर्ग्रन्थ दशा में बैठा योगी वह अपनी निज रमणी में लिप्त है, परन्तु चर्चा करने वाला कोई छठवाँ कोई सातवाँ कह रहा है। पर जो गुणस्थान में विराजा है, वह अपने गुणों में लगा हुआ है। इसी का नाम आत्मानुभव है। गुणस्थान में विराजा गुणस्थान की बातें नहीं करेगा, क्योंकि वो तो 14 वें गुणस्थान सिद्धत्व की ओर जा रहा है। पर आप गुणस्थान की चर्चा करके कभी-कभी गुणों का भी घात कर लेते हो। गुणस्थान में इतना राग?

ज्ञानी! गुणस्थान चौथा या चौदहवाँ, ये बात छोड़ो। आप ये देखो कि चौथे की परिणति और चर्या कैसी होती है? चौथे की चर्या बन गई, तो चौदहवें का मार्ग प्रशस्त है और चौथे की चर्या नहीं बनी, तो चौदहवें का मार्ग भी प्रारंभ नहीं हुआ। पुनः समझना। जिस आगम में 28 मूलगुणों को असत्य कहा हो, उस आगम में इन्द्रियविषयों को सत्यार्थ कैसे कहा जायेगा? असत्य से तात्पर्य अभूतार्थ/व्यवहारदृष्टि है। वहाँ झूठा शब्द नहीं लगाना। दोनों भूतार्थ-अभूतार्थ हैं, क्योंकि पदार्थ को भूतार्थ नहीं कह रहे हैं, अभूतार्थ भी नहीं कह रहे हैं। पदार्थ को समझाने की दो दृष्टियाँ हैं, उनकी चर्चा चल रही है। यहाँ भूतार्थ नहीं लगाना। पदार्थ तो अपने आप में ही भूतार्थ है।

जैसे एक पुद्गल द्रव्य। यह सत्य है, कि असत्य है? पूर्ण सत्यार्थ पुद्गलद्रव्य कहना, पेन नहीं कहना। सत्यार्थ है, पर इसमें भूतार्थपना भी है, अभूतार्थपना भी है। पेन कहना अभूतार्थ है, क्योंकि इस उपाधि की अवस्था आ गई। प्लास्टिक कहना अभूतार्थ। भूतार्थ भी है कथंचित, क्योंकि इस पुद्गल को आपने प्लास्टिक संज्ञा दे दी है। संज्ञा की अपेक्षा से तो पेन कहना भी भूतार्थ है। एवंभूतनय यह कहेगा कि इससे लिखा जाता है, इसकी कलम संज्ञा होती है। ठीक है, परन्तु भूतार्थ है कि अभूतार्थ है? द्रव्य की अपेक्षा से ये अपने आप में अवक्तव्य है, ये अपने आप में मौन है। आप इसे क्या कह रहे हो? आप अपने ज्ञान का विषय बना रहे हो। ज्ञेय अपने आप में जड़रूप है। ये ज्ञेय कह रहा है कि मैं अपने आप हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ, लेकिन ये दृष्टियाँ आपकी हैं। आपने मुझे पेन की संज्ञा दी है। आपने कोई दूसरी संज्ञा दी है। पदार्थ भूतार्थ सत्ता में है, पर सौपाधिक अवस्था में जब कथन करते हैं तो उसे निश्चय कहेगा अभूतार्थ, पर व्यवहार अपने आप में कहेगा मैं भूतार्थ हूँ। क्यों भूतार्थ हूँ? क्योंकि जिस रूप में मैं कहा जा रहा हूँ, उस रूप से मेरा प्रयोग भी कहा जा रहा है, इसलिये भूतार्थ हूँ। लेकिन द्रव्यत्व दृष्टि पर जब जाओगे, तो कहेगा कि ये सब बाहर की व्यवस्था है। वास्तव में यह तो पुद्गल द्रव्य है। व्यवहार भूतार्थ-अभूतार्थ ये कथन इनमें भी अपेक्षा है। यदि व्यवहार भूतार्थ-अभूतार्थ है, तो वह व्यवहार की अपेक्षा से अभूतार्थ नहीं, भूतार्थ है। यदि व्यवहार अभूतार्थ नहीं है, तो निश्चय की अपेक्षा से भूतार्थ है, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से वह भी अपने आप में भूतार्थ है। सभी कथन अपेक्षाकृत हैं, इसलिये कोई विवाद नहीं है।

द्रव्य अपने आप में स्वतंत्र है। जब द्रव्य अपने आप में होगा, अपने रूप में होगा, अपने स्वभाव में होगा, तो अपने स्वभाव की दृष्टि से, अपने चतुष्टय की दृष्टि से उसे जितनी उपाधियाँ दी जा रही हैं, वे सब अभूतार्थ हैं। जीव को जीव कहना भी अभूतार्थ है, क्योंकि

यह संज्ञा किसी के द्वारा प्रदत्त है। जो जीव है, उसे आप कह नहीं सकते, इसलिये आपको उसकी संज्ञा देनी पड़ी। तो फिर हम भूतार्थ को जानेंगे कैसे? भूतार्थ का ज्ञाता भूतार्थ को भूतार्थरूप जानता है। भूतार्थ का ज्ञाता भूतरूप में जानता है। भूतार्थ का ज्ञाता भूत का व्याख्यान नहीं करता। वह परमार्थदृष्टि है। क्योंकि फिर वहाँ से शुरू हो जाता है कि केवली भगवान् चराचर द्रव्यों को युगपत जान रहे हैं, देख रहे हैं, परन्तु उस समय दिव्यदेशना नहीं खिर रही है। तो कैसा जान रहे हैं, कैसा देख रहे हैं? भूतार्थ है न? लेकिन जैसी संज्ञा दी गई है, उपाधियाँ हैं, वे सोपाधिक हैं। जिसको जैसी संज्ञा दी गई है, उस संज्ञा की अपेक्षा से भूतार्थ है। आपको कुछ समय पहले भैया कहा जाता था, अब आपको क्षुल्लक जी कहा जाता है, तो आप किसे भूतार्थ कहेंगे, किसे अभूतार्थ कहेंगे? भैया जी अभूतार्थ हो गये, क्षुल्लक जी भूतार्थ हो गये, लेकिन वो भी भूतार्थ, ये भी भूतार्थ। और ये भी अभूतार्थ और वे भी अभूतार्थ। दोनों अभूतार्थ हैं। क्योंकि जब तू जन्मा था, तब न भैया था, न क्षुल्लक संज्ञा थी। वो क्या था जिसमें कोई संज्ञा नहीं थी? न असंज्ञा न संज्ञा। वो ही वस्तु का स्वरूप था।

भो ज्ञानी! वह अजनत्व भाव है, वो ही भूतार्थ है। जाना तो आपको वहीं है। जहाँ जन्मपना है, जहाँ मृत्युपना है, वह सब अभूतार्थ है। इसलिये जन्म असत्य का होता है, मरण असत्य का होता है। सत्य का न जन्म होता है, सत्य का न मरण होता है। गोयल नाम किसका है? अभूतार्थ का, कि भूतार्थ का? जिस वंश की पहचान गोयल नाम से होती थी, उस वंश में तूने जन्म लिया, तो स्वयं को गोयल कहने लगा। किसी ने चौधरी वंश में जन्म लिया, तो कहेगा कि चौधरी वंश सत्य है। सिंघई परिवार में जन्म लिया तो मैं ही सत्य हूँ, मैं ही श्रेष्ठ हूँ। परन्तु अभी तुम्हें श्रेष्ठता का पता नहीं है। तुम जिनको श्रेष्ठ मान रहे हो, वे सब झगड़े सब झूठे हैं। एकमात्र जीव ही सत्य है। वही भूतार्थ है। उसी का आश्रय लेना है। बाकी सब अभूतार्थ हैं।

भो ज्ञानी! शुद्ध कहना भी असत्यार्थ है, अशुद्ध कहना भी असत्यार्थ है। "जो है, सो है" ये शब्द आना भी असत्यार्थ है। द्रव्य अपने आप में मूक है, अवक्तव्य। आपके कहने का विषय नहीं बनता। जो कहा जा रहा है, सबकुछ जो मुख से कहा जायेगा, वह सब झूठा होगा, परन्तु जो स्वानुभव में आ रहा है, वह ही सत्यार्थ है। जहाँ कह दिया, तो झूठा हो गया। असत्यार्थ। ये आचार्य हैं, ये उपाध्याय हैं, ये साधु हैं, ये सोपाधिक दशा है। इसलिये 'समयसार' में प्रतिक्रमण में एक ऐसा अधिकार आता है मुनियों का कि मैं अरहन्त/सिद्ध पद का त्याग करता हूँ, आचार्य पद का त्याग करता हूँ, उपाध्याय पद का, साधु पद का त्याग करता हूँ। वे इन पदों का त्याग करा रहे हैं, फिर बचेगा क्या? क्योंकि सोपाधिक-भाव अहं-भाव है,

निरूपाधिक भाव अहंभाव है। जितना उपाधियाँ हैं, वे सब अभूतार्थ हैं। सिद्ध संज्ञा भी संसारियों के लिये है। सिद्धों के लिये आपकी सिद्ध संज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं है। उनके लिये तो सिद्ध शब्द भी अभूतार्थ है।

भो ज्ञानी! पहले वृक्ष उगाया, फिर उसमें से तिल का दाना निकाला। तिल के दाने में तुम तेल देख रहे हो, परन्तु उसके ऊपर छिलका है। पूरा तोड़के आँखों से देखना, कहीं तेल नहीं दिखता है। उसी को घानी में पेला, तो तेल निकल आया। ऐसे ही शरीर में आत्मा है, लेकिन शरीर को तोड़-फोड़ दोगे, तो वह तुम्हें दिखेगी नहीं और यदि विधिपूर्वक निकालने का प्रयास करोगे, तो प्राप्त हो जायेगी। यदि कोल्हू न हो, तो दाने को मत फोड़ देना, अन्यथा तिल नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार से निर्मल संयम की वृत्ति न मालूम हो तो कुसंयम को स्वीकार करके अपना नाश मत कर लेना। निश्चय का भान नहीं है, तो व्यवहार को छोड़के मत बैठ जाना, अन्यथा तेरा दाना भी गया और तेल भी गया।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अनशन आदि तपश्चरण भूतार्थ हैं, क्योंकि भूतार्थ तो सत्ता को प्रगट करने का मार्ग है। सहज शुद्धात्मा, सहज शुद्ध चेतन आत्मा के बिना उसको जानने वालों के लिये सहज भोग, जो सहज ज्ञानकला के गोचर है, उसका विषय है सहज तत्त्व। ऐसा अनशनादि तप, सहज तप पाप का क्षय करने वाला है, इसलिये जड़ की क्रिया कह करके अपने आप को धोखे में मत डालना। यह 'नियमसार' परमागम ही चल रहा है। संयमाचरण को जड़ की क्रिया कहके जीवों ने आत्मा के साथ घोर छल किया है। असंयम को असंयम नहीं मान रहा है। मात्र शुद्ध-बुद्ध ये शब्द कहकर संतुष्ट होकर अपनी आत्मा के साथ छल कर लिया। संयमभाव कैसा होता है, ये मत पूछो। एक क्षण के अब्रह्म भाव के बाद का चिंतन और एक दिन के ब्रह्मचर्य के पालन में जो अनुभूति आ रही है, जो सुख महसूस हो रहा है, उसका अनुभव करो सहज भाव से, फिर देखो कि सुख जिसे हम मान रहे थे, वह सुखाभास था। जो सुख है, यह है।

दर्शन ग्रन्थों में बाल-गोपाल के उदाहरण मिलते हैं। बाल अर्थात् बालक, सरल बुद्धि वाला। गोपाल यानि ग्वाला, जड़ बुद्धि, कम बुद्धि वाला। बाल-गोपाल का कथन मायाचारी से रहित होता है। अब्रह्म भाव को ग्वाला भी अच्छा नहीं मानता है। बालक के सामने कोई गलत क्रिया करो तो वह भी उसको अच्छा नहीं कहता है। जब बाल-गोपाल भी इसको अच्छा नहीं मानते, तो तेरी भगवान्-आत्मा उसे अच्छा मानकर कैसे बैठी है? इसलिये ध्यान रखना, तपश्चरण का अर्थ जड़ की क्रिया नहीं, तपश्चरण का अर्थ जड़क्रिया से दूर हटना है। लोगों ने बाहरी क्रिया को धर्म मान लिया और उसका नाम तपश्चरण दे दिया। जबकि हमारा व्यवहार

भी तपश्चरण को अंदर की क्रिया कह रहा है। आप घी के त्याग को घी का त्याग क्यों मानते हो? यह आपकी दुर्बुद्धि है। अध्यात्म से पूछो। उसने घी नहीं छोड़ा। जो घृत में रागदृष्टि बैठी थी, उसको छोड़ा। रागदृष्टि को छोड़े बिना भोजन ही नहीं चलता। बोले, आज घी की रसी थी, कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। यही तो संयम भाव था, इसे ही तो छोड़ना था। त्यागी ने छोड़ दिया तो तुम कह रहे हो कि जड़ की क्रिया है। जब तक अध्यात्म को विवेकबुद्धि से नहीं समझेगा और चरणानुयोग का पालन करने वाला जब तक आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं पालेगा, तब तक दोनों भ्रम में हैं। मैंने घृत नहीं, घृत के प्रति की गई रागबुद्धि को हटाया है। जब घृत के प्रति रागबुद्धि नहीं है, तो फिर घृत मुख में पहुँचा कैसे? इसलिये यह कभी मत कहना कि ये तो वे करें जिन्हें आत्मज्ञान न हो। भैया! आत्मज्ञान नाम की कौन-सी वस्तु है? आत्मज्ञान को लिखने वाले निर्ग्रन्थ योगी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी थे। वे मुनि होकर लिख रहे हैं, पर आपने मुनिचर्या को तो गौण कर दिया और मुनिचर्या से निकले स्वानुभव को, स्वानुभूति को अपने में जोड़ लिया। स्वानुभव को भेष तो देना चाहिये लेकिन स्वानुभव की प्राप्ति के उपाय को पहले रख लेना चाहिये। घृत हमारी दृष्टि में झलक रहा है तो बाजार से पहले दूध लाना होगा। बिना दूध के घृत बनेगा कैसे? मुझे दूध नाम का द्रव्य चाहिये। दूध नाम का द्रव्य 'घृत' संज्ञा को प्रकट कर पायेगा। ऐसे ही संयमाचरण की संज्ञा से हम स्वरूपाचरण की उत्पत्ति कर पायेंगे और स्वरूपाचरण के माध्यम से यथाख्यात को प्राप्त करके परम पारिणामिक स्वभाव में लीन हो जायेंगे। ये आत्मा की वास्तविक दशा है। सदाचरण से संयमाचरण, फिर स्वरूपाचरण, तब यथाख्यात को प्राप्त करोगे, तब कभी परम पारिणामिक भाव प्रकट होता है।

ज्ञानी, अज्ञानी की परिणति को देखना। उम्र हो गई, शक्ति क्षीण हो गई, सो ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। उनकी भावना देखना। दूसरे ने युवावस्था में व्रतों के राजा शील को स्वीकार कर लिया। एक दृष्टि में असमर्थता प्रकट हो रही है, दूसरी दृष्टि से राग छूटा। पर जिसने व्रत लिया, उनको आपकी दोनों दृष्टियों से कोई प्रयोजन नहीं है। वह तो कह रहा है, कि मैं तो अपने आप में हूँ। एक युवा ने दीक्षा ले ली। एक कहता है कि उसको कमाना-धमाना नहीं आता होगा, कुछ करना नहीं आता होगा, कोई व्यवस्था नहीं होगी, ऐसे ही लोग साधु बनते हैं। दूसरा कहता है कि धन्य हो, ऐसी अवस्था में इंद्रियों के वेग को रोककर रखा है।

भो ज्ञानी! भिखारी भीख माँग कर काम चलाता है, पर संयमी नहीं बन जाता है। नौकरी करने पहुँच जाता है। उससे कहो कि तुम्हारी सब व्यवस्था बन जायेगी, ब्रह्मचारी बन जाओ, पर तैयार नहीं होता है। जीव विद्वान् बनके, प्रवचनकार बनके जी लेता है, पर ब्रह्मचारी नहीं

बन पाता है। संयम गरीबी से नहीं होता, संयम अमीरी से नहीं होता। संयम तेरी कषायों की गरीबी से होता है। जिसकी कषाय गरीब हो जाये, वह संयमी बन जाये और जिसकी कषाय अमीर है, वो संयमी नहीं बन सकता। जब संयमाचरण होगा, तभी स्वानुभव झलकेगा। इसलिये आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो सहज तत्त्व है, वो ही पापों के क्षय का कारण है।

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वदव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्म्यशुक्लम्।
कर्मव्रांतध्वान्तसद्बोधतेजो–लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि॥कलश 185॥

पुनः कह रहे हैं कि यह प्रायश्चित निश्चय से उत्तम आत्मा को प्रगट करनेवाला है। यह उत्तम जीवों के होता है, हीन जीवों के नहीं होता है। उत्तम पुरुष पहले तो दोष करते नहीं हैं। आठ वर्ष के हुये, दीक्षा ले ली, दोष किया ही नहीं। यदि कदाचित दोष हो भी जाता है, तो वे अपने दोष को छुपाते नहीं, प्रायश्चित कर लेते हैं। अधम पुरुष वे होते हैं, जो एक तो दोष पर दोष करते हैं और फिर दोष को दोष नहीं मानते। ये सबसे बड़ा दोष है कि दोष की ग्लानि भी नहीं करते।

कुछ लोग सुबह से जगे, भोजन किया, काम में लग गये। शाम को भोजन किया, फिर सो गये। पुनः दूसरे दिन जगे, वही क्रिया। सोचा करो कि क्या कर रहे हैं। चार दिन एक-सी ड्रेस पहने रहो, तो लगता है कि बदल लो। आपको नहीं लगता कि कितने जन्मों से तुम एक ही भोग भोग रहे हो, फिर भी बदलने का विचार नहीं करते? आत्मभोग की ओर चलो, बहुत समय बीत गया। समय का इंतजार मत करना, ये पंचमकाल है। पंचमकाल की जैसे उम्र बढ़ेगी, वैसे वैराग्य घटेगा, राग बढ़ेगा। यह पंचमकाल की विशेषता है। वर्त्तमान में युवा साधु क्यों दिख रहे हैं? वासनाओं के उदय में आने के पूर्व निज में वास कर लो। उम्र बढ़ने के साथ सोच ही नहीं बन पाता कि मैं कुछ करूँ। फिर अपने आप को इतना हीन मान लेता है कि मैं तो संयम पाल ही नहीं सकता हूँ। आगे उम्र हो जाये तो कहता है कि इस काल में संयम पलता ही नहीं है। यह सबसे खोटी समझ है। यदि सब ऐसा सोचें, तो जैनदर्शन ही नष्ट हो जायेगा। पंचमकाल के अंत तकचतुर्विध संघ रहेगा। अंत में वीरांगज मुनिराज होंगे, वह बात कहाँ जायेगी? भैया! संयमी बन जाओ। न बन सको तो भी अभी से संयम की भावना का घात/नाश मत कर बैठना अन्यथा सम्यग्दर्शन की बात झूठी हो जायेगी। यदि आपकी दृष्टि में आ गया कि अब तो संयम नहीं पल सकता, इसका तात्पर्य है कि देव, शास्त्र, गुरु ही नहीं बचे, अब श्रद्धा किस पर करें? जबकि आगम का कथन अकाट्य है।

भो ज्ञानी! मंदिर जी की वेदी की एक ईंट खिसक जाये, फिर भी आप वेदी का विनाश नहीं करते, शिल्पकार को जल्दी-से-जल्दी बुलाकर ठीक करवाते हो। जब जड़ वेदी को सुधारने के इतने भाव, वेदी के प्रति इतनी आस्था, तो फिर चेतन रत्नत्रय धर्म जिस वेदी पर विराजा है, उस वेदी की चर्या की एक ईंट खिसक रही हो, तो आपका कर्त्तव्य बनता है उसको सुधार लेना। 'प्रवचनसार' की भाषा में डली का सोना नहीं है और पंचमकाल में होगा भी नहीं। शिथिलाचार तो स्वीकार किया, परन्तु अनाचार स्वीकार नहीं किया। आहार करना अपवाद मार्ग है और निराहार स्वरूप में लीन होना, यह राजमार्ग है। कुन्दकुन्द देव की वाणी को अच्छी तरह समझो। उन्होंने भोजन के त्याग को निराहार नहीं कहा। भोजन करने के बाद भी लिप्सा का जहाँ अभाव है, उसे निराहार कहा। आत्मा निराहार ही है, अनशन-स्वभावी है। उन्होंने लिखा है कि डली का सोना ही चाहिये, लेकिन अब डली का सोना नहीं है। कुण्डल में सोना है, ये पक्का है कि शुद्ध नहीं है। आभूषण के सोने में मिलावट तो है, परन्तु सोनेपन का अभाव नहीं है। पंचमकाल में साधना करने वाले साधक में शुद्ध अपेक्षा संयमरूप सोना तो नहीं हैं, जिनकल्पी मुनि नहीं हैं, लेकिन ये परम निर्ग्रन्थ सत्ता को प्राप्त हैं। वह कुण्डल में विराजा सोना आज भी है और रहेगा। अपवाद इतना हुआ कि विपरीत परिणाम नहीं हो गया। निर्ग्रन्थ हो गये, अब अपनी सग्रंथता को ढको।

ज्ञानी! आपमें कोई कमजोरी है और अपनी कमजोरी को बहुव्यापी बनाना चाहते हो, तो वह कमजोरी अपने से बड़ों के ऊपर थोप दो, तो बहुत अच्छे से चलेगी। जब सग्रन्थ मुनि बन गये, तो सोचा कि हम टिकेंगे कैसे? तीर्थंकर को कपड़ा पहनाओ, सो भगवान् की प्रतिमा को कपड़ा पहना दिया। लेकिन भगवान् को कोई वाँचता नहीं है। बिना साहित्य के शासन चलता नहीं है, अब क्या करें? शास्त्रों को और कपड़ा पहना दो। हमें स्त्री को मोक्ष दिलाना है, तो अब क्या करें? तीर्थंकर को भी स्त्री बना दो। हमें सबको साथ लेकर चलना है, तो क्या करें? तो झाड़ू लगवाते-लगवाते केवलज्ञान प्राप्त करा दो। भो ज्ञानी! इस बात को यथार्थ समझना। मूल का नाश नहीं कर सके। कल्पसूत्र में उन्होंने भी जिनकल्पी मुनि को दिगम्बर मुनि ही स्वीकारा है। भगवान् अजितनाथ को करपात्री ही लिखा है। तीर्थंकर महावीर स्वामी के दिगम्बर होने में उन्हें कोई विरोध नहीं है, परन्तु बेढंगी कथा लिखी है। राजकुमार वर्द्धमान दीक्षा लेके जा रहे थे, इन्द्रपट्ट उनके शरीर पर पड़ा हुआ था। मार्ग में विहार करते समय एक झाड़ी में वह वस्त्र उलझ गया। अहो परम भट्टारक वर्द्धमान योगी की निस्पृह दशा, निष्परिग्रह दशा। उन्होंने सोचा कि जब देह मेरी नहीं, तो देव-वस्त्र मेरा कैसा? उन्होंने फिर उसको स्वीकारा ही नहीं। फिर वो दिगम्बर अवस्था में रहे। वहीं से दिगम्बर धर्म का प्रारंभ

हो गया। इसके पहले 23 तीर्थंकर वस्त्रधारी थे, महावीर मात्र दिगम्बर थे। इस प्रकार की कथायें लिखी हैं, जिनमें पूर्वापर विरोध भी है कि आदिनाथ स्वामी करपात्री थे और करपात्री तो दिगम्बर मुनि ही होता है।

भो ज्ञानी! जब लोगों को अपना चलाना होता है, तो कुछ अच्छाइयाँ खोजकर लानी पड़ती हैं। उनको मिश्रित किया जाता है। तभी आप चल पाओगे। चोखे को खोटे में प्रवेश कराना पड़ता है। नहीं तो पूरा खोटा नहीं चल पाता है। धन्य हो उन आचार्य भगवन्तों को, श्रावकों को, जिन्हें जबर्दस्ती वस्त्रधारियों को पूजने के लिये प्रेरित किया गया तो उन्होंने देश ही छोड़ दिया। आज बुंदेलखण्ड और इस मध्यभारत में जितने दिगम्बर आम्नाय के लोग निवास कर रहे हैं, विशेष रूप से परवार समाज, अपनी धर्म रक्षा के लिये गुजरात छोड़कर यहाँ आ गये।

मेरी आत्मा नियम को प्राप्त कर शुद्ध नियम को प्राप्त करे। शुद्ध नियम से तात्पर्य निर्ग्रन्थ दशा, शुद्धोपयोग की दशा।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : तप प्रायश्चित है

गाथा : णंताणंतभवेण समज्जिअसुहअसुहकम्मसंदोहो।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा॥ 118॥

संस्कृत छाया : अनन्तानन्तभवेन समर्जितशुभाशुभ कर्मसंदोहः
तपश्चरणेन विनश्यति प्रायश्चित्तं तपस्तस्मात्॥ 118॥

अन्वयार्थः (अनन्तानन्तभवेन) अनंतानंत भवों के द्वारा (समर्जितशुभाशुभ कर्म संदोहः) उपार्जित किया गया शुभ और अशुभरूप कर्मसमूह (तपश्चरणेन विनश्यति) तपश्चरण से नष्ट हो जाता है (तस्मात् तपः प्रायश्चित्तं) इसलिये तप प्रायश्चित्त है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने परमशुद्ध निश्चय अधिकार में यह बताया कि द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित शुद्धद्रव्य चेतन-आत्मा में निश्चित होना ही निश्चय प्रायश्चित है। जहाँ संपूर्ण विधाओं का विराम है, वहीं निश्चय प्रायश्चित है। जब आगम निश्चय की बात को प्रारंभ करता है, तो वहाँ ये ज्ञातृत्व भाव से, भोक्तृत्व भाव से समझने की आवश्यकता है। गृहस्थ अवस्था में भोक्तृत्व भाव से समझोगे तो आपका ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व दोनों ही विनाश को प्राप्त होंगे। जब शुद्धात्मस्वरूप की चर्चा प्रारंभ होती है, वहाँ श्रावक उसे ज्ञातृत्व भाव से समझता है, योगी ज्ञातृत्व व भोक्तृत्व दोनों भाव से समझता है। जब श्रावकधर्म की चर्चा होती है तो श्रावक ज्ञातृत्व व भोक्तृत्व दोनों भावों से समझता है। मैं इस पद का भोक्ता भी हूँ और इस पद का ज्ञाता भी हूँ। यदि आप मुनिचर्या को श्रावकचर्या में समाविष्ट करेंगे, तो जीव हैरान हो जाता है, क्योंकि हमारी परिणति सराग रूप है। क्रिया सरागरूप है, चर्या सराग है, तो अनुभूति वीतराग कैसे होगी? ये वीतरागी चर्या, वीतरागी क्रिया के साथ ही अनुभूति वीतराग है, इस दृष्टि को समझना। उस वीतरागी की चर्या/क्रिया को समझने का निषेध नहीं है सरागी को। जब तक सरागी समझेगा नहीं, तो वीतरागी चर्या के प्रति अनुराग कैसे होगा? वीतरागी चर्या को समझना ज्ञातव्य भाव है और जो सरागता को छोड़ करके वीतरागता की ओर उन्मुख होता है तब वही जीव वीतरागी की चर्या को, क्रिया को ज्ञातृत्व व भोक्तृत्व दोनों भाव से समझता है।

भो ज्ञानी! अपने पद के अनुरूप परिणति करना ही समीचीन तत्त्व को समझना है। अपने

पद के अनुकूल सराग-संयम में बैठे मुनिराज अपने आप को वीतरागी सर्वज्ञ कहने लगें, तो यह उनकी अल्पज्ञता का द्योतक है। इसी प्रकार से सराग अवस्था में बैठा गृहस्थ-श्रावक यदि अपने आपको साधुस्वभाव की अनुभूति का व्याख्याता कहता है, तो वह अपनी अल्पज्ञता ही प्रकट करता है। दोनों अवस्थाओं को समझ करके और सहज अवस्था की प्राप्ति के लिये लघु तो बनना ही पड़ेगा। लघुता के अभाव में प्रभुता प्रगट नहीं होगी। जब तक लघुत्वभाव जीवन में नहीं आता है, तब तक गुणग्राही नहीं बन पाते हो, मानग्राही जरूर बन जाते हो। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जरा-सा भी कोई दोष होता है, तो उस दोष को दोष मानकर तुरंत ही निर्दोष होने का पुरुषार्थ प्रारंभ कर दो। जब भी आप परमात्मा की वंदना करते हो, तो एक शब्द 'निर्दोष' जोड़ देते हो। मेरी वंदना हो, नमस्कार हो, किसे? निर्दोष वीतरागी परमात्मा को। वह निर्दोष परमात्मा बनेगा कब? जब देशजिन निर्दोष होता है, तभी जिन निर्दोष बनता है, वही जिनवर निर्दोष बनता है, वही जिनवृषभ होता है, वह निर्दोष परमात्मा है। देशजिन 25 दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है, अविरत सम्यग्दृष्टि जीव निर्दोष देशजिन है। उसकी संज्ञा क्रम से बढ़ते-बढ़ते जिन, जिनवर, जिनवृषभ की होती है। इसलिये गृहस्थ अवस्था से ही निर्दोष बनने की आदत डालना चाहिये। आपके शासन में निर्दोष की उपासना है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि प्रायश्चित भी निर्दोष आत्मा ही लेती है। जब निर्दोष ही है, तो प्रायश्चित क्यों? प्रायश्चित निर्दोष आत्मा ही लेती है और निर्दोष होने के लिये लेती है। दोष यानि जिस संयम को स्वीकारा, उसमें दोष लग गया, उसका प्रायश्चित। फिर निर्दोष कैसा? निर्दोष यानि छलकपट से रहित व्यक्ति, मायाचारी से रहित व्यक्ति। वही अपने दोषों का निवेदन करके निर्दोष बनता है। सबसे बड़ा दोष माया, मिथ्या, निदान ये तीन शल्य हैं। जो इन तीन शल्यों से निर्दोष है, वही जीव निर्दोष बनने का विचार रखता है और जिनके शल्य चल रही है, वह निर्दोष होने का विचार कभी लाता ही नहीं है। वह तो छुपाकर रखता है। पाँच व्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह स्वीकार किये और चल रहे हैं, परन्तु परिणति में माया, मिथ्या, निदान भी पल रहा है, उसका पोषण चल रहा है, तो जिनवाणी कहेगी कि व्रती नहीं है। क्यों? "निःशल्यो व्रती"। इस अपेक्षा से निर्दोष आत्मा ही प्रायश्चित करती है। सदोष आत्मा को प्रायश्चित लेने के भाव ही नहीं आते हैं। माया, मिथ्या, निदान इन दोषों से युक्त अगर कोई जीव है, तो उसके प्रायश्चित लेने के परिणाम नहीं होते हैं। टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव 185 वें कलश में कह रहे हैं कि उत्तम पुरुष ही प्रायश्चित लेते हैं, उत्तम पुरुष के ही प्रायश्चित के भाव होते हैं–

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्म्यशुक्लम्।
कर्मव्रांतध्वान्तसद्बोधतेजो लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि॥कलश 185॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो प्रायश्चित है, वह उत्तम आत्मा के ही होता है यानि उत्तम जीवों के ही होता है। कैसे? परद्रव्य में नहीं, स्व द्रव्य में जो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के चिन्तन में लीन हैं, कर्मसमूह को ध्वंस करने के लिये जो शुद्ध ज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी तेज से युक्त हैं, अथवा निर्विकार महिमा से युक्त वह परम स्वभाव में लीन ऐसे उत्तम पुरुष ही , उत्तम जीव ही, प्रायश्चित के भागीदार होते हैं। जघन्य जीवों के परिणाम नहीं बनते। उन्हें ये भाव ही नहीं आते कि मैं दोष कर रहा हूँ। पाप की प्रचुरता में, कर्म की तीव्रता में, कषाय की तीव्र कलुषता में जीव दोष को दोष नहीं मानता है। अपना पुण्य का उदय उस दिन मानना, जिस दिन तुम्हारे भाव में ये आ जाये कि मैंने इतने पाप किये हैं। ये शब्द सहज आपके अंदर गूंजे, तो समझना कि आज मेरे पुण्यप्रकृति का अंश आया है। वर्षों-वर्षों बीत जाते हैं, व्यक्ति को एक दिन का व्रत करने का भाव नहीं आता। रोज खा रहा है, रोज पी रहा है, रोज दर्शन कर रहा है, जिनवाणी सुन रहा है, लेकिन ये भाव नहीं आता कि आज अष्टमी है, मैं व्रत कर लूँ। जिस दिन कषाय की मंदता होगी और पुण्यानुबंधी पुण्य की तीव्र प्रकृति काम कर रही होगी, तो सहज ही आपके भाव आयेंगे कि हमें भी कुछ व्रत, संयम का पालन करना चाहिये। अब मुझे राग छोड़ना चाहिये। चरणानुयोग का व्रत, संयम करना चाहिये। द्रव्यानुयोग क्या कहेगा? अब मुझे इन पदार्थों से राग छोड़ना चाहिये और करणानुयोग कहेगा कि अब हमें बन्ध के कारणों से बचना चाहिये। प्रथमानुयोग कहेगा कि अब तो हमें तीर्थंकरों-जैसी साधना करना चाहिये। चारों अनुयोग में बात एक ही है, आप समझ नहीं पा रहे हैं। चरणानुयोग कह रहा है कि अब कुछ व्रतों का पालन करना चाहिये। ठीक है, कषाय की मंदता में ऐसे भाव आ रहे हैं। करणानुयोग कहेगा कि बंध के प्रत्ययों से दूर होना चाहिये। द्रव्यानुयोग कहेगा कि अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिये। प्रथमानुयोग कहेगा कि अब हमें भगवंतों जैसी साधना करना चाहिये। क्या अंतर है? भाषा में अंतर है, भावों में कोई अंतर नहीं है। भाषा के पीछे बैठ गये तो भाव नियम से बिगड़ेंगे। इसलिये मुमुक्षु जीव चारों अनुयोगों की भाषा पर ध्यान नहीं देता है, चारों अनुयोगों के भाव पर ध्यान देता है। चारों अनुयोगों की भाषा भिन्न है, पर भाव भिन्न नहीं हैं।

भो ज्ञानी! जैसे सम्यक्त्व के दो भेद हैं, वे बाह्य निमित्तों की अपेक्षा से दो भेद हैं। निसर्गज, अधिगमज। पर अंतरंग निमित्त से दोनों समान हैं। अंतरंग हेतु एक है, बहिरंग हेतु में अंतर है। एक देशनापूर्वक होता है और दूसरा देशना के अभाव में भी होता है। उसी प्रकार चारों

अनुयोगों का उद्देश्य एक ही होता है, भाषा में असमानता है। इसलिये आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि भाषा पर मत जाओ, भावों पर जाओ। जैनदर्शन का आगम भिन्न-भिन्न भाषाओं में है-हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश। पर सब भाषाओं का भाव एक है। इसलिये भाषा कल्याण का हेतु नहीं है, भाव कल्याण का हेतु है। भाषा तो विषय को प्रतिपादित करने का माध्यम है, लेकिन भाषा मोक्षमार्ग नहीं है—

आत्मज्ञानाद्भवति यमिनामात्मलब्धिः क्रमेण
ज्ञानज्योतिर्निहतकरणग्रामघोरान्धकारा।
कर्मारण्योद्भवदवशिखाजालकानामजस्रं
प्रध्वंसेऽस्मिन् शमजलमयीमाशु धारां वमन्ती॥ कलश 186॥

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि संयमी के आत्मज्ञान होता है, कैसा? आत्मा की उपलब्धि के क्रम से, इंद्रियसमूह में व्याप्त विषयों का जो घोर अंधकार है, उसको योगियों ने अपनी ज्ञानज्योति से नष्ट किया है और ऐसे कर्मरूपी अरण्य में जो अग्नि की ज्वाला उत्पन्न हुई है, उसको समाप्त कर रहे हैं समता रूपी जल के द्वारा। आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति संयमी मुनियों को ही हो सकती है, अन्य को नहीं और उन्हें भी आत्मज्ञान के बल से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अध्यात्मशास्त्रामृतवारिराशे—
र्मयोद्धृता संयमरत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे
सालङ्कृतिर्मुक्तिवधूधवानाम्॥ कलश 187 ॥

आचार्यपद्मप्रभमलधारिदेव ने यहाँ बहुत सुन्दर उपमा अलंकार का उपयोग किया है। अध्यात्मशास्त्र रूपी अमृत की समुद्रराशि से ये संयमरूपी रत्न की माला मेरे द्वारा निकाली गई है। ये अध्यात्म की माला अज्ञानियों के कण्ठ का आभूषण नहीं है, यह अध्यात्म की माला तो ज्ञानियों के कण्ठ में शोभायमान होती है जो मुक्तिवधू के स्वामी हैं, जो मुक्तिवधू के कंत हैं, पति बनने वाले हैं। अध्यात्मशास्त्र के अवलम्बनपूर्वक धारण किया गया संयम मुक्ति को प्राप्त करा लेता है।

नमामि नित्यं परमात्मतत्त्वं, मुनीन्द्रचित्ताम्बुजगर्भवासम्।
विमुक्ति कांतारतसौख्यमूलं, विनष्टसंसारद्रमूलमेतत्॥ कलश 188॥

पुनः आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि मैं नमस्कार करता हूँ जो नित्य परमात्मतत्त्व है, जो मुनिराजों के हृदयकमल की कणिका पर निवास करनेवाला है, ऐसा जो मुक्तिकांता के लिये

अंततः उसके सुख का मूल है। जिससे संसाररूपी वृक्ष का मूल ही नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है, ऐसे परमात्मतत्त्व को मैं नमस्कार कर रहा हूँ। पुनः आचार्यमहाराज स्वात्मस्वरूप को बहुमान दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी दृष्टि में वही परमतत्त्व पूजनीय है, जिस परमतत्त्व की आराधना से ये आत्मा परमेश्वर बनती है। इसलिये परमतत्त्व की वंदना है।

'समयसार' जी में कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि नगर के स्तवन से राजा का स्तवन नहीं होता। समवसरण के स्तवन से तीर्थंकर की वंदना नहीं होती। यह विभूति की, वैभव की वंदना है। दो गोरे, दो सांवले, ये सब रंगों की वंदना है। क्या तू पुद्गल के धर्म को ही प्राप्त करना चाहता है जो तू वर्णों की वंदना कर रहा है? अरे! वर्णों की वंदना नहीं है, वह वर्णातीत भगवान्-आत्मा की वंदना है। जो वर्णातीत है, ऐसी भगवान्-आत्मा जो है चिद्रूप, उस भगवान्-आत्मा की वंदना है। वह परम शुद्ध स्वभाव है। यही परम पारिणामिक भाव है। उसकी मैं वंदना कर रहा हूँ। क्योंकि गुणों की वंदना है, यहाँ पर्याय की वंदना नहीं है, यहाँ पुद्गल की वंदना नहीं है। यह अध्यात्मशास्त्र है, इसमें पर्याय की वंदना नहीं है। परन्तु व्यवहारदृष्टि कहेगी कि बिना पर्याय के पर्यायी होता नहीं है, इसलिये पर्याय की वंदना भी पर्यायी की ही वंदना है। बिना पर्याय के पर्यायी नहीं होता। इसलिये अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की जय हो। ये हमने उस तीर्थंकर की जय बोली है जिसने परम स्वभाव को प्राप्त किया है। हमारी दृष्टि में उनके पुद्गल की वंदना नहीं है। द्रव्यानुयोग कहेगा कि हम उस पुद्गल के नाम पर भी क्यों वंदना करें? हम तो सीधे उस आत्मा की वंदना करते हैं। ये दृष्टि है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 118 में प्रायश्चित की अवस्था का वर्णन कर रहे हैं। मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द देव की दृष्टि कितनी विशाल थी? उन्होंने कहीं भी नहीं लिखा कि तपश्चरण मिथ्या है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में उमास्वामी भी लिखते हैं "तपसा निर्जरा च"। चमत्कार तो भक्ति से हो जाते हैं, चमत्कार तो श्रद्धा से हो जाते हैं। नमस्कार तो ज्ञान से हो जाता है, परन्तु कर्म का क्षय मात्र तपस्या से होता है। आप जिनालय में भक्तिपूर्वक आराधना करो, तो चमत्कार हो सकता है, क्योंकि चमत्कार प्रभु नहीं करते, उनके भक्त करते हैं। तीर्थंकरों के 35 अतिशयों में 14 अतिशय देवकृत होते हैं। लेकिन चमत्कार के लिये साधना नहीं करना, क्योंकि चमत्कार तो चमत्कार तक रहते हैं। चमत्कारों से कर्मक्षय होता तो तीर्थंकर भगवान् के जन्म से ही चमत्कार शुरू हो जाते हैं। गर्भ से ही रत्नों की वृष्टि शुरू हो जाती है। यदि चमत्कार से मोक्ष होता, तो राज्य छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। इसलिये आज से गांठ बांध लेना कि मोक्षमार्ग के लिये, मोक्ष प्राप्ति के लिये साधना

कर रहे हो तो चमत्कार के पास मत जाना। यदि चमत्कार ही तुम्हारा उद्देश्य है, तो करो जैनशासन की प्रभावना। वह भी सम्यक्त्व का एक अंग है। यदि सम्यक्त्व के सहित हो, तो सम्यक्त्व का अंग है और यदि सम्यक्त्व नहीं है तो वह सम्यक्त्व का अंग भी नहीं बन पायेगा।

'पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय' में कहा है कि विद्या के द्वारा, अतिशयों के द्वारा जिनदेव के शासन का प्रभाव फैलाना, प्रभावना अंग है। लेकिन ध्यान रखना, निर्वाण की सिद्धि तो तप एवं संयम से होगी। चमत्कार भक्ति से होते हैं, चाहे मानतुंग स्वामी का चमत्कार हो, चाहे समंतभद्र स्वामी का चमत्कार हो, चाहे वादिराज स्वामी का हो, चाहे धनंजय कवि का हो, चाहे सती सीता, मनोरमा आदि का हो, यह सब तपस्या के चमत्कार नहीं थे, भक्ति के चमत्कार थे। भक्ति से भवनत्रय आदि जाति के देव प्रभावित होकर आपकी भक्ति में शामिल होकर धर्मात्मा के उपसर्ग को भी दूर कर देते हैं। उन्होंने देवों को नहीं पुकारा। इन्होंने देवाधिदेव की ही आराधना की।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, कर्मपिण्ड छुड़ाना है तो "तपसा निर्जरा च" आपको स्वीकार करनी ही होगी। ज्ञान नमस्कार करा देगा, ज्ञान यश दिला देगा, ज्ञान प्रतिष्ठा दिला देगा, पर ज्ञान कर्म की क्षपणा नहीं करा पायेगा। यदि ज्ञान से कर्म की क्षपणा होती, तो 12 प्रकार के तपश्चरण की बात आगम में करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। 6 अंतरंग, 6 बहिरंग बारह प्रकार के तप होते हैं। ऐसे अंतरंग-बहिरंग तपश्चरण में लीन भगवान् कुंथुनाथ स्वामी का स्तवन करते हुये आचार्यभगवन् समन्तभद्र स्वामी 'स्वयंभूस्तोत्र' में कहते हैं–

बाह्यं तपः परमदुष्चरमाऽऽचरंस्त्व
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरऽस्मिन्
ध्यानद्वये ववृत्तिषेऽतिशयोपपन्ने॥ वृ. स्व. स्तो. 83॥

हे नाथ! आपने बहिरंग दुर्धर तपों को तपा अंतरंग तपों की वृद्धि के लिये। क्यों तपा? बिना बहिरंग तप के अंतरंग तप को तप नहीं सकते। दूध की बटलोई को दूध तपाने के लिये तपाया जाता है। इसलिये साधक बहिरंग तप करता है अंतरंग तप की सिद्धि के लिये। इस बात को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिख रहे हैं कि 'प्रायश्चित' तप का एक भेद है। जहाँ प्रायश्चित शब्द है, वहाँ तप शब्द जुड़ा है। तप में क्या होता है? ठीक है, आप से दोष हो गया, पाँच उपवास कर लीजिये, यानि आपको अनशन तप मिल गया। आप नमक छोड़ दीजिये एक सप्ताह को, यह रस परित्याग नाम का तप है। आप चर्या में एक मोहल्ले से आगे नहीं जायेंगे, यह वृत्तिपरिसंख्यान नाम का आपको तप मिल गया। ये बारह तप मुनिराजों के हैं,

श्रावकों के नहीं हैं। अंतरंग तप आपके अंदर का विषय है। प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये अंतरंग तप हैं। आप कहेंगे कि वैय्यावृत्य तो बाहर से किया जाता है। हाँ, यदि मार्दव, आर्जव भाव नहीं होगा, तो तुम किसी के शरीर को छू नहीं सकते हो। कषाय में मंदता नहीं होगी तो आपके भाव सेवा के नहीं बनेंगे। इसलिये अंतरंग तप है वैय्यावृत्य। विनय अंतरंग तप है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें जब तक ढीली नहीं पड़ेगी, तब-तक किसी के प्रति सिर झुकाने के भाव नहीं आयेंगे। यहाँ सिर झुकते दिख रहा है और अंतरंग में कषाय में ऋजुता आ रही है, इसलिये ये अंतरंग तप है। विनय को अंतरंग तप में इसलिये रखा, क्योंकि यह सिर पकड़के झुकानेवाली प्रथा नहीं है। यह सहज सिर झुकने की व्यवस्था है।

भो ज्ञानी! तपस्या चल रही है, दिख रहा है, परन्तु काम भी हो रहा है सहज। सूर्य का काम है तपना, तेज देना। वह अपनी व्यवस्था में तेज दे रहा है, कितने सारे काम हो रहे। कुछ नहीं कर रहा, पर हो रहे कि नहीं? कितने सारे कर्म हो रहे हैं। सड़क गीली थी, न तो आपने हवा चलाई न कुछ किया, पर देखते-ही-देखते सड़क सूख गई। ऐसे ही मुमुक्षु साधक के लिये कर्म रुक जायें, ये विकल्प न करना। कर्म क्षय हो जायें, ऐसा कहने से किसी के कर्म न क्षय हुये हैं और न होंगे। सड़क सूख जाये, वस्त्र सूख जाये, ऐसा कहने से कुछ नहीं होगा। सूर्य उदित है तो सहज कार्य हो रहा है। आप तपस्या का सूर्य प्रगट कर लो और विकल्प नहीं करो। उस सूर्य को निर्दोष प्रकाश देने दो। उसमें दोषों के बादल आच्छादित न होने पायें। जैसे सूर्य के तेज से जमीन सूख जाती है, ऐसे ही तपस्या के तेज से कर्म सहज सूखके झड़ जाते हैं। कुन्दकुन्द स्वामी को यही अभीष्ठ है। इसलिये इन्होंने द्वादश प्रकार के तप को तपा है।

ज्ञानी! मुनिराज के लिये मूलगुण तो हैं, पर बारह तप मूलगुण नहीं हैं। लेकिन आचार्यपरमेष्ठी के लिये मूलगुण हैं बारह प्रकार का तपश्चरण। मुनि करे या न करे, लेकिन आचार्यपरमेष्ठी के लिये अनिवार्य हैं, क्योंकि उनके मूलगुण हैं। मुनि के 28 मूलगुण हैं। आवश्यक नहीं है कि वे विधि लेकर निकलें, सहज भी जा सकते हैं, पर आचार्यपरमेष्ठी का मूलगुण तपश्चरण है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी को परम अभीष्ट है। वे भी समझ रहे हैं कि पूर्व में संचित किये पापपंक को सुखाने के लिये एकमात्र माध्यम है तपस्या। अनंतानंत भवों में जो शुभाशुभ कर्मों को अर्जित किया है, उन शुभाशुभ कर्मों का विनाश किससे होगा? तपस्या के द्वारा। इसलिये तप भी प्रायश्चित है। कुन्दकुन्द स्वामी भी यही कह रहे हैं कि जो हमने पूर्व में अनंतानंत भवों में शुभाशुभ कर्म उपार्जित किये हैं, उन कर्मों को समाप्त करने के लिये प्रायश्चित है।

भो ज्ञानी! कभी-कभी क्या होता है, शरीर तो शरीर है, यह तो सुख चाहता है, प्रमाद आ गया। इसलिये गुरु बनाके चलना चाहिये, जो बहुत अनिवार्य है। मन कह रहा है कि मैं विश्राम कर लूँ और घड़ी में बज रहे हैं बारह। सामायिक भी करना है, एक घंटे बाद कर लेंगे। लेकिन गुरु कहेंगे कि नहीं, ये काल-अतिक्रम है। सामायिक पर बैठिये। तो आप बैठ गये। लगा कि अपने हित की बात है। ये शरीर काम नहीं कर रहा है और आचार्यमहाराज ने कह दिया कि उपवास कर लीजिये। आप सोच रहे थे कि कमजोर हो जायेंगे, पर आप निरोग हो गये। होता क्या है कि हम अपनी शक्ति को छुपा लेते हैं और गुरु उस शक्ति को बढ़ावा देते हैं।

भो ज्ञानी! तपश्चरण से ही मोक्ष मिलता है। इसे अप्रसिद्ध मत कह देना। हमेशा जो तपा जाता है, उत्पन्न किया जाता है, उसका नाम तप है। वही तप-प्रायश्चित होता है। तपश्चरण ही कारण-परमात्मा है। असंयम कारण-परमात्मा नहीं है। यही परमागम का सार है। चाहे समयसार हो, नियमसार हो, प्रवचनसार हो, यही सार है। आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठि तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥ स. सार 2॥

हे जीव! दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित आत्मा ही स्वसमय है। आप औदायिक भावों में स्थित हैं, वह ही परिपुष्ट है और स्वसमय को समझ करके जो स्वसमय में लीन है, उसी का नाम समयसार है। ये भावना भाओ कि आगमग्रन्थों की वाचना होती रहे। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व के निर्णय में गवाही की कोई आवश्यकता नहीं। आगम में कोई तर्क नहीं, "आगमअतर्कगोचरा", आगम पर कोई तर्क नहीं चलते। बारह तप महाव्रतियों के हैं। श्रावक की निर्जरा श्रावक के तप के अनुसार। आप एकासन करते हो, वह भोगोपभोग परिमाण व्रत है, वह आपका तप है। आप आहार को निकले, सहजता में चले गये। मुनिराज निकले, वे विधि लेकर निकले। आप भोगोपभोग परिमाण में ये नियम ले सकते हो कि मुझे थाली में पहले कोई जितना दिखायेगा, उतना आपने लिया, बाकी कुछ नहीं लिया। आपका भोगोपभोग परिमाण व्रत हो गया। यही क्रिया मुनिराज करते तो उनका व्रतपरिसंख्यान नियम हो गया। शब्द बदल गये। मुनिराज नियम लेके गये कि आज तो थाली में प्रथम दिखाया जायेगा, उतना ही आहार करूँगा। अब चाहे आपके लिये दस रोटियाँ रखी हो, चाहे एक रोटी हो। बस, संतुष्ट हैं। उनका व्रत-परिसंख्यान हो गया। व्रत-परिसंख्यान में नियम ले लिया, कि प्रथम ग्रास चावल का दिया जायेगा तो लूँगा। आपने प्रथम ग्रास में रोटी का ग्रास रख दिया, तो छोड़के चले आयेंगे।

भैया! प्रायश्चित के आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये नौ भेद होते हैं। यहाँ आचार्यभगवन् ने तप को ही मुख्यरूप से लिया है। उसी को प्रायश्चित कह दिया है। तप के बारह भेदों में प्रायश्चित सातवाँ भेद है और नव भेदों में तप एक भेद आ गया। इसलिये तप को ही अध्यात्म में प्रायश्चित रूप कहा। आत्मा में स्थिर रूप से निवास करना, प्रकर्षरूप से तपना, निश्चय तप है। ये प्रतिक्रमण प्रायश्चित भेद व्यवहारनय से, व्यवहार की अपेक्षा से कहे जाते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : सकल भावों का अभाव करने के लिये स्वात्मा के आश्रित निश्चय धर्म्यध्यान ही समर्थ है।

गाथा : अप्पसरूवालंबण, भावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो, तम्हा झाणं हवे सव्वं॥ 119॥

संस्कृत छाया : आत्मस्वरूपलम्बनभावेण तु सर्वभावपरिहारम्।
शक्नोति कर्तुं जीवस्तस्माद् ध्यानं भवेत् सर्वम्॥ 119॥

अन्वयार्थः (आत्मस्वरूपलम्बन भावेन तु) आत्मास्वरूप के अवलम्बनरूप भाव से (जीवः) जीव (सर्वभावपरिहारं) सर्वभावों का परिहार (कर्तुं शक्नोति) कर सकता है (तस्मात्) इसलिये (सर्वं ध्यानं भवेत्) वह सब ध्यान होता है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव प्रायश्चित की विशेषता पर प्रकाश डालते हुये कह रहे हैं।

प्रायश्चित्तं न पुनरपरं कर्म कर्मक्षयार्थं
प्राहुः सन्तस्तप इति चिदानंदपीयूषपूर्णम्।
आसंसारादुपचितमहत्कर्मकान्तार वह्नि—
ज्वालाजालं शमसुखमयं प्राभृतं मोक्षलक्ष्म्याः॥ कलश 189॥

कर्मक्षय के लिये जो चिदानंद रूपी अमृत से परिपूर्ण तप है, उसे ही साधुजन प्रायश्चित कहते हैं। अन्य कुछ क्रिया प्रायश्चित नहीं है। वह तप अनादिकाल से संसार में संचित किये कर्मरूपी महावन के जलाने के लिये अग्नि ज्वाला का समूह है। वह तप मोक्षलक्ष्मी से मिलाने वाला है।

आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जिसका आत्मस्वरूप का आलम्बन होता है और संपूर्ण परभावों का निजभाव से जो परिहार करता है, वही निज स्वभाव में परिणमन करता है। परभाव का निजभाव से परिहार हुये बिना निज स्वभाव में परिणमन संभव ही नहीं होता है। इसलिये कोई संक्षिप्त मार्ग है ही नहीं। परभाव का अभाव बुद्धिपूर्वक ही करना होगा। ये अबुद्धिपूर्वक नहीं होगा। जब आप बुद्धिपूर्वक स्थूल का विसर्जन कर दोगे और स्वरूप की प्राप्ति में तल्लीन हो जाओगे, तो फिर सहज स्वभाव में चले जाओगे। फिर सहज ही होगा, वहाँ बुद्धि का उपयोग नहीं होगा, विकल्प नहीं होगा। प्रारम्भिक अवस्था में सविकल्प पूर्वक

ही स्वीकार करना। कोई ये चाहे कि इस अवस्था में बैठे-बैठे सहज ही वस्त्र उतर जायें, सहज ही साधु बन जायें, सहज ही स्वरूप में चले जायें, ये तो मात्र कहने की बातें हैं।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने उसे ही व्रत कहा है, जो संकल्पपूर्वक स्वीकार किया जाता है। जिस क्रिया को संकल्पपूर्वक स्वीकार नहीं किया, उसे व्रत संज्ञा नहीं दी जाती है। चाहे आप उसका उपयोग करें, चाहे न करें। ग्रहण और विसर्जन के बाद जो स्वानुभव है, वह निर्विकल्प है। अबुद्धि शब्द का अभाव बुद्धि का समापन नहीं समझना। अबुद्धिपूर्वक का तात्पर्य बुद्धि तो है, सभी काम बुद्धि से होंगे, परन्तु विकल्प नहीं होंगे। नहीं तो कोई सोचे कि सप्तम गुणस्थान में बुद्धि का अभाव हो गया। वहाँ पर भी जो परिणति चल रही है, वो बुद्धिपूर्वक ही चल रही है। परन्तु वह बुद्धि स्वउन्मुखी है, आत्मोन्मुखी है। पर के विकल्प नहीं हैं, इस अपेक्षा से अबुद्धिपूर्वक कहा है, पर बुद्धि का अभाव नहीं है। सप्तम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक भी बुद्धि का अभाव नहीं है। बुद्धि यानि क्षयोपशम, बुद्धि यानि प्रज्ञा, बुद्धि यानि उपयोग। प्रज्ञा के अभाव में परिणमन कैसा? बुद्धि तो है, जो बुद्धि सरागरूप चल रही थी, वह बुद्धि अब वीतराग रूप हो गई। इसलिये वहाँ अबुद्धि शब्द का प्रयोग किया गया है। निर्विकल्प हो गई। जहाँ तेरे ज्ञान का परिणमन नानारूपता में था, विचित्रता थी, चित्रता थी, विकल्प थे, इसलिये छठवें गुणस्थान का नाम ही चितकबरा है। छठवें गुणस्थान का नाम प्रमत्त है। यहाँ व्यक्त-अव्यक्त प्रमत्त चल रहे हैं। सप्तम गुणस्थान में प्रमाद का अभाव है। वह अप्रमत्त दशा है। जहाँ नानारूपता थी, अब वहाँ एकरूपता हो गई सातवें गुणस्थान में। जहाँ जीव छठे गुणस्थान में नानास्थानों में घूम रहा था, वहाँ अब नानापना समाप्त हो गया, एकपना प्रारंभ हो गया। यही है आत्मानुभूति। चित्तवृत्ति का रूप है। नानारूपता से तात्पर्य नाना विकल्पता। ये पेन है, ये माईक है, ये अमुक है। तुम्हारा ज्ञान नानारूपता में जा रहा था, यहाँ एक। सब व्यवहारधर्म नष्ट हो चुके हैं, मात्र एकरूपता। इसलिये सामायिक एकाकीभूत होती है। एकमुख होना, उसका नाम सामायिक है। अभी ये जीव नाना भावों में जा रहा था, अब या तो पंचपरमेष्ठी में या तो स्वयं में है। जिस क्रिया से एकमुख-भाव जन्म ले, जिस क्रिया से एकमुखता प्राप्त हो, उस क्रिया का नाम सामायिक है। वह सामायिक-चारित्र सविकल्प छठवें गुणस्थान में और निर्विकल्प सातवें गुणस्थान में होता है।

भैया! परभाव का अभाव किये बिना निजभाव की लीनता नहीं होती। यों ही बैठे-बैठे परभाव मुख से कह दिया कि मैं भिन्न हूँ तो परभाव भिन्न नहीं है।

ज्ञानी! मुख की मिश्री, मुख में मिश्री, इन दोनों के स्वाद में बहुत अंतर है। एक मुख से मिश्री को मीठा कह रहा है, एक मुख में मिश्री को जान रहा है। शास्त्रज्ञान की स्वानुभूति,

यह मुख की कही जाने वाली मिश्री है एवं साधना की स्वानुभूति, यह मुख में रखी मिश्री है। एक वचन की मिश्री है, एक स्वाद की मिश्री है। शास्त्रज्ञान से जो स्वानुभूति की चर्चा हो रही है, वह वचनों की स्वानुभूति है। जो योगी अनुभव कर रहा है, वह स्वात्मा की अनुभूति है। इतना दोनों में अंतर है।

भो ज्ञानी! वस्त्र उतारना, केश उखाड़ना, अभी श्रावक है, अभी मुनि नहीं है। ये सब बनने की क्रिया चली रही है। संस्कार होना, ये क्रिया है। चारित्र में वैराग्य तो होता है, लेकिन वैराग्य चारित्र नहीं है। चारित्र की उत्पत्ति के पूर्व जो कारण होता है, उसका नाम वैराग्य है। चारित्र कार्य है और वैराग्य कारण है। जो वैराग्य संयमपूर्वक स्वीकार किया जा रहा है। और स्वानुभूति कार्य है। स्वानुभूति शुद्धात्मानुभूति का कारण है और शुद्धात्मानुभूति कार्य है। सप्तम से बारहवें गुणस्थान तक स्वात्मानुभूति है। सिद्धपरमेश्वर के शुद्धात्मानुभूति है, अरिहंतदेव के भाव शुद्धात्मानुभूति और भाव मोक्ष। शुद्धात्मानुभूति किसके होगी? शुद्धात्मा के और आप में जो शुद्धात्मानुभूति है, वह वास्तव में तद्रूपता की अनुभूति है, तद्रूप नहीं है। अनुभूति, अनुभवन, संवेदन, भेदम् स्वात्मानुभवन, आत्मसंवित्ति, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मचरण यह सब पर्यायवाची नाम हैं।

भो ज्ञानी! "आद्ये परोक्षम्"। आत्मा की जो शुद्धानुभूति तुम अनुभव में ला रहे हो, यह शुद्धात्मानुभूति नहीं है। अभी तू जिस गुण से अनुभवन कर रहा है, वह गुण भी शुद्ध नहीं है। जिस गुण से तुम अनुभूति कर रहे हो, वह मति-श्रुतज्ञान है। जिसे आप शुद्धोपयोग कहते हो, उसे सिद्धान्त अशुद्धोपयोग कह रहा है। क्योंकि क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन यह आत्मा का शुद्धोपयोग है। क्षायोपशमिक ज्ञान, क्षायोपशमिक दर्शन यह आत्मा का अशुद्धोपयोग है। अशुभ नहीं कहना। अशुद्ध है, क्योंकि अभी दर्शन-ज्ञान छद्मस्थ अवस्था में अशुद्ध है। "उपयोगो लक्षणम्" जीव का लक्षण क्या है? उपयोग। जो जीव अनुभवन करेगा, निज उपयोग का ही करेगा, अपने ही ज्ञान-दर्शन का करेगा, चाहे वह चौथे गुणस्थान में करे, चाहे प्रथम में करे, चाहे सप्तम में करे, कहीं भी करे, अपने ज्ञान-दर्शन गुण से ही वंदना करता है। परद्रव्य का भी करेगा तू, तो भी अपने से ही करेगा और निज का करेगा, तो भी अपने से करेगा। अंतर इतना है कि मिथ्यादृष्टि का विपरीत होगा और सम्यग्दृष्टि का समीचीन होगा। परन्तु करणानुयोग शुद्धात्मानुभूति सिद्ध-परमेश्वर को देखेगा, क्योंकि अभी यहाँ अरहन्त अवस्था में पूर्ण शुद्ध दशा नहीं है, चार कर्मों की समलता है। इस दृष्टि से यहाँ उपयोग, कर्म के बंध की अपेक्षा से, कर्म की समलता की अपेक्षा से, अशुभ था। वैसे ज्ञान की अपेक्षा से अरहंत अवस्था में ही शुद्धोपयोग प्रारंभ हो चुका है। शुद्धात्मा, पूर्ण शुद्धात्मा तो सिद्धपरमेश्वर

ही हैं। अपन जो शुद्धात्मा हैं, वे वैसे नहीं हैं। हम सभी शुद्धात्मा नय से हैं और वे शुद्धात्मा नयातीत हैं।

आप शुद्धात्मा हो, लेकिन शुद्धात्मा किस नय से हो और सिद्धभगवान् शुद्धात्मा किस नय से हैं? क्योंकि जो होता ही है, उसमें कोई नय लगाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वयंसिद्ध है। 'प्रमाण-नैयरधिगम' (त. सू. 1/5) वहाँ पर भी लगेगा नय से। वे छद्मस्थ भी हैं, कौन? सिद्ध भगवान। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा से संसारी भी हैं। सिद्ध परमेश्वर कैवल्य से युक्त आत्मा शुद्ध प्रमाण है, सकल प्रमाण है, सकल प्रत्यक्ष हैं।

कषायों के क्षयोपशम को देशव्रत कहते हैं और ऐसी चर्या को चरणानुयोग देशव्रत कहता है। कषायों को स्थूल रूप से तो माप सकते हो, सूक्ष्म तो भगवान् का विषय है। छठवां गुणस्थान है, मैं मुनि हूँ। स्वयं नापो कि असंयम भाव कितने अंशों में जा रहे हैं, रागभाव कितने अंशों में जा रहे हैं, कषायभाव कितने अंशों में जा रहे हैं? किसी से मत पूछो। मुनि को देखकर सब कहते हैं कि मुनि है, लेकिन ये स्वयं को मालूम है कि मैं मुनि हूँ या नहीं। करणानुयोग से ठीक से नहीं जान सकते, पर चरणानुयोग से तो जान सकते हो। छठवें गुणस्थान में कषाय आ सकती है, आ गई, कोई दिक्कत नहीं, परन्तु 48 मिनट के अंदर संज्जवलन काल में उसको दूर करो, यदि वास्तव में छठवें गुणस्थान में विराजे हो तो। विवेक नहीं लगाओगे तो 48 मिनट के आगे निकल जायेगी। स्मृति भिन्न विषय है और बदला लेने की भावना भिन्न विषय है। धारणा का होना मतिज्ञान का विषय है। धारणा तो आपको पूरे जीवन भर रहना है, इसमें कोई दोष नहीं है।

एक व्यक्ति मुनिराज हो गये। मुनिराज होने के बाद एक नगर में पहुँचने पर कहते हैं कि 12 वर्ष पहले गृहस्थ अवस्था में हम यहाँ आये थे। कषाय मार्गणा के अनुसार जिसका जितना क्षयोपशम भाव, ज्ञान प्रबल होता है, उसे 12 वर्ष तो क्या, पूर्व भव की भी याद रहती है। आप पहले आये थे, इसे रागभाव, रतिभाव तो कह सकते हो, परन्तु इसे कोई अनंतानुबंधी में डालना चाहे तो यह आपके ज्ञान का विषय नहीं है, इसका निर्णय तो केवली करेंगे। यदि हम सम्पूर्ण व्यवस्था को अनंतानुबंधी में डाल देंगे तो शास्त्रों में सम्यक्त्व को भी पढ़ते हैं, मिथ्यात्व को भी पढ़ते हैं, प्रथमानुयोग में राजा-रानियों के चरित्र भी पढ़ते हैं, सब पढ़ते हैं। जब प्रवचन करते हैं तो 12-14 वर्ष पहले कोई ग्रन्थ पढ़ा था, उसकी कथा आपको सुना देते हैं, तो क्या वह अनंतानुबंधी कषाय बन गई? नहीं। यहाँ कषाय से क्रोध, मान, माया, लोभ और इनकी परिणति को पकड़ना।

भैया! एक सज्जन ने किन्हीं मुनिराज के मुख से सुन लिया कि आज भोजन में मिर्च ज्यादा थी, तो वे बोल पड़े कि वे तो मुनिराज नहीं बचे। आपको आगम का ज्ञान नहीं है।

15 प्रमादों में भोजनकथा है। वह भोजनकथा कदाचित् प्रमादवश आ गई उनके और कहके संभलेंगे तुरन्त, कि नहीं, ये तो हमें नहीं कहना था, लेकिन कह दिया। फिर भी उनका भावलिंग नहीं गया। यदि वे यह कहते कि ऐसा चाहिये है, ऐसा करना चाहिये आप लोगों को, तब तो उनके छठे गुणस्थान की चरणानुयोग की क्रिया में दोष लग रहा है, उद्दिष्ट है। इसलिये आगम को जानना और आगम ज्यों-का-त्यों समझना। यदि अनुपसेव्य नाम का अभक्ष्य फल है, उसको देखते ही हटा देंगे। यदि कदाचित कोई जबरदस्ती दे रहा है, तो अंजुली बन्द कर लेंगे। आगम में माँगने का निषेध है, मना करने का निषेध नहीं है। यदि प्रकृति के प्रतिकूल लगता है, तो मना कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिकूल सेवन करने से स्वास्थ्य खराब होगा और रत्नत्रय के पालन में अस्वस्थता आयेगी।

भो ज्ञानी! आपको किसी भवन का ख्याल नहीं था, पर जैसे ही आपने प्रवेश किया, तो कहा कि ये तो वही भवन है जहाँ हम आये थे, तो क्या अनंतानुबंधी कषाय हो गई? नहीं। यह धारणा ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान हो गया। कौन-सा प्रत्यभिज्ञान? सादृश्य नहीं है, एकत्व प्रवृत्ति। जैसे आपने एक पेन देखा, बोले, महाराज जी! 10 वर्ष पूर्व ऐसा पेन हमने खरीदा था। यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है।

आचार्यभगवान् पुनः कह रहे हैं कि सकल भावों का अभाव करने के लिये स्वात्मा के आश्रित निश्चय धर्म्यध्यान ही समर्थ है। इसलिये पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित और आलोचना सभी ध्यान ही हैं, ऐसा जानना चाहिये।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : शुद्ध निश्चय नियम के स्वरूप का कथन

गाथा : सुहअसुहवयणरयणां, रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियमं हवे णियमा॥ 120॥

संस्कृत छाया : शुभाशुभवचनरचनानां रागादिभाववारणं कृत्वा।
आत्मानं यो ध्यायति तस्य तु नियमो भवेन्नियमात्॥ 120॥

अन्वयार्थ : (यः) जो (शुभाशुभवचन रचनानां) शुभ-अशुभ वचनरचना को (रागादि भाव वारणं) रागादि भाव के निवारण को (कृत्वा) करके (आत्मानं ध्यायति) आत्मा को ध्याता है (तस्य तु) उसके (नियमात् नियमो भवेत्) नियम से नियम होता है।

नियमदेशना

भव्य बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 119 वीं गाथा में (परम शुद्ध निश्चय प्रायश्चित अधिकार में) यह संकेत दिया कि आत्मा के आलम्बन के द्वारा, परभावों से आलंबित होता है, ऐसा योगी ही जब भेद रत्नत्रय की प्राप्ति से अभेद में लीन होता है, वही निश्चय प्रायश्चित को प्राप्त होता है और यह निश्चय दशा अपने आप अवक्तव्य है। जहाँ तक कथन है, वहाँ तक स्वानुभव नहीं है। बाह्य द्रव्यों का स्वानुभव वक्तव्य नहीं है और फिर निश्चय स्वानुभव के काल में वक्तव्य तो बिल्कुल है ही नहीं। जो कहा जा रहा है, अनुभव कहा जा रहा है। जब अनुभव होता है, तब ऐसा स्वादन होता है कि वो वक्तव्य नहीं होता है। व्याख्यान और अनुभव एकसाथ नहीं होता है। कषायानुभूति, विषयानुभूति ये भी तत्क्षण नहीं होतीं, कथन का विषय तत्क्षण नहीं बनती। जब कोई जीव परस्पर में विसंवाद कर रहा हो, तो उस जीव से पूछना कि कैसा विसंवाद हो रहा है, तुम्हें उस समय कैसा लग रहा है? जितने में आपको बताने आयेगा, उतने में तो कषाय चली जायेगी। जब विसंवाद की अनुभूति का व्याख्यान नहीं, भोगानुभूति का व्याख्यान नहीं है, तो स्वरूपानुभूति का व्याख्यान शब्दों में कैसे होगा?

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ध्यान के फल को कह रहे हैं।

यः शुद्धात्मन्यविचलमनाः शुद्धमात्मानमेकं
नित्यज्योतिः प्रतिहततमःपुञ्जमाद्यन्तशून्यम्।
ध्यात्वाजस्रं परमकलया सार्धमानन्दमूर्तिं
जीवन्मुक्तो भवति तरसा सोऽयमाचारराशिः॥ कलश 190॥

जिसने नित्यज्योति से अंधकार-पुंज का नाश कर दिया है, जो आदि और अन्त से शून्य है, जो परमकला के साथ आनंद की मूर्तिस्वरूप है, ऐसा शुद्ध आत्मा जो शुद्धात्मा में मन को स्थिर करता हुआ निरन्तर ध्यान करता है, वह जीव आचार की राशि स्वरूप शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि सिद्धान्त पर संभलकर चलना पड़ता है। सिद्धान्त में शिष्टाचार, सामाजिकता, सबकुछ सुरक्षित रखने पड़ते हैं। अध्यात्म अपने आप में रूखा होता है। बोले, मैंने मंदिर बनवाया, क्या होगा? बोले, कुछ नहीं। बोले, समझ में आ नहीं रहा है ये, क्या होगा? इतना रूखा उत्तर। बोले कि हाँ, रूखा तो है। परन्तु अध्यात्म को स्निग्ध मत बना देना। जिस दिन अध्यात्म स्निग्ध हो जायेगा, तो बचेगा नहीं। ये हास्य का सिद्धान्त नहीं है, ये खुश होने का सिद्धान्त नहीं है, ये दु:खी होने का सिद्धान्त नहीं है, ये रोने का सिद्धान्त नहीं है, ये रोने-रुलाने का सिद्धान्त नहीं है। यह किसी को खुश करने की भाटियों की भाषा नहीं है। अध्यात्म में स्निग्धता नहीं, क्योंकि स्नेह वाले को पिलना पड़ता है।

'परमात्म प्रकाश' में योगीन्दुदेव लिख रहे हैं कि अध्यात्म को स्निग्ध नहीं बनाना। ज्ञानी! तिल को क्यों पिलना पड़ता है? क्योंकि तिल के अंदर स्निग्धता थी, तेल था। जिसमें स्निग्धता होती है, उसे पिलना ही पड़ता है। मुमुक्षु! जिसमें राग की स्निग्धता होती है, भोगों का पानी देकर फिर पेला जाता है। प्रथमानुयोग पर न जाओ भैया! अपनी रागदृष्टि पर जाओ । देखो रागदृष्टि तेल है, रागदृष्टि स्निग्धता है। इसलिये अध्यात्म कहता है कि मुझे स्निग्ध नहीं बनना और जितना चिकना होता है, उतना ही फिर फिसलता है और जितना चिकना होता है, उतनी ही धूल चिपकती है। इसलिये हम जिसकी आराधना करते हैं, वो राग-रज से विहीन होता है सर्वज्ञ परमेश्वर। "अरिरज रहस विहीन"। हे प्रभु! आप ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय इन चार कर्मों से रहित हो और रहित क्यों हो? क्योंकि आपने राग की स्निग्धता को छोड़ दिया है।

जो आत्मा में निष्ठ है, ऐसे योगी से पूछोगे कि मैंने भवन बनवाया है, तो क्या कह रहे थे? कुछ नहीं, क्योंकि उन्हें तो मात्र जड़ दिख रहा था और आपको व्यवहार दिख रहा था। व्यवहार जिसे दिख रहा है, उसे बहुतकुछ देखना पड़ता है और जिसे परमार्थ दिखता है, उसे कुछ भी नहीं देखना पड़ता, वह शुष्क-रुक्ष हो जाता है, लेकिन दयारहित नहीं, वात्सल्यरहित नहीं, करुणारहित नहीं। जो व्यवहार आत्मनिष्ठ होता है, वह व्यवहार से बाह्य हो जाता है। इसलिये आत्मनिष्ठ को निष्ठुर नहीं कहना, उसे व्यवहार-बाह्य कहना। जो व्यवहार से बाह्य

है, उसे व्यवहार में लाने का प्रयास नहीं करना। जो व्यवहार से बाह्य है, उसे योगी कहना और जो निश्चय-व्यवहार दोनों को लेके चल रहा है, उसे साधु कहना। साधु अभी साधना कर रहा है और साधना निश्चय-व्यवहार से होती है। योगी आत्मनिष्ठ हैं निश्चय से। जो परमानंद के रस को चख रहा है, वह तुम्हारे पूजा, पाठ, ख्याति, लाभ सबसे बाह्य हो गया। वह कौन होगा? परम योगी। व्यवहार से बाह्य, परमानंद में लीन, ऐसी व्यवहार अवस्था की सिद्धि के लिये प्रसिद्धि को गौण करना पड़ेगा। ऐसी परमानंद की सिद्धि चाहते हो तो प्रसिद्धि को आप गौण कर दीजिये। प्रसिद्धि की दृष्टि है, तो आत्मसिद्धि तुम से बहुत दूर है। आत्मसिद्धि की प्रसिद्धि तो हो जाती है, पर आत्मसिद्धि वाला अगर प्रसिद्धि चाहता है, तो कभी भी आत्मा की सिद्धि नहीं होती है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 120 में कह रहे हैं कि यथार्थ में वस्तु की व्यवस्था को समझना है। वो मौन है, वचन-रचना नहीं है। मौन में जितना समझा जा सकता है, उसको वचनों से नहीं समझा जा सकता है। मौन से समझा गया, वही वचनों में आता है। यदि तीर्थवंदना को गये दो व्यक्ति साथ में चल रहे थे, चर्चा करते हुये जा रहे थे, मंदिर-मंदिर में चावल चढ़ा रहे थे, लेकिन बातों में इतने तल्लीन थे कि कौन-से भगवान् का मंदिर है, ये आप नहीं जान पा रहे थे। होता भी ऐसा ही है। इसलिये अकेले जाया करो। जाना सबके साथ, लेकिन अकेले होके ही रहना। जब वंदना करने जाओ, तो नीचे से मौन ले लिया करो, क्योंकि जहाँ से अनन्त आत्मायें सिद्धपद, परमेश्वर पद को प्राप्त हुई हैं, वे निर्मल वर्गणायें ग्रहण करना है तो मौन रहना पड़ेगा, नहीं तो चर्चाओं में वह सब खो जायेंगी। जिस व्यक्ति ने परस्पर में चर्चा करते हुये वंदना की हो, उस व्यक्ति से सम्मेदशिखर आदि का वर्णन पूछना, वह कितना बतायेगा? जो मौन होकर वंदना करता है, पूरी बात बता देता है, क्योंकि उसने सब आँखों से ग्रहण किया और मस्तिष्क में रख लिया। ऐसे ही जो मौन होकर के निज की वंदना करता है, उसका ही मुखर रूप होता है। जो वचन बोल करके वंदना करता है, वह कभी नहीं बोल पायेगा। तीर्थंकर दीक्षा लेते ही मौन वंदना शुरू कर देते हैं और जब पूरी वंदना निज के अंदर कर लेते हैं, तो फिर वे ऐसा बोलते हैं कि कोई नहीं बोल पाता। आप तो मुख से बोलते हो, वे सर्वांग से बोलते हैं। यदि सर्वांग से बोलना चाहते हो, तो अभी से मौन लेना प्रारंभ कर दो।

यदि तुम किसी को अपना बनाना चाहते हो, तो उसका नाम ले लेना। हर व्यक्ति को अपना नाम प्रिय होता है और महाराज ने हमारा नाम लिया, तो खुश हो गया, और फिर हल्के से मुस्करा देना। ये राग स्थापित करने का सुन्दर तरीका है, अपना बनाने का सुन्दर

तरीका है। जितने अपने बन जायेंगे, उनको समय देना पड़ेगा, नहीं तो भग जायेंगे। भो ज्ञानी! जब तेरा कोई नहीं बना था, तब पूरा समय तेरा था। तू जो अनुभव कर रहा था, सिद्धियों की ओर बढ़ रहा था, जो तुम्हें अंदर मिल रहा था। बाहर का मिलना तो शुरू होगा, लेकिन अंदर से खोखलापन आयेगा। यह अनुभव करना। ये वचनरचना के अभाव की साधना है। मौन रहने में शक्ति का संचय होता है और आनंद आने लगता है। जो निज का संचय होता है, वह बोलने से चला जाता है। जैनदर्शन में मौनसाधना है, मूकसाधना नहीं है। मूक और मौन में अंतर होता है। मूक पराधीन होता है, मौन स्वाधीन होता है। मूक में बोलना चाहता है और मौन में बोलना नहीं चाहता। तिर्यंच मूक तो है, पर मौन नहीं है।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि ऐसे रागादिक भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, वह शुद्ध-उपयोगी होता है। सप्तम गुणस्थान में जघन्य शुद्धोपयोग होता है। बीच के गुणस्थानों में मध्यम और बारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट उपयोग होता है। सप्तम गुणस्थान के नीचे के सब गुणस्थान प्रमाद के गुणस्थान हैं और प्रमादी को आत्मानुभव कहाँ? उसे तो शुभोपयोग की निर्मलता ही मिलती जाये तो श्रेष्ठ है।

ब्रह्मदेव सूरि ने अपनी टीका में दर्शन जिसे सिद्धान्त में विषयी का सन्निपात कहा गया है, उसे आगे ले जाकर स्वानुभव में स्पर्श कराया है। आत्म-सन्निधि दर्शन होता है और स्व-पर सन्निधि ज्ञान होता है। सिद्धान्त तो पहले से अंत तक ही चलता है, अध्यात्म का प्रारंभ और अंत है। अध्यात्म का स्थान बीच से और बीच में ही समाप्त हो जाता है। सिद्धान्त प्रारंभ से शुरू होता है और अंत तक सिद्धि कर देता है। अध्यात्मचर्चा सप्तम से प्रारंभ होती है और बारहवें में समाप्त हो जाती है। शुद्धोपयोग, सिद्धान्त कहता है कि प्रथम गुणस्थान से शुरू होता हूँ और जब तक सिद्ध नहीं बना देता हूँ, तब तक मैं छोड़ता नहीं हूँ। सिद्धान्त का अर्थ समझना। जिस साहित्य का कथन सिद्धान्त से सिद्ध हो, जिसका अंत सिद्ध हो। गुणस्थानों का कथन करेंगे तो चौदहवें गुणस्थान की व्याख्या करने के पश्चात कहेंगे गुणस्थानातीत। सिद्ध पर्याय का कथन करेंगे तो पर्यायातीत सिद्ध परमेश्वर। मार्गी का जब कथन करेंगे तो चौदह मार्गणा होती हैं, परन्तु 15 वीं मार्गणा कौन-सी है? मार्गणातीत सिद्धात्मा, सिद्ध परमेश्वर। इंद्रियाँ पाँच होती हैं। इंद्रियातीत एक अवस्था होती है, उसका नाम है सिद्ध परमेश्वर। संयम 7 हैं, संयमातीत भी एक अवस्था होती है। गतियाँ 4 हैं। एक है पंचमगति, इसका नाम सिद्धगति है। सिद्धान्त जब भी कथन करेगा, अंत में सिद्ध को रखेगा, इसलिये इसका नाम सिद्धान्त है। सिद्धांत कभी बदलता नहीं है और सिद्धान्त सिद्धों से भी कहता है प्रभु! हमने आपको सिद्ध किया है। हम सिद्ध भी हो जाते तो आपको कोई सिद्ध नहीं कहता। आपकी

स्वयं की सिद्धि तो होती, लेकिन आपकी सिद्धि की प्रसिद्धि करने वाला कोई है तो सिद्धान्त है। अध्यात्म का उद्भव होता है और अध्यात्म अपने आप में विलीन हो जाता है और अध्यात्म का विलीन ही सिद्धान्त है। अध्यात्म का विलीनीकरण। जैसे नदी का उद्गम होता है और नदी विलीन हो जाती है किसी सागर में। ऐसे ही अध्यात्म, निश्चय दृष्टि से, सप्तम गुणस्थान से उसका उद्गम हुआ और बारहवें में पूर्णता को प्राप्त हुआ, तेरहवें में विलीनीकरण हो गया। शुद्धोपयोग का फल है।

भो ज्ञानी! समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय इन सबके बीच की कड़ियों को जोड़ने वाला है, उसका नाम 'नियमसार' है। इसमें संयम के साथ अध्यात्म की चर्चा है। उन्होंने 28 मूलगुणों को अध्यात्म में कैसे समाविष्ट किया है? षट् आवश्यकों का कैसे कथन किया है? प्रायश्चित-तप का कथन चल रहा है। प्रायश्चित नाम का अंतरंग तप है, उसका व्याख्यान कर रहे हैं। उस प्रायश्चित से सिद्धि कर रहे हैं नियम की।

भैया! लोगों ने सुन रखा है विपश्यना ध्यान। यह सब बाहर-बाहर में चले गये, जबकि ध्यान जैनसिद्धान्त का प्राण है। ध्यान के बिना निर्वाण नहीं है। लोग इतने बाहर जा चुके हैं, भक्तिमार्ग को इतना श्रेय पहुँच चुका है कि ज्ञानमार्ग गौण हो चुका है। जैनदर्शन विश्व का पहला दर्शन है जिसने दोनों मार्गों को स्वीकारा है। द्वैतवादी प्रभु और भक्त बनके ही बैठा है, जबकि श्रमण संस्कृति कह रही है कि श्रावक-अवस्था द्वैतवादी और श्रमण-अवस्था अद्वैतवादी। राग-अवस्था द्वैतवादी है और वीतराग अवस्था अद्वैतवादी है। जहाँ प्रभु और भक्त का भेद चल रहा है, वहाँ द्वैतवाद द्वैतभाव है। जहाँ प्रभु और भक्त में कोई भेद नहीं है, मैं ही स्वयंभू हूँ, यह अद्वैतभाव है। जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प नहीं है, वह अद्वैतभाव है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्यसत् बन्धमोक्षद्वयं तथा॥

जो कहता है कि द्वैत नहीं अद्वैत है, तो पूछना कि अद्वैत की सिद्धि का उद्देश्य क्या है? संपूर्ण सिद्धान्तों का उद्देश्य क्या है? मोक्ष। आप अद्वैत होकर मोक्ष जाना चाहते हो? आप द्वैत से मोक्ष आना चाहते हो? मैं द्वैत नहीं, अद्वैत की बात कर रहा हूँ। अच्छा, आप अद्वैत से मोक्ष जाना चाहते हो? भैया! द्वैत का अर्थ दो होता है, बन्ध और मोक्ष। बोले, अद्वैत की उपासना करूँगा तो कर्म से मुक्त हो जाऊँगा। तो तेरे बीच में कर्म आ गया और तू अलग है। दो हो गये, अब अद्वैत कहाँ बचा? और उसका फल मोक्ष है, वो बंध और मोक्ष दो हो गये। इसलिये अद्वैत कहाँ बचा? आप कहो कि नहीं, द्वैत है। तो सुनो, फिर तू जड़ है कि

चेतन? द्वैत-द्वैत भाव मानते हो तो भो ज्ञानी! जड़ होगा। क्या तू दो द्रव्यों से मिलके बना है? दो द्रव्यों से मिलके नहीं बना, तो फिर द्वैत कैसे? प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है, तो द्वैत कैसे? बोले, जैसे दूध में पानी मिल जाता है। ठीक है, पर दूध का गुण पानी कब होगा और पानी का धर्म दूध कब होगा? कर्म का धर्म आत्मा कब होगा, आत्मा का धर्म कर्म कब होगा? कभी नहीं होगा। मिला दो जिनको जितना मिलाना है, लेकिन प्रत्येक अद्वैतभाव है, अद्वैतद्रव्य है। परन्तु आप जिसे अद्वैत कह रहे हो, वह अद्वैत मात्र दो हैं।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि शुभ-अशुभ वचन तक को छोड़ दिया है, क्रिया तो ठीक है और किसको रखा? मात्र आत्मा को। ऐसा जो आत्मा को ध्याता है, उसी के नियम से नियम होता है। जो आत्मा को नहीं ध्याता है, उसके नियम से नियम नहीं होता। कौन-सा नियम महाराज? जहाँ नियम का भी नियम विकल्प नहीं है। वो नियम का नियम तेरे अंदर गूँज रहा है कि महाराजश्री! मैंने एक महीने का ब्रह्मचर्यव्रत लिया है अर्थात् कहीं-न-कहीं वासना रखी है। मेरा एक महीने का ब्रह्मचर्य है, ये शब्द बार-बार आ रहा है, तो मालूम क्यों आया है? वह टकराता है अब्रह्म से, तो नियम शब्द आकर तुझे शान्त कर देता है। परन्तु जो नियम में होता है, उसे नियम की याद भी नहीं होती। जिस दिन नियम हो जायेगा, उस दिन कोई नियम नहीं बचेगा। अध्यात्म के शब्दों को लोग समझ नहीं पाते हैं और बाहर जाके शिथिलाचार का पोषण करते हैं। जबकि अध्यात्म कह रहा था कि नियम का भी विकल्प छोड़ दो।

भो ज्ञानी! महाराजश्री ने कहा है कि नियम का विकल्प छोड़ दो। पुद्गल का परिणमन चल रहा है, तो होने दो जो हो रहा है। भो ज्ञानियो! स्वच्छंद क्रिया का नाम नियमसार नहीं है, शुद्ध क्रिया का नाम नियमसार है। आगम की सोच रखना, अपनी सोच नहीं रखना, क्योंकि अपन लोग छद्मस्थ हैं। आचार्यों ने जो लिखा है, वह छद्मस्थ वाणी नहीं लिखी है। कुन्दकुन्द स्वामी ने 'नियमसार' में मंगलाचरण में ही लिख दिया।

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवली भणिदं॥ नियमसार 1॥

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि ये छद्मस्थों की वाणी नहीं है। केवली , श्रुतकेवली ने जो कहा है, उसे जो श्रुतकेवली के द्वारा प्राप्त हुआ है यानि भद्रबाहु स्वामी की ओर संकेत है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थों में स्वयं कहीं भी उल्लेख नहीं किया है कि मैं सीमंधर स्वामी से प्राप्त करके आया हूँ। कुन्दकुन्द स्वामी ने स्पष्ट लिखा है। उनका उद्देश्य भद्रबाहु स्वामी को बहुमान देना रहा है। 'अष्ट पाहुड' में तो स्पष्ट भद्रबाहु स्वामी का नाम

भी लिखा है। अपरवर्ती आचार्यों ने, टीकाकारों ने विदेहगमन के बारे में लिखा है, लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कोई जिक्र स्वयं नहीं किया है। भो ज्ञानी! इसलिये ये छद्मस्थ अपना चिन्तन नहीं करें। केवलीवाणी है। केवलीवाणी में छद्मस्थ चिन्तन करके अपने चित्त को निर्मल करें, उनकी वाणी में अपनी वाणी का प्रवेश नहीं करायें।

भो ज्ञानी! शुद्ध वाणी को जिस दिन समझ लोगे, फिर कोई अपना चिन्तन देगा तो आप तुरन्त समझ लोगे कि इतनी जिनवाणी है, इतना चिन्तन है। आचार्यमहाराज शुद्ध निश्चय-स्वरूप नियम की व्याख्या करते हुये कह रहे हैं कि परमतत्त्वज्ञानी कौन है? आप लोग जड़मूल से निकालते नहीं हो, पर ऊपर से उतार लेते हो और ये मुनिराज जड़ से निकालके फेंकते हैं। जब तक केशलुंचन मूल से नहीं हो रहा है, तो तुम ऊपर-ही-ऊपर से उतारते रहोगे। जो सूक्ष्म है, वह उत्पन्न करा देता है। इसलिये जड़मूल से ही उखाड़ो। इधर केशलोंच कह दिया, इधर निर्ग्रन्थ कह दिया। बोले, कोई जड़ नहीं छोड़ना, पूरा निर्ग्रन्थ कर देना। आत्मानुभूति तभी होगी, जब मूल से उखाड़ोगे। ऐसे निश्चय-प्रायश्चित में पारायण, ये 6 वें गुणस्थान की चर्चा नहीं चल रही है, ये 7-वें गुणस्थान की व्याख्या है, क्योंकि 'परम तपोधन' शब्द जुड़ा हुआ है। मन, वचन, काय से जो होने वाली भव की लता है, बेल है। मालूम, बेल कभी भी स्वयं नहीं चढ़ती, दूसरे पर चढ़ती है। ऐसे ही कर्म स्वतन्त्र नहीं बनते, दूसरे पर ही बनते हैं। उस लता के मूल और कंद दोनों को स्वभाव से शुभ और अशुभ, प्रशस्त अथवा अप्रशस्त वचन का निवारण करते हैं। इसका तिरस्कार नहीं करते। तिरस्कार कर दिया तो वहीं-का-वहीं सामान्य हो गया, लेकिन तिरस्कार नहीं, निवारण कर दिया। पर्युषण पर्व आते हैं तो दस-दस दिन के उपवास कर लेते हो तो आपने तिरस्कार किया है हल्का-सा। जैसे हाथी सरोवर में प्रवेश कर खूब स्नान करता है और जैसे ही बाहर निकला, धूल उठाई, डाल ली। ऐसी ही तुम्हारी तपस्या है। आचार्यश्री ने लिखा है कि श्रावकों की तपस्या गजस्नानवत्। जैसे ही पर्युषण पर्व पूर्ण हुआ, पूछा कि कहाँ जा रहे हो? अब क्या कहें? जहाँ से आये थे, वहीं जा रहे हैं।

भो ज्ञानी! जब तक परम-तपोधन-अवस्था नहीं बन रही है, तब तक शुद्धोपयोग की दशा नहीं। कर्मों का निवारण शुद्धोपयोग से ही संभव है। वह नियम से शुद्ध निश्चय नियमों की, शुद्धोपयोग की दशा है। उनके शुद्ध निश्चय नियम है। ऐसा श्री कुन्दकुन्द देव का अभिप्राय है। शुद्धनिश्चयनय में परिणत हुये साधु के ही शुद्ध प्रायश्चितरूप निश्चय-नियम होता है।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवान् कुंदकुंद स्वामी ने शुद्ध-निश्चय-प्रायश्चित अधिकार में 120वीं गाथा में संकेत दिया है कि योगी सम्पूर्ण शुभ-अशुभ वचनरचना से परे होके निज

आत्मा को ध्याता है। वही नियम से निश्चय-नियम को प्राप्त होता है। और जब तक नियम नहीं है, तब तक भो ज्ञानी! संयम कहाँ? नियमपूर्वक ही संयम है। नियम बुद्धिपूर्वक स्वीकार किये जाते हैं। बुद्धिपूर्वक व्यवहार-नियम को जो स्वीकार कर लेता है, वही निश्चय-नियम में प्रवेश कर जाता है।

भैया! एक जीव ने उपदेश दिया, कि भोजन त्यागने की आवश्यकता नहीं है। योगी तो स्वभाव में लीन होता है, तो अनशन धर्म हो जाता है। बात गलत नहीं, सही थी, लेकिन योगी की भूमिका की चर्चा थी। आपने सामान्य व्यक्ति, जिसे आलू, लहसुन त्याग करने का भी भाव नहीं है, से कहा कि त्यागने की आवश्यकता नहीं है। 'समयसार' जी का अध्ययन करने वाले ऐसे बहुत जीव हुये हैं, जिन्होंने भोगों से सल्लेखना-समाधि स्वीकार की है और वहाँ वही लिखा है कि त्याग करने वाले के मन में बार-बार विचार आता है, इसलिए त्याग मत करो, स्वभाव में लीन हो जाओ। नहीं! बुद्धिपूर्वक सप्त व्यसन का त्याग करो, बुद्धिपूर्वक असंयम का त्याग करो, फिर जब स्वभाव में तुम जाओगे, वहाँ त्याग का भी त्याग हो जायगा। फिर अनशन नहीं करना पड़ेगा, अनशन तेरा होगा।

'परमात्मप्रकाश' में दशवें द्वार से ध्यान की सिद्धि कहा है। दसवें द्वार से श्वास लेने को विधि कहा है। जब योगी दसवें द्वार से श्वास लेता है, स्वरूप में सहजता से लीन होता है, तब नाक से लेने वाली श्वास भी बन्द हो जाती है। प्राणायाम में चंचलता है, सरागता है। उसमें तो विकल्प है। प्राणायाम में कभी चन्द्रनाड़ी को बंद करना, तो सूर्य नाड़ी से निकालना और सूर्य नाड़ी को बंद करना, चन्द्रनाड़ी से निकालना। कुल्ला करना, रेचक-पूरक करना, फिर रेचक। यह सब करना पड़ रहा है। यदि शांत होके बिना जिह्वा हिलाये, बिना दाँत चलाये णमोकार पढ़ो, तो श्वास मंद हो जाती है और उस मंदता में ही योगी इतना अंतरंग में चल जाता है कि उपयोग घ्राण-इंद्रिय में चला जाता है और दशवें द्वार यानी तालूरंध्र से श्वासें प्रारम्भ हो जाती हैं। ऐसा जीव सल्लेखना करे तो उत्कृष्ट समाधि होती है। दशवें द्वार से जिस जीव के प्राण निकलते हैं, वह जीव नियम से सर्वार्थसिद्धि आदि उत्कृष्ट देवपर्याय को प्राप्त करता है।

ये निमित्त हैं। जितने नीचे भागों से प्राण निकलेंगे, जीव की उतनी ही नीची गति होती है, ये नियम है। अधोगति जिसकी होती है, उसके प्राण हमेशा अधोभाग से ही निकलते हैं। जब आँखों से प्राण निकलते हैं, तो आँखें खुली रह जाती हैं। मुख से जिसके प्राण निकलते हैं, मुख खुला रह जाता है। अधोभाग से प्राण निकलते हैं, तो मल फूट जाता है। उसी अंग में विकृति आती है और किसी अंग में नहीं आती है। इसीलिये उत्कृष्ट साधक के प्राण उत्कृष्ट

स्थानों से ही निकलते हैं-मुख, नाक, आंखें। परन्तु ये सब विधिपूर्वक जिसने सल्लेखना की है उस जीव की उत्कृष्ट दशा है। बाकी के सभी जीवों की सामान्य है। ध्यानसाधना में लीन हुये साधक अपने आप सबकुछ प्राप्त कर लेते हैं। उसे कुछ भी विशेष करने की आवश्यकता नहीं होती है। मृत्यु के काल में उसे ज्यादा कष्ट होता है, जिन्होंने पहले से इंद्रियों को, कषायों को वश में नहीं रखा। जिस जीव ने अपने आपको पहले से सावधान रखा है, उसे मृत्यु के काल में ज्यादा कष्ट नहीं होगा। अन्तर्मुहूर्त में प्राण निकल जाता है। इसलिये जरूरत है संभलते रहने की और अपने आप को संभालते रहने की। वचन-रसना भी परेशान करने लगती है। इसलिये साधक सल्लेखना के पूर्व मौनसाधना की वृद्धि करता है। सबसे विराम ले ले। सल्लेखना में प्रवचन की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ तो मात्र अपनी ही वाचना है।

भो ज्ञानी! कथायें चार हैं-आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी। सल्लेखना की ओर आने वाले जीव को आक्षेपणी, विक्षेपणी कथा करना पूर्ण निषेध है। आचार्य श्रुतसागर महाराज की सल्लेखना के काल में कुछ विद्वान् पहुँचे। महाराज श्री से बोले कि समाज में अनेक प्रकार के विकल्प आ रहे हैं; पंथ, आम्नाय आदि के। इसमें आपका अंतिम संदेश क्या है? आचार्य महाराज कहने लगे-भैया! हमने पूरा जीवन समाज को दिया है, अब हमारी समाधि चल रही है, अब तो संदेश मात्र निज का ही निज को है। मेरा कोई संदेश नहीं है, क्योंकि आप ले जाओगे, छपवाओगे, प्रचार होगा, मन में भाव आयेंगे कि हमारे अंतिम संदेश का प्रचार होगा। बड़ी सहजता में कहा 'नहीं, अब मेरा कोई संदेश नहीं है।'

आक्षेपणी, विक्षेपणी कथाओं में स्वमत का मंडन और परमत का खंडन होता है। स्वमत की जब बात करते हो, तो नियम से यही भावों में आता है, कि ये ही सत्य है। इसलिये यहाँ मात्र निर्वेदनी, संवेदनी कथायें होना चाहिये। जो चारित्र व वैराग्य को बढ़ाने वाली कथायें हैं, वे सल्लेखना के काल में होना चाहिये। आक्षेपणी, विक्षेपणी कथा की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार से प्रारम्भिक शिष्य के लिये भी दो ही कथायें हैं। प्रारंभिक शिष्य के लिये आगम में आक्षेपणी, विक्षेपणी कथा का निषेध किया है। कोई नया शिष्य दीक्षित हुआ है, यदि तर्कशास्त्र शुरू कर दिये तो हो सकता है कि आपके तर्क उसको नहीं भाये और दूसरे के जो तर्क चल रहे थे, उसमें कहीं चला गया, तो उसका सम्यक्त्व ही गड़बड़ हो जायेगा। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को आगम-आज्ञा नहीं देता, जब तक स्वसमय का ज्ञान नहीं है। जिसने पद्मपुराण, पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण नहीं पढ़ा हो, पहले उसको दूसरी कथायें धारणा में न लायें। आगम कहता है कि पहले स्वसमय के ज्ञाता बनो, फिर परसमय के ज्ञाता बनो। स्वसमय में भी पहले आचार्यों को पढ़ो।

भैया! मूल आचार्यों के ग्रंथ पढ़ने के बाद फिर आप पढ़ोगे तो स्वयं बता पाओगे कि इनकी दृष्टि ऐसी है, आगम की दृष्टि ऐसी है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' का प्रचार इतना अधिक क्यों है? जबकि पं. आशाधर ने 'सागार धर्मामृत' लिखा है, उसमें गृहस्थ की क्रियायें बहुत हैं, लेकिन उसका प्रचार ज्यादा नहीं है। 'सागार धर्मामृत' को पढ़ने वाले के आचार में शिथिलता मिलेगी, परन्तु पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय, रत्नरकण्ड श्रावकाचार को पढ़ने वाले के आचार में शिथिलता भले ही हो, परन्तु वाणी में शिथिलता कभी नहीं आयेगी।

भो ज्ञानी! जिस ग्रन्थ में लिखा हो कि जिसका स्वदार संतोषव्रत है और परदेश जाये, उतने समय अपनी स्त्री का त्याग कर दे और बाजारु स्त्री का उपयोग कर सकता है। ऐसे ग्रन्थों की बात आप स्वीकार करने को तैयार हो क्या? इसलिये थोड़ा विवेक से पढ़ना। आचार्य अकलंक देव ने इतना भी लिखा है कि जो उचित अंगों के अलावा कामचेष्टा की पूर्ति कर रहे हैं, वो अतिचार नहीं, अनाचार है। 'राजवार्तिक'-कार ने अनंगक्रीड़ा आदि को अतिचार नहीं माना है, अनाचार ही माना है। उन्होंने तर्क दिया है कि ये अनाचार इसलिए है कि काम की तीव्रता में भी कषाय की तीव्रता चल रही है और जो तू अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर रहा है, वह ही अब्रह्म हो रहा है जो-स्त्री पुरुष के संयोग से होता है, इसलिए वह अनाचार ही है। उसका फल क्या होगा? नपुंसक पर्याय की प्राप्ति होगी। अतः मूल आचार्यों को पढ़ने से चारित्र के प्रति जागृति बढ़ती है।

यहाँ आचार्यमहाराज वचनरसना का निषेध कर रहे हैं। वे बोलने का निषेध कर रहे हैं। वे नहीं कहेंगे कि आवश्यकता पड़े तो बोल सकते हो। आचार्य समंतभद्र, अमृतचंद्रस्वामी ने कहीं भी शिथिलाचार को स्थान नहीं दिया है। आचार्य समंतभद्र स्वामी कहीं विवादों में नहीं पड़े। उन्होंने वैयावृत्ति में अरिहन्त की पूजा को रख दिया। रखने के बाद यह नहीं कहा कि कैसे करो। इतना तो कहा कि प्रासुक द्रव्य से तुम अरिहन्त भगवान् की पूजा करो। नहीं-तो सब भाववादी बन गये होते। भगवान् की पूजा भावों से ही शुरू कर देते। कुछ उपवास वाले उल्टे भी मिल गये। बोले, महाराज जी! हमारा उपवास है। तो? बोले, आज पूजा का त्याग है। क्यों? बोले, 'स्नान करना पड़ेगा, आरंभ-समारंभ होगा, इसलिये मैंने पूजा का त्याग कर दिया है। ऐसा 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में लिखा है।' कितना उल्टा अर्थ लगा लिया? स्नान, शयन, असन का अर्थ क्या है? टीकाकार प्रभाचंद स्वामी से पूछो। कुछ लोग दान नहीं देते उपवास के दिन। अब बताओ, उनके गाँव में मुनिराज आ जायें, तो आप तो उनका उपवास करा दोगे। वे विहार करके आये थे। आपके बारह व्रतों में अतिथि-संविभाग नामक व्रत है कि नहीं? उपवास आपका है कि आप दूसरे का करवा रहे हो? श्रावक हो, इसलिये ध्यान से समझना। यदि तुम्हारा उपवास भी है और कोई व्यवस्था नहीं बन रही है, तो आपको अतिथि

का सम्मान करना चाहिए। यदि आपने चैत्यालय में रहने का नियम ले लिया है, तो आप दान मत करो। स्नान के त्याग का तात्पर्य उबटन, साबुन, तेल मालिश आदि का त्याग है, न कि भगवान् के अभिषेक-पूजन के लिये शुद्ध जल से स्नान का। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने स्पष्ट लिखा है कि प्रात:क्रिया करके अरिहन्त भगवान् का अभिषेक करें, आराधना करें।

भो ज्ञानी! 'लाटी संहिता' ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने जो विषय एक-इंन्द्रिय में लगता है उसको पंचेद्रिय मनुष्य में लगा दिया। तेलमालिश को आहार लिख दिया। लेप-आहार है, उसका अर्थ ही गड़बड़ कर दिया। लेप-आहार एक-इंद्रिय का होता है। ओज-आहार, मानसिक आहार, कवलाहार आदि। मानसिक आहार देवों का होता है। कवलाहार मनुष्य और तिर्यंचों का होता है। एक-इन्द्रिय जीव को जो खाद-पानी दिया जाता है, वह लेप-आहार है और जो अंडों में रहते हैं, उनका ओज-आहार होता है। केवली का कर्म-नोकर्म का आहार है। लाभांतराय कर्म के क्षय से ऐसी कर्मवर्गणायें प्राप्त होती हैं, जिससे केवली को कवलाहार नहीं करना पड़ता। ध्यान रखना, तेल श्रृंगार हो सकता है, औषधि हो सकती है, परंतु तेल को आहार नहीं कह सकते। कार्माणवर्गणायें आ रही हैं प्रतिक्षण। आप जो ग्रहण कर रहे हो, जिसको भोग लिया, वे टूट रही हैं, सहज आ रही हैं, जिससे उनका शरीर चल रहा है। आ रहीं हैं और जा रहीं है। परम औदारिक शरीर है, उसमें वर्गणायें आ भी रही हैं और जा भी रही हैं, लेकिन कवलाहार नहीं है। 'लाटी संहिता' में लिखा है कि यदि बाल बड़ा है, अंगुली में लिपटने के आकार का हो, तभी अंतराय करना, छोटा हो तो नहीं। आगम में मल का अंतराय लिखा है न? मल चाहे छोटा हो या बड़ा, मल तो मल ही है। ऐसी बातें आप मानोगे क्या? इसलिये मूल आचार्यों के ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए। मध्यकाल में किसी ने लिख दिया कि प्रासुक करके भटा , आलू खा सकते हो। भैया! जब तक मूलग्रन्थों से बातें मेल नहीं खाती हैं, तब तक मानने योग्य नहीं हैं। पहले आगमार्थ, फिर भावार्थ। कुछ आचार्यों ने भावार्थ संस्कृत में लिखा है। यदि आचार्य के भावों से तुम्हारे भाव मिल रहे हैं, तो स्वीकार है। अनुवाद तो चल जायेगा, क्योंकि जैसे के तैसा है। लेकिन आपके मन का भावार्थ नहीं चलेगा।

भो ज्ञानी! "वक्ता प्रमाणं वाक्य प्रमाणं" वक्ता अर्थात् मूलग्रन्थकर्ता तीर्थंकर देव, उत्तरग्रन्थकर्ता आचार्य देव। तब ग्रन्थ प्रमाणित होता है। सिद्धान्त कभी अलंकारों में नहीं जाता, उपमाओं में नहीं जाता। सिद्धान्त में कोई अलंकार नहीं लगते। वे तो अपने आप में जो हैं, सो हैं। अलंकार कथाओं में, उपन्यास में होते हैं। आचार्यमहाराज पद्मप्रभमलधारि देव कह रहे हैं कि वचनरचना का जिसने त्याग कर दिया, ऐसी योगी आत्मा को ध्याता है। वही ज्ञानी नियम से नियम को प्राप्त होता है—

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम्।
परमयमिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यङ्गनासुखकारणम्।। कलश 191।।

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जिसने वचन-रचना को छोड़ दिया है, ऐसा कौन? अभव्य नहीं, भव्य है। शुभ और अशुभ दोनों ही वचनों को जिसने छोड़ दिया है। निश्चय से सहज परमात्मा को नित्य ही अच्छी तरह से भाता है। कौन? परम संयमी के ऐसा ज्ञानात्मक नियम होता है। वह नियम कैसा है? जो शुद्ध मुक्ति-अंगनाओं से मिलने का कारण है। कौन-सा नियम? निश्चय नियम।

अनवरतमखण्डाद्वैतचिन्निर्विकारे
निखिलनयविलासो न स्फुरत्येव किञ्चित।
अपगत इह यस्मिन् भेदवादस्समस्तः
तमहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ।। कलश 192।।

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अनवरत, अखंड, अद्वैत जो आत्मस्वरूप है, चेतन स्वरूप निर्विकार है। समझना क्या, निश्चय क्या? व्यवहार से सब व्यर्थ की बातें हैं। समझने की शैली थी, विसंवाद की वस्तु नहीं थी, न आत्मा का स्वरूप है। निश्चय-व्यवहार को जो आत्मा का स्वरूप मानता है, वह बहुत बड़ा अज्ञानी है। आत्मा का स्वरूप तो रत्नत्रय धर्म की लीनता है, 'रत्नत्रय धर्म' शब्द नहीं है। निश्चय-व्यवहार से कथन किया है। आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि इसमें संपूर्ण नय विलास स्फुरमान नहीं होते हैं किंचित मात्र भी। जिसको न निश्चय पर दृष्टि है, न व्यवहार पर दृष्टि है, वे अपने आप में लीन हैं। देखो, जब तक यहाँ आप नहीं आये थे, तब तक विकल्प था कि सायकिल से जाऊँ, ऑटो से जाऊँ, पैदल जाऊँ और जो यहाँ मंदिर आ चुका है, उसको आने सम्बन्धी कोई विकल्प नहीं है। ऐसे ही जो जीव स्वभाव में लीन होता है, उसे न निश्चय का विकल्प होता है, न व्यवहार का विकल्प होता है। जो स्वभाव में लीन नहीं होते हैं, उन्हें ही नाना विकल्प होते हैं। आचार्यमहराज कह रहे हैं कि जो विकल्पों में जी रहे हैं, वे मोक्ष नहीं जा सकते। ये अमुक प्रदेश के हैं। भो ज्ञानी! तू भूमिगत भेदों से आत्मा में भेद कर रहा है कि अमुक मोहल्ला के हैं, अमुक जाति के हैं। तू पुद्गल में उत्पन्न स्थान को जाति मान रहा है। सिद्धान्त की अपेक्षा से कौन-सी जाति के हो? कोई जाति से मोक्ष नहीं होगा। आगम में पांच जातियाँ हैं-एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पांच इंद्रिय। ये वर्णन गोम्मटसार जीवकांड, 24 ठाणा आदि में है। पांच जातियों में आप कौन-सी जाति के हो? पंच-इंद्रिय तिर्यंच और आपकी जाति एक है।

देव, नारकी और आपकी एक ही जाति है, पंचेंद्रिय। इसलिये इन विकल्पों में मत पड़ना यदि वास्तव में मुमुक्ष हो तो। अन्यथा आप खूब विकल्प करो।

भो ज्ञानी! तुम सब चिल्ला रहे हो मोक्ष जाने के लिए। मोक्ष का पुरुषार्थ कर रहे हो तो नियम से मिलेगा। जो सहजस्वरूप का आनंद है, वो कब लूटेंगे? निजात्मा में रमण करने वाले योगी को यह भी विकल्प नहीं आता कि मैं केवली बन जाऊँ, क्योंकि विकल्प करने वाला केवली नहीं बनता। निर्विकल्प योगी कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। भाषा में यह कहा जाता है कि भगवान् ने कैवल्य प्राप्त कर लिया, लेकिन कर नहीं लिया, भगवान् को कैवल्य हो गया। जैसे निश्चित युवावस्था आने पर आपके अंदर विकारों को किसने उत्पन्न किया? किसने सिखाया? किसने विकार उत्पन्न कराये? जब युवावस्था आई, उसमें विकार उत्पन्न होना शुरू हो गये, जबकि किसी ने बताया भी नहीं था। इसकी कोई पाठशाला नहीं है, यह सहज होता है। ऐसे ही जब संयम की एक निश्चित सीमा आती है, वह विकार नष्ट हो जाते हैं और निर्विकार शुद्धस्वरूप केवलज्योति प्रकट हो जाती है।

वह "अनवरत" शब्द कह रहा है कि ऐसी अनवरत साधना चलेगी। निर्विकल्प साधना अनवरत चलेगी। जिन्होंने संपूर्ण भेदों को छोड़ दिया है, ऐसे हे योगियो! जब तक संघ, गण, पंथ का भेद तेरे अंतस् में बैठा रहेगा, तब तक तू निर्विकल्प दशा को प्राप्त नहीं कर सकेगा। ध्यान रखना, मैं संघ का ज्येष्ठ मुनि हूँ, श्रेष्ठ मुनि हूँ, ये विकल्प भी तेरी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता दोनों को नष्ट कर रहे हैं। श्रेष्ठ तो केवली, ज्येष्ठ तो केवली थे। ज्येष्ठ बैठे रह गये, कौन? शिवभूति महाराज के गुरुमहाराज, जिन्होंने णमोकार सिखाया था। ज्येष्ठ थे, गुरु थे, लेकिन अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रभु के चरणों में नमोऽस्तु करने गये। बोले, हम तो गुरु ही बने रहे, बेटा! तू केवली बन गया। एक आचार्यमहाराज के दीक्षा देते-देते चतुर्थ काल में कितने योगी निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं और आचार्यमहाराज दीक्षा ही देते रहे। इसलिए इसमें मत जीना कि हम बड़े, ये छोटे। मालूम, पिताजी घर में ही बैठे रहे और बेटा दीक्षा लेके चला गया मोक्ष। आगम यह ज्येष्ठों का नहीं है, श्रेष्ठों का है।

आचार्यश्री ने कल पुस्तकें मँगवाई थी, भेंट की थी सबको। हम इस विकल्प में जीते रहे कि उन्होंने हमसे छोटों को पहले बुलवाया। ये बताओ कि पुस्तक मिली या नहीं? बोले, मिल तो गई, लेकिन हमको बाद में बुलवाया। भो ज्ञानी! ठीक है, जो सामने दिख गया, उनको दे दी महाराज ने, महाराज का क्या दोष? ये विकल्प मत लाओ कि हम बड़े थे, हमें पहले बुलाके देना चाहिये था।

भो ज्ञानी! महाराजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार के मन में आया कि सब महाराज हमारा ध्यान रखते हैं, इसलिये दीक्षा ले ली। दीक्षा लेने के बाद उनका नम्बर सबसे आखिर में आया।

जिस समवसरण में चौदह हजार मुनिराज हों, तो तुम्हारा नम्बर पहले कहाँ आना है? उनको आखिरी में स्थान मिला। लोग आते-जाते थे, तो धक्का लग जाता था। उन्हें गुस्सा आया और बोल पड़े, कहाँ बैठा दिया? जब हम गृहस्थ थे, तो लोग हमारा कितना ध्यान रखते थे और अब देखो कहाँ बिठाला है आपने हमको। भैया! पूजा को देखकर कहीं पूज्य का भेष बना मत लेना। उन्हें मुनिराजों ने समझाया, भैया! उस समय आप गृहस्थ थे, तब संघ के अनुशासन में नहीं थे। अभी संघ का अनुशासन है, अतः जहाँ जिसका नम्बर होगा, वहाँ उसको बैठना पड़ेगा। प्रतिबोध हुआ अभयकुमार मुनिराज को। आगम में ये कथायें लिखने की क्या आवश्यकता थी? यह आवश्यकता थी कि कहीं ऐसे भाव किसी जीव के मन में आ जायें कि जब हम संघ में आये थे, तो बहुत ध्यान देते थे और अब हमसे बोलते नहीं हैं। भैया! तब तुम गृहस्थ थे, साधक नहीं थे। अब तो तुम्हें साधना में लीन होना है। इसलिए आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि सम्पूर्ण भेदभाव से जो परे हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ, उनकी भावना भाता हूँ–

इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत्।
एभिर्विकल्पजालैर्यन्निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम्।। कलश 193।।
भेदवादाः कदाचित्स्युर्यस्मिन् योगपरायणे।
तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते।। कलश 194।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं कि यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है और वह फल है, ये भी विकल्पजाल हैं, वे भी उनके नहीं हैं। जो ध्यान, ध्याता, ध्येय के विकल्पजाल से भी निर्मुक्त हैं, ऐसे परम योगी को मैं नमस्कार करता हूँ।

आचार्यमहाराज आगे के कलश में कह रहे हैं कि जहाँ रत्नत्रय का भेद भी है और जिसके मन में आम्नाओं का भेद बैठा हो, वह कैसा मुमुक्षु है? जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का भेद है, उसे मोक्ष नहीं है। ये मेरा मंदिर है, ये तुम्हारी धर्मशाला है, ये तुम्हारा तीर्थ है, जो इन भेदों में पड़ा है, उसका मोक्ष तो केवल भगवान् के ज्ञान में झलक रहा होगा। कब होगा? तभी होगा, जब ये मिट जायेंगे। इसलिए भो ज्ञानी! ऐसा भेदवाद तेरे मन में कदाचित् भी है, ऐसा योगी जो योग से परायण भी है, अरहन्तदेव के मत में कौन जानता है कि उसकी मुक्ति होगी कि नहीं? इसलिये इन प्रपंचों में नहीं पड़ो। जिसके लिये तुमने भेद स्वीकार किया है, उसका उद्देश्य पूर्ण करो। इससे मोक्ष मिलेगा कि नहीं? आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अरहन्त के मत में मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि यह विकल्पजाल मोक्ष के कारण नहीं है। वीतराग निर्विकल्प ध्यान में ही शुद्ध नियमरूप प्रायश्चित होता है। इस निर्विकल्प अवस्था के हुये बिना कर्मो का नाश होना संभव नहीं है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

उत्थानिका : निश्चय कायोत्सर्ग के स्वरूप का कथन

गाथा : कायाईपरदव्वे, थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं, जो झायइ णिव्विअप्पेण।।121।।

संस्कृत छाया : कायादिपरद्रव्ये स्थिरभावं परिहृत्यात्मानम्।
तस्य भवेत्तनूत्सर्गो यो घ्यायति निर्विकल्पेन।।121।।

अन्वयार्थः (कायादिपरद्रव्ये) काय आदि परद्रव्य में (स्थिरभावं) स्थिर भाव को (परिहव्य) छोड़ करके (यः) जो (निर्विकल्पेन) निर्विकल्प रूप से (आत्मानं घ्यायति) आत्मा का ध्यान करता है (तस्य) उस साधु के (तनुत्सर्गः भवेत्) कायोत्सर्ग होता है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! तेरे अंतरंग में भेद-भावना बैठी है कि यह मेरा, यह तेरा, यह मेरे, यह तेरे। बड़े आश्चर्य के साथ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अरहंत के मत में उसका मोक्ष होगा कि नहीं होगा, ये केवली जानें। आचार्यमहाराज खेद के साथ कह रहे हैं, हे योगी! योग में परायण होने पर भी यदि भेदभावना है, तो मुक्ति नहीं है। भेदभावना से परे अभेद रत्नत्रय ही साक्षात् मोक्ष का कारण है। इस अधिकार के उपसंहार में 121 नं0 की गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं निश्चय कायोत्सर्ग का लक्षण। शरीर आदि परद्रव्य हैं। इनके प्रति तेरा स्थिरता रूप परिणाम है कि यह शरीर मेरा है, ऐसा तेरा भाव है, वह ही मिथ्यात्व है। कुतत्त्व का श्रद्धान करना, ये तो बहुत बात हो गई।

भो ज्ञानी! अभी तक भगवान्-आत्मा कहते रहे। कुंदकुंद स्वामी लिखते हैं कि हे दुरात्मा! बहिरात्म-भाव ही दुरात्म-भाव है। इसलिये शरीर पर दृष्टि जब तक रहेगी, तब तक अध्यात्म की सम्यग्दृष्टि नहीं होगी। यहाँ दुरात्मा से तात्पर्य आत्मतत्त्व से जो बाहर है, आत्मतत्त्व से जो दूर है। अध्यात्मशास्त्र निश्चय सम्यक्त्व, निश्चय ज्ञान और निश्चय चारित्र तीनों को युगपत ग्रहण करता है। जहाँ चारित्र-दृष्टिस्वरूप लीनता है, वहाँ देहलीनता कहाँ? स्वरूपलीनता जहाँ है, वहाँ देह लीनता कहाँ? स्वरूपलीनता जहाँ है, वहाँ देह लीनता नहीं। शरीर क्या है? पर्याय है। आचार्य कुंदकुंद देव 'प्रवचनसार' में लिख रहे हैं "पज्जयमूढ़ा परसमया," जो पर्यायों में मूढ़ है, वह ही परसमय और मिथ्यादृष्टि है। "देह जीव को एक गिने, बहिरातम तत्त्व मुधा है।" छहढ़ाला में पं0 दौलतराम जी भी कह रहे हैं कि जो शरीर और जीव को एक मानता है, वह बहिरात्मा है। तत्त्व से जो मुग्ध है, तत्त्व में जो मूढ़ है, ऐसा जीव शरीर में मोह रखता

है। इसलिये आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि शरीर की वृत्ति का नाम ही सम्यग्दृष्टि है। शरीरादि जो परद्रव्य हैं, उसके प्रति जो स्थिरभाव है, उनको ही मात्र छोड़ता है, यानि त्याग देता है। ऐसा आत्मा के द्वारा होता है। शरीर से ममत्व का त्याग करना ही कायोत्सर्ग न लिखकर शरीर का उत्सर्ग करना, यानि ममत्व का त्याग करना लिखा।

भो ज्ञानी! जो ध्याता है, निर्विकल्प आत्मा में उसी को कायोत्सर्ग होता है। 48 मिनट का जघन्य कायोत्सर्ग होता है। मध्यम 48 मिनट से अधिक आप जितना कर सको। यहाँ गाथा में निश्चय कायोत्सर्ग के स्वरूप का कथन कर रहे हैं। "काय" किसे कहते हैं? जो सादि है, सनिधन है। यानि आपने शरीर प्राप्त किया है, जो नियम से नष्ट होगा। वह कैसा है? मूर्तिक है, विजातीय है, यह शरीर मेरी जाति का नहीं है। भो ज्ञानी आत्माओ! अपनी जाति के लोगों से राग करो तो समझ में आता है। विजातीय में राग किये बैठे हो। देखना संसार की दशा, विजातीय के नाम को देखकर प्रसन्न होता है। विजातीय के चित्र को देखकर प्रसन्न होता है। जबकि यह तेरी जाति, धर्म के नहीं हैं। तेरी जाति पंचेइंद्रिय की है, क्योंकि वह भी विजातीय है, इसमें इंद्रिय शब्द जुड़ा है। वह आत्मा का धर्म नहीं है। जीव की जाति एकमात्र चेतना-अवस्था है। उस चेतना-अवस्था को देखकरके व छोड़करके पर्याय की पर्याय दिख रही है और वह जिसमें दिख रही है, वो भी पुद्गल में पुद्गल की पर्याय का उपचार किया जा रहा है। बोले, कितना अच्छा चेहरा दिख रहा है हमारा दर्पण में? लगता है कि तत्त्वज्ञान बहुत दूर है। स्थूल को अपना मानके बैठा है। जब गहरे में जाओगे, तब हट पाओगे। दर्पण में चेहरा देखना। जिसमें झलक रहा है, वो पुद्गल और जो झलक रहा है, वह पुद्गल और जिसका झलक रहा है, वह भी पुद्गल।

भो ज्ञानी! बड़े संघ में रहते रहो, फिर बाहर आ जाओ, तो अटपटा लगता है, मन नहीं लगता है। बाहर रहने लगे, तो पुनः संघ में जाओ, तो अटपटा लगता है। जिन गुरुचरणों में आप रहे, आज तुम्हें वहीं अच्छा नहीं लग रहा है, जबकि बाहर आये कुछ ही दिन हुए थे। जिस गुरु से तुम भगवान् बनोगे, उस गुरु से बाहर हुए तुझे अनंत भव व्यतीत हो गये। गुरु के अनुशासन में रहना कठिन होता है। बाहर के गुरु का अनुशासन, फिर अंदर के गुरु का अनुशासन तीव्र कठोर होता है। बाहर के गुरु तो कम-से-कम बैठने को कह देते हैं। बाहर के गुरु कह देते हैं कि जाओ, धर्मोपदेश कर आओ। अन्दर का गुरु कहेगा कि नहीं, यह सब किसके लिये? दूसरे का उपकार करना छोड़ दो। जिस शरीर में तू रह रहा है, उसका उपकार तू नहीं कर सकता। वह अपने समय पर उपकाररूप चल रहा है। उसकी अवस्था पूर्ण हो जायगी, तो वो नियम से क्षीण होगा। खिलाओ रोज घी, पिलाओ दूध। देखना,

देखते-ही-देखते बदल गया। कहाँ गया खाना-पीना? एक शिशु को दूध पिलाया, वह बढ़ रहा है। वही दूध एक वृद्ध को पिलाया, वह बाहर जा रहा है। इसलिये परद्रव्य के निमित्त के साथ निज का उपादान जबतक निर्मल रहता है, तब तक परद्रव्य का निमित्त सहकारी बनता है।

भो ज्ञानी! कुछ लोगों ने "निज" शब्द को नहीं जाना और कुछ जीवों ने "निज" शब्द में राग लगा लिया और निज शब्द का राग भी निज में प्रवेश करने नहीं दे रहा है। क्योंकि निज शब्द भी पुद्गल की पर्याय है। निज शब्द जहाँ समाप्त हो जायगा, वहाँ निज में प्रवेश होगा। जब निज-पर का विवेक जागेगा और फिर निज पर से परे होगा, तभी निज में प्रवेश होगा। आप लोग नौ बार णमोकार को कायोत्सर्ग मानते हो, ठीक है, जबतक निश्चय कायोत्सर्ग में प्रवेश नहीं कर रहे, तबतक वो ही करते रहना। धन, जन, कुटुम्ब, परिजन आदि सबका बुद्धिपूर्वक त्याग करके, फिर देह से ममत्व का त्याग करके, पंचपरमेष्ठी-वाचक मंत्र का ध्यान करना, यही व्यवहार कायोत्सर्ग है।

भो ज्ञानी! अंदर के गुरु से कब मिले आप? अभी तक नहीं मिले। उनके पास ही नहीं गये। दूर-ही-दूर भाग रह हो। एक दिन को भी मिल गये होते, तो अंदर का गुरु बड़ा श्रेष्ठ है, वह आपको बाहर जाने ही नहीं देता। आप उसके चेले बने ही नहीं। आप निज गुरु के चेले बन गये होते, तो इन चेलों में नहीं होते। निज गुरु को जाना नहीं, निज गुरु के चेले बने ही नहीं और जो निज गुरु का चेला बन जाये, वह चेलों यानि वस्त्रों में नहीं रहेगा। इसलिये निज गुरु का चेला बनना चाहते हो तो चेल छोड़ दो, फिर चेला-भाव छोड़ो, फिर उसका ज्ञान करो। बाह्य गुरु की परिभाषा आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में लिखी है।

विषयाशावशातीतो निराम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते।। र. क. श्रा. 10।।

अंदर के गुरु की पहचान तो करना पड़ेगी। ये अंदर के गुरु की पहचान है कि अरस है, अरूप है, अगंध है, अवक्तव्य है, अलिंगी है, असंस्थान है, अनामी है, अप्रदेशी है। कोई देश नहीं, उसका कोई क्षेत्र नहीं। वह स्वक्षेत्र में विराजमान है, स्वचतुष्टय में विराजमान है। भो ज्ञानी! ज्ञानस्वरूपी भगवान्-आत्मा ही मेरा निज गुरु है। वह जब आँखों से दिखेगा नहीं, कानों से उसकी आवाज सुनाई नहीं पड़ेगी, घ्राण से उसको सूंघा ही नहीं जा सकता, स्पर्श से स्पर्श नहीं किया जा सकता। आत्मगुरु अनुभवगम्य है। यदि आत्मगुरु का चेला बनना है, तो आपकी शर्त्त नहीं चलेगी। उसमें समर्पण होता है। जब बाहर के गुरु से दीक्षा लेने

जाओगे, तो समर्पण करना पड़ेगा। जब निज का अस्तित्व खो दोगे, तभी गुरुचरण मिलेंगे। यदि गुरु कह रहे हैं कि चार और चार नौ होते हैं, तो स्वीकार करना पड़ेगा। यदि आप सोचोगे कि हम अपना भी कुछ रखेंगे, तो भो ज्ञानी! कभी गुरु नहीं दिखेगा। जब शिष्य का निज का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, उसी दिन से शिष्यत्व प्रारम्भ होगा। ये बाहर के गुरु की बात कह रहे हैं। अंदर का गुरु कह रहा है कि आपको अपनी सत्ता का समापन करना होगा। बाहर के जितने प्रभु गुरु हैं, सबकी बातों से दूर रहना होगा। शिष्य जब शिष्य बनने जाता है, उसे सत्य-असत्य नहीं दिखता, मात्र सत्यगुरु दिखता है और जहाँ तर्क आ जाते हैं, तो वहाँ गुरु भाग जाता है। जब तर्क प्रवेश कर जाते हैं, तो गुरु चला ताजा है।

आगम में आज्ञा-सम्यक्त्व कहा गया है। वो कहता है कि जो निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु होगा, वह कभी भी आपको अन्यथा मार्ग पर नहीं चलायेगा। हमारी अज्ञानता हो सकती है कि हमको लगे कि ये अन्यथा कह रहे हैं। लेकिन गुरु की जहाँ दृष्टि रहती है, वहाँ पर उनका सोच भी रहता है। इसलिए यदि समर्पित किया है, तो अपना सोच हटा देना चाहिए। जबतक अपना सोच रहेगा, आत्मगुरु कहेगा कि शरीर का सोच भी तुम्हारे साथ जबतक रहेगा, तब तक मैं आपको अपना शिष्य नहीं बनाऊँगा। जबतक आपको ग्रन्थ पढ़ने का भी सोच रहेगा, तो मैं अपना शिष्य नहीं बनाऊँगा। क्योंकि जबतक आपको अध्ययन करने की भावना रहेगी, तबतक आपको आत्मा से मिलने की फुर्सत कहाँ?

भो ज्ञानी! ग्रन्थों का अभ्यास भी जरूरी है। ग्रन्थ नहीं मिलते हैं तो परिणाम इधर-उधर जाते हैं। बिना ग्रन्थ के रहने का आलम्बन भी जरूरी है, अन्यथा समाधि के काल में तुम अपनी साधना भंग कर लोगे, क्योंकि वहाँ ग्रन्थ पढ़ने को नहीं मिलेगा। आँखें दर्द करेंगी, शरीर काम नहीं करेगा, तो परिणामों को कैसे संभालोगे? उस समय स्वाध्याय ही करना पड़ेगा। वह स्वयं से ही करना पड़ेगा। इसलिये जो बाह्यश्रुत है, वह एक कारण तो है, परन्तु भावश्रुत के अभाव में समाधि संभव नहीं है। द्रव्यश्रुत कारणसमयसार है, भावश्रुत कार्यसमयसार है। कैवल्य कारणसमयसार, (द्रव्यश्रुत) मात्र से ही नहीं होगा, भावश्रुत से ही कैवल्य की प्राप्ति होगी। जैसे शिवभूति महाराज के पास द्रव्यश्रुत नहीं था, लेकिन भावश्रुत पूरा था।

हे मनीषियो! आचार्य महाराज कह रहे हैं कि वह अनुभवगोचर है। कहाँ बैठा है? अंदर बैठा है, यह कहना बहुत बड़ी भूल है। क्यों भूल है? क्योंकि हमने उसे अन्दर-बाहर कर दिया, जबकि वह अपने आप में न अंदर है, न ही बाहर है। वैदिक दर्शन में कहा जाता है कि आत्मा राई के बराबर है, वह एक जगह रखी हुई है। ध्यान रखना, अंदर की बात बाहर की नहीं है, बाहर की बात अंदर की नहीं है। बिजली के तार को देखकर कहते हो कि इसके

अंदर प्रकाश है, जबकि उसके अंदर प्रकाश नहीं है। प्रकाश अंदर नहीं, बाहर नहीं। प्रकाश तो मात्र प्रकाश है। बिजली चली जाये तो उसे निकाल क्यों नहीं लेते? तार विद्युत के संचार का माध्यम तो है, लेकिन विद्युत नहीं है। ऐसे ही शरीर आत्मा के संचार का स्थान तो है, लेकिन शरीर आत्मा नहीं है।

भो ज्ञानी! अब तो बाहर की सलाह लेना बन्द कर दो, तो-ही अंदर के गुरु की सलाह मिल पायेगी। गुरु बनाना चाहते हो तो प्रतिज्ञा कर लेना कि मैं किसी की सलाह नहीं मानूँगा। ध्यान रखो, किसी से तात्पर्य मन भी पर है, तन भी पर है, इंद्रियों भी पर हैं, वचन भी पर हैं। सब पौद्गलिक हैं। इन सबकी बात मानना बन्द करो। इसके लिये ताकत चाहिये। बज्रवृषभ-नाराच संहनन चाहिये। पर को छोड़ने के लिये भी पर की सत्ता चाहिये। इसलिये उत्कृष्ट संहनन के अभाव में उत्कृष्ट ध्यान भी नहीं बनता है। भो ज्ञानी! शरीर की तो बातें कर लेते हो जब मंदिर दर्शन करने जाते हो। दर्शन के बाद फिर कहाँ जाते हो? इनको छोड़ना नहीं चाहते और चाहो कि महाराजश्री! आत्मगुरु से मिलवा दो।

भो ज्ञानी! कभी भी दो गुरु के चेला नहीं बन जाना। ध्यान रखना, दो नावों में पैर रख करके सागर पार नहीं कर सकते। एक ओर तुम सरागता के गुरु की ओर जा रहे हो, और दूसरी ओर वीतराग के गुरु की बात कर रहे हो। दो गुरुओं का चेला कभी भी पार नहीं हुआ। एक ओर परद्रव्य के तुम शिष्य बने बैठे हो और दूसरी ओर कह रहे हो कि अशरीरी भगवान्-आत्मा का चेला बन जाऊँ। शरीर तो विजातीय है अर्थात् इसकी कोई जाति नहीं है। पुद्गल एकरूप नहीं होता, पुद्गल नानारूप है। पुद्गल दस-दस पर्यायों से युक्त है। जिसके दस मुख हों, वह एकबात करते ही नहीं। शब्द, जिसकी कोई एक दशा नहीं है, नानारूपता है, वह कभी आपको सत्य बतायेगा नहीं। हमें भ्रमित ही रखेगा। वह गुमराह रखता है नाना रूप दिखाकर। परन्तु तेरे अंदर जो आत्मगुरु है, वह कहता है, देखो भैया! हम शिष्य तो बनना चाहते हैं, लेकिन अपनी गुरुता को बदनाम नहीं करना चाहते। आओ, हमारे पास तो अच्छा है और नहीं आओ, तो भी अच्छा है। यह आत्मगुरु कह रहा है, कम-से-कम हम अकेले तो हैं। मेरे पास आकर तुम नानारूपता में जाओगे तो आत्मगुरु का स्वरूप बदनाम हो जायेगा। इसलिये यहाँ किसी को स्वीकार नहीं किया जाता। वह तो कह रहा है कि आप सबसे मिलो, तुम्हारा विषय है। लेकिन जब तुम हमारे चेला बनोगे, तो मैं आपको मात्र अकेला ही देखना चाहता हूँ। नानारूपता में नहीं, एकरूपता में और संयोगी धर्म चाहिये तो मैं आपको छूट देता हूँ। दर्शन और ज्ञान, ये तुम्हारे साथ रहेंगे और किसी की आवश्यकता पड़े तो चारित्र को बुला देंगे। इसके अलावा औरकुछ नहीं है। यदि ये दशा स्वीकार हो, तो आपको बिल्कुल

शांत एकांत में अकेले, निर्लिप्त, अखंडित स्वरूप होके बैठना पड़ेगा। अखंडित से तात्पर्य तेरे परिणाम अखण्ड होना चाहिये। विषयों के खंडहर में प्रवेश नहीं करना चाहिए, तभी अखंड ध्रुव अवस्था की प्राप्ति होती है। असंभव नहीं है, पुरुषार्थसाध्य है। सत्य मानना।

भो ज्ञानी! इस पर्याय में भूल हो गई, कोई दिक्कत नहीं, अगली पर्याय का विचार करके चलना। पुद्गल से तूने अनेक पुद्गल को जन्म दे दिया, इतनी शक्ति तेरे पुद्गल में है। परमात्मा को जन्म देने की शक्ति आत्मा में है। क्षेत्र यानि खेत, वास्तु यानि मकान और कनक यानि सोना आदि इनमें स्थिर भाव का परित्याग नहीं है, ये मेरे हैं, ऐसा निश्चय आप कर रहे हो। यह सनातन है, इनका विनाश नहीं होता है, अतः यही समीचीन है, ऐसी मान्यता का अभाव करो। जो मान्यता बैठी है अनादि से कि यह मेरा है, परद्रव्य के प्रति अपनी मान्यता को समाप्त करने का पुरुषार्थ करो। बड़ा कठिन है। परद्रव्य को छोड़के चले जाना सहज है, परभाव से अपनी मान्यता हटाके चलना बहुत कठिन है। आपके समाज के किसी व्यक्ति ने दीक्षा ले ली और विहार करके दूसरे प्रदेश में पहुँच गये और आप जैसे ही वंदना करने पहुँचे, वह बोले कि मंदिर की व्यवस्था तो ठीक चल रही है? घर की पूछ नहीं सकते थे, मन में तो था, लेकिन लोकव्यवहार था। यानि राग को बदला जा रहा है मंदिर की व्यवस्था, नसिया की व्यवस्था आदि पूछकर। यदि ज्ञानी होता तो समझ जाता कि आपने क्षेत्र तो छोड़ दिया है, लेकिन उस क्षेत्र का राग नहीं छूटा है। वह राग छोड़ना बड़ा कठिन लग रहा है, तब तक स्वक्षेत्र में प्रवेश कहाँ?

भो ज्ञानी! जब प्रदेश पर राग है, वहाँ भी बंध है। इसलिये पदार्थ को छोड़ना और पदार्थ के प्रति अपनी मान्यता को छोड़ना। क्योंकि मिथ्यात्व द्रव्य का नहीं है, मिथ्यात्व मान्यता का है। जैसे एक गरीब व्यक्ति आपके द्वार पर बैठा होता है, आप रोटी खिला देते हो, वह खाकर सो जाता है। वह किसी मंदिर में भी नहीं जा रहा है। आप समझ रहे हो कि ये हमारे घर में रहा धर्मात्मा है। ऐसा मत मानो। 24 घंटे यहाँ की सेवा होगी, पर घंटी कहीं की बजेगी। अंदर की मान्यता देखो जीव की। सम्मेदशिखर में लाखों जीव घूम रहे हैं और वंदना करने कुछ ही जाते हैं और एक जीव यहाँ से वंदना करने जा रहा है। इसलिये ध्यान रखना, तीर्थ में हो, पर तीर्थवंदना नहीं कर रहे हो। शुभ और शुद्ध उपयोग की लीनता यदि नहीं है, तो तीर्थ में तो हो, पर तीर्थभूत नहीं हो।

मान्यताओं को बदलना पड़ेगा। क्षेत्र बदल जाते हैं, देश बदल जाते हैं, यहाँ तक कि लोग बदल जाते हैं। अब इससे बड़ी बात क्या कहोगे? व्यंतर बन गया, तेरी पर्याय बदल गई, जाति बदल गई, गति बदल गई, फिर भी इस मंदिर में आकरके बैठा है, क्यों? राग की

तीव्रता इतनी प्रबल थी कि अपने स्थान को छोड़कर यहाँ बैठा है। नदी किनारे घूम रहा है, क्यों? हमने पहले इसमें स्नान किया था। लेकिन राग की महिमा देखो। अपने घर विमान को छोड़कर इन घरों में स्थानों में बैठा है। मान्यता अंदर की हटी तो मिथ्यात्व की मान्यता का समापन होगा।

भो ज्ञानी! जो व्यवहार उत्कृष्ट क्रियाकांड में है, आडम्बर है। मालूम चला कि सुबह से शाम तक आडम्बरों से ही फुर्सत नहीं मिली। रूप में जाने की बात तो दूर, स्वयं में जाने की चर्चा को ही फुर्सत नहीं मिली। बताओ अब क्या करें। सतत् अभ्यास किसका होगा? वह ही तो स्वप्न में आयेंगे। जिसके सतत् अभ्यास में विकल्प आयेंगे, उसके स्वप्न में भी वह ही विकल्प आयेंगे। फिर आप समझना कि जाग्रत अवस्था में कितने विकल्प आयेंगे? विविध विकल्प कोलाहल स्वरूप ही होता है। बाहर का कोलाहल तो कुछ क्षण परेशान करता है, लेकिन अंदर का कोलाहल नींद नहीं आने देता है। अंदर का कोलाहल जो है, न उठते चैन, न बैठते चैन, न लेटते चैन और मालूम, जिनवाणी सुनने में चैन नहीं। उसको भगवान् की पूजा करने में मन नहीं लगता। जहाँ जायें वहाँ अंदर का कोलाहल है।

भो ज्ञानी! किसी जीव ने उपवास किया। दूसरे श्रावक गये, बोले, भैया जी! ठंडा लगा दें? बोले, भईया! लगा दो। लेकिन ध्यान रखना, ठंडक तभी आयेगी, जब अंदर ठंडक होगी। ऐसे ही जबतक अंदर का कोलाहल शांत नहीं होगा, तबतक बाहर के कोलाहल शांत नहीं होंगे और न मिटेंगे। जैसे चंद्रमा की किरणें बढ़ती हैं, वैसे सागर की लहरें बढ़ती हैं, धारायें बढ़ती हैं। ऐसे ही अपनों में रहके मुक्ति नहीं मिलेगी। अब तो सब महल छोड़ने पड़ेंगे। अब तो सहज वैराग्य-महल में ही बैठना पड़ेगा। निजगुरु से मिलना है। ऐसे सहज-महल के शिखर के शिखामणि का जो दृढ़ निश्चय है, वो ही कायोत्सर्ग है। सहज वैराग्य के भवन में जबतक चारित्र के शिखर को स्वीकार नहीं करेगा, तबतक भो चेतन! निश्चय कायोत्सर्ग को मत छोड़ देना, उसको करते ही रहना और दृष्टि यही रखना कि उस परम निश्चय कायोत्सर्ग की मुझे प्राप्ति हो।

भो मनीषियो! आचार्यभगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने 121 वीं गाथा में शुद्ध निश्चय प्रायश्चित अधिकार में समझाया कि जबतक शरीर आदि परद्रव्यों से मोह का विसर्जन नहीं होता है, तब-तक कायोत्सर्ग नहीं है और वह मोह, अशन-वसन आदि का त्याग, धन, मकान आदि द्रव्यों से निर्ममत्व भाव, वह निर्मम भी निर्मम ही हो, किसी अपेक्षाकृत न हो, सहज हो। यदि किसी कारण से आप घर छोड़कर कहीं बाहर चले गये हो और आवेश में आपने संयम भी स्वीकारा, तो भी जिनवाणी अभी आपको संयमी नहीं कहेगी। जिस दिन आपके

छोड़ने का कारण छूट जाएगा, उस दिन से आपको संयमी कहना प्रारंभ कर देंगे।

भो ज्ञानी! द्रव्य छोड़ा, एक वर्ष तक कैवल्य नहीं हुआ, क्या कारण था? चरमशरीरी, कामदेव, ऐसे महापुरुष कैवल्य को प्राप्त नहीं हो पाये। सिद्धान्त क्या कहेगा? अंतरंग में आपके मानकषाय विराजमान थी। वह संज्जवलन थी, अनंतानुबंधी नहीं थी। प्रत्यभिज्ञान भी नहीं था, अप्रत्यभिज्ञान भी नहीं था। संज्जवलन मान ने यथाख्यात संयम को प्रकट नहीं होने दिया। संज्जवलन एक वर्ष तक? उसका काल तो 48 मिनट का है। संज्जवलन, वह मद में चला, तीव्र में चला। जब मंद का उदय आया तो सप्तम गुणस्थान में चले गये। जब तीव्र उदय आया, तो छठवें में आ गये। एक कषाय अपने गुणस्थान की सीमा के अनुसार ऊपर-नीचे होती है। इसके बीच में कभी क्रोध की भूमिका रही, कभी संज्जवलन मान की भूमिका रही, कभी संज्जवलन से बदलती रही और विकल्प अंतरंग में था। जब 6वें गुणस्थान में आते हैं तो "भूमि भरत की है" क्योंकि 6वें गुणस्थान में सब विकल्प आते हैं, सब बातें होती हैं। और अंतर्मुहूर्त में 7वें गुणस्थान में प्रवेश कर जाती है, क्योंकि विकल्प ही था, शल्य नहीं थी। अपन सामान्य भाषा में कह देते हैं कि भगवान् बाहुवली स्वामी को शल्य थी। शल्य नहीं थी। यदि शल्य होती, तो व्रती ही नहीं बचते। "निःशल्यो व्रती"। शल्य माया, मिथ्या, निदान। जो मान, माया आती है, वो संज्जवलन थी, अनंतानुबंधीजन्य नहीं थी। इतना ध्यान रखना कि अनंतानुबन्धीजन्य हो जायेगी, तो सम्यक्त्व जायेगा, गुणस्थान गिरेगा, अप्रत्यभिज्ञान जन्य हो जायगा। वह संज्जवलनजन्य नहीं थी, लेकिन अंतरंग में विकल्प तो था ऐसे महान योगी के लिये। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने तो 'अष्ट पाहुड' में मानकषाय पर बाहुवली स्वामी का ही दृष्टान्त दिया है। एक ओर अल्प श्रुत पर भगवान् शिवभूति का दृष्टान्त दे रहे हैं और वही आगे चलके दृष्टान्त दे रहे हैं बाहुवली भगवान् का।

आचार्यभगवन् कह रहे हैं कि कर्म की निर्जरा, संयम के साथ, संयमित भाव से होती है। संयमित भाव नहीं है, तो संयम अकामनिर्जरा तो करा सकता है, लेकिन अविपाकनिर्जरा नहीं करा सकता है। संयमित भाव एवं गुणस्थान की वृद्धि कषाय की निर्मलता से ही होगी। संयम तो मिथ्यात्व गुणस्थान में भी हो जाता है, परन्तु जिनागम उस संयम को संयम नहीं कहता। मिथ्यात्व के साथ संयम ग्रैवेयक की वंदना करा रहा है। वह संयम फिर भी संयम नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में की गई आराधना आराधनारूप नहीं होती है। मोक्षमार्ग में सभी निर्जरा कार्यकारी नहीं होती है। न अकाम कार्यकारी होती है, न सकाम कार्यकारी होती है। जो संवरपूर्वक निर्जरा होती है, वही मोक्षमार्ग में कार्यकारी होती है। संवरपूर्वक जो निर्जरा होगी, वो अविपाक निर्जरा होगी और संवर तो चौथे गुणस्थान से होने लगता है। जो चौथे गुणस्थान

में संवर होगा, कौनसा होगा? मिथ्यात्वजन्य जो अशुभ आस्रव हो रहा है, उसका संवर होगा। लेकिन संयमरूप जो संवर होगा, वह तो व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र से होगा। कहाँ से प्रारम्भ होगा? छठवें गुणस्थान से। इसलिये जिन प्रकृतियों का संवर चौथे गुणस्थान में है, उन प्रकृतियों का संवर उस गुणस्थानजन्य समझना। और जहाँ आगम में वृत्ति को संवर कहा जाता है, तो वह व्यवस्था आप कहाँ लगाना? उस गुणस्थानजन्य व्यवस्था में लगाना। लेकिन छठवें गुणस्थान जैसा संवर पहले गुणस्थान में नहीं होता है, चौथे गुणस्थान में नहीं होता है। इसलिये आगम में यह भी लिखा है कि संवर का प्रारंभ छठे गुणस्थान से ही होता है। पाँचवें गुणस्थान, देशव्रती के जो संवर होगा, वह तद्जन्य गुणस्थान-सम्बन्धी प्रकृतियों का संवर होगा। 'तत्त्वार्थसूत्र' कर्त्ता उमास्वामी महाराज, 'वृहद द्रव्यसंग्रह' कर्त्ता नेमिचंद्र स्वामी, कुन्दकुन्द स्वामी आदि आचार्यभगवन्तों का उद्देश्य सीधा छठवें गुणस्थान से है। "व्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्रं" इनके द्वारा वह संवर होता है। अब लगाना, ये कहाँ से होंगे? अनुप्रेक्षा अपने में घटित कर लोगे, लेकिन उपसर्ग/परीषह घटित नहीं कर पाओगे, आपके व्रत, गुप्तियाँ नहीं बन पायेंगी। आगम भटकाता नहीं, उसने आपको गुणस्थान बता दिया कि यहाँ से शुरू होगा।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि संपूर्ण मोह राग और वचनप्रणाली, इन सबसे परे होना पड़ेगा।

कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात्संयतानां
कायोद्भूतप्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात्।
वाचां जल्पप्रकरविरतेर्मानसानां निवृत्तेः
स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम्।। कलश 195।।

कायोत्सर्ग का अर्थ शरीर में ममत्व का त्याग है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने पूर्व चर्चा में कहा कि जितने बाह्य आडम्बर हैं, व्यवहार आडम्बर हैं, उन सबसे परे होकर जो वृत्ति है, वह कायोत्सर्ग है। द्रव्य त्यागना सहज है, परन्तु उस द्रव्य में ममत्वदृष्टि, वासना, अंदर का लगाव छूटना जरूरी है। व्यक्ति का सबकुछ छूट जाता है, पर मान्यता बड़ी गहरी बैठी होती है। 'हमारी ऐसी मान्यता है।' जब आपको स्वीकार ही है, तो फिर मान्यता किस बात की?

भो ज्ञानी! प्रतिष्ठाग्रन्थ में लिखा है कि ध्वजाविहीन जिनालय अथवा फटी ध्वजा वाले मंदिर में पैर मत रखना। जिस मंदिर के कलश पर फटी ध्वजा लहरा रही हो, वहाँ की समाज में कभी एकता नहीं आ सकती। ध्वजा कलश से तीन या पाँच हाथ ऊपर रखो। एक मंदिर

में ध्वजा फट रही थी, उनसे कहा कि उसको आप ठीक करा दो या बदल दो। उन्होंने कहा महाराजश्री! आपका कहना बहुत ठीक है। पर हमारे यहाँ की मान्यता है कि ध्वजा महावीर जयंती पर चढ़ाई जाती है। मान्यता कितनी जटिल होती है। प्रतिष्ठाग्रन्थ कह रहे हैं कि ध्वजा छिद्ररहित हो। आपके पूजन के वस्त्र फट गये हों तो फटे वस्त्र से पूजा नहीं होती। घर के लिये नये-नये वस्त्र लाते हो। जहाँ आपको दिखे मंदिर में धोती फट गई है, लाके रख दो, उत्कृष्ट मार्ग है।

'सम्मेदशिखर महात्म्य' में आचार्य लोहाचार्य ने लिखा है कि धवल वस्त्र और धवल द्रव्य से जो पूजा करता है, वह मोक्षफल को प्राप्त होता है। मोक्ष की इच्छा से मात्र धवलजाप, धवलद्रव्य और धवल वस्त्र से ही पूजा की जाती है। वंदना के वस्त्रों के अलग-अलग फल लिखे हैं। जो मोक्ष की आकांक्षा रखता है, उसे सफेद वस्त्रों से ही सम्मेदशिखर की वंदना करना चाहिए। पीला दुपट्टा नहीं रखना शिखरजी की वंदना में। स्वच्छ निर्मल तंदुल और सफेद धवल वस्त्र। अरहंत के जिनालय में खाली हाथ नहीं आना चाहिये। अपने साथ में इतनी द्रव्य लेकर आओ कि एक दिन की पूजा हो सके। आप मंदिर आये, मंदिर की थाली से पूजा करके चले गये, पुण्य किसको मिलेगा? इसलिये ध्यान रखना, जितना अपन चढ़ाते हैं , उतना अपने को लाना चाहिये। अपनी द्रव्य से अलग भाव बनते हैं।

अमरसेन और वहीरसेन दो युगल भाई थे। इनको सौतेली माँ ने अपने राजा पति से कहकर घर से निकलवा दिया। दोनों बालक चलते-चलते थक गये तो पेड़ के नीचे सो गये। पुनः चले तो एक नगर में पहुँच गये। उनको समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें? उस नगर के सेठ ने उनके चेहरे को देखा तो उसको लगा कि कोई होनहार लड़के हैं। उनसे पूछा, आप कहाँ से आये हो? उन्होंने पूरी व्यथा सुना दी। उन्होंने काम पर रख लिया। एक दिन उनके मन में भाव आया कि चाँदी के बर्तनों से अभिषेक-पूजन करूँ। स्थिति जानकर वे उदास थे। उनको सेठ ने उदास देखा तो कारण पूछा। उन्होंने अंदर की वेदना बता दी कि मेरी भावना जिनेन्द्र देव के अभिषेक-पूजन की है, पर द्रव्य नहीं है। सेठ बोले, घबड़ाओ मत। तिजोरी में बर्तन रखे हैं और इतना द्रव्य आप ले जाओ। तो वे बोले, सेठजी! आपने पेट भरने को तो दे दिया है, लेकिन आपके द्रव्य से भगवान् की पूजा कैसे करें? आप काम करवा लो और मजदूरी के रूप में द्रव्य दे देना, फिर भगवान् की पूजा करेंगे। उन्होंने भगवान् की पूजा नहीं की, उनके यहाँ काम किया, काम करने के बाद जो द्रव्य सेठ ने दिया, उससे अरहंतदेव की पूजा की। इसलिये भैया! जबतक अपने अंदर सामर्थ्य हो, दूसरे के द्रव्य से पूजा नहीं करना। यदि की, तो उतना द्रव्य डाल देना। दूसरे के द्रव्य को दान नहीं कहा जाता।

स्वद्रव्य का त्याग 'दान' है। यदि आप कमाते हो, तो पिताजी के द्रव्य का दान 'दान' नहीं कहलायेगा।

भो ज्ञानी! घर का स्वामी दान देने को मना करे और कोई सदस्य चौका लगा ले तो साधु वहाँ नहीं जायेंगे। पति मना कर रहा है, पत्नि ने चौका लगा लिया, वहाँ नहीं जायेंगे, क्योंकि परस्पर में विसंवाद हो सकता है, कोई दुर्घटना हो सकती है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि एक साधक की दृष्टि से देखना, स्वयं को संभालना, फिर संयम को संभालना, भावों को संभालना और ऐसे निमित्त उपस्थित हो रहे हैं, उनको संभालना और उसमें आपको जीना है। आप पूर्ण रूप से परालम्बी हो व्यवहारदृष्टि से और निश्चय से पूर्ण स्वालम्बी। कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिये उनके हमेशा कायोत्सर्ग होता है। निश्चय से संयमियों के कर्म को कौन उत्पन्न कर रहा है, निमित कौन बन रहा है? शरीर में इंद्रियाँ हैं, उनका फिर सेवन है। बस, यही संतति चली आ रही है। सेवन करोगे, कर्मबन्ध होगा, पुनः शरीर मिलेगा, पुनः इंद्रियाँ मिलेगी, फिर विषयसेवन करोगे, फिर बंध होगा। यह क्रम चलता रहेगा।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जिस योगी ने वचन के जल्प का भी परित्याग कर दिया है और मन से निवृत्त है और स्वयं अपनी आत्मा के ध्यान में अपनी स्वात्मा में निष्ठ होकरके परायण है, ऐसे योगी के ही उत्कृष्ट कायोत्सर्ग होता है। चाहते हुये भी बोलने का विकल्प नहीं आता, कहने का विकल्प भी नहीं आता। चिन्तन में भी नहीं लाना। इसलिये व्यवहार साधना से अंदर की साधना सरल है। बाहर की साधना काफी कठिन है। अंतर्द्वन्द्व में क्या रहता है? कषाय की तीव्रता रहती है द्वन्द्व में और जल्प में मंदता रहती है। जल्प यानि चिन्ता, जो अंदर में चल रही है। 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा कहना या सोचना, यह संकल्प है। मेरे नाना महाराज, मेरे भैया नेता। जो 'मेरा' शब्द चल रहा है, विकल्प है। यह जो बार-बार "मैं" आ रहा है, यह संकल्प है। संकल्प-विकल्प जब तक रहेंगे, तो कायोत्सर्ग नहीं होगा।

भो ज्ञानी! मन का 12वें गुणस्थान में रहना कोई दोष नहीं है। द्रव्यमन तो 13वें गुणस्थान में भी है। पर मन की क्रिया 12वें गुणस्थान तक है। जहाँ मन नहीं होगा, आप संयमी नहीं बन सकते, सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकते। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिये पहला हेतु है संज्ञीपंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, कर्मभूमिया, जाग्रत। यह काललब्धि है। मन अपना परम मित्र है। हेय-उपादेय का चिन्तन करनेवाला मन ही है। मन का परिणमन संभालना, यह आपको पुरुषार्थसाध्य है। मन कह रहा है कि मैं 12वें गुणस्थान तक रहता हूँ, लेकिन 4थे गुणस्थान में ही जिसने मुझे संभाल लिया है, तो पंचम गुणस्थान में पहुँच सकता है। मन कह रहा है कि यदि मेरी मानोगे, तो मैं पहले से आगे नहीं चढ़ने दूँगा। यदि ऊपर चढ़ना है, तो मुझे संभाल लो। संभालने का

उपाय क्या है? ज्ञान-वैराग्य शक्ति ही भेदविज्ञान को जन्म देती है। ज्ञान-वैराग्य शक्ति के अभाव में भेदविज्ञान क्या करेगा? जो साधक हो गये हैं, उनका मन बीच-बीच में नहीं मचलता है, यह एकदम झूठ नहीं है। सांप को पकड़ लेने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह पूरी तरह शांत हो गया है। सपेरा पकड़ने के पश्चात उसकी विष की थैली निकाल देता है, दाँत निकाल देता है। यह तो जहर की शक्ति नष्ट हुई, पर उसके शरीर की शक्ति नष्ट नहीं हुई है। चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व का जहर निकला, पर फन पटकने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, अभी ज्यों-की-त्यों है। वह धीरे से टोकनी के अंदर बंद कर देता है। इतना बंद कर देता है कि हताश होकर पराधीनता को स्वीकार कर लेता है। फिर जो जहाँ रहने लगता है, वहीं राग को प्राप्त होता है। कुछ समय बाद टोकनी का ढक्कन भी खुला छोड़ देता है, लेकिन सर्प उसी में पड़ा रहता है, फन नहीं फैला रहा है। वह अपने आपको उसी में सुखिया मानने लगा है। जब सपेरा छेड़ता है, तब उसको भान होता है, फिर वह फन उठाता है।

भो ज्ञानी! अपने मन की बात करना। यदि आप मन को न छेड़ो, तो आपका मन इतना न मचले। आप यहां बैठे जिनवाणी सुन रहे हो, कितने शांत बैठे हो। मन छेड़ने से तात्पर्य सपेरे की अंगुली। यदि अंगुली का स्पर्श न करो, तो सांप फन नहीं उठाता है। यहाँ से आप घर जाते हो, मन को छेड़ने की सामग्री देखोगे। घर में जाप करने बैठे, नाती ने कुछ गिरा दिया, आ गया गुस्सा। तेरा मन तो एक क्षण में सात समुन्दर पार जाता है। आप यदि बोलो कि वापस आ जाओ, तो नहीं आयेगा। उसको धीरे-धीरे सीमित दायरे में लाओ। अब सोचता है कि जब हमारा त्याग हो गया, संकल्प कर व्रत-नियम ले लिया कि मुझे आज चार रोटी ही खाना है। भूख कह रही है कि आज तुम्हें यह नियम नहीं लेना था, आज तो विशेष भूख लगी है। अब मन कह रहा है कि ऐसा करो, मोटी बनवा लेना, तो नियम नहीं टूटेगा। धीरे-से कह दो कि मोटी रोटी की इच्छा है। इसकी मायाचारी पकड़ना। सोचो, संकल्प लिया है, एक दिन से क्या होता है? रुक गया। मन को रोकने के लिये बहुत पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है। इच्छा कारण है और मन कार्य है। आप इच्छा को अलग नहीं कर पाओगे, आप कैसे इंद्रियों का सेवन कराओगे? मन विषयसेवन नहीं करता कभी भी। मन तो वस्तु की प्राप्ति का उपाय बताता है, उपादेय का चिन्तन करवाता है। पर जो इच्छा है, वह प्रेरित करती है। वो संज्ञा जागृत होती है और फिर मन चंचल होता है। किसी को मैथुन संज्ञा उत्पन्न हो जाये, आहार संज्ञा उत्पन्न हो जाये तो बैठे-बैठे पता नहीं मन कहाँ-कहाँ घूमता है। संज्ञा को वश में कर लो तो मन वश होते देर नहीं लगेगी। संज्ञायें वश में नहीं, तो मन कभी भी वश में नहीं होगा।

भो ज्ञानी! आहार संज्ञा 6-वें गुणस्थान तक थी, 7 वें गुणस्थान में मन का एक विकल्प नष्ट हो गया। भय संज्ञा 8 वें गुणस्थान तक थी, वह वहाँ नष्ट हो गई। 9 वें गुणस्थान की बात मत करो। वह तटस्थ है। जैसे देश का नेता दो पार्टियों के बीच में है। जिसका पल्ला बड़ा, उसके साथ है। 9 वें गुणस्थान में वेदों का क्षय हो गया। अब बचा अंतिम शत्रु, सबसे कठोर, यह लोभ 10 वें गुणस्थान तक है। सबसे ज्यादा मन भटकता है कमाने के लिये और कमाने वाली वस्तु इच्छा थी, परन्तु वह 10 वें गुणस्थान में समाप्त हो गई। इसलिये 12 वें गुणस्थान में मन का जो काम बचा है, वह मात्र चिंतन का बचा है। शुक्लध्यान के लिये मन काम कर रहा है। यह विषयों के काम तो दशवें गुणस्थान तक विराम हो चुके थे। इसलिये वहाँ मन सहज एकत्व-वितर्क/पृथकत्व काम कर रहा है। शेष आपके संसार के विकल्प थे, स्थूल विकल्प थे, वह 6 वें गुणस्थान तक ही थे और संयमी हो गये आप 6 वें गुणस्थान में । इसलिये वेद-विकार की पूर्तिरूप जो विकल्प थे, वो 5 वें गुणस्थान तक थे। फिर मन क्या कहता है? इसलिए ध्यान रखना, पुनः प्रतिज्ञा ले लेना, व्रत ले लेना। मन भागेगा कि देखो भाई! व्यर्थ में क्यों दोष लगाते हो? त्याग तो है ही, खाने को मिलना नहीं है। व्रत लेना बड़े समुदाय के बीच में, जिससे बहुत सारे लोगों को पता चल जाये कि आज अमुक वस्तु का त्याग किया है। अब माना कि कभी इच्छा हुई और परिवार के सदस्य को मालूम है कि त्याग है। आप इच्छा करोगे, मन भागेगा, पर अब मानकषाय बैठी है, वह तुम्हारा कल्याण करायेगी। अरे! नाती क्या कहेगा कि दादाजी ने महाराज के सामने त्याग कर दिया। मन कह रहा है, कहने दो, खाना नहीं अपन को। मानकषाय ने तुम्हारी रक्षा की। आपको यदि कोई संयम से च्युत होता दिख रहा है, उसका समुदाय के बीच सम्मान रख देना। आप समझना, जिनशासन की रक्षा हो जायेगी और उसकी भी रक्षा हो जायेगी।

भो ज्ञानी! आप धीरे से बोलना, 'महाराज! आप काम की बात कर रहे हो, आपका नाम तो लोक में व्याप्त है। आपकी निरपेक्ष वृत्ति से लोग बहुत प्रभावित हैं।' जिनके मन में आ रहा था, अब वह गिर जायेगा। आगम में स्थितिकरण और उपगूहन के अनेक तरीके हैं स्व-पर के। मन की चंचलता तो क्रमिक ही रुकती है। विषयों को कम कर देना तो मन अपने आप शांत हो जायगा। विषय देना बन्द नहीं करो और आप कहो कि मन को रोक लें, तो वह कभी नहीं रुकेगा। आप स्वयं अनुभव करना कि आज आप सीमित हो गये हो तो मन पहले जितना परेशान नहीं करता है। जो जितना सीमित होता चला जायेगा, उसका मन उतना परेशान करना कम कर देगा। इसलिये कभी मत सोचके बैठना कि जब मन वश में हो जायगा, तब मुनि बनेंगे। कभी नहीं बन पाओगे। जैसे किसी ने बोल दिया कि आपके बेटे की मृत्यु सौवें दिन हो जायेगी। जैसे-जैसे दिन आयेंगे, उस पिता की वेदना कम होगी

कि बढ़ेगी? यह सहज सिद्धान्त है कि बढ़ेगी। ऐसे ही इंद्रियों के विषयों को छोड़ने की भावना रखनेवाला सोचे कि पहले ममत्व कम हो जाये, सो नहीं होगा। जैसा मृत्यु के बाद तुम्हारा सोच 'सोच' बन जाता है कि अब तो अपन को ही करना है। जो होना था, सो हो गया। ऐसे ही त्याग करने के बाद इंद्रियाँ कहती हैं कि हमारे भोग तो मर गये। किसी ने कोई इष्ट वस्तु का त्याग कर दिया और कभी इच्छा हुई खाने की। खाने को तो मिलना नहीं है, क्यों तुम व्यर्थ में आस्रव कर रहे हो? इसलिये त्याग कर देना। परन्तु मन वश करने के चक्कर में रहे तो कभी त्यागी नहीं बन पाओगे और मन में दोष लग भी गया, तो अतिक्रम ही होगा, अनाचार नहीं। अतिक्रम, व्यतिक्रम है, उसको आप संभाल लेना। यह ध्यान रखना कि किसी ने आपसे कह दिया, हमारे रात्रिभोजन करने के भाव आ गये, यह कभी नहीं कह देना कि तुम्हारा व्रत टूट गया, नहीं-तो वह खाने लगेगा। भैया! प्रायश्चित ले लो, अभी अतिचार भी नहीं है। अतिक्रम हुआ है। थाली लगाने लगता तो व्यतिक्रम होता। मुख की ओर ले जाता तो अतिचार होता।

भो ज्ञानी! कोई आप से कह भी दे तो तुरन्त मत कह बैठना कि तुम्हारा व्रत भंग हो गया। अन्यथा वह तो मस्त हो जायेगा खाने में। उसको समझाना, भैया! अभी तुम संभल जाओ, कुछ नहीं हुआ। उस दिन संभाल लेना, बाद में समझा देना। देखो, कषायों का काल होता है अन्तर्मुहूर्त। आप रक्षा कर लिया करो अंतर्मुहूर्त तक। चाहे स्वयं की हो, चाहे पर की हो। अंतर्मुहूर्त तक रक्षा कर ली, तो समझ लो कि अब रक्षा हो गई। वह क्षण चला गया। जैसे आत्मघात के भाव आते हैं, उस समय कोई संभाल ले, तो फिर कहो जीवनभर न आये।

भो ज्ञानी! मन को वश में करने के दो ही उपाय हैं। ज्ञान और वैराग्य। तीसरा कोई उपाय नहीं है। ज्ञान और वैराग्य के अभाव में मन को वश में करना चाहते हो तो कभी नहीं होगा। जिनके शरीर में सरसों के दाने चुभते थे, वह नंगे-पैर जंगल में जा रहे हैं, रक्त बह रहा है, वेदना हो रही है, फिर भी वेदना का कोई भाव नहीं ला रहे हैं। यही सच्चा वैराग्य होता है। वैराग्य मुख से नहीं बताया जा सकता है। जिनसे तुम आँख उठाकर नहीं बोल पाते थे, वह कहें दीक्षा क्यों ले रहे हो, उनके प्रति-उत्तर आ जाते हैं। बोले, आप कौन हो? हमें क्यों समझा रहे हो? आप समझदार हो तो चलो हमारे साथ। यह रूखापन कौन ला रहा है? वैराग्य। इसलिये हे ज्ञानी आत्माओ! ज्ञान और वैराग्य की शक्ति बढ़ाओ।

भव्य बन्धुओ! आचार्यभगवन् कुंदकुंद स्वामी शुद्ध-निश्चय-प्रायश्चित अधिकार का उपसंहार करते हुये कह रहे हैं कि संपूर्ण विकल्प से रहित, आडम्बरों से रहित जो वृत्ति है, वही निश्चय प्रायश्चित है। उस निश्चय प्रायश्चित के लिये टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने 195 वें कलश में संकेत दिया कि निश्चय प्रायश्चित जो है, वह कायोत्सर्गपूर्वक होता है।

शरीर से ममत्व का त्याग और तप में लीनता, यही महान प्रायश्चित है। स्वात्मा में स्थित स्वात्मा में परायण योगी भी जबतक वचन आदि जल्पों से परे नहीं होता, मानसिक जल्पों से नहीं हटता, तब तक निश्चय प्रायश्चित संभव नहीं है। इस बात की चर्चा अगले कलश में है। आचार्यमहाराज पुनः उस निश्चय प्रायश्चित को और परम योगी को नमस्कार करके संकेत कर रहे हैं। जयवन्त हो वह योगी की दशा और जयवन्त हो वह निश्चय संयम और तप, जिसके माध्यम से आत्मा परमात्मा बनती है।

जयति सहजतेजःपुञ्ज निर्मग्नभास्वत्
सहजपरमतत्त्वं मुक्तमोहान्धकारम्।
सहजपरमदृष्ट्या निष्ठितात्मोघजातं
भवभवपरितापैः कल्पनाभिश्च मुक्तम् ।। कलश 196।।

वह सहज तेज जयवन्त हो। कैसा सहज तेज? सहज तेज के पुंज से युक्त जिसमें निर्बन्ध स्फुरमान है, ऐसा जो मोहरूपी अंधकार से रहित है और जो आत्मा सहज परम दृष्टि से स्थित है। ऐसी आत्मा ही उस तत्त्व को प्राप्त कर रही है और भव-भव के परितापों की कल्पना से मुक्त है, रहित है। ऐसा परम जो तेजपुंज है, वह जयवंत हो। नाम किसी का लिया नहीं और चर्चा सबकुछ कर दी। ऐसा तेजपुंज विषयों की कल्पना से रिक्त, भव-भव के दुःखों से शून्य, वह परमरसी भाव से युक्त तेरी निज शुद्ध आत्मा ही है। वही जयवंत हो।

भवभवसुखमल्पं कल्पनामात्ररम्यं
तदखिलमपि नित्यं संत्यजाम्यात्मशक्त्या।
सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं
स्फुटित निजविलासं सर्वदा चेतयेहम् ।। कलश 197।।

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो भव-भव के सुख हैं, वह अल्प हैं। कल्पना मात्र में रमणीय लगते हैं। जितना भोगने में आनंद नहीं आता, उतना भोगों की कल्पना में आनंद आता है। भोगते समय तो कुछ पता ही नहीं चलता जीव को। सुखाभास। परन्तु भोगने की भावनाओं में भोगने से ज्यादा आनंद आता है। जो तुझे रमणीक लग रहा है, वह कल्पना मात्र है।

आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी ने सम्मेदशिखर में एक बहुत बड़ा मंदिर बनवाया है। मध्यलोक की जो रचना हुई है, उनकी बहुत बड़ी मेहनत से हुई है। बीनाबारहा में आचार्य विद्यासागर जी और माता जी की आपस में चर्चा हुई। उस समय कैसा महसूस होता था? और आज कैसा महसूस हो रहा है? जब मैंने कल्पना की थी कि मध्यलोक की रचना हो, तब बड़ा अच्छा लगता था, सहज लगता था। अब वास्तविकता यह है कि उसमें इतना खर्च

है कि जो हम पूर्ण निर्लिप्त रहते थे, आज लोगों से संपर्क रखना पड़ता है। क्यों? साधु के नाम से कुछ बनेगा तो साधु कमाने नहीं जाता, आखिर में उसे कमाने वालों से ही संपर्क बनाना पड़ता है। तो जिस पदार्थ को तूने छोड़ा था, जिन लोगों से दूर रहा था, जो आनंद आता था, उस आनंद में कमी तो आती है। उस समय माताजी ने कहा कि अब कभी-कभी सभा तक में विकल्प आते हैं कि यह वेदी किस प्रकार की बनना है और किस प्रकार से श्रीजी विराजमान होंगे। तीर्थरचना तो हो गई, पर अंतरंग के तीर्थ में बाधा तो आती है, विकल्प आते हैं। इसलिये अध्यात्मशास्त्र योगी से कहता है कि इन सब भूमिकाओं से परे होकर आप जियो। छोटा-सा विकल्प भी तुम्हारी सामायिक को भंग करता है। अल्प विकल्प भी सामायिक को भंग करता है, स्थूल विकल्प बहुत दूर है।

भो ज्ञानी! जो पदार्थ आप सोचते हो, उस समय रमणीक लगते हैं, पर जब आप उसको प्राप्त कर लेते हो, तो इतनी रमणीयता नहीं रहती है। भैया! जब पिताजी ने घर में शादी की चर्चा रखी होगी, आपके कानों में पड़ी होगी, तो हल्की-सी गुदगुदी उस समय छूटी होगी कि हमारा संबंध हो रहा है। शादी के बाद घर-गृहस्थी में जुट गये, उदासता छाई थी कि नहीं? कल्पना की रमणीयता है, वास्तविकता नहीं। नई वस्तु को देखने की लालसा रहती है जीव को और जैसे ही वह पुरानी होती है तब लालसा समाप्त। उन सभी को मैं अच्छी तरह से अपनी आत्मशक्तिपूर्वक हमेशा के लिये छोड़ता हूँ। जो सहज परमसौख्य चिद्चमत्कार परमसुख है, उसका अनुभव करता हूँ, उसी का वेदन करता हूँ। यह वेदन तभी होगा, जब बाह्य वेदन उससे दूर होगा! इसलिये साधक का जनसंपर्क से जितना परिचय बढ़ता है, उतना स्वयं का अहित होता है। यह सुनिश्चित मानके चलना। उस भीड़ का आनंद तो आता है, लेकिन अंदर का आनंद नहीं आता। यह भावना आ सकती है, कि कितने लोग हमारे साथ हैं, लेकिन यह साधक का मार्ग ही नहीं है यह तो एकान्त का मार्ग है।

भो ज्ञानी! जितनी चित्त के बाहर की वस्तु है, उस वस्तु को पहले छोड़ दे। जब चित्त के बाहर की वस्तु छूट जायेगी, तो चित्त स्वयं छूट जायेगा। कल कथन हुआ था कि बारहवें गुणस्थान तक चित्त है और उसका उपयोग है। तेरहवें गुणस्थान में चित्त का उपयोग नहीं है, रखा हुआ है द्रव्यमन, लेकिन भावबंध नहीं है। इसलिये अभी से यह चिन्ता मत करना कि चित्त भी परद्रव्य है, इसे भी छोड़ दूँ। चेतन चित्त को छोड़ो या मत छोड़ो, पर चित्त की बाह्य प्रवृत्ति को छोड़ दो। कुछ लोग यह विचारें कि इंद्रियाँ छूट जायें, तो यह मत सोचो। इंद्रियों के विषय में हम न जायें, ऐसा सोचो। यह चित्त को वश में करने का उपाय है। मन ने जहाँ कहा, आप पहुँच गये और फिर यह कहो कि मन वश में हो जाये, तो वह होनेवाला नहीं है। मन जो चाहता है, उसे देना बन्द कर दो, तो वश में हो जायेगा।

भो ज्ञानी! जब नाती कहता है कि मुझे चंद्रमा चाहिये, तो आप कहाँ से दोगे उसको? तो वह मचल जाता है, रूठ जाता है और रूठते-रूठते सो जाता है। आप मनाओगे तो नहीं मानता। अन्त में थककर सो जाता है। देखो अपने आप सो गया। ऐसे ही जब इंद्रियाँ थकती हैं, तो मन भी थकता है। सोचते-सोचते थक जाता है तो अपने आप शान्त हो जाता है। कोई चंद्रमा माँगे तो आप दोगे कहाँ से? विश्रांति यानि आराम कर रहा है, शांत हो गया। सिद्धान्त की भाषा में कहें तो जब जीव श्रेणी माढ़ता है अथवा सम्यक्त्व की ओर बढ़ता है, तो पहले वह तीव्र पुरुषार्थ करता है, फिर कुछ क्षण रुक करके विश्राम करता है। फिर विशुद्ध होता है और आगे का काम करता है। यह 'धवला' जी की भाषा है। जैसे कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर रहा है, तीन करण परिणाम करेगा। उस तीन करण परिणाम में उसको बहुत मेहनत करना होती है। वह करण परिणाम करते हुये थक जाता है, तब अंतर्मुहूर्त को विश्राम करता है और विश्राम करने के बाद वह विशुद्धि को ओर बढ़ाता है। विशुद्धि बढ़ते ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। यह सिद्धान्त की भाषा है, यही श्रेणी की भाषा है। जैसे-जैसे जीव ऊपर की श्रेणी चढ़ेगा, तो पहले विश्राम करेगा, विशुद्ध होगा, फिर आगे का काम करेगा। यह नियम है, यह क्रम है। यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि चित्चमत्कार मात्र चैतन्य स्वभाव है, उसी का मैं हर समय अनुभव करता हूँ।

निजात्मगुणसंपदं मम हृदि स्फुरन्तीमिमां
समाधिविषयामहो क्षणमहं न जाने पुरा।
जगत्त्रितयवैभवप्रलयहेतुदुःखकर्मणां
प्रभुत्वगुणशक्तितःखलु हतोऽस्मि हा संसृतौ।।कलश 198।।

इस कलश में आचार्यमहाराज खेद प्रकट कर रहे हैं। निज आत्मगुणों की संपदा पर में नहीं, मेरे हृदय में स्फुरमान है। मैंने पूर्व से नहीं जाना, किसे? जो हमारी आत्मा के गुणों की संपदा है, समाधि है। तीनों जगत के वैभव को प्रलय करने वाला, जो मेरी आत्मा के दु:ख का हेतु है, कर्म प्रभुत्व शक्ति, निश्चय से उसकी प्रभुत्वशक्ति को हमने आज तक नहीं जाना। इस दुष्ट कर्म ने इस संसार में मेरा घात किया है। हाय, दु:ख है कि मैंने इस कर्म की प्रभुत्वशक्ति को आजतक नहीं समझा और अपनी समाधि-सुख की संपदा को मैंने एक क्षण भी नहीं जाना। मेरी अतुल संपदा है, शत्रु ने इसको दबा दिया है। आप वैभवशाली हो, दिव्य रत्न हैं आपके पास, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र। अनादिकाल से इस शत्रु ने उसको ढक रखा है। आपको भान ही नहीं होने दिया, कैसे? जैसे किसी शत्रु ने आकरके तुम्हें दास बना लिया और स्वयं स्वामी बना बैठा है और तुम्हारी संपदा का भोग कर रहा है और आपसे सेवा करवा

रहा है। भो ज्ञानी! इसमें द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म तीनों ही आ रहे हैं। पूरा नाटक तो भावकर्म का है। भावकर्म न हो, तो द्रव्यकर्म व नोकर्म क्या करेंगे? भावकर्म आपने किये हैं, द्रव्यकर्म और नोकर्म का संचय हुआ है।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज खेद प्रकट कर रहे हैं। इसने मुझे मारा है, घात किया है। इसने मेरी प्रभुत्वशक्ति का घात किया है। समझो, अनादि से आप अपना घात कराते आ रहे हो। अब संभलो। ठीक है, अभी तक ज्ञान नहीं था, आज तो जानकारी हो गई। मधुर विषयों के फल चखा-चखा करके तुम्हारा घात करा रहा है। जैसे आजकल लुटेरे खाद्यसामग्री में नशीली वस्तु मिलाकर खिला देते हैं और लूट लेते हैं। ऐसे ही मधुर कर्म मधुर भोगों को दिखाकरके तेरी रत्नत्रय की संपदा को छीन रहे हैं। इसलिये धोखे में मत रहना। आत्मगुणों की संपदा लो, यह बाकी के बाह्य के वैभव नहीं लेना। जिनका नाश करने के लिये कर्म का हेतु कहा है और उन्हीं को हम संपदा बना लें, उससे तो कर्म और प्रखर हो जायेंगे, प्रबल हो जायेंगे। तीनलोक के जो वैभव हैं, यह आपके आत्मगुणों की संपदा है। भैया! कर्मों को महत्व इसलिये दिया कि भावकर्म के कारण भी भावकर्म हैं। परदृष्टि है, इसलिये अनादि से कर्मबद्ध है जीव। उस बाह्य अवस्था को इतना सम्बद्ध बना दिया कि बद्ध को बद्ध नहीं मान रहा है। यह नोकर्म है। मोह की तीव्रता में यह जीव देह को ही जीव मानता है। रागादिक भाव ही भटका रहा है। वह आपको भान ही नहीं होने दे रहा है, वो तुमको जानने नहीं दे रहा है। यदि रागादिक भावों का आपको ज्ञान हो गया, तो कर्म सोचेगा कि मेरी सत्ता अब चली जायेगी।

कर्म कर्महिताबन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति।। इष्टो. 31।।

भो ज्ञानी! अपना-अपना कार्य सभी जानते हैं। स्वार्थ को कौन नहीं चाहता? कर्म कर्म का हित चाहता है और जीव जीव का हित चाहता है। सबकी अपने-अपने कार्य पर ही दृष्टि है। कर्म बहुत ईमानदार हैं। वह किसी भी जीव को बलात् नहीं पकड़ते। आप कर्म के नोकर्म करना छोड़ दो, भावकर्म छोड़ दो, तो कर्मबन्ध नहीं होता है। पहले नोकर्म होता है। तीन शरीर, छह पर्याप्ति वाला कर्म नहीं। कर्म के बन्ध के हेतु का कारण जो होता है, उसे नोकर्म कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति कहे कि मुझे बहुत नींद आती है। सामायिक करो तो नींद आये, स्वाध्याय करो तो नींद आये, प्रतिक्रमण करो तो नींद आये। लेकिन 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' कहता है, भो ज्ञानी! आप यह बताओ, निद्रा दर्शनावरणीकर्म को दोष दे रहे हो, पर उसका नोकर्म तुम क्यों नहीं छोड़ रहे हो? निद्रा दर्शनावरणी कर्म है, उसके उदय से नीद आती है। आप यह

बताओ कि भैस का दूध पीते हो, दही खाते हो, छाछ पीते हो, चावल खाते हो, यह दर्शनावरणी कर्म का नोकर्म है। यदि आप कहो कि वह तो भिन्न द्रव्य है, तो भो ज्ञानी! भिन्न द्रव्य तो कर्म भी है, दर्शनावरणी भी भिन्न है, पर तेरी करतूत से ही कर्म बंधते हैं। भैया! आज उल्टा हो रहा है। करतूत को नहीं पकड़ रहा, कर्म को पकड़ रहा है।

भो ज्ञानी! यदि वर्त्तमान का कर्म निर्मल होगा, तो कर्मबन्ध नहीं होगा। इसलिये कर्मबन्ध का हेतु तेरा ही कर्म है। उसे कहते हैं नोकर्म और वह जो नोकर्म हो रहा है, बिना भावकर्म के नहीं हो रहा है। जो भावकर्म है, वह रागादिक भाव है और जो रागादिक भाव है, वह पूर्वबद्ध कर्म के उदय के कारण है। अब यदि आत्मा में कर्म का बन्ध हो, तो रागादिक भाव कैसे देखना? फिर तो सिद्धों के भी आयेगा भाव। जिसके कर्म का अभाव होता है, उसी के भावकर्म का अभाव होता है। जबतक कर्म का अभाव नहीं करोगे, तबतक भावकर्म का अभाव त्रैकालिक नहीं होगा, क्योंकि रागादिक भाव असिद्धों में ही आते हैं। क्यों आते हैं? क्योंकि सोपाधिक है। सोपाधिक अवस्थायें हैं। सोपाधिक अवस्था का तात्पर्य परालम्बन जबतक रहेगा, तबतक परभाव परालम्बन है। परालंबन का आश्रय नहीं लेने वाला तेरा उपादान है। यदि उपादान में परालंबी होने की योग्यता नहीं होती, तब परद्रव्य तुझे कभी प्रभावित नहीं कर सकता था। परालंबी होने की योग्यता तेरे उपादान में न होती, तो परद्रव्य तुझे परालंबी कभी नहीं बना सकता था। परालंबी होने की योग्यता तेरे अंदर है और परालंबी बनाने की योग्यता कर्म के अंदर है। दुग्ध सोपाधिक अवस्था से ही गर्म होता है, निरुपाधिक अवस्था से गर्म नहीं होता। अग्नि का सहयोग है, इसलिये दूध गर्म हुआ है। अग्नि का सहयोग नहीं होता, तो दूध गर्म नहीं होता। कर्मोपाधि का सहयोग तेरे अंदर है, इसलिये तो असिद्ध है। कर्मोपाधि का सहयोग नहीं होता, तो तू त्रैकालिक सिद्ध है।

भो ज्ञानी! जो हमारी समझ में नहीं आ रहा है, जो हमें नहीं दिख रहा है, वह कर्म की जो सत्ता है, वह नये-नये सोच उत्पन्न कराती है, नये-नये विचार उत्पन्न करा रही है, जबकि यह सबकुछ कर्म है। लेकिन कर्म तो एक मशीन है, वस्तु नहीं है। मशीन में जो वस्तु डाली जाती है, मशीन वैसा निर्माण करती है। यह नोकर्म एक मशीन का आकार है शरीर। इसमें आत्मा को आपने डाल दिया, प्रवेश कर गई। अब वह आत्मा के सहयोग से मशीन चल रही है। आत्मा के सहयोग से शरीर चल रहा है। जैसा-जैसा चलता, वैसा-वैसा नया-नया निर्माण हो रहा है। सम्पूर्ण लोक में कच्चा माल रखा हुआ है। बस, जैसे ही तुमने भाव किया, वैसे ही कर्म बन गया। जो भरे हुए हैं, वह तो अभी आप उपयोग कर नहीं पा रहे हो। *विस्रसोपचय* रूप से उम्मीदवार कार्माणवर्गणायें आत्मा के प्रदेश में कुछ बद्धरूप में हैं और कुछ अबद्धरूप में भी हैं। जो अबद्धरूप में हैं, वे ही बंध को प्राप्त हो जाती हैं। पर देखो

कितनी ईमानदार हैं। भाव नहीं करो तो नहीं बधेंगे। अरहंत के पास हैं कि नहीं? हैं। यदि आप कहो कि कर्म बलात् बन्धते हैं, तो यह असत्य है। यदि कर्म को बंधना ही है, तो कभी भी जीव सिद्ध नहीं होगा।

भो चेतन! जैसा तेरे अंदर कामादिक का प्रभाव होता है, वैसा कर्मबन्ध करता है और कामादिक प्रभाव न हो, तो कर्मबन्ध नहीं होता। बन्ध का हेतु कर्म नहीं, उसका हेतु स्वयं है। इसलिये कर्मों (कार्माण वर्गणाओं) को दोष मत दीजिये, अपने कर्मो (कर्मों यानी रागद्वेष-मोह) को दोष दीजिये। कर्मो को दोष दोगे तो कर्म सुकर्म हो जाये तो कुकर्म तुम्हारे समाप्त हो जाये और कर्म जब कर्म हो गये, तो सुकर्म ही अकर्म हो गये। इसलिये कर्मों को दोष देना उचित नहीं है, परन्तु कर्मबन्ध के अभाव में कर्मबन्ध होता भी नहीं है। न्याय का ध्यान रखना। परिणति आपको सुधारना पड़ेगी। वह आपके हाथ की बात है।

ज्ञानी आत्मा! जिसे तू कर्म कह रहा है, वह भी एक द्रव्य है। जिसे आप कर्म कह रहे हो, वह भी राजा है, अपने क्षेत्र का स्वामी है। वह भी एक पुद्गल द्रव्य है। उसकी भी सत्ता है। आपकी सत्ता कितनी है? त्रसनाली मात्र। और कर्म की सत्ता तीनलोक है। त्रस जीवों की सत्ता त्रसनाली मात्र और आपकी तो त्रसनाली के असंख्यातवें भाग मात्र है। कितनी सत्ता? मात्र ढ़ाई द्वीप। और कर्म कहता है कि मेरी सत्ता तो तीनलोक है। कर्म कैसे हैं? "अप्रतिघाते च" सूत्र क्या कह रहा है? कार्मण वर्गणा शरीर अप्रतिघात है, वैक्रियक प्रतिघात! देव दीवाल से निकल जाते हैं, फिर भी प्रतिघात क्यों कहा? क्योंकि कर्म यह नियम से छूटेगा। पर जीव चाहे विग्रहगति में जाये, चाहे किसी भी क्षेत्र में जाये, जबतक सिद्ध नहीं बनता है, तबतक कार्माण शरीर का कहीं घात नहीं होता। कार्माण और तेजस, दोनों शरीर अप्रतिघाती हैं।

भवसंभवषिभूरुहफलमखिलं दुःखकारणं बुद्ध्वा।
आत्मनि चैतन्यात्मनि संजातविशुद्धसौख्यमनुभुञ्जे।। कलश 199।।

अंतिम उपसंहार रूप में आचार्यभगवन् पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि यह संसार में भ्रमण कराने वाले, भव-भव में उत्पन्न करानेवाले विषवृक्ष हैं। यह संसार के भोग, संसार के सुख विषरूप वृक्ष हैं। आत्मा के द्वारा संज्ञात उत्पन्न हुआ विशुद्ध सुख का उपभोग कर। परन्तु भोगों के वृक्ष से उत्पन्न होनेवाले विषफल को मत चखो। राग की क्या विचित्रता है? इतना कठोर सुनता है और सुनते समय चेहरे से ऐसा लगता है कि अब तो छोड़ देगा और जैसे ही घर पहुँचा तो भूल जाता है। अब बताओ भैया! किसकी शक्ति ज्यादा है? वह नीचे क्यों पड़ा है? अपनी भूल से। जब भूल को भूल देख लेता है, तब भूल को तुरंत सुधार लेता है। ऐसे ही भूल तेरी अनादि से पड़ी है और भूल कह रहा है, फिर भी भूल कर रहा है। अरे! कहाँ चेता है, किसमें चेता है? यह मोह का चैटू है। बड़ी विडम्बना है इस जीव

की। जान रहा है कि चैटू चिपका है, यह निमित्त खड़े हैं, उनमें रूखापन क्यों नहीं लाते हो? रूखा डाले बिना चिकना हटता नहीं है। चिकनाई में तुम कितना भी माँजोगे, वह छूटती नहीं है। रूखा डालके माँजोगे, तो छूट जायेगी। ऐसे ही ज्ञानी! जब आपको पता चल गया है कि चैटू है, चिपके हैं, तो उसमें रूखा डाल दो, नहीं तो चिकनाई की कढ़ाही माँजना बहुत कठिन है।

भो ज्ञानी! वीतरागता रूप तो अपन को लाना ही पड़ेगा। हम चाहें कि लोग रूठे भी नहीं, हम चाहें कि लोग छूटें भी नहीं, तो मोक्षमार्ग लगता नहीं है। आप लोग कुछ भी मानते रहो। जहाँ पंचपरमेष्ठी की भक्ति को राग की संज्ञा दी जा रही है, वहाँ भोगों को वीतराग संज्ञा कैसे दे देंगे आप? योगी से कहा जा रहा है कि अब वह भी परतत्त्व है, यह भी परतत्त्व है। आप योगी बनो या न बनो, पर इतना विश्वास रखना कि बिना निर्ग्रन्थ दिगम्बर बने और निश्चल वृत्ति के बिना शुद्ध आत्मा झलकनेवाली नहीं है। ध्यान रखना, मार्ग तो कठिन है, पर अभाव नहीं है। जिसको पालन करना है, उसके लिये कोई मार्ग कठिन नहीं होता है। जल को जब बहना होता है, तो वह बड़े-बड़े बांधों से नीचे मार्ग निकाल करके बाहर निकल जाता है। ज्ञानी आत्माओ! आप चाहो तो आप ही इन कर्मों के पर्वतों को नीचे से भेदकर निकल सकते हो। तभी तो आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में लिखा—

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।

हे प्रभु! आप मोक्षमार्ग के नेता हो। आप कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करनेवाले हो। वे प्रभु कहीं ऊपर से नहीं आये, यहीं से उठके गये हैं। अपनी शक्ति को खोजो, अन्य को खोजना नहीं है। देखना, वो रखी है। करने लग जाओ तो सब होता है, नहीं करे तो कुछ नहीं। कुछ लोगों ने तो किया ही है। असंयमी धीमी आवाज में बोलता है और संयमी में दबंगता होती है। 'भगवती आराधना' में शिवाचार्य महाराज ने लिखा है कि साधक! तू नदी की चाल चलना, बिल्ली की आवाज से नहीं। नदी का उद्गमस्थल जरा-सा होता है और बाहर आकर सागर का रूप ले लेती है। ऐसे ही साधक धीमी साधना से चलकर विशालरूप ले लेता है। बिल्ली शुरू में बहुत जोर से बोलती है और अन्त में म्याऊँ करके रह जाती है। ध्यान रखना, साधक की साधना बिल्ली की आवाज नहीं होती कि पहले बहुत दिखे, बाद में म्याऊँ। यह नदी की धार है।

भो ज्ञानी! जो सुकविजन रूप कमलों के लिये सूर्य के समान मित्र हैं, पंचइंद्रिय के विषयों से रहित, गात्र मात्र के परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित 'नियमसार' की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में शुद्धनिश्चय प्रायश्चित अधिकार नामा आठवां श्रुतस्कन्ध (अधिकार) पूर्ण हुआ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नमोस्तु शासन जयवन्त हो।

नियमसार

परम समाधि अधिकार (9)

उत्थानिका : परमसमाधि के स्वरूप का कथन

गाथा : वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स।। 122।।

संस्कृत छाया : वचनोच्चारणक्रियां परित्यज्य वीतरागभावेन।
ये ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य।। 122।।

अन्वयार्थ : (वचनोच्चारण क्रियां परित्यज्य) वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर (यः) जो (वीतराग भावेन) वीतराग भाव से (अत्मानं ध्यायति) आत्मा को ध्याता है (तस्य) उसके (परमसमाधिः भवेत्) परमसमाधि होती है।

मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी नियमसार जी में समस्त मोह रागद्वेषादि परभावों के विध्वंस में कारणभूत, ऐसे परमसमाधि अधिकार का कथन कह रहे हैं। बुद्धि जब तक साम्य नहीं होगी, तब तक समाधि नहीं। जैसे आप लोग समधी होते हो, खींचातानी का नाम समधी नहीं है। पिता की दृष्टि में जैसे पुत्री अपनी बेटी है, तो उसे जिसे अपनी पुत्री का पति बनाने जा रहा है, उसके प्रति पुत्रतुल्य व्यवहार होता है, जैसा अपने बेटे के प्रति होता है। ऐसी दृष्टि बहू के प्रति होती है, तो दोनों की एकधी बनती है, उसका नाम समधी होता है।

भो ज्ञानी! वचन की क्रिया का भी जिसने परित्याग कर दिया है, यह शुद्ध निश्चय समाधि की बात कर रहे हैं। ध्यान रखना, व्यवहार समाधि के अभाव में निश्चय समाधि असंभव है। इसलिये व्यवहार समाधि का अभ्यास तो करते रहना, यदि आत्महित की दृष्टि तो है। जिस समय शंबु कुमार दीक्षा लेने जा रहा था, तब नारायण श्रीकृष्ण ने मना किया। उस समय शंबु कुमार ने कहा, तात! मैं संसार का स्तंभ नहीं बनना चाहता हूँ। जैसे यह स्तंभ है, सब इस पर टिके हैं। परन्तु सत्य है कि पर का कर्त्तृत्व भाव स्वानवृत्ति है कैसे? स्वान बैलगाड़ी के नीचे चलता है तो उसकी मान्यता रहती है कि मैं गाड़ी को चला रहा हूँ। और भाग्य से वह खड़ा हुआ और गाड़ी रुक गई, सो उसको और सत्यता नजर आई। अब तो हमारे बिना यहाँ कुछ हो नहीं सकता और फिर चलने लगा, तो वह योग ऐसा बना कि बैल भी चलने लगे, तो उसको लगा कि मैं ही चला रहा हूँ। उसे खाद्य पदार्थ दिखा तो वह

रुक गया लेकिन गाड़ी चलती रही। तब उसे समझ में आ गया कि मैं तो व्यर्थ का कर्त्ता बना था, वह गाड़ी तो चल रही है। ऐसे ही भो ज्ञानी! तुम पर के कर्त्ता नहीं बनो। संसार की गाड़ी ऐसे ही चली आई है और चलते रहेगी और कोई रोकने वाला नहीं है। आपको निकलना हो तो निकल जाओ। आप सोचो कि परिवार नहीं चलेगा, तो चलेगा, चिन्ता मत करना। आप चले भी जाओगे, तब भी चलेगा। इसलिये पहले ही चलो, कोई विकल्प नहीं करना। लेकिन यह सोचके मत जीना कि महाराजश्री! मैं नहीं होऊँगा, तब कुछ नहीं होगा। यह अपने को लगता है, पर होता सब है। बड़े-बड़े नेता चले गये, तब भी देश चल रहा है। भगवान् महावीर स्वामी जैसे मोक्षमार्ग के नेता चले गये, फिर भी जिनशासन चल रहा है और चलेगा। इसलिये कर्त्तृत्व भाव मत लाना।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो वचन बोलने की क्रिया का त्याग कर वीतराग भाव से आत्मा को ध्याता है, उसके परमसमाधि होती है। जब तक वचनों का व्यापार है, तब तक अंतरजल्प है। सहजदृष्टि से देखेंगे तो जितना वचनव्यापार बढ़ेगा, उतना विकल्प बढ़ेगा। चर्चा करते समय समझ में आये अथवा नहीं आये, लेकिन जब तू शांत बैठेगा, तब वहाँ साम्यता के स्थान पर पश्चाताप आयेगा, थकान आयेगी। पूर्व में समय गया चर्चाओं में और अब तुम्हारा समय जा रहा है पश्चाताप में। साधना का समय समाप्त। जीव जितना वचन-व्यापार करता है, उतना उसको सोचना पड़ता है, उतना विचार करना पड़ता है। तुम्हारा समय सोचने-विचारने में जा रहा है, चिन्तन में नहीं जा रहा है। कहने का जो भाव आ रहा है, उस कहने के भाव में तुम्हारा समय जा रहा है और इसके बाद हमने अच्छा कहा कि बुरा कहा, इस बात को सुनने के भाव आ रहे हैं। अब तुमने जो कहा, उसकी भी मीमांसा में तुम्हारा समय गया। अब इससे और अच्छा कहेंगे, तब भविष्य में समय चला गया। इसलिये आचार्यमहाराज ने बहुत विचार करके लिखा कि हे योगी! वचन के व्यापार को छोड़ दो। इसलिये पूर्व में आचार्यों ने साधकों को प्रायश्चित्त में ऐसा भी लिखा है कि तुम एक ऐसे देश में चले जाओ जहाँ कोई धार्मिक न हो और मौन से रहना। धार्मिक न हो, तो काम चल जायेगा। मौन न दें, क्योंकि वचनों में वह ताकत होती है कि धार्मिक बना लिया जाता है। परन्तु ऐसे क्षेत्र में मौन रहने से तुमको विषमता सहन करने की वृद्धि होगी।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज कुंदकुंद स्वामी ने परमसमाधि अधिकार को प्रारंभ करते ही वचनों पर लगाम लगा दी। परमसमाधि के स्वरूप का व्याख्यान है। यहाँ कह रहे हैं कि अधिक समय तक जीव शुद्ध नहीं रह सकता है। अधिक समय तक आप सामायिक नहीं कर सकते। सबकी सीमा है। इसलिये षट् आवश्यक रख दिये। आवश्यकों में वंदना और

स्तवन एक आवश्यक है। कुत्सित अशुभ से बचने के लिये वचनों के प्रपंच से बचें। वचनों के व्यापार से परम वीतराग सर्वज्ञ का स्तवन करना चाहिये। योगीश्वरों को भी सर्वज्ञदेव का स्तवन करना चाहिये। यह नहीं सोचें कि हम जितना समय भगवान् के पाठ और स्तवन में लगायेंगे, उतने समय में दूसरा काम कर लेंगे। अच्छा, तुम्हारा यहाँ काम ही क्या है? चिंतन, मनन्, अध्ययन, स्वाध्याय इन सबका उद्देश्य साधक का अशुभ वचनों से बचना मात्र है। यदि एक क्रिया के पीछे दूसरी क्रिया में तुम्हारी अशुभ परिणति बनती है, तब वह तुम्हारा अशुभ उपयोग चलेगा। सबका उद्देश्य क्या है? इसलिये लिखा है कि अशुभ से बचने के लिये भगवान् सर्वज्ञदेव के गुणों का स्तवन करें। सामान्य मुनियों को नहीं लिख रहे। जब परम जिनयोगी भगवान् अरहन्त की वंदना करते हैं, तब अपने को अनिवार्य है। पंचमकाल के मुनिराज को अनिवार्य है, परम जिन योगीश्वर को नहीं है। यह अनिवार्य संज्ञा को प्राप्त है, जो श्रेणी की ओर बढ़ रहे हैं, शुक्लध्यान में जा रहे हैं। ऐसे परम जिनयोगीश्वर भी जब शुभ-उपयोग में आते हैं, तो वह भी भगवान् की वंदना, स्तवन करते हैं।

भो ज्ञानी! परमार्थतः यानि निश्चय से वचन के विषय का व्यापार नहीं करना चाहिये। अप्रशस्त तो करें ही न और शुभभाव में जाने के प्रशस्त भाव भी ज्यादा न करे। किसी ने आपसे कहा कि कम बोला करो, तो आप कहो कि मैं जो भी बोलता हूँ, धर्म का बोलता हूँ। ठीक है, आप धर्म का ही बोलते हो, लेकिन एक बात का ध्यान रखना, आपके बोलने से दूसरे का हित तो हो रहा है और आप जो बोल रहे हो उसके अशुभ से निवृति हो रही है। ठीक है, आपका भी कुछ हित है, लेकिन जो आपकी अंतरंग साधना में वृद्धि होना चाहिये, वह नहीं हो पा रही है। स्तवन आदि की भी सीमा कर दी। जब व्यवहार, सराग-अवस्था में है, तब स्तवन और वीतराग अवस्था में है, तो स्तवन नहीं। क्योंकि प्रशस्त, अप्रशस्त दोनों का निषेध कर रहे हैं। वचन को अच्छा बोलेंगे, तो कोई झेलने वाला चाहिये। भगवान् की वाणी बिना श्रोताओं के नहीं खिरती। जब कोई श्रोता होता है, तो वक्ता बोलता है। गणधर परमेष्ठी के अभाव में भगवान् महावीर स्वामी की वाणी नहीं खिरी। वह तो सर्वज्ञ की वाणी थी, वहाँ परालंबन भाव नहीं था। लेकिन यहाँ तो आपके मन में भाव आयेगा कि आज कोई आया नहीं। ऐसा भाव आया एक क्षण को, लेकिन वह क्षण भी तुम्हारा बाहर चला गया।

भो ज्ञानी! यदि आपने लगातार प्रशस्त वचन बोले, जिनवाणी का आधार लेके चलते रहे, तब तो ठीक है। यदि बिना आलंबन के बोलते रहे, तब वह अप्रशस्त भी हो सकते हैं और प्रशस्त भी हो सकते हैं। यही अनुवीचि भाषण है। साधक के लिये आगम में बोलने

तक की पाबंदी है। बोलो तो अनुवीचि भाषण। अनुवीचि भाषण का अर्थ होता है आगमसम्मत। वचन-रचना को छोड़ करके संपूर्ण कर्मकलंक के पंक से रहित। नष्ट किये हैं भावकर्म, ऐसे परम वीतराग भाव के द्वारा, तीनों कालों में जो निरावरण है, ऐसे शुद्ध कारणपरमात्मा। इसलिये जो तीनों कालों में बंधन से युक्त होकरके भी अपने आप में निर्बन्ध हैं। "त्रिकाल निरावरण" कह रहा है कि द्रव्यदृष्टि से कर्म की सोपाधिक अवस्था है, लेकिन मेरी आत्मा कर्म से त्रैकालिक निर्बंध ही है। किस अपेक्षा से? संक्लेश भाव तो है, पर अविनाभाव संबंध नहीं है। किसमें? आत्मा और कर्म में। जैसे दूध में पानी। परस्पर में एकमेक होने पर भी एकरूपता नहीं है। तू कर्म से त्रैकालिक बँधा होने पर भी त्रिकाल निरावरण क्यों है? क्योंकि बंध होने पर भी मैं तद्रूप नहीं हूँ। इसलिये यह निश्चय शुद्धदृष्टि योगी की त्रैकालिक रहती है। इस प्रवचनभवन में बैठे रहने पर भी आप प्रवचनभवनरूप नहीं हो। इसी प्रकार से आत्मा कर्म से संबंधित होने पर भी कर्मरूपता को प्राप्त नहीं है।

भो ज्ञानी! जो परम जिन योगीश्वर हैं, वे ही कारण-परमात्मा हैं जिन्होंने वचन के व्यापार को छोड़ दिया है। प्रशस्त-अप्रशस्त संपूर्ण वचन-व्यापार से परे हैं, ऐसे जिन परम योगीश्वर ही कारण-परमात्मा हैं। इस अपेक्षा से सामान्य जीव अभी कारण-परमात्मा नहीं है। चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव की भूमिका में इस अपेक्षा से कारण का कारण परमात्मा कहा भी है। क्योंकि कारण का कारण तो आपको सर्वत्र लगाना पड़ेगा। अरहन्त भगवान् भी अभी परमात्मा नहीं, वह भी कार्यपरमात्मा के कारण परमात्मा हैं। विवक्षा लगा दो। क्योंकि साक्षात् कारणपरमात्मा तो चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान् हैं और कार्य परमात्मा सिद्ध-भगवान् हैं। साक्षात् कारण परमात्मा 12वें गुणस्थानवर्ती मुनिमहाराज और कार्यपरमात्मा 13वें गुणस्थानवर्ती अरहंतदेव। यह है सकल परमात्मा की दृष्टि। अब नीचे जो गुणस्थान हैं, वह परस्पर में एक दूसरे के कारण-कार्य हैं।

भो ज्ञानी! जब भी आप व्याख्यान करोगे, तो आपको यह कर्म का ध्यान रखना पड़ेगा अन्यथा एक भव्य निगोदिया जीव और एक चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव, हमें इन दोनों में अंतरात्मा-वहिरात्मा का भेद नहीं होगा। फिर वह चेतन-आत्मा अंतरात्मा ही कारणपरमात्मा है। बहिरात्मा भाव अभी कारणपरमात्मा भी नहीं है। यदि आप बहिरात्मा भाव को कारणपरमात्मा भाव मानते हो, तो फिर हमें मिथ्यात्व भाव में सम्यक्त्व स्वीकारना पड़ेगा। सम्यक्त्व के अभाव में मोक्षमार्ग प्रांरभ होता नहीं त्रैकालिक कारण परमात्मा भाव नहीं है। यदि बहिरात्मा भाव को कारण परमात्मा मानेंगे तो फिर मिथ्यात्व भाव को भी हमें कथंचित मोक्ष मार्ग मानना पड़ेगा। इसलिये ध्यान रखना, बहिरात्मा भाव, मिथ्यात्व भाव, अव्रतीभाव,

असंयम भाव, प्रमाद भाव, योग भाव, यह कभी भी कारणपरमात्मा नहीं है। लेकिन इन भावों से युक्त भव्यजीव भवितव्यता में विराजमान है, इनके होने पर भी वह त्रैकालिक परमात्मा है।

भो ज्ञानी! निगोद पर्याय में विराजा निगोदिया भव्यजीव वह भी शक्ति-अपेक्षा कारणपरमात्मा है। क्योंकि वह भव्य है, नियम से परमात्मा बनेगा। शक्ति की अपेक्षा से वह तो कारण ही क्या, वह तो कार्य परमात्मा भी है। शक्ति अपेक्षा एक भव्य निगोदिया जीव कारणपरमात्मा भी है और कार्य-परमात्मा भी है। परन्तु अभिव्यक्ति में बहुत दूर है। त्रैकालिक कारणपरमात्मा-भाव बहिरात्म भाव नहीं है। क्योंकि बहिरात्मभाव भव्य का त्रैकालिक भाव नहीं है। बहिरात्मभाव अभव्य का त्रैकालिक भाव है। उसकी संसारपर्याय अनादि-अनंत है और भव्य की संसारपर्याय अनादि-सान्त है। यह निर्णय करना आपका काम नहीं है कि कौन भव्य है, कौन अभव्य है। यह भगवान् ही जान रहे हैं।

भो ज्ञानी! कारणपरमात्मा अपने आपको मान लेना और कारण का कार्य समझना। सम्यग्दर्शन कारण का कार्य यानि सम्यक्त्वाचरण चारित्र। यदि वह भी नहीं दिखे, तो अब तो केवली ही जाने। आप तो व्यवहारदृष्टि से ही कारणपरमात्मा को जान सकते हो और वह चाक्षुष हैं। आप यहाँ बैठे हो, मंदिर में आ रहे हो, प्रवचन सुन रहे हो। तो सड़क पर चलने वाला सामान्य व्यक्ति भी कहता है कि यह धार्मिक है। क्योंकि तुम्हारी वृत्ति देखकर वह यह कह रहा है। अब जिसकी वृत्ति ही तदनुकूल न हो, उसका निर्णय आप नहीं कर पाओगे, क्योंकि आप जो भी निर्णय करोगे सब पर्यायदृष्टि से करोगे।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 123 **नियमसार** **कलश 200, 201**

उत्थानिका : परम समाधि का लक्षण

गाथा : संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स॥ 123॥

संस्कृत छाया : संयमनियमतपसा तु धर्म्यध्यानेन शुक्लध्यानेन।
यो ध्यायत्यात्मानं परमसमाधिर्भवेत्तस्य॥ 123॥

अन्वयार्थ : (संयमनियमतपसा तु) संयम, नियम और तप से तथा (धर्म्यध्यानेन शुक्लध्यानेन) धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान से (यः आत्मानं ध्यायित) जो आत्मा को ध्याता है (तस्य परमसमाधिः भवेत्) उस साधु की परमसमाधि होती है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने परमसमाधि के स्वरूप का कथन करते हुये संकेत दिया था कि जो वचन बोलने की क्रिया का परित्याग कर देता है, चाहे शुभ,अशुभ वचन कैसे भी हों, और वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान करता है, उसके ही परमसमाधि होती है। निश्चय धर्म्यध्यान में स्वात्मा पराश्रित नहीं रहता है। ऐसे टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वरूप परमशुक्लध्यान द्वारा जो परमवीतराग तपस्या में निरत है, ऐसे राग से रहित ध्याता हैं, उनके ही निश्चय से, व्यवहार से नहीं कहना, द्रव्य-भावकर्मरूपी जो सेना है, उसको लूट करके, समाप्त करके, उनके ही परमसमाधि होती है। जब तक द्रव्यकर्म-भावकर्म की सेना को नहीं लूटोगे, तब तक परमसमाधि नहीं होगी। लूटेगा कौन? किस आत्मा से लूटेगा? किसलिये? आत्मा के लिये। किससे? आत्मा से। और किसमें? आत्मा में। यह अभेद षट्कारक सब आत्मा में लगे हैं। यह सब बाहर की बातें हैं। वास्तव में इन सबका भी विकल्प नहीं होगा, इन चर्चाओं के भी भाव नहीं आयेंगे, क्योंकि यह भी बाह्य भाव हैं।

भो ज्ञानी! अंदर का द्रव्य और अंदर का परिणमन, अंदर का चिंतन, वह अपने आप में अनंत रूप होगा, लेकिन अंत नहीं होगा। उसका अंत तभी होगा, जब कैवल्य प्रकट होगा। क्यों? शुक्लध्यान में जा रहा योगी, इसका अर्थ यह नहीं है कि जड़ हो गया। वह पर्याय से पर्यायांतर का, द्रव्य से द्रव्यान्तर का, गुण से गुणान्तर का चिंतन चल रहा है। चिन्तन व वेदन युगपत चल रहा है। वेदकभाव तभी है, जब चिंतक भाव है। चिंतक भाव के अभाव में वेदक भाव किसका? अब वह जो चिंतक भाव है, इतना सूक्ष्म है कि अन्य के वचन का विकल्प नहीं बनता है। पृथक्त्व वितर्क का अर्थ क्या है? वितर्क यानि श्रुत और श्रुत से श्रुतान्तर, अर्थ से अर्थान्तर, योग से योगान्तर संक्राति चल रही है। अर्थ संक्राति, गुण संक्राति

यानि परिणमन। अब बैठा है योग। यह कहना चाहिये कि जैसे देश का शासन। जितने काम चलाने हैं, उनके संचालन में तो पुरुषार्थ कम है और यह संचालन इन्द्र का चल रहा है। यह परम पुरुषार्थ साध्य हो रहा है और वास्तविकता यह है कि शुभोपयोग में नहीं जा रहे हैं आप, क्योंकि शुभभावना तक आप शांत हो जाते हो।

भो ज्ञानी! शुद्धोपयोग की भावना कब? सामायिक आदि के काल में जब वह जीव शुद्धोपयोग की भावना का स्पर्श करता है। जब कोई श्रावक रागादिक विषयप्रवृति में लीन है, उस काल में उसकी परिणति कौन-सी बनेगी? शुभ कि अशुभ? शुद्धोपयोग की तो छोड़ो, शुभोपयोग की बात करो। संक्लेशता चल रही है, अपध्यान चल रहा है, दुनियाँ के विकल्प आ रहे हैं, उस जीव की दशा का वेदन करो कि क्या हो रहा है? इसलिये उपचार से धर्म्यध्यान है चतुर्थ गुणस्थान में। पूर्ण धर्म्यध्यान अर्थात् शुद्ध का अर्थ होता है कि जहाँ कोई दूसरा ध्यान नहीं आये, कोई दूसरा विकल्प नहीं आये। छठवें गुणस्थान में आर्त्तध्यान होता है, इसलिये शुद्धता नहीं बची। सप्तम् गुणस्थान में आर्त्त-रौद्रध्यान नहीं है, इसलिये शुद्ध धर्म्यध्यान तो सप्तम गुणस्थान से प्रारंभ होता है।

भो ज्ञानी! आगम में दो विवक्षायें हैं। प्रवृत्ति को सविकल्प कहा है और निर्वृत्ति निर्विकल्प है। इस अपेक्षा से शुक्लध्यान 11वें गुणस्थान से प्रारंभ होता है और धर्म्यध्यान 10वें गुणस्थान तक चलता है। किन्हीं-किन्हीं आचार्यो ने धर्म्यध्यान सप्तम गुणस्थान तक और शुक्लध्यान 8वें गुणस्थान से स्वीकारा है। इसलिए ध्यान रखना, पुरुषार्थ शुभभावना तक ही मत छोड़ दिया करो। एकाग्रताध्यान किसे कहते हो? जब तक शुभ काम में एकाग्रता नहीं आ रही है, तब तक शुभ विकल्प तो है, पर शुभ धर्म्यध्यान नहीं बन रहा। भावना है तो इसे सि द्धान्त कहेगा भद्रध्यान। धर्म्यध्यान के पहले की अवस्था बनती है भद्र। भद्रता में चल रहा है, लेकिन ध्यान तो चित्त की एकाग्रता है। किसी के पूछने पर हम व्यवहार की भाषा में बोलते हैं कि धर्म्यध्यान में लगे हैं, महाराज माला फेर रहे थे, स्वाध्याय कर रहे थे। वह कह रहे थे कि हम तो धर्म्यध्यान में लगे हैं। आप शुभ भावनाओं में लगे हो। शुभ क्रियाओं, शुभ प्रवृति में लगे हो, परन्तु ध्यान रखना, धर्म्यध्यान नहीं कर रहे हो। अकलंक देव ने 'राजवार्तिक' में जाप देने को ध्यान नहीं कहा। क्यों? क्योंकि जाप में विकल्प है और ध्यान चित्त की एकाग्रता है। पर वास्तव में ध्यान की जो परिभाषा है, एक द्रव्य में चित्त को एकाग्र कर देना, उसका नाम ध्यान है। वह ध्यान तो आपका बिलकुल ध्यान करने पर ही होगा।

भो ज्ञानी! आप सामान्यरूप से बारह भावना पाठ पढ़ रहे थे, वह भी धर्म्यध्यान चल रहा है, लेकिन वह अनुप्रेक्षा है। फिर ध्यान में क्या अंतर है? ध्यान जो है, वह एकाग्र होना

है। अब इन विकल्पों को ध्यान नहीं माना और ध्यान को सविकल्प कह रहे हैं 6वें गुणस्थान तक सिद्धान्त में, वहाँ पर कौन-से विकल्प होंगे चित्त की एकाग्रता में? परमेष्ठी की आराधना में जो विकल्प तुम्हारे चल रहे हैं, अंतर-आत्मा आराधना में तो विकल्प ही कह रहे हैं। इसके बाद 7वें गुणस्थान का निर्विकल्प पकड़ना और फिर आठवें गुणस्थान का। क्रम से बढ़ते जाना। जब 12वें गुणस्थान के निर्मल ध्यान में जाओगे, तो फिर वहाँ कहना कि मोह की क्षीणता वास्तव में कोई वस्तु है और यह सब विषय आपके मस्तिष्क में तभी आता है, जब आप चिन्तन करने बैठो। नहीं तो सहजता में धर्म्यध्यान कितना कर लिया? सुबह से आये मंदिर में पूजा करके चले गये, बोले धर्म्यध्यान कर लिया। हम यह नहीं कह सकते कि आपने ध र्म्यध्यान कर लिया। यह धर्म्यध्यान की सिद्धि की क्रिया है। पुण्य की क्रिया को व्यवहार में पुण्य कहा जाता है। पर पुण्य की क्रिया करना और परिणति जो पुण्यरूप है और जो आस्रव हुआ है, उस काल में वह पुण्यकर्म है। पूजन के काल में जो आपके भाव आये, वह पुण्य करने के भाव हैं और जो आप कर रहे हो, वह पुण्यक्रिया है। जो हो रहा है, वह पुण्यकर्म है और जो आ रहा है वह पुण्य-आस्रव है और जो तुम्हारी अंतर की अवस्था चल रही है, वह पुण्य है। 'कार्तिकेय अनुप्रेक्षा' में कार्तिकेय स्वामी ने अशुभ उपयोगी, शुभ उपयोगी और शुद्ध उपयोगी तीनों के लक्षण दिये हैं। जिसकी भौहें चढ़ रही हों, दाँत पीस रहा हो, नेत्र लाल हो रहे हों, भुजाएँ खिंच रही हों, मुठ्ठी बांध रहा हो, ये सब रौद्रध्यानी के लक्षण हैं। शोकाकुल बैठा हो, सजल नेत्र किये है, बाल बिखरे हैं, यह आर्त्तध्यानी के बाह्य चिह्न हैं। सौम्यता है, सहजता है, सरलता है, प्रभु के प्रति भक्तिभाव है, यह धर्म्यध्यानी के बाह्य लक्षण हैं।

भो ज्ञानी! ध्यान रखना, पाँच लब्धियों में चार लब्धियाँ सहज हैं। जब तक करण लब्धि नहीं आयेगी, तब तक सम्यक्त्व नहीं होगा। चार लब्धियाँ तो अभव्य भी कर लेता है, लेकिन करण लब्धि भव्य के ही होती है। ऐसा नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती देव ने 'गोम्मटसार' में कहा है। क्षपणासार, लब्धिसार यह भी लब्धियों की ही चर्चा करते हैं। जब तक बाह्य लक्षण नजर नहीं आयें, अतिरेक लक्षण नहीं होते हैं। गर्भवती माँ के बाह्य में भी गर्भ के लक्षण झलकते हैं। ऐसे ही माँ जिनवाणी कह रही है कि जिसके अंदर में सम्यक्त्व का पुत्र पल रहा है, उसके बाह्य लक्षण झलकते हैं। गर्भाधान होने पर वमन होता है, उल्टियाँ होती हैं, भोजन नहीं पचता है, इसके रजोधर्म समाप्त हो गया। जैसे ही पुत्र उदर में आया कि मासिकधर्म समाप्त हो गया। ऐसे ही जब सम्यक्त्व पुत्र आता है तो मिथ्यात्व की रज समाप्त हो गई और सभी बाह्य चिह्न प्रगट दिख रहे हैं। इधर उदर की वृद्धि है, तो उधर पंचपरमेष्ठी की भक्ति की वृद्धि होना प्रारंभ हो जाती है। यदि पंचपरमेष्ठी की भक्ति नहीं आ रही है, तो यह ढोंग करना बंद कर देना कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।

समाधिना केनचिदुत्तमात्मनां हृदि स्फुरतीं समतानुयायिनीम्।
यावन्न विद्मः सहजात्मसंपदं, न मादृशां यो विषमो विदामहि।। कलश 200।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश संख्या 200 में कह रहे हैं कि जो व्याख्या परम समाधि की है, यही स्वरूपाचरण चारित्र है। समाधि यानि ध्यान क्रियाओं में समाधि। साधना के नजदीक आने का माध्यम क्रिया है, परन्तु क्रिया योग में समाधि नहीं बनती। समाधि बाह्य क्रिया से निष्क्रिय अवस्था है, एकत्व अवस्था है। जहाँ स्वयं से चर्चा करने को समय न मिले, वह समाधि है। मात्र स्वयंभू से ही जिसकी चर्चा होती हो, उसका नाम समाधि है। ऐसी निर्विकल्प निजतत्त्व में लवलीनता जहाँ है, वहीं परमसमाधि है। योगी का आनंद ईश्वर से मिलने में नहीं। ईश्वर मिलन पराधीनता है, क्योंकि ईश्वर मेरी सत्ता से भिन्न है और मेरी सत्ता ईश्वर से भिन्न है। ईश्वर मिलन में भक्ति का आनंद तो आता है लेकिन ईश्वर मिलन में समाधि का आनंद नहीं आता। आप भगवान् के दर्शन करने जाते हो, वह भक्ति का आनंद है, प्रभु मिलन का साधन नहीं है। समाधि प्रभु बनने का साधन है। मिलन कब तक करोगे? संबंध कारक नहीं। षष्टी विभक्ति नहीं। अधिकरण मैं भगवान् के रूप में मिलता हूँ नहीं। मैं भगवान् के स्वरूप में लीन होता हूँ और संबंध कह रहा है कि मैं भगवान् से मिल रहा हूँ। यानि द्वैत भाव आ गया, जबकि भगवत्ता अद्वैत है। ऐसी समाधि में किंचित् कोई उत्तम आत्मा हृदय में स्फुरमान होती है, जो समता की अनुगामिनी है। समता की अनुगामिनी समता है, तो समाधि है और समता नहीं, तो समाधि त्रैकालिक नहीं है। अब तक इसका वेदन नहीं किया हमने, जो आत्मा की सहज संपदा है। मैं उस विषय का वेदन करता हूँ, उस विषय को समझता हूँ, उसमें लीन होता हूँ। किसमें? परम आत्मसंपदा में लीन होता हूँ। ऐसी परमसमाधि है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 123 में कह रहे हैं कि क्रम से लगाना। आप भावना तो भाते जाओ, लेकिन विषय को वहीं कहना जहाँ कहा है, तो आगम समझ में आयेगा। भावना के स्थान पर वैसे भाव आपने बना लिये कि मैं ही ऐसा हूँ, तो आगम निर्दोष समझ में नहीं आयेगा, अनवस्था दोष आ जायेगा, जो भक्तिभाव था वह भी नष्ट हो जायेगा। मालूम चला कि एक आलम्बन मेरे पास था, वह भी हमारे हाथ से चला गया। संयम से यहाँ देशव्रत को ग्रहण नहीं करना। यहाँ संयम शब्द मात्र महाव्रती के लिये है, क्योंकि विषय परमसमाधि का है। संयम, नियम, व्रत, तप। यह 12 तप श्रावकों के नहीं हैं, यह तप यतियों के हैं। जो धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान में रत हैं। गाथा में कह रहे हैं कि जो अपनी निज आत्मा को ध्याता है, वह गुण जिसमें है, उसको संयम हो, तप हो, नियम हो। इन गुणों से युक्त आत्मा ही

परमसमाधि को प्राप्त होती है। यही उत्तम समाधि का लक्षण कहा है। एकदेश संयम नहीं कहा। संयम यानि सकल इंद्रिय के व्यापार का परित्याग और नियम यानि स्वात्मा की आराधना में तत्परता। आत्मा से आत्मा को आत्मा के द्वारा जो संतप्त किया जाता है, तपाया जाता है, सम्यक् प्रकार से धारण किया जाता है, उसका नाम तप है। निश्चय भद्रध्यान क्या है? सकल, एक दो नहीं, सकल बाह्य क्रियाकांड/आडम्बर का परित्याग यानि चारों ओर से त्याग भी कह सकते थे। 'परि' उपसर्ग लगाया, चारों ओर से जिसने त्याग कर दिया है, ऐसा लक्षण है जिसका। अंतरंग की क्रिया में ही लगी है आत्मा जिसकी। ऐसे उपाधि से रहित अपने निज स्वरूप को जो जानता है, उस प्राणी विशेष को। कैसी प्राणशक्ति? जो मात्र निज की आत्मा के आश्रय में लवलीन है, उसके निश्चय धर्म्यध्यान है। जो ध्यान, ध्येय ध्येय, और फल आदि विविध विकल्प से भी निर्मुक्त है।

भो ज्ञानी! मैंने आज जाप कर लिया, इसका फल क्या मिलेगा? यह विकल्प क्यों? संपूर्ण इंद्रिय-व्यापार के अगोचर निज परमात्मतत्त्व चलायमान नहीं, अविचल स्थिति रूप है। यह निश्चय शुक्लध्यान है। ऐसी सामग्री से युक्त, विशेषों से रहित, परम संयम, अखण्ड, अद्वैत, परम चिन्मय आत्मा को जो परम संयमी नित्य ध्याते हैं, उनके निश्चय से परमसमाधि होती है। आचार्यभगवान् उसी परमसमाधि को नमस्कार करते हुये कलश में कह रहे हैं .....

निर्विकल्पे समाधौ यो नित्यं निष्ठति चिन्मये।
द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानं तं नमाम्यहम्॥ कलश 201॥

जो चैतन्यमय निर्विकल्प समाधि में नित्य ठहरते हैं, विराजते हैं, ऐसे द्वैत-अद्वैत भाव से विनिर्मुक्त जो आत्मा है, उसे मेरा नमस्कार हो। कोई भगवान् को नहीं, कोई परमेश्वर को नहीं। द्वैत-अद्वैत भाव से रहित जो आत्मा है, उस आत्मा को मेरा नमस्कार हो, ऐसा समझना। मनीषियो! आचार्यमहाराज व्यवहार-चर्या को निश्चय की ओर झुकाने के लिये 124वीं गाथा में समता की महिमा का व्याख्यान करेंगे। अभी तक जितनी मोह की चर्चा की है, वह कह देंगे कि तुम्हारा मोह किस काम का यदि समता नहीं है तो।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमसार

गाथा 124

उत्थानिका : समता के बिना द्रव्यलिंगधारी साधु के कुछ भी परलोक मुक्ति का कारण नहीं है।

गाथा : किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स॥ 124॥

संस्कृत छाया : किं करिष्यति वनवासः कायक्लेशो विचित्रोपवासः।
अध्ययनमौन प्रभृतयः समतारहितस्य श्रमणस्य॥ 124॥

अन्वयार्थ : (वनवासः) वन में निवास (कायक्लेश) काय का क्लेश (विचित्रोपवासः) अनेक विविध उपवास तथा (अध्ययन मौन प्रभृतयः) अध्ययन, मौन आदि कार्य (समता रहितस्य श्रमणस्य) समता से रहित श्रमण के लिये (किं करिण्यति) क्या करेंगे?

नियमदेशना

मनीषियो! चेतनस्वरूप में लीन परमजिन योगीश्वर की मैं वंदना करता हूँ। उनकी वंदना करने के लिए शरीर को प्रेरित नहीं करना पड़ता। सरस भाव उठते हैं ऐसे योगियों के लिये। परमब्रह्म में लीन हैं, द्वैतभाव से परे हैं। निर्विकल्प दशा से ही जिन्हें प्रेम है। वचन-प्रलापों से मुक्त हैं। भेदाभेद रत्नत्रय से युक्त, ऐसे निर्ग्रन्थ ही परमसमाधि में रत हैं। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि हे श्रमण! उस समाधि की सखी कोई है, तो समता है। किसी भी अवस्था में धार्मिक अनुष्ठान तेरा अनुष्ठान नहीं है। उन बाह्य निमित्तों के पीछे अपने निज के अनुष्ठान की निष्ठता को मत खो देना। वह परमजिन योगियों की तपधी अनुष्ठान है। आत्मा में निष्ठ होना ही सबसे बड़ा अनुष्ठान है। जहाँ आत्मा की निष्ठता का समापन हो, आत्मनिष्ठता भंग हो, उसे जिनवाणी माँ अनुष्ठान संज्ञा नहीं देती। वही अनुष्ठान, अनुष्ठान है, जिसमें आत्मा अनुष्ठित है और आत्मा अनुष्ठित नहीं है, तो अनुष्ठान नहीं है।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि हे योगी! किसी भी अवस्था में समता को मत खो देना, क्योंकि बाहर के द्रव्य अनंतबार मिल जायेंगे, पर समता की प्राप्ति अनन्त बार नहीं होगी। न भगवान् मिलेंगे, न गुरु मिलेंगे। अपने प्रभु को खो दिया तो भो ज्ञानी! प्रभु काम नहीं आयेंगे, गुरु काम नहीं आयेंगे। समता के लिये तेरा निज का गुरु ही काम में आयेगा। व्यवहार के गुरु ने तुझे दीक्षा दी है, समता की शिक्षा दी है, पर व्यवहार के गुरु तुझे समता नहीं दे पायेंगे। उस समता को तुझे ही बनाकर रखना पड़ेगा। वह चौबीस घंटे तुम्हारे साथ नहीं रहेंगे। लेकिन आपका ज्ञान चौबीस घंटे रहेगा। जहाँ होंगे, वहीं जायेगा। जिस क्षेत्र में

जाओगे, वहाँ जायेगा। व्यवहार गुरु ने आपको ऊँचा उठा दिया। इतना बड़ा उपकार तुम्हारे साथ किया है कि तुमको संयमी बना दिया है। लेकिन कह रहे हैं कि बेटा! अपने रत्नत्रय के गुरु को पुचकारके रखना। अपने भावों के गुरु को नाराज मत कर देना। क्योंकि सल्लेखना के समय मेरी आवश्यकता नहीं है। मैं आपको मिल सका, कि नहीं मिल सका, लेकिन जो गुरु तुझे मेरे पास तक लाया है, वह अंतिम श्वास तक तेरे साथ रहेगा। गुरुमहाराज के पास कौन ले गया? गुरु पहले मिला, कि गुरुमहाराज पहले मिले? भो ज्ञानी! निज भावों का गुरु तुझे प्रेरित नहीं करता तो तू गुरु के पास जाता कैसे?

भो ज्ञानी! जिस दिन आचार्यश्री ने संस्कार दिये थे, भरी सभा में कहा था कि अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। पर ध्यान रखना, धर्म, समाज, गुरुकुल इनको संभालके चलना। इनके सम्मान को रखना है तो अपने आपको संभालके चलना। अर्थात् मैं बाहर से आपको दीक्षा दे रहा हूँ, अंदर में आपको संभालके चलना होगा। भगवान्आत्मा को संभाल लिया, तो सबकुछ सार्थक है और भगवान्-आत्मा नहीं संभाल पाये, तो कुछ भी नहीं है।

आचार्यकुन्दकुन्द देव 124वीं गाथा में बड़ी मीठी भाषा में समझा रहे हैं, पर यह पूरा संकेत श्रमण को दे रहे हैं। हे श्रावको! ध्यान रखना, जिस दिन बारह व्रतों को आप अंगीकार करते हो, सम्यक्त्व की उत्पत्ति समता के लिये ही होती है। गृहस्थ अवस्था समता का सबसे बड़ा परीक्षाकेन्द्र है, क्योंकि साधु-अवस्था में तो पूजा भी होती है। यहाँ तो तुमको पूजा करनी पड़ती है। घर में जो समता से रह लिया, घर की विषमता को जिसने समता बना लिया, तो बाहर भी तुम समता से रह पाओगे और घर की विषमता को लेके भाग आये, तो वहाँ भी तुम्हें विषमता मिलेगी। क्योंकि तुमने स्थान परिवर्तित किया था, भाव परिवर्तित कहाँ किया था?

भो ज्ञानी! घर की किसी विषमता को लेकर तुम मुनिसंघ में प्रवेश भी कर गये, योगी भी बन गये, लेकिन तुमने मात्र गृह परिवर्तन किया है, स्थानांतरण किया है। तुम्हारे भावों में परिवर्तन नहीं हुआ है। तुम साधुसंघ में जाओगे तो जहाँ निर्मलता थी, वहाँ जहर घोलोगे। गुरु को एक तनाव और खड़ा हो जायेगा। यदि आपके मुनि बनने के भाव हो रहे हों, तो आज से घर की विषमता को समतारूप में देखना प्रारंभ कर देना। जब बनने के भाव आयें, तो यह नहीं सोचना कि घर में क्लेश है, इसलिये मैं जा रहा हूँ। मैं अपने परिणामों को सरल बनाने के लिये जा रहा हूँ। बाह्य क्लेश से बचने के लिये जाओगे तो क्लेश तो सर्वत्र हैं। देखो, धोखे की साधना नहीं करना। अंदर समता नहीं है, तो क्लेश सर्वत्र हैं, अन्यथा क्लेश कहीं भी नहीं है। जिसके सिर पर सिगड़ी रखी जा रही हो, उससे बड़ा क्लेश क्या होगा?

और रखने के पहले कैसे चुभते शब्द बोल रहा था 'तुझे दीक्षा ही लेनी थी, तो मेरी बेटी के साथ संबंध क्यों किया?' कीले से भी कठोर शब्द था। कीलें ठोक कर अग्नि लगा दी। यह था समयसार। यहाँ लगाना समयसार। इसलिये आपके साधु बनने के परिणाम हो रहे हैं तो समता के परिणाम और सीख लेना।

भो ज्ञानी! पुण्य-पाप प्रत्येक जीव का सर्वत्र चलता है। वहाँ भी तेरी पूजा नहीं हो पाई तो संक्लेशता बढ़ेगी। यह कहोगे कि लोग मुझे क्यों नहीं पूछते हैं? यह कहोगे तो भाव बिगड़ेंगे। धन्य हो कुन्दकुन्द स्वामी, उन भावों को संभालने के लिये वाणी लिख कर चले गये। इसलिए जब भी दीक्षा के भाव बने, तो समता की भावना और लेके चलो। आप जिन आचार्यपरमेष्ठी के चरणों में दीक्षा ले रहे हो, आवश्यक नहीं कि उनकी आपकी बनेगी, वह आपके अनुसार चलेंगे। वे गुरु हैं, आपकी सामर्थ्य उनके अनुसार चलने की हो, तो उनके चरणों में पहुँचो, लेकिन गुरु को अपने अनुसार चलाने की भावना मत लाना। मुमुक्षु गुरु के अनुसार चलता है, गुरु को अपने अनुसार नहीं चलाता और गुरु प्रभु के अनुसार चलते हैं।

भो ज्ञानी! आप बेटे हो, तो पिता का भी कभी अनुभव किया करो और पिता! आप बेटेपने का भी अनुभव किया करो। जिस दिन गुरु दीक्षा देते हैं, संस्कार करते हैं, तो हर गुरु की दृष्टि रहती है कि शिष्य आत्मकल्याण के साथ धर्म का भी विकास करेगा। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में "कुल" नामक संज्ञा आती है। कुल यानि यति-परम्परा। शिष्य कुलपरम्परा को विकसित रखेगा। 'मूलाचार' जी में एकलविहारी को मृगचारी कहा है। क्यों? जैसे मृग जंगल में स्वतंत्र विचरण करता है, ऐसे ही आप गुरु के अनुशासन की डोरी से छूट चुके हो। आचार्यमहाराज लिखते हैं कि मेरा शत्रु भी क्यों न हो, लेकिन एकाकी विचरण न करे।

भैया! समता का अर्थ मात्र क्रोध आने का अभाव नहीं है। यदि लोकेषणा की तीव्र भावना भी बनती है, वो भी समता का अभाव है। तीव्र उत्साह का होना भी समता का अभाव है। आप लोग सोचते हो कि गुस्सा नहीं आये, तो समता हो गई। नहीं, अति प्रसन्नता भी समता नहीं है। मान भी समता नहीं है, माया भी समता नहीं है। समता यानि चारों कषायों की भद्रता, मंदता। छठवें गुणस्थान में संज्जवलन की तीव्रता हो सकती है, परन्तु सप्तम गुणस्थान तभी बनता है जब संज्जवलन की मंदता होती है। वह तो लोगों ने मान लिया है कि किसी को जरा सी गुस्सा आ गई तो कहा तुमाई समता चली गई। इसलिये चारों कषायों का ध्यान रखना। वन में निवास करने से क्या? शरीर को कष्ट देने से भी कुछ नहीं है। महीनों उपवास भी कर लो और जरा-सा तुम्हारे अनुसार काम नहीं हुआ, तो चिल्ला पड़े कि ये तुम क्या

कर रहे हो? प्रभु! यह व्यवस्था शब्द तो आप छोड़कर आ गये हो, अतः व्यवस्था मत देखो। व्यवस्था चाहते हो तो घर में ही बन सकती है। यात्रा में घर-जैसी व्यवस्था नहीं बन पाती है और जो मोक्ष की यात्रा पर चल दिया हो, वहाँ व्यवस्था कहाँ? यह ध्यान रखना कि यह मोक्षमार्ग की यात्रा है। इसमें अव्यवस्थायें तो होंगी। उनमें तुम व्यवस्थित रहो। संज्जवलन की मंदता होगी, तभी सप्तम गुणस्थान बनेगा। संज्जवलन की तीव्रता में छठवाँ तो बनेगा, सातवां नहीं बनेगा।

भो ज्ञानी! संज्जवलन की तीव्रता का तात्पर्य समझ लो। उसमें भी चारों कषाय लगाना। भाव आ रहे हैं कि यहाँ लोगों में अच्छी धार्मिक भावना बने। सरागता में बैठे हैं, छठवें गुणस्थान में। 'प्रवचनसार' कह रहा है कि जब मुनिराज शुद्धोपयोग से च्युत होते हैं तो शुभ उपयोग की तीव्र भावना बनती है। उनके भाव लगते हैं कि जीव पूजा करे, उपासना करे, आराधना करे, भगवान् की वंदना करे। स्वयं भी करे और जो श्रावक हैं, उनको भी उपदेश देते हैं। इस समय जो आपके शुभराग की तीव्रता आ रही है, वहाँ लोभ कषाय भी बैठी हुई है। अनंतानुबन्धी में मत चले जाना। प्राणीमात्र का कल्याण हो, यह संज्जवलन लोभ भी उनके लिये हितकारी है, क्योंकि अप्रशस्त नहीं है। पर शुद्धोपयोग की अपेक्षा से आपके लिये बाधक भी है। परन्तु अशुभोपयोग में नहीं ले जा रहा, इसलिये साधक भी है।

भो ज्ञानी! बेटे ने आपको घर से निकाल दिया, अब क्या करोगे? 'ठीक है, बेटा! कोई बात नहीं। इतने ही दिन का संयोग था अपना। हम तो कहीं रह लेंगे, लेकिन आप अच्छे से रहना।' जब आप ऐसा कह लोगे, तो समझना कि वास्तव में चौथे गुणस्थान में हो। जब चौथे वाला ऐसा कह सकता है, तो छठवें वाला क्या कहेगा? एक भिण्डवाले आचार्य विमलसागर थे। उनको किसी मुमुक्षु भाई ने हाथ पकड़कर मंदिर से बाहर निकाल दिया। लेकिन मुनिराज ने कुछ नहीं कहा। वहाँ से थोड़ी दूर पर जंगल था। वहाँ जाकर बैठ गये। उन्होंने एक ही बात कही, 'अभी तो पंचमकाल लम्बा चलना है। कोई बात नहीं, इसने शरीर को ही तो पकड़ कर बाहर निकाला है। मेरी आत्मा के धर्म को तो नहीं निकाला।' कितनी बड़ी समता थी? लगा कि वास्तव में यह मुमुक्षु जीव बोल रहा है। यह पचास-साठ वर्ष पूर्व की भिण्ड की घटना है, जहाँ जाके बैठे थे। वो तीर्थभूमि नशिया के रूप में है।

भो ज्ञानी! मुनिराज को हाथ पकड़कर निकाला गया हो कि आप यहाँ मंदिर में नहीं रह सकते। सोचो, कितनी कलुषता जीव के अंदर आ सकती है? सामान्य दर्शनार्थी को भी आप नहीं हटा सकते। लेकिन मुनिराज की पंचमकाल में भी समता देखो। यह योगी क्या सोच रहे? भगवान् के मंदिर से तो आप निकाल सकते हो, पर मेरे मंदिर से निकालने की क्षमता तुम्हारे अंदर नहीं है।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज मुनिराज की ओर संकेत कर रहे हैं कि समता के बिना काय-क्लेश करना व्यर्थ है। इसका तात्पर्य उल्टा नहीं समझना कि काय-क्लेश तप करना छोड़ दो। तप तो करना, पर समता को साथ लेके चलना। उपवास किया, शरीर कमजोर है, जब भूख लगती है तो व्यक्ति को गुस्सा आती है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं "विषयकषाय के आहार का त्याग करो।" उपवास में मात्र भोजन का त्याग किया है और विषयकषाय के आहार का त्याग नहीं किया, तो लंघन है, उपवास नहीं है। उपवास तो भोजन के त्याग के साथ-साथ विषयकषाय का भी त्याग, प्रमाद का भी त्याग। 'मैं तो अध्ययन कर रहा हूँ।' भो ज्ञानी! अध्ययन करो, उसमें कोई दोष नहीं है, लेकिन उसमें भी समता रखो। अध्ययन ही क्लेश उत्पन्न करने लग जाये तो अध्ययन कर क्यों रहे हो? हमारा उद्देश्य क्या है? मौन रखे हो और मन में सोच रहे हो कि बोलते होते, तो हम तुम्हें बताते। ऐसे मौन से क्या प्रयोजन? ठीक है आपका मौन है, सामने वाले ने पुण्य का काम कर दिया, क्योंकि आपका मौन नहीं होता तो सामने वाले पर बरस ही जाते। उसका जरूर पुण्य था जिसको आप सुनाने वाले थे। परन्तु आपका तो पाप का उदय चल रहा है कि आपको ऐसी कषायें आ रही हैं।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि अध्ययन भी कर रहे हो, मौन भी रखे हो, पर समता से रहित श्रमण के यह सबकुछ भी सार नहीं है, कोई कार्यकारी नहीं है। समता के बिना द्रव्यलिंग धारण करना श्रमणाभास है। उनके किंचितमात्र भी मुक्ति का साधन नहीं है। इसलिये ध्यान रखना, चाहे भगवान् हो, गुरुमहाराज हों, धर्मायतन हो, मंदिर हो, लेकिन उन्हें निज पर्याय नहीं मानना है, निज परिणामों को संभाल कर चलना। जब हमारी गति बिगड़ेगी, तो कोई हमें उठाने नहीं आयेगा। आप शरीर को तो उठा सकते हो, लेकिन हम गिर गये तो उठाने की ताकत किसी में नहीं है। स्थितिकरण आप करोगे, लेकिन कितना करोगे? कोई बैल फिसल कर गिर जाये तो आप उठा सकते हो, लेकिन वह खड़ा तभी रह पायेगा, जब उसके पैर टूटे न हों, अन्यथा वह फिर गिर जायेगा। भैया! तुम्हारा सहारा तभी लगेगा जब हमारे पैर स्थिर होंगे। नहीं तो तुम उठा भी लोगे, परन्तु हम फिर गिर जायेंगे। यह जिनवाणी है, इसमें व्यवहारिकता मत लाना। यदि अंदर के हमारे पैर निर्मल हैं, तो धर्मात्माओं का स्थितिकरण, वात्सल्य हमारे काम में आ जायेगा। यदि हमारे पैर अंदर से टूट चुके हैं, तो आप कितना भी समझाओगे, समझ में नहीं आयेगा। परन्तु समझाना मत छोड़ना। यह आपका कर्त्तव्य है। यह सत्य है कि जब तक हमारे पैर स्थिर नहीं होंगे, तब तक तुम खड़ा नहीं कर पाओगे। बेटे में खड़े होने की क्षमता आ जाती है तो आपकी अंगुली का सहारा कार्यकारी होता है। यदि क्षमता नहीं होती है, तो अंगुली कुछ भी नहीं कर सकती है।

आचार्यभगवन् समंतभद्र स्वामी ने सुपार्श्वनाथ प्रभु का स्तवन करते हुये लिखा है कि हे प्रभु! जैसे माता अपने बालक के लिये हितकारी होती है, ऐसे ही आप तीनों जगत के माता

हो। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बड़ी गंभीर बात कह दी साधु के लिये श्रमणाभास। जैसे जैनियों की गाली है मिथ्यात्व, ऐसे ही साधुओं की गाली है श्रमणाभास यानि तुम श्रमण-जैसे लगते हो, पर हो नहीं। सीधी भाषा यह है कि इतनी निर्मल पर्याय को तुमने प्राप्त किया है, निर्मल रत्नत्रय को प्राप्त किया है, यदि उसको भी स्वीकार नहीं कर पाये, समता खो बैठे, तो तुम मुख से जिनवाणी कहते रहोगे, पर तुम्हारे मुख से जिनवाणी भी अच्छी नहीं लगती, क्योंकि आपमें वह चर्या देख नहीं रहे हैं। ज्ञान की स्थिति भिन्न है और ज्ञान प्रदान करने की शैली भिन्न है। यदि तुम्हारी शैली अनुपम नहीं है, तो शिष्य तुमसे प्रभावित नहीं होगा।

आचार्यकुंदकुंद स्वामी ने जो कठोर शब्दों का उपयोग किया है, लेकिन मधुरता है, वह वास्तव में उनका उपकार है। उपकार कर रहे हैं जिससे यह अंदर जाये। संपूर्ण कर्मकलंक के कीचड़ से रहित, ऐसे महानद के हेतुभूत परम समताभाव के बिना हे योगी! जंगल में वास करना और वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे तपस्या करना, गीष्मकाल में अतितीव्र सूर्य की किरणों से संतप्त पर्वत की चोटी पर बैठकर तपस्या करना, शीतकाल की रात्रि में दिगम्बर वेश में मैदान में तपस्या करना, संपूर्ण काय-क्लेशों को सहन करना, उपवास करना, अध्ययन में रत रहना, फिर भी कल्याण नहीं है, क्योंकि अंदर के कषाय के कीड़े को निकालना पड़ेगा। सकल कर्मकलंक-पंक से रहित, महा- आनंद के हेतुभूत यह समता का फल है।

भो ज्ञानी! यह समता छठवें गुणस्थान से प्रारंभ करना और इसका फल होगा सकल कर्म-पंक से रहित अवस्था और परम समता जब कहेंगे, तो सप्तम गुणस्थान से प्रारंभ करना। परम समता यानि निश्चय समता, लेकिन प्रारंभ आपको 6वें गुणस्थान से ही करना पड़ेगा। जब 6वें में समता नहीं बनेगी, तब 7वें में कैसे प्रवेश करोगे? उसका काल तो अंतर्मुहर्त है। दीक्षा के प्रथम काल में 6वाँ नहीं बनता, 7वाँ ही बनता है। 6वाँ तो गिरने का गुणस्थान है। जीव सीधा जाता है 7वें गुणस्थान में। जैसे ही संस्कार हुये, वह सीधे स्पर्श करता है अप्रमत्त दशा को, फिर बेचारा गिर पड़ता है। लेकिन चींटी की भाँति चलता है, भले गिर जाये, पर फिर उठकर चलता है। यह नहीं कि गिर गया तो गिरा रहूँ। फिर चलेगा। यह विषय व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों को लेकर चल रहा है।

जहाँ परमसमाधि लग चुकी है, अब अलग से सम्यक्त्व कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। परमसमाधि उसी के होती है, जिसके परम सम्यग्दर्शन होता है। आपका और महाराज का संबंध श्रद्धा-श्रद्धेय ही है। यदि कोई अनर्थ भी कर रहा हो, तो आप उसको ऐसे कहना-प्रभु! यह आपका कर्त्तव्य बनता है। लेकिन पहले स्वयं को संभाले रहना। आप स्वयं नहीं संभले तो दूसरे को क्या संभालोगे? इसलिये स्वयं में, सम्यक्त्व में दृढ़ता लाओ। यह नहीं कि "गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास"। व्यवहारसम्यक्त्व नहीं पल रहा है और

परमसम्यक्त्व की बात कर रहे हो। आप आये, नमोऽस्तु किया। जमीन में धूल थी वो कपडों में, हाथ में छप गई। आपने पुनः नमोऽस्तु किया लेकिन धूल झाड़ने पर दृष्टि रही, तो तुमने समय भी गंवाया, शरीर का श्रम भी किया, नमस्कार भी किया, पर भाव नहीं बनाये, तो उपयोगी नहीं है। लोकव्यवहार निभा लो, ठीक है, तुम्हारी वंदना लोकव्यवहार तक रही, पर वह बंध का ही कारण है, क्योंकि वह मात्र लोकव्यवहार के लिये है, परमार्थ के लिये नहीं है।

भो ज्ञानी! द्रव्यलिंग को धारण किया है, तुम्हें चौबीस घंटे एक ही विकल्प है कि यह कैसे? यह कैसे? जितने साधु यहाँ हैं, हम सबको सुधार कर रहेंगे। अरे! तुम तो पहले ही बिगड़ चुके हो, जब तुम्हारे मन में यह भाव आया कि सबको सुधार कर रहेंगे या फिर किसी को नहीं रहने दोगे। भो ज्ञानी! तू तो इतना बिगड़ चुका है, तेरे भाव इतने नीचे आ चुके हैं कि स्वयं सोच लो कौन-सा गुणस्थान चल रहा है। स्थूल रूप से कषाय से लगा लो। जीवकांड, कर्मकांड, क्षपणासार पढ़ लो। भैया! द्रव्यानुयोग के साथ करणानुयोग का सतत अभ्यास जरूरी है। करणानुयोग नहीं जानोगे तो द्रव्यानुयोग तुमको खोखला कर देगा।

भो ज्ञानी! निधत्ति-निकाचित कर्मबंध श्रावकों भर को नहीं होता है, मुनियों को भी होता है, यदि मुनिराज ने गुरु की असादना कर दी, निर्ग्रन्थ वेश की असादना कर दी, जिनेन्द्रवाणी के विपरीत बोल दिया। वह यह न सोचें कि मैं तो मुनि बन गया तो सबसे बच गया। आप किसी भी वेश में हो, चाहे आप देशव्रती हो, महाव्रती हो, चाहे उपचार से महाव्रती हो, लेकिन निधत्ति-निकाचित तो सबको बंधेगा और ध्यान रखना, यह देव-शास्त्र-गुरु के सान्निध्य में बंधता है और इसकी महिमा है कि इसे भोगना पड़ता है। कोई काम नहीं आयेगा। हमारे निमित्त से आपने इनकी अवहेलना कर दी, हम तुम्हारे काम नहीं आयेंगे। लेकिन तुमने मुनि की अवहेलना की है, तो तुम्हें नियम से कर्मबन्ध होगा। भले तुमको हमारे प्रति राग है, यह राग तुम्हारे काम में नहीं आयेगा। तुमने ऐसे कर्म का बंध कर लिया जिसका उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण कुछ भी नहीं होता है। यानि वो कहता है कि मैं उदय में आऊँगा, फिर तुमसे मिलूँगा।

भो ज्ञानी! कुछ प्रकरण (केस) ऐसे होते हैं जिनकी कहीं सुनवाई नहीं होती। निधत्ति-निकाचित भी ऐसा ही केस है। शेष कर्मों में आप उपवास, प्रायश्चित्त आदि कर सकते हो। निधत्ति-निकाचित कर्म का बंध पंचपरमेष्ठी की अवहेलना मात्र से होता है। आश्चर्य होता है कि जीव इतना आगम पढ़ता है, स्वाध्याय करता है, सब कुछ करता है, पर कषाय की महिमा विचित्र होती है। वो सबकुछ भुला देता है। गलत काम करने के पश्चात एकमात्र उपाय उन्हीं पंचपरमेष्ठी की आराधना है, औरकुछ नहीं। इसलिये कह दिया श्रमणाभासी। यदि समता नहीं है, तो श्रमणाभासपन है। इसलिये समता ही आगम का मूल मंत्र है और साधुता की पहचान है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 125 **नियमसार** **कलश 202**

उत्थानिका : स्थायी सामायिक धारी कौन?

गाथा : विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तो पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥ 125॥

संस्कृत छाया : विरतः सर्वसावद्ये त्रिगुप्तः पिहितेन्द्रियः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने॥ 125॥

अन्वयार्थ : (सर्व सावद्ये विरतः) जो संपूर्ण सावद्य-योग से विरत (त्रिगुप्त) तीन गुप्ति से सहित और (पिहितेन्द्रियः) इंद्रियों के व्यापार से विमुख हैं (तस्य) उनके (स्थायिसामायिकं) स्थायी सामायिक है (इति केवलिशासने) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने गाथा 124 में यह संकेत दिया कि समता के अभाव में व्रत, नियम, मौन, अध्ययन आदि सब निष्फल हैं। हमें समता के स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। शांत होकर बैठने का नाम समता नहीं है। भद्र मिथ्यादृष्टि जीव इतना शांत होता है कि घानी में भी पेलो पर चीं भी नहीं करता, फिर भी समता नहीं है। वहाँ अनंतानुबन्धी मान कहता है कि देखो, यदि तूने आवाज की, तो लोक में हँसी होगी। तू शांतभाव से सहन करेगा, तो लोक में प्रशंसा का पात्र हो जायेगा। मानकषाय के उदय में क्रोधकषाय का उदय नहीं आता। एक कषाय के साथ दूसरी कषाय नहीं रहती। एक समय में एक ही कषाय का उदय रहता है। जब मान का माधुर्य झलकता है, वही निमित्त दूसरों को क्रोध के कारण होते हैं और वे ही निमित्त तुझे सुख के कारण महसूस होते हैं। क्यों? उसमें तेरा पोषण चल रहा है।

भो ज्ञानी! सिद्धान्त को समझना। शांत बैठे रहना, मुस्कराते रहना, आँख बन्द कर लेना, इन सबके होने पर भी समता नहीं कही जा सकती। तो फिर समता कौन-सी वस्तु है? अभी तक तो हम यह समझते थे कि समता की जिनागम में परिभाषा नहीं है। संपूर्ण भूतों यानि प्राणियों के प्रति जो साम्यता है, आर्त्त-रौद्र ध्यानों का जहाँ अभाव है, उसका नाम समता है। जहाँ आर्त्त-रौद्रध्यान है, वहाँ शांत होने पर भी समता संज्ञा नहीं है। क्योंकि समता, साम्यता, सहजता, यह सब एकार्थवाची है। संयम क्या कह रहा है? जो संयम में शुभ भावना है, उसका नाम है समता। संयम में भावना नहीं जा रही है, तो सामान्य समता कहाँ? और चारित्रभूत समता का प्रारंभ 6वें गुणस्थान से शुरू हो जाता है और वीतराग समता का उदय 7वें गुणस्थान

से प्रारंभ होता है। व्यवहार चारित्र, व्यवहार समता और निश्चय चारित्र, निश्चय समता। इसलिये चारित्र की जो परिभाषा है, वो समता ही है।

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो, अप्पणो हु समो॥ प्र.सार 7॥

अंतिम पद पकड़ो। जो आत्मा के समता परिणाम हैं, उसी का नाम चारित्र है। वह कैसे हैं? मोह,क्षोभ से रहित परिणाम। सामायिक पाठ में मुनियों का पाक्षिक, वार्षिक प्रतिक्रमण होता है, उसमें यह.....

जीविय मरणे लाहालाहे संयोग विप्पजोगे य।
वंधुरिय सुह दुक्खादो समदा सामाइयं णाम।।

दस-बारह बार तो दिन में बोलते ही होंगे। क्यों? जब प्रतिक्रमण करते हैं, जितने दण्डक आते हैं, सबमें यह पंक्ति आती है। यह सामायिक की परिभाषा चल रही है। जीवन में, मरण में, लाभ में, अलाभ में, संयोग में, वियोग में, सुख में, दु:ख में साम्यभाव का होना ही समता है। बंधु, अरि, शत्रु, मित्र सबमें साम्यता का होना ही समता है। इसलिये नीचे के गुणस्थानों के लिये तो अभ्यास दशा है, 6वें गुणस्थान से तुम्हारी संयम दशा है। सामायिक-चारित्र का प्रारंभ कहाँ से होता है? ''सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यातमिति चारित्रम्। '' (18/9 त. सू.) यह सामायिकचारित्र है, जो 6-वें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। चारित्र संज्ञा की दृष्टि से, पाँच संयम की दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता कहते हैं कि जो पाँच संयम कहे हैं, वह 6वें गुणस्थान से प्रारंभ होते हैं। मार्गणा की अपेक्षा से देशसंयम, संयमासंयम जिसे कहते हो आप। मार्गणा में असंयम को भी संयम कहते हैं। आप लोग भी संयमी हो। कौन से संयमी? असंयम नाम के संयमी हो। मार्गणा की अपेक्षा से संयम के पाँच भेद नहीं हैं, संयम के सात भेद हैं। जहाँ पाँच प्रकार का संयम की बात है, वह 6-वें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। इस अपेक्षा से समता का प्रारंभ 6वें गुणस्थान से होगा।

इसका नाम सामायिकचारित्र है और सामान्य भाषा में अपने-अपने गुणस्थानों में कषाय की मंदता ही समता है। जिस गुणस्थान में जीव है उस कषाय की मंदता ही व्यवहार भाषा में समता है। परन्तु सिद्धान्त कहेगा कि जब तक आर्त्त-रौद्रध्यान रहेगा, तब तक 'समता' संज्ञा नहीं है। मुनिमहाराज के 6वें गुणस्थान में आर्त्तध्यान के तीनों पाये होते हैं और रौद्रध्यान मात्र पंचम गुणस्थान तक ही होता है। मुनिराज के निदान नामक आर्त्तध्यान नहीं होता है। यदि निदान आर्त्तध्यान बन गया, तो उनका गुणस्थान गिर जायेगा। वहाँ पर तो निर्विकल्प और विकल्प धर्म्यध्यान चलता है, सातवां और छठवां।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जहाँ साम्यता है, वहीं संयम है अन्यथा संयमाभास। 'अमृतशीति' ग्रन्थ में आचार्य योगेन्द्र देव सूरि कह रहे हैं....

गिरिगहन गुहाद्यारण्य शून्य प्रदेश स्थितिकरण निरोधध्यान तीर्थोपसेवा।
प्रपठनजप हो मै ब्रह्मणो नास्ति सिद्धिः मृगय तदपरं त्वंमोः प्रकारं गुरम्यः॥ 59॥

आज बहुत से लोग कहने लगे हैं कि जंगल में रहो। जंगल में रहने मात्र से साधना हो जायेगी क्या? जंगल में बहुत सारे जीव रहते हैं, सब साधु हो जायेंगे क्या? जंगल में रहना साधुता नहीं है। आचार्य पद्मनंदी महाराज ने 'पद्मनंदी विंशतिका' में लिखा है कि पंचमकाल में जंगलनिवास का निषेध है, क्योंकि तुम्हारे पास उत्तम संहनन नहीं है। लेकिन लगता है कि गुण भद्रस्वामी के काल के पूर्व तक जंगल में साधु रहते रहे हैं। बड़े खेद के साथ उन्होंने लिखा है 'आत्मानुशासन' में कि अहो! अब वह सिंह नगर की ओर आने लगे हैं। सिंह से संकेत दिगम्बर मुनि से है। क्या करें? हीन संहनन की विडम्बना है कि आपके बीच रहना पड़ रहा है।

भो ज्ञानी! आगम में स्पष्ट कथन किया है कि चतुर्थकाल में भी शून्यस्थान, तीर्थभूमि, धर्मशाला, मंदिर आदि में मुनि रहते थे। जहाँ पर स्त्री, पुरुष, नपुंसक, पशु, बच्चों का गमनागमन न हो, वहाँ साधु के लिये वसतिका (ठहरने का स्थान) होना चाहिये। कोई इस प्रकार कहता है कि जंगल में रहो तो इसको आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने बड़े अच्छे से लिया है "ग्रामो अरण्य निवासो अनात्म दर्शना"। अनात्मदर्शी यह विकल्प करता है कि मैं जंगल में रहूँ, कि ग्राम में रहूँ। इन दोनों विकल्पों ने पूरी उम्र नष्ट कर डाली। आत्मदर्शी ग्राम और जंगल में भेद न करके अपने आत्मतत्त्व की ओर दृष्टिपात करें। वही मोक्षमार्ग है। सामर्थ्य है, तो जंगल में निवास करो, लेकिन इस काल में तुम्हारे पास शक्ति नहीं है। दूसरी बात है विकलत्रय जीवों की प्रचुरता। जैसे-जैसे काल बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे इनकी वृद्धि होती जायेगी। उत्तम कालों में विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति कम होती थी। जैसे-जैसे पंचमकाल की वृद्धि होती जायेगी, विकलेन्द्रिय जीवों की वृद्धि होती जायेगी। म्लेच्छ खंड, श्रेष्ठ क्षेत्र तथा भोगभूमि में भी विकलत्रय जीव नहीं होते। भोगभूमि में जलचर भी नहीं होते।

भो ज्ञानी! इस समय जंगल में निवास में शायद हिंसा ज्यादा होगी विकलत्रय की। यदि आप उत्तम संहनन के धारी हो, एक वृक्ष के नीचे बैठ जाओ, चार महिने उठो ही नहीं, अन्यथा आप चलेंगे तो जंगल में मार्ग कहाँ होगा? कहो कि चट्टानों पर चलेंगे, तो वहाँ पर शैवाल होते हैं, वह एकेन्द्रिय है और उसमें जीव भी हो जाते हैं और सर्वत्र चट्टानें नहीं होती। और दूसरी बात कि आगम में जिसका निषेध किया है, उसे हम कैसे स्वीकार करें? इसलिये आगम

में पंचमकाल के साधकों के लिये आज्ञा यह है कि आप शून्यस्थान, नगर आदि में रहें।

'पद्मनंदी पंचविंशतिका' में एक दृष्टान्त दिया है कि एक शत्रु योद्धा आपके सामने खडा है। आप कहते हो कि इस योद्धा के शरीर के अंग-अंग को, अंगुली-अंगुली को छेदूँगा। शत्रु ने सामने से बाण छोड़ा और आपके सीने पर मार दिया, आप अंगुली ही छेदते रहे। ऐसे ही, हे मुनिराज! उत्तरगुण तेरे प्राण नहीं है, सीना नहीं है, अंगुलियाँ हैं। अंगुलियों के छेदन के पीछे शत्रु ने बाण छोड़ा, सीने में लग गया। उत्तरगुणों की साधना में कहीं मूलगुणों से विचलित हो गये तो हे योगी! तेरे संयम के प्राण चले गये। इसलिये पहले मूलगुणों पर ध्यान दो, फिर उत्तरगुणों पर जाओ। सामायिक करना मूलगुण है, उपवास करना उत्तर गुण है। सामायिक निर्मल हो रही है, तो उपवास भी करो। आपने उपवास किया, सो गये, सामायिक नहीं हुई, तो आगम कहेगा कि पहले मूलगुण को पालो, फिर उपवास करो। ऐसे ही योग धारण करना शीतयोग, ग्रीष्मयोग आदि यह उत्तरगुण हैं। योग तो धारण कर लिया, पर योग संभला नहीं, तो योग 'योग' नहीं है।

भो ज्ञानी! आगम बड़ा सहज है। इसमें सब व्यवस्थायें कही जा चुकी हैं। अब कोई चाहे कि मैं कुछ व्यवस्था करूँ लिखने की, तो यह तुम्हारा व्यर्थ का पुरुषार्थ है। यदि आप निज के परिणामों की निर्मलता के लिये सहज में लिख रहे हो, तो ठीक है। परन्तु किसी के सुधार की दृष्टि से तुम लिखोगे तो क्या सुधारोगे? अपने परिणामों की निर्मलता के लिये आचार्यों ने ग्रन्थों का सृजन किया है। प्रत्येक ग्रन्थ में आपको यही लिखा मिलेगा 'परम्पराचार्य'। बहुत से लोगों के मन में शंका बैठी रहती है कि महाराज तो अब जंगलों में नहीं रहते, इसलिये मैं महाराज नहीं मानता हूँ। उस शंका को जिज्ञासा में परिवर्तित कर लेना, क्योंकि शंका सम्यग्दर्शन में दोष है। आगम में शंका नहीं करना, जिज्ञासा कर लेना। परन्तु आप शंका को बहुत ज्यादा आगे ले गये तो वह मिथ्यात्व में भी ले जा सकता है। शंका के ऊपर शंका, प्रतिशंका, आशंका, विशेषशंका अथवा शंका के नजदीक आशंका कह रही है कि आशंका में 'आ' जुड़ा है, जो किंचित अर्थ में आता है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि पर्वत की चोटी पर, बंद गुफा में, जंगल, शून्यप्रदेश में स्थित होकर इंद्रियों का निरोध कर रहा है, ध्यानतीर्थ की सेवा में लगा है और अच्छी तरह से अध्ययन भी चल रहा है। अनेक प्रकार का जाप, अनुष्ठान, होम आदि चल रहा है। इन सबके करने पर भी आत्मस्वरूप की सिद्धि नहीं है। क्यों? समता नहीं है। नाना विकल्पों में जीना, यही तो विषमता है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं, हे मुनि! गुरु के पास जाकर मार्ग खोजो अर्थात् इन सबसे भिन्न जो है, उसको तू गुरु से पूछ। जिसके लिये आपने मुझे साधु

वेश दिया है, वो वस्तु क्या है? हे प्रभु! आपकी जय बोलना, अपनी जय बुलवाना, इतना ही धर्म नहीं है। धर्म कुछ और है। अन्यथा प्रपंचों में जाने का कोई दूसरा कारण नहीं है। आपसे हमने कहा कि चलो, आपको सुन्दर स्थान दिखाते हैं। आपने जल्दी-जल्दी देख लिया। अब क्या करोगे? पूछा, महाराज! अब बताओ क्या करें? मन तो ऐसा है, व्यंतर जैसा। आगम में उदाहरण आया है कि एक व्यक्ति ने व्यंतर सिद्ध कर लिया। उससे जो भी कहा, उसने कर दिया और बोला कि अब बताओ क्या करें? अब सिद्ध करनेवाला परेशान। उसको नये काम सोचने का भी समय नहीं मिलता था। बोला कि अब क्या करूँ? अच्छा उपद्रव मोल ले लिया। व्यंतर बोला—काम बताओ, नहीं तो हम आपको खाते हैं। वो विवेकी था। उसने कहा कि सुनो हमारी बात। हमने आपको सिद्ध किया है, आप हमारा आदेश मानोगे? व्यंतर बोला कि हाँ, आप आदेश करो। बोले—जब तक दूसरा काम नहीं दूँ, तब तक यह जो खंबा खड़ा है इसपर चढ़ो, उतरो। संकट टला। भैया! ऐसी ही मन की दशा है। आपने हमें ब्रह्मचारी बनाया, सो अच्छा लगा। कुछ दिन अच्छा लगा, फिर कहने लगे कि इसमें तो हम पल गये। ठीक है, आपने क्षुल्लक बना दिया, ऐलक बना दिया। यह भी ठीक है। अब फिर लगता है कि औरकुछ होना चाहिये। तो मुनि बना दिया। इसके बाद अब क्या? अब कोई काम नहीं दिखता। जैसे व्यंतर को खंभे पर चढ़ने-उतरने कह दिया था, जिनवाणी कहती है कि श्रुतस्कंध पर चढ़ो। हे चेतन! मन बंदर है, इसको फल चाहिये, अन्यथा यह बगीचे को उजाड़ देगा। इसको श्रुतस्कंध पर चढ़ा दो जिसमें नय-प्रमाण की शाखायें लगी हुई हैं। भेदविज्ञान के मधुर फल चखेगा, स्वात्मानुभूति की अनुभूति करेगा, तो यह तेरा मनबंदर संयम के उद्यान को नहीं उजाड़ेगा। अन्यथा यह नियम से संयम के उद्यान को उजाड़ेगा, क्योंकि बंदर का काम तो उजाड़ना होता ही है। लेकिन जब फल खाता है, तब नहीं उजाड़ता।

भो ज्ञानी! ब्रह्मचर्य के प्रभाव से क्षयोपशम बढ़ जाता है, तो उसका उपयोग होना चाहिये। हे योगी! तेरा क्षयोपशम बढ़ा है, संयम की शक्ति बढ़ी है, तो ध्यान की अग्नि से उसे ओज बनाओ या फिर इतना अध्ययन करो कि जिससे तुम्हारे परिणाम इधर-उधर न जा सकें। अन्यथा सत्य है कि एक सीमा तक मार्ग दिखा, फिर नहीं दिखता है। इसलिये साधु भटक जाते हैं। वो मार्ग दिखाना आचार्यों को अनिवार्य है। ध्यान की परम्परा बहुत जरूरी है। एक बार ध्यान का रस लग गया, तो आपको दूसरी वस्तु पसंद नहीं आयेगी, क्योंकि निर्वाण का हेतु ध्यान है, ज्ञान नहीं है। ध्यान का हेतु ज्ञान है, ऐसा 'रयणसार' में लिखा है। भैया! ज्ञान की एकाग्रता, वो चैतन्य-चारित्र है और वो ही ध्यान है। ज्ञान की एकाग्रता का नाम ध्यान है। आचार्यमहाराज ने 'गुरु' शब्द जोड़ा है। बिना गुरु-उपदेश के कभी भी ध्यान मत करना। ध्यान के प्रत्येक

ग्रन्थ में गुरु-उपदेश लिखा मिलेगा। क्योंकि वो आपकी सीमा के अनुसार ध्यान करने देंगे। आपके लिये जो ध्यान संभव नहीं था और आप करने बैठ गये, तो मस्तिष्क विचलित हो सकता है। ध्यान जबर्दस्ती ज्यादा नहीं करना।

भैया! जब भी ध्यान करने बैठो, उस क्षेत्र की दिग्वंदना जरूर करें, क्योंकि ध्याता के सामने दैविक शक्तियां स्वतः आती हैं और वह आपको परेशान करेंगी, लोभ दिखायेंगी। कहीं लोभ में साधक आ गया, तो संयम गया। दसवाँ पूर्व विद्यानुवाद पूर्व है। उसका अध्ययन करने वाला योगी संयम से च्युत हो जाता है। फिर संभलता कब है? जब ग्यारहवां पूर्व पढ़ता है। पर भ्रष्ट कब होता है? रोहिणी आदि महाविद्यायें आके सामने खड़ी हो जाती हैं, हे स्वामी! आपने मुझे क्यों बुलाया? और जो योगी लोभ में आके कुछ बोल पड़ा, बस, गया संयम। लेकिन जो स्थिर बना बैठा रहा, पार हो गया। जितने रुद्र होते हैं, सब मुनिराज होते हैं, लेकिन विद्या, देवता, तंत्रमंत्र आते हैं तो भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये साधक को विद्या तंत्र-मंत्र से दूर रहना चाहिये। आत्मतंत्र ही सबसे बड़ा मंत्र है। ऐसे ही मुनि को जब अंदर नहीं दिखता है, तो बाहर दौड़ता है। इसलिये अंदर की विद्या बताना बहुत जरूरी है। जीवन भर बिना काम के आदमी कैसे जी सकता है? ग्रन्थ छुड़ा लो, जाप छुड़ा लो और बिठा दो, कहो कि दिन भर निकालो, तो वह 'नहीं' कहेगा। यह आलम्बन है। लेकिन श्रेष्ठ साधना का अभ्यास तो वही है कि ग्रन्थों का भी आलम्बन छूट जाये।

हे योगीन्द्र! उस विद्या को पूछो गुरु से, जो आत्मा को आत्मा में लगाने वाली विद्या है। यह पदस्थ ध्यान का कथन कर रहे हैं। नहीं बीजाक्षर इतना महान है कि संपूर्ण अविद्या का नाश हो जाता है। लेकिन ज्ञान से शांति नहीं मिलती है, उसमें तो लोभ बढता है। ज्ञानी बनना, परन्तु ज्ञान का उपयोग ध्यान में लगा दो तो फिर शांति-ही-शांति है। आगम में यह भी लिखा है कि कब तक पढ़ोगे? काल कम है, बुद्धि दुर्बुद्धि है, इसलिये उतना सीख लो जिससे जन्म-मरण का क्षय हो जाय। उतना सीखने के लिये बहुत ज्ञान नहीं चाहिये। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं .....

अनशनादितपश्चरणैः फलं, समतया रहिस्य यतेर्न हि।
तत इदं निजतत्त्वमनाकुलं, भज मुने समता कुलमंदिरम्॥ कलश 202॥

हे यति! अनशनादि बारह प्रकार का तप समता से रहित है तो उसका फल नहीं है। यति जब इतना कर रहा है और फल उसको नहीं मिल रहा है, तब सोचो कि श्रावक की क्या दशा होगी? आचार्यमहाराज ने यति से स्पष्ट कह दिया कि समता सखी को साथ लेकर कुछ भी करना। अंजना के साथ बसंततिलका सखी थी, तो उसकी रक्षा हो गई। हर स्थिति

में खड़ी हो जाती थी। देखो, इतनी स्वामीभक्ति कि सिंह के सामने डंडा लेकर खड़ी हो गई। जबकि जानती थी कि मैं इसका क्या कर पाऊँगी। सिंह जब गुफा के द्वारे पर आया, तो लाठी लेकर खड़ी हो गई थी बसंततिलका कि मेरी स्वामिनी को कोई कष्ट नहीं होना चाहिये। बस, समता-सखी कहती है कि मेरी स्वामिनी आत्मा को कोई कष्ट नहीं होना चाहिये। मुझे साथ में लेके चलो। सखी छूट गई होती, तो बताओ किससे चर्चा करती अंजना? इसलिये समता-सखी को लेकर चलो। भो चेतन आत्मा! अनशन आदि तो करना, पर समता के साथ। यह मत सोचना कि जब समता आ जायेगी, तब करोगे। सो वो कबहूं नहीं आ रही। जब तक राग रहेगा, तब तक उपवास नहीं करने। यह बताओ, परीक्षा कैसे होगी कि राग छूटा या नहीं? भैया! तुम उपवास करना, मत छोड़ देना, लेकिन उपवास के साथ समता को लेके जीना। उपवास कर रहा है, अच्छा कर रहा है। लेकिन उपवास के साथ समता को निमंत्रण देना। जैसे आपके घर में कोई काम होता है तो अड़ोस-पड़ोस में निमंत्रण देते हो। जिस दिन उपवास करो, उस दिन समता को निमंत्रण दे देना। इसलिये तो लिखा है कि चैत्यालय में रहो, सत्संगति में रहो, धर्मामृत का पान करो। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में भी यही लिखा है। आपने उपवास कर लिया और दुकान पर जाकर बैठ गये और कहो कि समता आ जाये। घर में कोई काम बिगड़े, सो चिल्ला पड़े। पहले उस काम से चिल्लाये, थोड़ी देर बाद याद आ गया कि हमाओ तो उपवास है। सो और ज्यादा चिल्ला पड़े, बोले, तुमने हमारी समता भंग कर दी। सो दोबार चिल्लाये। इसलिये मार्ग यही है कि निमित्तों से दूर रहो, समता तभी आयेगी। उपादान को नहीं संभाला और मंदिर में ही ख्याल आ गया कि अरे! कल उनने ऐसी कही थी। भूख में गुस्सा और तेज हो गई। इसलिये ध्यान रखना भैया! समता से रहित का फल नहीं है। इसलिये यहाँ पर निजतत्त्व अनाकुल है। हे मुनि! तू उसे भज। "समता कुलमंदिरम्"। जब बाहर कोई उपद्रव होता है, तो घर की ओर भागते हो। ऐसे ही जब विषमता आ जाये, तो समता के घर में घुस जाओ। बस, हो गया काम।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं 125वीं गाथा में कि वृद्ध हो जाओ संपूर्ण सावद्य क्रियाओं से और ऐसे ही नहीं, तीन गुप्तियों से युक्त होकर के। पाँचों इंद्रियों को संवृत कर लो, उनको विषयों में मत ले जाओ। बिना संयम स्वीकार किये सम सामायिक का स्थान नहीं है। ऐसा कुंदकुंद स्वामी कह रहे हैं। ऐसा केवली के शासन में कहा है। जब तक चारित्र नहीं है, इंद्रिय व मन पर नियंत्रण नहीं है। साम्यभाव तब तक आने वाला नहीं है। इसलिये यहाँ असंयमी की कोई चर्चा नहीं है। सामायिक समयसार है और श्रावक समयसार का उपासक है, ऐसा 'पुरुषार्थसिद्धि-युपाय' में आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने स्पष्ट लिखा है। सामायिक का

फल देखना है तो 'भगवती आराधना' पढ़ लो। वो सामायिक नहीं है, सामायिक का फल है और फल का फल निर्वाण है, सिद्ध-अवस्था है।

भैया! आम का दल और आम की गुठली। तो दल से होते हैं फोड़े और गुठली फोड़ने से जो गिरी निकलती है, उससे ठीक होते हैं। इसलिये यह ध्यान रखना, यह पूजा का दल और राग-मोह की गुठली इनसे पार हो जाओ, तो अंदर की गिरी मिल जायेगी। वह है शुद्ध-अवस्था चिद्रूप परमहंस अवस्था। इसलिये सावद्य क्रियाओं से वृद्ध, तीन गुप्तियों से युक्त, इंद्रियों के व्यापार से रहित, तीन गुप्तियों में गुप्त, सकल इंद्रियव्यापार से रहित जो मुनि है, उसके लिये सामायिक स्थाईपने को प्राप्त होती है। इतना नहीं है तो भैया! सामायिक चारित्र नहीं है। श्रद्धा है, भाव उसे सता रहा है, फिर भी दु:खित है और सोच रहा है प्रभु! कब मैं इससे निवृत्त होऊँ, यह मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसी श्रद्धा नहीं है तो उसे सम्यग्दृष्टि मत कहना। क्योंकि विकारों में लिप्तता है तो चारित्रमोहनीय का उदय चल रहा है। यदि श्रद्धा नहीं है, तो दर्शनमोहनीय का उदय चल रहा है। आप उस दोष को दोष मानते रहना, तो कभी-न-कभी दोष छोड़ने के भाव आयेंगे और जिसने दोषों को दोष ही नहीं स्वीकारा, वो कभी नहीं छोड़ सकेगा।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं यहाँ पर एकेन्द्रिय आदि प्राणियों के समूह के क्लेश हेतु-भूत आपका असंयम और दूसरे को पीड़ा। आप संयमित हो जाओ तो दूसरे की पीड़ा अपने आप शान्त हो जाये। एकेन्द्रिय आदि जीवों के क्लेश का हेतु, जो संपूर्ण सावद्य व्यवसाय है उससे रहित, संपूर्ण प्रशस्त और अप्रशस्त शरीर, वचन और मन के व्यापार से रहित, ऐसा योगी त्रिगुप्त है। परम संयम नाम का महा मुमुक्षु है। असंयमी 'महा मुमुक्षु' संज्ञा को प्राप्त नहीं करता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन नाम वाली पांच इद्रियों के विषयों के ग्रहण का अभाव रहने से संकुचित इंद्रिय वाले हैं, इंद्रियों का निरोध करने वाले हैं, उन परम वीतरागी, संयमी, महामुमुक्षु साधु के निश्चित रूप से सामायिक व्रत स्थायी होता है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 126 **नियमसार** **कलश 203-208**

उत्थानिका : परम माध्यस्थ भाव में स्थित परम मुमुक्षु का स्वरूप

गाथा : जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥ 126॥

संस्कृत छाया : यः समः सर्वभूतेषु स्थावरेषु त्रसेषु वा।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने॥ 126॥

अन्वयार्थ : (यः स्थावरेषु वा त्रसेषु) जो स्थावर और त्रस जीवों के प्रति (समः) समस्वभावी है (तस्य) उसके (सामायिकं स्थायि) सामायिक स्थायी है (इनि केवलिशासने) ऐसा केवलीभगवान् के शासनकाल में कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! परमसमाधि अधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पूर्व गाथा में परम मुमुक्षु का कथन करते हुये संकेत दिया कि जो संपूर्ण सावद्य क्रियाओं से परे है, तीन गुप्तियों से गुप्त है, जो इंद्रियजयी है, ऐसे निर्ग्रन्थ योगी के ही सामायिक-स्थान होता है। ऐसा भगवान् केवली जिनेन्द्र के शासन में कहा है। इसके अलावा अव्रतदशा में समताभाव, सामायिक-चारित्र संभव नहीं है। कलश में इसी बात को पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं....

इत्थं मुक्त्वा भवभयकरं सर्व सावद्यराशिं
नीत्वा नाशं विकृतिमनिशं कायवाङ्मानसानम्।
अन्तः शुद्ध्या परमकलया साकमात्मानमेकं
बुद्ध्वा जन्तुः स्थिरशममयं शुद्धशीलं प्रयाति॥ कलश 203॥

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि इस प्रकार के भव के भय को उत्पन्न करने वाली संपूर्ण सावद्य क्रियाओं को जिन्होंने छोड़ दिया है। सावद्य यानि हिंसाजन्य क्रियायें, जिसमें हिंसा-रूप प्रवृत्ति होती है। वह संपूर्ण क्रियायें सावद्य कहलाती हैं। महाव्रती जो होते हैं, वे षट्काय जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं। किसी भी काय के जीव की विराधना कृत, कारित, अनुमोदना से नहीं करते हैं। न स्वयं करते हैं, न करवाते हैं, न करने वाले की अनुमोदना करते हैं। यह है सावद्य क्रिया का त्याग। भो ज्ञानी! श्रावक का जो चारित्र होता है, वो सावद्य क्रिया से युक्त होता है। आपका जो संयम है, सावद्य है। इसलिये समन्तभद्रस्वामी ने श्रावक

को आराधना, पूजन करने के लिये लिखा है। यद्यपि अरिहन्त की पूजादि करना सावद्य होता है, लेकिन पुण्य की बहुत प्राप्ति होने के कारण करणीय है। जैसे अल्प विष की कणिका सागर के पानी को दूषित नहीं कर पाती, ऐसे ही अल्पहिंसा पूजा-आराधना में होती है। आप नमस्कार करोगे तो उसमें भी हिंसा होगी क्योंकि योग चल रहा है। आप कहो कि मैं जल चढ़ा रहा हूँ, तो आप जल लायेंगे, गर्म करेंगे, प्रासुक करेंगे, तो हिंसा तो होगी ही। आप कहें कि हम सूखे चावल चढ़ा लेंगे तो भो ज्ञानी! उसमें भी हिंसा होगी। इसलिये आप प्रासुक जल से धुले हुये चावल ही चढ़ाना। ऐसा नहीं कि वर्षा के पानी से धो लिया। इन संपूर्ण सावद्य क्रियाओं से मुनिचर्या पृथक् होती है। इसलिये श्रावक की चर्या और मुनि की चर्या में एकता नहीं है, तो अंतरंग की चर्या में एकता कैसे संभव है? श्रावक चाहते हैं कि व्यवहार की क्रिया मुनि-जैसी करना नहीं पड़े और अंतरंग क्रिया हमारी मुनि-जैसी हो। बस, इतना समझ में आ जाये, तो शुद्धोपयोग और शुभोपयोग की बातों की जो चर्चा है। वह समाप्त हो जाये। व्यवहार की क्रिया की बात करेंगे तो कपड़ा उतारना पड़ेंगे। इसलिये अंतरंग की क्रिया एक-सी कर लो। भो ज्ञानी! कहने से कोई क्रिया नहीं होती है, वो होने से ही होती है। इसलिये एक सम्यग्दृष्टि श्रावक का शुभोपयोग और एक सम्यग्दृष्टि महाव्रती का (शद्धोपयोग नहीं कह रहे हैं) इन दोनों के शुभोपयोग में भी महान अंतर है। क्योंकि श्रावक का शुद्धोपयोग सावद्य युक्त है और इसका शुभोपयोग सावद्य नहीं है। इन दोनों के आस्रव में भी महान फर्क है।

आचार्य उमास्वामी महाराज कहते हैं कि अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक की अपेक्षा व्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक की असंख्यात गुणश्रेणी कर्म की निर्जरा होती है। यहाँ पर अव्रती श्रावक अर्थात् सामान्य श्रावक को व्रती श्रावक से अलग रखा है। सामान्य श्रावक अर्थात् मात्र सम्यग्दृष्टि है, पर व्रती नहीं है। श्रावक से तात्पर्य व्रती से है। श्रावक के 11 पद होते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि मात्र का कोई पद नहीं होता है। ग्यारह प्रतिमा जो हैं, वह श्रावक की हैं। पहली प्रतिमा से श्रावक शुरू हो जाता है। गृहस्थश्रावक अविरत-सम्यग्दृष्टि को कहा जाता है। वास्तव में श्रावक तो प्रतिमाधारी की ही संज्ञा है। सामान्यतया श्रावक के तीन भेद हैं। पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव पाक्षिक श्रावक है। वह जिनशासन का पक्ष रखता है, पर उसके कोई व्रत नहीं है। पहली प्रतिमा से नैष्ठिक श्रावक प्रारंभ हो जाते हैं। दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी 'साधक' की श्रेणी में आते हैं। पहली से नवमीं प्रतिमाधारी नैष्ठिक श्रावक हैं। भो ज्ञानी! मात्र जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन करना पहली प्रतिमा नहीं है अथवा मात्र संयम का पालन भी पहली प्रतिमा नहीं है। जो दर्शनप्रतिमाधारी है, वो देशव्रती है। अविरत सम्यग्दृष्टि देशव्रती भी नहीं है। पहली प्रतिमा में पंचमगुणस्थान बनता है। और सम्यक्त्व मात्र

होने पर चतुर्थ गुणस्थान होता है। कारण समझना। जो देशव्रती दर्शनप्रतिमाधारी होगा, वह निरतिचार पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करता है और प्रतिज्ञापूर्वक उनको स्वीकार करता है, अभक्ष्य का त्यागी होता है। लेकिन जो जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती है, वह कदाचित् अतिचार भी लगा लेता है। उसके व्रत में अतिचार भी लगते हैं। उसने बुद्धिपूर्वक व्रत को स्वीकार नहीं किया है। सात शील का अभ्यास नहीं कर रहा। लेकिन पहली प्रतिमाधारी यह अभ्यास करेगा। पहली प्रतिमाधारी अणुव्रती है। अणुव्रतों का वह अभ्यास करता है। परन्तु जो मात्र सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है, वो प्रतिमा की कोई भावना नहीं रखता कि मैं पालन कर रहा हूँ। लेकिन संयम के प्रति छटपटाहट जरूर होगी। यदि वह नहीं है, तो वो सम्यग्दृष्टि भी नहीं है। इतना अंतर है दर्शन प्रतिमा और अविरत सम्यग्दृष्टि में। क्योंकि ग्यारह स्थान देशव्रती के हैं। पर व्रती की जब चर्चा करोगे तो दूसरी प्रतिमा से शुरू होगा। देशव्रती संज्ञा पहली प्रतिमा से शुरू है। व्रत प्रतिमा दूसरी है, परन्तु देशव्रत की अपेक्षा से पहली प्रतिमा से शुरू हो जाता है और व्रत प्रतिमा दूसरी प्रतिमा से होता है। व्रत प्रतिमा में बारह व्रतों का निर्दोष पालन करता है। एकदेश यानि श्रावक अणुव्रती और महाव्रती यानि सर्वव्रती। दर्शनप्रतिमाधारी भी देशव्रती तो है, पंचम गुणस्थान बन गया, परन्तु विशुद्धि में अंतर रहेगा। क्रम से बढ़ती हुई विशुद्धि रहेगी। पहली प्रतिमा की अपेक्षा दूसरी प्रतिमा वाले के पास संयम ज्यादा है। सम्यक्त्व के बिना कोई संज्ञा लागू होती नहीं है। देशव्रती, महाव्रती यह सब सम्यक्त्व के साथ संज्ञा है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जिन्होंने संपूर्ण भव के भय को समाप्त करने वाली संपूर्ण सावद्य क्रिया को छोड़ दिया है। समूह को कैसे छोड़ा? शरीर, वचन और मन से। नवकोटी से छोड़ा है। जिन्होंने अपने अंतरंग की विकृति का नाश कर दिया है, ऐसे अंतरंग की शुद्धिपूर्वक परमकला से युक्त एक आत्मा को जानकरके, ऐसे शुद्ध शील यानि शुद्ध चारित्र से युक्त जीव ही स्थिर सामायिकपने को प्राप्त करते हैं। सम से तात्पर्य सामायिक, समता। जिस जीव ने संपूर्ण सावद्य क्रिया का त्याग कर दिया है, ऐसा निर्ग्रन्थ साधु ही परम शुद्ध सामायिक अवस्था को प्राप्त करता है। यही शुद्ध सामायिकचारित्र है और जब तक सावद्य क्रिया चलती रहेगी, तब तक सामायिक संज्ञा चारित्र की नहीं होगी। षट्काय जीव की हिंसा का त्याग है कृत, कारित, अनुमोदना से।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी 126वीं गाथा में कह रहे हैं कि जो संपूर्ण प्राणियों के प्रति साम्यभाव से युक्त हैं, स्थावर और त्रस दोनों में अर्थात् षट्काय के जीवों के प्रति। लगता है कि लोगों ने 'नियमसार' को समझा नहीं। सामायिक चारित्र पहले होता है, छेदोपदस्थापना

तो गिरने का है। मूल चारित्र सामायिक चारित्र, जिसके पास नहीं है, वह व्यवहार की बात कर रहा है। त्रस व स्थावर हिंसा का त्यागी क्या श्रावक है? क्या दिख रहा है उसकी परिणति में? एक धागा भी रहेगा जब तक आपके पास, तब तक अहिंसा धर्म का पालन नहीं है। जिसने दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है, वास्तव में पूर्ण अहिंसा तो उसी के पास है। जिसका बहिरंग ही नहीं छूटा, उसके अहिंसा कहाँ और हिंसा के सद्भाव में परिणामों में साम्यता आ जाये, यह संभव नहीं है। आपसे किसी जीव का वध हो जाये तो विकल्प बढ़ता है।

भो ज्ञानी! समितियों के पालन का उद्देश्य समीचीन प्रवृत्ति है। सावधानवृत्ति ही तो समिति है। गुप्तियाँ पल जायें, तो सब पल गया। जब गुप्तियों से हट जाता है, तब समितियों का ध्यान रखना पड़ता है। गुप्तियाँ पल गई, फिर कुछ नहीं बचता है। मन, वचन काय तीनों गुप्त हैं, तो अब बताओ कि पाप किससे होगा? समिति से कठिन होती है गुप्तियाँ। जब योगी को गुप्ति कठिन हो जाती है, तो वह समिति में आता है और समिति नहीं बची, तो फिर कुछ नहीं। यदि पाँच समितियों का पालन नहीं हो रहा है, तो व्रतों की बातें छोड़ दो। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जब तक सावद्य क्रिया चल रही है, सामायिक चारित्र नहीं है और जहाँ सामायिक चारित्र नहीं है, वहाँ परमसामायिक अर्थात् शुद्धोपयोग की दशा बनने वाली नहीं है। कोई सोचे कि जब हम शान्त बैठते हैं, तो निर्विकल्प दशा का भान करते हैं।

आगम स्पष्ट कहता है कि जो श्रावक सामायिक आदि में बैठता है, उस समय शुभभावों की विशुद्धि बढ़ती है शुभ-उपयोगी की। जिसने कभी उत्तम स्थान को जाना नहीं हो, देखा नहीं हो, तो अपने उसी स्थान को सबकुछ मान लेता है। वह शुद्धोपयोग पुद्गल की क्रिया है कि आत्मा की परिणति है? आत्मा की परिणति है, तो शुभोपयोग का वेदन आत्मा करेगी, शरीर नहीं। तो जो शुभोपयोग का वेदन हो रहा है आत्मा को, वो वैसा ही आनंद आ रहा है, जैसा एक शुद्धोपयोगी मुनि को अपने शुद्धोपयोग में आता है। इसलिये वह श्रावक भावनात्मक शुद्धोपयोग में लीन होता है और साधु भावरूप शुद्धोपयोग में लीन होता है। पं0 जगन्मोहनलाल शास्त्री ने 'अध्यात्म अमृत कलश' की टीका में इस बात को पूर्ण स्पष्ट किया है।

भो ज्ञानी! शुभोपयोग भी आत्मा में होता है और वो आत्मा की ही परिणति है। और अशुभ-उपयोग भी आत्मा में ही होता है, वह भी आत्मा की परिणति है। लेकिन तीनों में भिन्नता है। एक सावद्यता से युक्त है, दूसरा मिथ्यात्व से युक्त है और तीसरा निर्बाध संयम से युक्त प्रवृत्ति है। यदि हम सामान्य गुणस्थानों में उच्च गुणस्थान की व्यवस्था बनाने का प्रयास करेंगे तो हम गुणस्थानों में तारतम्यता किस विषय की दिखायेंगे? वेश से तो दिखा दी आपने,

लेकिन भाव से दिखाई नहीं है, तो यह कल कहेंगे कि भैया! हम व्यर्थ में भेष धारण करके क्यों भटकें गालियों में? क्यों पराधीन बनें? हम तो अपने घर में स्वाधीन बनके कमायेंगे-खायेंगे और आप-जैसी अनुभूति करेगे और जब योग्य काल आ जायेगा, तो इसी अवस्था में मोक्ष भी चले जायेंगे। भेजना ही पड़ेगा। वो तो झाड़ू लगाके चले जाते हैं।

भैया! ईंट तो शुद्ध है, छपाई में रंग होता है। ये जो दीवालों पर रंग पुते दिख रहे हैं, छपाई (पलस्तर) को निकाल दो, तो शुद्ध ईट मिलेगी। छपाई की जो भावना है, वह मोक्ष का हेतु नहीं है। ईंटें यदि कमजोर हैं, कितनी भी मजबूत छपाई कर देना, सब नीचे गिर जायेंगी। इसलिये अंदर की ईट की जो दशा है भो ज्ञानी! वह चारित्र पर टिकी हुई है और बिना चारित्र के उपयोग की दशा बढ़ेगी नहीं। फिर बहिरात्मा, अंतरात्मा, परमात्मा हम क्या भेद करेंगे? एक ओर आत्मा के तीन भेद करेंगे और दूसरी ओर बहिरात्मा को परमात्मा कहेंगे। इसलिये शक्ति का नय जरूर सामने रखना। परम पारिणामिक भाव निगोदिया जीव के अंदर जो आपने माना है, उसे शक्ति अपेक्षा कहने में कोई दिक्कत नहीं है। परम पारिणामिक भाव प्रवृत्ति नहीं है। परमात्मा तो है वह चेतन आत्मा। परमात्मा का जो भाव है सिद्धभगवान् का, निकल परमात्मा का, वह परमपारिणामिक भाव है। नियमसार की 41 वीं गाथा में क्षायिक भाव को भी विभाव माना है। एकमात्र परम पारिणामिक भाव को स्वभाव माना है। आपको प्यास लगी थी, पानी पीने तालाब पर गये, वहाँ शैवाल था। उस समय तुम्हारी दृष्टि शैवाल पर नहीं थी। परन्तु शैवाल का अभाव मत कर देना। शैवाल तो है, पर तुम विवेक से हटाकर पानी पी लेते हो। ऐसे ही परमपारिणामिक सत्ता का चेतन ध्यान करेगा, उस समय में वह यह नहीं करेगा। एक इंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पाँच इंद्रिय, निगोदिया कुछ नहीं देख रहा है। मैं कोई भी भाव नहीं करना चाहता हूँ। मैं तो एकमात्र परमपारिणामिक अवस्था का वेदक हूँ। आज का ज्ञानी योगी भी, एक निर्ग्रन्थ मुनि जब अपनी अवस्था में लीन होता है, तब ध्यान में परमपारिणामिक सत्ता का वेदन करता है। मैं परभावों से परिपूर्णरूप से रहित हूँ , शुद्धभाव से पूर्ण हूँ। मेरी वही सत्ता है, जो प्रभु सिद्धालय में विराजे हैं। परमपारिणामिक भाव, मैं तद्रूप हूँ। यह ध्यान का विषय है। ऐसी परिणति को कहते-कहते भी तेरी परिणति शुभोपयोग की होगी, शुद्धोपयोग की नहीं होगी।

भो ज्ञानी! परमपारिणामिक ध्यान का ध्याता मैं चिद्रूप पंचम भाव से युक्त हूँ, ऐसा जिस योगी के मन में विकल्प चल रहा है, वह योगी भी शुद्धोपयोगी नहीं है, वह शुभोपयोगी है। जब शुद्धोपयोगी होगा, तो 'मैं कौन-से भाव से हूँ,' इस भावना की भावना बंद हो जायेगी। वहाँ मात्र चिद्रूप में लीनता ही होगी। यही होगा आपका रूपातीत ध्यान। जब तक रूपारूप

चल रहा है, तब तक स्वरूप का कथन चल रहा है। मैं परमपारिणामिक स्वरूप हूँ। भैया! ज्ञान और ध्यान में अंतर है। एक सामान्य देहाती आदमी भी आपको धार्मिक देखकरके कहता है, कि भैया ज्ञानी-ध्यानी है। आपने सामान्य में टाल दिया, जबकि उसमें रहस्य है। उस शब्द में 'ज्ञानी है, ध्यानी है' कहा है, पर ध्येय नहीं है। उसने दो ही शब्द बोले हैं 'ज्ञानी, ध्यानी!' जिस दिन चिद्रूप ध्येय बन जायेगा, फिर ज्ञानी-ध्यानी नहीं कहा जायेगा। इसलिये जहाँ हम परमपारिणामिक त्रैकालिक सत्ता को देखते हैं, उसे देखने में कोई विकल्प नहीं करना, देखते रहना। लेकिन ध्यान रखना, जब तक परमपारिणामिक भाव की भावना भाते रहोगे, तब तक उपयोग की दशा शुभ ही रहेगी।

भो ज्ञानी! ध्येय अविनश्वर है, वह विनाशीक नहीं है। उस अविनश्वर सत्ता की प्राप्ति के लिये हम पर्यायरूप ध्यान को ध्या रहे हैं। अपन सब छद्मस्थ हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान हीनाधिक होता है, उसमें विकार भी आते हैं। एक ही 'तत्त्वार्थसूत्र' पर अनेक टीकाओं का होना क्या कह रहा है? सिद्धान्त से नहीं हटे, लेकिन वह टीकायें विशद् हुई हैं। इसका तात्पर्य है कि क्षयोपशम विशेष से विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। माना कि आपकी चाभी गुम हो गई। जहाँ खड़े थे, वहीं गिरी थी। आपने पूरे भवन में खोज लिया, लेकिन नहीं मिली। एक छोटा-सा बालक आया, बोला, देखो, यह है आपकी चाभी। कभी-कभी तत्त्व पर भी यही दृष्टि हो जाती है। जो विषय बड़े-बड़े विद्वानों के सामने रखने पर भी समझ में नहीं आता और सामान्य से समझ में आ जाता है। एक बार तिर्यंच और तिर्यंचनी की चर्चा चली। "माया तैर्यग्योनस्य"! सबके समझ में आया। फिर प्रसंग आया कि मनुष्य-आयु का आस्रव अल्प आरंभ-परिग्रह से होता है। किसी ने पूछा कि मनुष्यनी कैसी बनती है? कई विद्वान् बैठे थे, उत्तर समझ में नहीं आया कि जिस जीव ने मनुष्य-आयु का बंध करने के पश्चात मायाचारी की, तो वह मनुष्यनी बनता है। कई लोगों ने सुना होगा, ध्यान क्रिया है, ध्याता व्यक्ति है और ध्येय वस्तु है। निर्विकल्प दशा में और सविकल्प दशा में तीनों भिन्न-भिन्न हैं। ध्यान की ज्यादा चर्चा है, क्योंकि ध्यान के बिना निर्वाण होता नहीं है। ज्ञान के बिना तो निर्वाण हो जायेगा, पर ध्यान के बिना नहीं होगा। बहुत ज्ञान की आवश्यकता नहीं है निर्वाण के लिये। पर बहुत ज्ञान की आवश्यकता है ध्यान के लिये।

भो ज्ञानी! पारिणामिक की परिभाषा क्या है? उदय, उपशम, क्षयोपशम कुछ भी न होता हो जिसमें, उसे पारिणामिक कहते हैं। जीवत्व नाम की शक्ति का उदय कब होगा? कभी नहीं। भवितव्यता कब प्रकट होगी? सो है। यह संसारदशा का कथन हो गया। भव्यत्व भाव कब तक रहेगा? सिद्धभगवान् भव्य हैं, कि अभव्य हैं? न भव्य, न अभव्य। भव्य किसे

कहते हैं? जो सिद्ध बनने की सामर्थ्य रखता है। जब सिद्ध बन जाता है, तो भव्यत्व भाव का विनाश हो जाता है, लेकिन जीवत्व भाव का विनाश नहीं होता। पारिणामिक भाव आपमें भी है। पारिणामिक भाव त्रैकालिक है। जीवत्व भाव, पारिणामिक भाव आपमें भी है और निगोदिया में भी है। परम पारिणामिक किसे कहते हैं? जिस दिन भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जायेगा, उस दिन परमपारिणामिक भाव का उदय होगा। पारिणामिक भाव त्रैकालिक रहता है, परमपारिणामिक की सत्ता त्रैकालिक रहती है, परन्तु परमपारिणामिक का उदय तभी होता है, जब संपूर्ण विभावों का अभाव हो जाता है।

भैया! जो वर्तमान में अशुद्ध सड़े-गले पुदगलों में बैठे जीव को परम पारिणामिक कह रहा है, सो ठीक नहीं है। कहना है तो सिद्धों को कहो। जैसे सोने को डिब्बी के भीतर डिब्बी में मखमल में रखा जाता है। जड़ सोने को सोना बोलते हो और उस सोने-सी भगवान् आत्मा को तुम इन सड़े-गले पुद्गल में भगवान् कहकर क्या कहना चाहते हो? शक्तिरूप ही मानना, सत्तारूप नहीं मानना। पंडित टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है कि अशुद्ध सत्ता में शुद्ध सत्ता मानना निश्चयाभासी। अशुद्धसत्ता में शुद्ध शक्ति मानना, यह निश्चय दृष्टि है। वर्तमान में अपनी अशुद्ध सत्ता है, इसमें शुद्ध सत्ता स्वीकारना, यह सही नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य में दो सत्तायें नहीं रहती। अशुद्ध सत्ता में शुद्ध शक्ति तो है। शक्ति को शक्ति कहना और सत्ता को सत्ता कहना। शक्ति को सत्ता कह दिया तो निश्चयाभासी हो गया।

भो ज्ञानी! अभव्य जीव का अभव्यत्व भाव, जीवत्व भाव त्रैकालिक है। परन्तु भव्य जीव का जीवत्व भाव मात्र त्रैकालिक है, उसका भव्यत्व भाव त्रैकालिक नहीं है, क्योंकि सिद्ध बनने पर भव्यत्व भाव का अभाव हो जायेगा। 'तत्त्वार्थसूत्र' के दशवें अध्याय में उमास्वामी महाराज ने स्पष्ट लिखा है कि वहाँ भव्यत्व भाव का भी विनाश हो जाता है। क्योंकि भव्यत्व भाव का तात्पर्य था सिद्ध बनने की सामर्थ्य। जब सिद्ध बन गया, तो सामर्थ्य तो प्रकट हो ही चुकी है। इसलिये अब उस भाव को कहने की आवश्यकता नहीं है। परिणाम से तात्पर्य जीवत्व भाव सर्वमान्य है।

भो ज्ञानी! आत्मा में गुण कितने हैं? अनंतानंत। अनेक स्वभावों के मध्य में ज्ञान परम स्वभाव है। इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्मा है, शेष के कहने की आवयकता नहीं है। यदि बल्ब जल रहा है, तो लाल, पीला, नीला कुछ भी लगा दो, पर जल एक ही से रहा है। विद्युत से। ऐसे ही चाहे देखो, चाहे सुनो, चाहे खाओ, चाहे जाओ, लेकिन सब काम कर रही है एक ही मशीन, वह है आत्मा। विद्युत एक ही है। वो निकल गयी, तो यह सब काम नहीं हो पायेगा। अज्ञानता को आगम में दुःख कहा है और ज्ञान सुख है। जितना ज्ञान बढ़ेगा, उतना

आपका अंदर का सुख बढ़ेगा। आप अनुभव करना।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने 125वीं गाथा में संकेत दिया कि जो संपूर्ण पदार्थों में साम्यभाव रखते हैं और संपूर्ण त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से रहित हैं, ऐसे जीव के परमसमाधि स्थान होता है। ऐसा केवलीभगवान् के शासन में कहा है। जिसके जब तक उभय हिंसा चल रही है, उसके सामायिकस्थान नहीं है। तथा उसके शुद्धात्मदशा की उपलब्धि संभव नहीं है। यह निश्चित समझो। भावनात्मक दृष्टि बन सकती है, लेकिन शुद्धात्मदशा त्रैकालिक संभव नहीं है। ऐसा कुंदकुंद स्वामी का अभिप्राय है।

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो परमध्यान में स्थित है, परमभाव में आरूढ़ है, ऐसे परम मुमुक्षु यानि परम वीतरागी निर्ग्रन्थ योगी की अनुभूति का विषय है। गृहस्थ के श्रद्धा का, ज्ञान का, भक्ति का विषय है, लेकिन अनुभूति का विषय तो उभय हिंसा के त्यागी का ही है। कुछ ग्रन्थ सामान्य हैं, जिनमें गुणस्थान की नहीं, मात्र स्वरूप की चर्चा है। जैसे समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि। 'योगसार' में योगेन्द्र देव स्वामी ने लिखा है कि सागार और अनागार दोनों ही आत्मतत्त्व की भावना में लीन रह रहे हैं। सराग अवस्था में 6वें गुणस्थानवर्ती मुनिराज और 5वाँ गुणस्थानवर्ती व्रतीश्रावक शुद्धात्मतत्त्व की भावना में लीन रहे। मुनिराज लगायेंगे तो 7वें गुणस्थान की प्राप्ति कर जायेंगे और श्रावक इसलिये लगा है कि वो पुरुषार्थ करके, चारित्र को प्राप्तकर वो भी सप्तम गुणस्थान को प्राप्त करे। तो भावना करने में कोई दिक्कत नहीं है। परन्तु तद्रूपता को स्वीकार कर लेना, यह आगम में घटित नहीं होता। भावना तो भायें, भावना नहीं भायेगा तो क्या करेगा? यह 'परमात्मप्रकाश' में योगीन्द्र देव सूरि ने स्पष्ट किया है। 'परमात्मप्रकाश' में श्रावक और यति दोनों को ही सम्बोधन दिया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जो श्रावक जिनेन्द्र की वंदना न करे, निर्ग्रन्थों को दान न दे, ऐसा श्रावक नरक का पात्र होता है। मुनियों के लिये कह रहे हैं कि बहिरात्मभाव में मत चले जाना। मात्र लिंग को ही धर्म मत मान लेना, लिंग मात्र में ही धर्म नहीं है। धर्म के लिये लिंग को धारण किया जाता है। आचार्य अपने शिष्य को सम्बोधित करते हुये कह रहे हैं। वह स्थितिकरण के लिये योगी को समझा रहे हैं कि हे मुनि! पर्वतों के ढेर लग गये पिच्छि-कमंडलु धारण करते-करते, लेकिन आत्मज्ञान के अभाव में मुक्ति को प्राप्त नहीं किया। यह आचार्य अमितगति स्वामी ने 'योगसार प्राभृत' में लिखा है। अहो मुनि! तू भव-नाश के लिये मुनि बना है, भव के अभिनंदन के लिये नहीं बना है। समयसार की 'आत्मख्याति' टीका में आचार्यमहाराज लिखते हैं कि लोकाचार के लिये नहीं, लोकोत्तराचार के लिये जिनवेश है। ऐसे शब्दों का उपयोग करो जिससे कि अंदर की शुद्ध वैराग्यज्योति जाज्वल्यमान हो जाये। जैसे बीन की

आवाज सुनकर वामी के अंदर बैठा साँप खड़ा हो जाता है, ऐसी वैराग्य से भरी वाणी में ऐसे शब्दों का प्रयोग करो कि कोई सो भी हो रहा हो तो अपने आप में जाग जाये।

आचार्यभगवान् कभी प्रशंसा करते हैं, कभी डाँटते भी हैं। परम मुमुक्षु कहके प्रशंसा कर दी, फिर मुमुक्षु श्रमणाभास भी कह दिया। वह परमसामायिक परम मुमुक्षु के होगी और परमसामायिक तेरे अंदर नहीं है तो तू मुमुक्षु श्रमणाभास है। ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी यह कथंचित् श्रमण-अभ्यासी हैं। जो श्रमणमुद्रा को धारण करके श्रमणस्वरूप में नहीं जी रहा है, वह श्रमणाभासी है। श्रमण-अभ्यासी तो बनना, यह श्रेष्ठ है श्रमण बनने के लिये। पर श्रमण बनके श्रमणाभासी मत बन जाना। आचार्यभगवान् परममुमुक्षु के स्वरूप को कहते हैं कि पिच्छि-कमंडलु धारी ही होगा जो सहज वैराग्य के भवन के शिखर का चूड़ामणि है। जिसने विकार के कारणभूत मोह, राग-द्वेष का अभाव कर दिया है। भेद कल्पना से परे जो परम समरसी भाव का साक्षात् होने से त्रस व स्थावर जीवों के प्रति जो साम्यभाव से युक्त है, ऐसे परम जिन योगीश्वर के सामायिक नाम का व्रत है। ऐसा सनातन, समीचीन, वास्तविक और अनादि से चला आ रहा है। सनातन यानि शाश्वत है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञदेव के मार्ग में सिद्ध है।

भो ज्ञानी! गृहस्थ त्रस व स्थावर हिंसा का त्यागी नहीं है। त्रसहिंसा के त्यागी क्षुल्लक, ऐलक, ब्रह्मचारी हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि संकल्पी त्रसहिंसा मात्र का त्यागी है, यदि आप सम्यग्दृष्टि हैं तो। आपका जो गुणस्थान है, वह व्रतियों का जो चौथा गुणस्थान है, वह नहीं है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती त्रस व स्थावर जीवहिंसा से निवृत्त नहीं है। त्याग नहीं किया है इसने अभी, परन्तु इतनी सामर्थ्य इसके पास है कि जिनेन्द्रदेव के कहे तत्त्वों पर श्रद्धान करता है, उसका नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। यह कथन 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में आचार्यमहाराज ने किया है। समयसार का सम्यग्दृष्टि अभेद रत्नत्रयधारी है। आश्चर्य है कि जिसने घर-द्वार छोड़ा, सबकुछ छोड़ दिया हो और जिनवाणी के विपरीत कथन करे, वो मिथ्यात्व नहीं छोड़ पाया, इससे बड़ा परिग्रह क्या हो सकता है? आगम में 'परम मुमुक्षु' शब्द निर्ग्रन्थ यति को ही कहा है। इसलिये इसमें कोई शंका नहीं है।

आकाश का पुष्प, गधे को सींग की सिद्धि तर्क से की जा सकती है, लेकिन किसी भी देश में किसी भी काल में गृहस्थों के निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। शक्ति तो निगोदिया के भी है, लेकिन अभिव्यक्ति जिस जीव की जिस स्थिति में है उसे वैसी होती है। आगम को स्वीकारो, उसमें कोई तर्क नहीं, "आगम तर्कऽगोचरा" आगम में कोई तर्क नहीं होता। यह शुभचंद्र स्वामी ने 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में लिखा है। निर्विकल्प ध्यान अप्रमत्त योगी के ही होता है। अप्रमत्त यानि सप्तम गुणस्थान। अप्रमत्त गुणस्थान यानि जो बाह्य-व्यापार

से विमुक्त है। जो जिनलिंग को धारण किये है, ऐसे जीव के ही निर्विकल्प ध्यान होता है। यह आगम-वचन है। "तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" यह चौथे गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है। लेकिन जिसे अध्यात्मशास्त्रों में निर्विकल्प सम्यग्दर्शन कहा है, वह निर्विकल्प चारित्र के अविनाभावीभूत होता है। आगम में चौथे गुणस्थान के लिये धर्म्यध्यान का निषेध नहीं किया है। सविकल्प धर्म्यध्यान का निषेध नहीं है, निर्विकल्प धर्म्यध्यान का निषेध किया है।

भो ज्ञानी! करणलब्धि के काल में जो उसकी प्रवृत्ति बन रही है, उस गुणस्थान संबंधी कषाय की क्षीणता/मंदता से जो विशुद्धि बढ़ रही है, वह चारित्ररूप विशुद्धि नहीं है, वो श्रद्धारूप विशुद्धि है। श्रद्धागुण की पर्याय है सम्यग्दर्शन और चारित्रगुण की पर्याय है निर्विकल्प समाधि। निर्विकल्प समाधि तभी होगी, जब चारित्र आपके पास होगा। जहाँ निर्विकल्प समाधि शब्द है, वहाँ अलग से दर्शन-ज्ञान कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। माघनंदी आचार्य का 'ध्यान सूत्राणि' नाम का ग्रन्थ है। उसमें निर्विकल्प स्वरूप की चर्चा है। शब्द में बड़ी शक्ति है। जो शब्द सुनकर आप सहजता में गये हो, वो निर्विकल्प नहीं है, वो सविकल्प है। उपशम काल में जो जीव की परिणति हो, इतना अंतर आप डाल दो। जो निर्विकल्प दशा चारित्र गुण की पर्याय है, वह निर्विकल्प दशा उपशम संयम के काल में सरागता में जो आ रही है, वह वैसा निर्विकल्प नहीं है जैसे दर्शन निर्विकल्प होता है, ज्ञान सविकल्प होता है और दर्शन निर्विकल्प होता है। दर्शन आत्मग्राही होता है, ज्ञान स्व-पर ग्राही होता है। महासत्ता का जो ग्रहण चल रहा है, वो कथनी ही नहीं है, अनुभवन है। ऐसे वो इतना न्यून समय है, एक आभास हुआ है। तद्रूप में निर्विकल्पता है, परन्तु शुद्धोपयोगरूप निर्विकल्पता वो नहीं है।

भो ज्ञानी! एक ने अनादि मिथ्यात्व का टुकड़ा किया है, उससे हटा है। अपूर्वकरण परिणाम कर रहा है। उसने मिथ्यात्व के तीन टुकड़े किये हैं। वो जो परिणाम हो रहा है, वो भी उसका व्याख्यान का विषय नहीं है। वो मिथ्यात्व के टुकड़े कर रहा है। वो हल्ला नहीं कर रहा है, वो शान्त है और सहज क्रिया चल रही है। यह ध्यान रखना, जैसे सप्तम गुणस्थानवर्ती निर्विकल्प दशा में बैठे निर्ग्रन्थ योगी की सहज क्रिया चलती है, ऐसे ही मिथ्यात्व के टुकड़े करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव की भी सहज अंतरंग क्रिया है और उससे वो करण-परिणाम कर रहा है। भद्र मिथ्यात्व की भद्रता वो अनंतानुबंधी की तीव्र मंदता का काम प्रारंभ हो गया और जब अनंतानुबंधी समाप्त हो जायेगी, हट जायेगी चौकड़ी, तब सम्यक्त्वप्रकृति का उदय होगा। एक समय को बिल्कुल शान्त है, शून्य हो जायेगा, फिर कहना कि अपूर्व आनंद आ रहा है। क्यों? जिसे कभी जाना नहीं था, वो श्रद्धा गुण प्रकट हुआ है।

आचार्यभगवान् ने, जो वीतराग चारित्र के अविनाभावीभूत वीतराग सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्दर्शन, वीतराग सम्यक्त्व कहा है, निश्चय नहीं कहा है। वो सराग सम्यक्त्व है। आत्म-विशुद्धि वीतराग सम्यक्त्व है। राजवार्तिककार ने चतुर्थ गुणस्थान को वीतराग सम्यक्त्व कहा है। क्यों कहा? जिस जीव ने दर्शनमोहनीय कर्म की प्रकृतियों को क्षपणा कर दी है, क्षय कर दिया है, जिसकी दर्शनमोहनीय की प्रकृति बीत चुकी है, उस अपेक्षा से वीतराग संज्ञा है। परन्तु चारित्र अपेक्षा सराग ही है। मात्र मिथ्यात्व के अभाव के कारण वीतराग संज्ञा है, पर चारित्र की अपेक्षा सराग ही है।

भो ज्ञानी! आचार्य विरागसागर जी ने 'शुद्धोपयोग' पुस्तक लिखी है। शुद्धोपयोग के विषय में आगम में जितना आचार्यों ने लिखा है, पूरा उन्होंने निचोड़ दिया है। अपना कुछ नहीं लिखा है, सब ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। भो ज्ञानी आत्मा! द्रव्यश्रुत ही तो भावश्रुत का जनक है। आगम श्रुत कहो, द्रव्यश्रुत कहो, एक ही बात है। बहुभावश्रुत, बहुद्रव्यश्रुत। अल्प द्रव्य-श्रुत भी भावश्रुत है, तो मोक्ष का कारण है। ज्ञान न बंध का कारण है न अबंध का कारण है। बंध के कारण तो पाँच हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। अबंध ा के कारण, निर्जरा के कारण हैं समिति, गुप्ति, धर्म आदि। पर वहाँ भी 'ज्ञान' शब्द नहीं आया। ज्ञान तो ऐसा नेता है, कि जिस पार्टी का जोर, उसमें सहयोग। भैया! मिथ्यात्व के प्रचार में ज्ञान का उपयोग होता है या नहीं? डट के होता है। वो ही सम्यग्दृष्टि हो जाये, तो सम्यक्त्व के प्रचार में ज्ञान का उपयोग होता है।

भैया! जिसने ज्ञान से कल्याण मान लिया, वो ज्ञानी, परन्तु चैतन्य आत्मा का ज्ञान हो। सामान्य भाषा में आत्मज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान बंध या अबंध का कारण नहीं। अल्प ज्ञान भी मोक्ष का कारण है और अल्प अज्ञान भी संसार का कारण है। मोह से रहित ही ज्ञान है और मोह से सहित है तो ज्ञान है। शिवभूति महाराज के पास बहुश्रुतज्ञान नहीं था, परन्तु भावश्रुत था। ज्ञान बंध नहीं कराता, निर्बंध होता है। यदि वह भाव मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगजन्य है, तो बंध है। यदि वह भाव व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म-परीषहजय, अनुप्रेक्षा, इंद्रिय जय से युक्त है, तो निर्बन्ध का कारण है। पाँचों में 'अ' शब्द लगा दो, सम्यक्त्व, व्रती, अप्रमाद, अकषाय और अयोग ऐसे भाव हैं, तो निर्बन्धदशा है और विपरीत भाव है, तो बंधदशा है। इसलिये सिद्धान्त सर्वत्र व्याप्त है।

भो ज्ञानी! गुरु के अभाव में जिनवाणी का अध्ययन विपरीत करा देता है। जहाँ पंथ नहीं होता है, वहाँ मात्र रत्नत्रय/मोक्षमार्ग की चर्चा होती है। वहाँ आपको एकान्त पर जोर नहीं दिया जायेगा। जहाँ किसी विषय पर जोर दिया जा रहा है, समझ लो कि कहीं-न-कहीं

कोई पक्ष निहित है। किसी ने प्रश्न किया, आपने डाँट कर बिठाल दिया, तो यह समाधान नहीं है। आगम की बात को बता देना, यह समाधान है और आप तभी बता पाओगे, जब संपूर्ण पक्षों से परे होंगे। आपको अरहंत भगवान् पर पूरी श्रद्धा है। जिनवाणी पर, शास्त्रों में जो लिखा है आचार्य-भगवन्तों ने, वो सही है। आपकी समझ में नहीं आये, तो भी सही है। मान लो 'षट्खंडागम' का वाचन चल रहा है और आप जाकर बैठ गये, आपको समझ में नहीं आ रहा है, तो आप क्या कहोगे? यह हमारे क्षयोपशम की कमी है। लेकिन जो लिखा है, कहा जा रहा है, सही है, ऐसी श्रद्धा है। देव, शास्त्र, गुरु पर निश्चल/निष्कम्प श्रद्धा ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि है। इनके अलावा दूसरे इनके समान नहीं हो सकते हैं। परमपूज्यनीय तीन ही होंगे, जिन्होंने तुम्हें ज्ञान दिया है। आप सबके उपकार मानो जिन्होंने आप पर उपकार किया है, लेकिन पंचपरमेष्ठी के रूप में मत मानो।

भो ज्ञानी! आपने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया है। किसी के यहाँ उसने रात्रि में खाना परोस दिया, तो आप कहोगे कि नहीं, मुझे तो रात्रिभोजन का त्याग है। सम्यक्त्व की बात छोड़ो। आप कहोगे नहीं, तो रात्रिभोजन का त्याग चलेगा कैसे? ऐसे ही जिसने मिथ्यात्व का त्याग किया है, व्यवहार से पच्चीस दोषों का अतिचार रहित पालन कर रहा है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव छः अनायतन आदि का त्यागी होगा कि नहीं? कर्मप्रकृतियों के क्षय, क्षयोपशम से तो केवली जाने, लेकिन देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा की अपेक्षा से उस दिन बोले कि आप तो हमें मिथ्यादृष्टि कहते रहते हो, लेकिन मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। बात को समझना। सम्यग्दृष्टि के अहम् का त्याग का मना किया है। जब तक आपकी सच्ची श्रद्धा नहीं बनेगी, निर्ग्रन्थ मुनि बन भी गये, तो भी मुनिपने का प्रभाव नहीं आयेगा, तब मुनिदशा का पालन कैसे करोगे? इसलिये आचार्यों ने ग्रन्थों में कहीं भी नहीं लिखा कि सम्यक्त्वी का कहना 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ' वो सम्यग्दृष्टि नहीं है। यह लिखा है कि वह सम्यग्दृष्टि है और यह मिथ्यादृष्टि है। यह आपके ज्ञान का विकल्प नहीं है। लेकिन आपको अहंकार आ भी जाये तो अच्छा है। यदि आपको अंहकार आये कि हम जैन हैं, अच्छा, परन्तु साथ में उसके लक्षण भी आना चाहिये। अहंकार कभी दब जायेगा, पर आप जैन के चिह्नों से चिह्नित तो हो गये।

भैया! अपने आपको सम्यग्दृष्टि कहो, लेकिन पच्चीस दोषों से रहित कहना, तो अभिमान नहीं लाना। अहंकार मत लाओ, क्योंकि जो मदों से युक्त है, वो सम्यग्दृष्टि नहीं है। आठ मदों से रहित सम्यग्दृष्टि होता है। लेकिन यह भाव तो आयेगा कि मेरा सम्यक्त्व निर्दोष पले। यदि आप सम्यग्दृष्टि नहीं हो, तो आपका जितना शास्त्रज्ञान है, वह सब

मिथ्याज्ञान है। मिथ्यात्व के साथ श्रुत का अध्ययन भी किया जायेगा, वो भी मिथ्या ही कहलायेगा। आप निश्चय को दो दृष्टियों से समझो। सात प्रकृतियों का जहाँ क्षयोपशम हो चुका है, वहाँ निश्चित सम्यग्दर्शन है, पर निश्चय नहीं है, यानि शुद्धोपयोग नहीं है। निश्चित चौथे से प्रारंभ हो गया। अब उसको व्यवहार में चलने दो और निश्चय सम्यग्दर्शन, जब आप मुनिराज बन जाओगे और स्वात्मानुभूति में लीन हो जाओगे, वो अपने आप तुम्हारा निश्चय सम्यग्दर्शन हो जायेगा। लेकिन व्यवहार को मत खो देना। देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा बनाके चलना, मिथ्यात्व का सेवन नहीं करना, अभक्ष्य भी नहीं खाना, गुस्सा नहीं करना, दया रखना, संवेगभाव बनाके चलना। प्रभु! वो दिन कब आये, जब मैं मुनि बन जाऊँ। ऐसे भाव करना नहीं पड़ेंगे। सम्यग्दृष्टि के अंदर ऐसे भाव आयेंगे।

भैया! भावों की निर्मलता से भावों में निर्मलता बढ़ती है। जब आप प्रवचन सुनते हो तो तुम्हारे भावों में, अंतरंग में जरूर परिणमन होता है लेकिन वो दिखता नहीं है। पाल में रखा आम जब पककर निकलता है तब मालूम चलता है। ऐसे ही चिन्ता मत करना, सबके मिथ्यात्व पक रहे होंगे। सब सम्यक्त्व के रूप में पक जायेंगे। पक जाने दो, कार्य है। बिना कारणसम्यक्त्व के कार्यसम्यक्त्व नहीं होगा और जो कारणसम्यक्त्व को गौण कर रहा है, उसे कार्यसम्यक्त्व नहीं होगा। 'छहढाला' में निश्चय व व्यवहार दोनों रत्नत्रय का कथन किया है। देव-शास्त्र-गुरु को व्यवहारसम्यक्त्व का कारण कहा है और यहाँ निश्चयसम्यक्त्व का कारण कहा है। दोनों में कार्यकारण भाव है। इस प्रकार से परमजिन योगीश्वर के सामायिक, वीतराग सर्वज्ञ के मार्ग में, सिद्ध है। ऐसा जानना। इस प्रकार से परममुमुक्षु, परमसामायिक, संयमसमाधि निश्चित योगी ही है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् ने गाथा 126 में संकेत दिया कि समस्त त्रस व स्थावर हिंसा का जिसने त्याग किया है, ऐसा निर्ग्रन्थ योगी ही परमसामायिकचारित्र से युक्त है। और जो परमसामायिकचारित्र है, वही समाधि है और जो परमसमाधि है, वही निर्विकल्प ध्यान है। जब तक परमसमाधि की सिद्धि नहीं है, तब तक निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं है। निर्ग्रन्थ योगी जिस समय निर्विकल्प स्वरूप में लीन होता है, फिर वहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प वचन नहीं होता है। जिनके तन से मृग खुजली खुजा रहा है, वही निर्विकल्प दशा है। पाषाण-तुल्य जो बैठे हुये हैं, भो ज्ञानी! कितनी एकाग्रता होगी? जिनके सामने खूंखार आवाजें चल रही हैं, उपसर्ग चल रहा है, जनसामान्य नगर छोड़कर भाग रहे हैं, उन योगी की अविचल दशा क्या होगी? देशभूषण, कुलभूषण मुनिराज की उस अवस्था को देखना, जबकि पर्वत की चोटी के नीचे बसे नगर संध्या होते ही खाली हो जाते थे और वह निर्ग्रन्थ योगी अचल खड़े हुये हैं। भोग-भावना नहीं है। आहार संज्ञा, आहार की भावना गई, संपूर्ण भोगदशा से विराम हो गया। यदि डर भी है, तो भी निश्चल दशा नहीं है। इतनी गहरी दशा है। जितना आप छोड़ते जाओगे, उतना कम महसूस होगा। सामान्य व्यसनी से कहा जाय कि तुम व्यसन छोड़ दो, तो वो समझता है कि मैंने बहुत बड़ा व्रत ले लिया। उसकी अपेक्षा से बड़ा व्रत हो गया। उससे जब अभक्ष्य की बात करे तो उसको लगता है अरे! अभी तो कुछ नहीं छूटा। फिर व्रती की बात करो, महाव्रती की बात करे और महाव्रती बनने के बाद उनसे कह रहे हैं कि स्वरूप में लीन होने की बात करो। यदि स्वरूप में लीन होने की बात नहीं आ पा रही है, तो अभी मैं कुछ नहीं हूँ। उस समय राम-लक्ष्मण ने उपसर्ग दूर किया था। वो यह कल्पना करके नहीं खड़े थे कि कोई आके उपसर्ग दूर करेगा। उनकी दृष्टि में तो समाधि ा दिख रही थी। जिसका योग इतना अविचल होगा, उसका उपयोग कितना अविचल होगा? उपयोग की अविचलता के बिना योग अविचल नहीं हो सकता। उपसर्ग दूर होने के बाद कैवल्य हुआ। विशुद्धि इतनी बढ़ चुकी थी कि इधर उपसर्ग दूर हुआ, उधर कैवल्य प्राप्त हो गया। उन्हीं केवली के चरणों में श्रीराम ने पूछ लिया, 'प्रभु! इस व्यंतर ने उपसर्ग क्यों किया?' यह मत सोच लेना कि संयम की साधना है तो भूतप्रेत कैसे सतायेंगे? भूत-प्रेत नहीं, कर्म सताते हैं। निमित्त चाहे भूत बनके आये, चाहे प्रेत बनके आये, चाहे रिश्तेदार, भैया आदि बनके आये। निमित्त कोई भी बन जायेगा। लेकिन कर्म पूर्व का प्रेरित होता है।

भैया! आपने एकान्त के आनंद का अनुभव नहीं किया है। उसमें आनंद है। अकेले में और आनंद है। जंगल में बैठके देखो। वहाँ कोई भी न हो, फिर वंदना करो। यदि स्वरूपदशा बन जाती है, तो जो आनंद है, वह कहीं नहीं है। इसलिये आचार्यमहाराज ने स्पष्ट कथन किया

है कि ऐसे अविचल, त्रस-स्थावर हिंसा के त्यागी, परम तपोधन परममुमुक्षु हैं।

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्त्रम्।
अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि॥ कलश 204॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं, जिन्होंने त्रस घात का त्याग कर दिया है और स्थावरों के घात से दूर हैं। ऐसे गमन करे, प्रवृत्ति करे, कि मेरे द्वारा किसी जीव का वध न हो जाये और यह दशा एक क्षण की नहीं, यह जागृति प्रतिक्षण की है। अप्रमत्त दशा, जहाँ प्रमाद में भी अप्रमाद न हो, वही प्रमत्तता है। निद्रा प्रमाद का एक अंग है। दर्शनावरणी कर्म कह रहा है कि सो जाओ। संयम कह रहा है कि सो तो जाओ, लेकिन ध्यान रखो, करवट बदलने के पहले मार्जन कर लो अन्यथा संयम नाम की कोई वस्तु नहीं होगी। प्रत्येक संज्ञायें आयेंगी, वह कर्म भी आयेंगे। क्षुधा भी सतायेगी, परन्तु उपवास संयम के सामने संपूर्ण कर्म सिर टेकते हैं। एक ही शक्ति है विश्व में कर्मों से लड़ने के लिये, वो संयमदशा है। संयम पालन करना बड़ा आसान है। जब हमें वस्तु को स्वीकार ही नहीं करना है, तो इच्छा क्यों करूँ? मिलना ही नहीं है। ध्यान रखना, खाना-पीना छोड़ना बहुत सरल होता है, पर कषायों का छोड़ना बड़ा कठिन होता है। जैसे किसी ने मीठे रस का त्याग कर दिया। उसकी याद ही नहीं आयेगी जब वह यह सोच लेगा कि इस वस्तु के प्रति तो मेरा कुछ बचा ही नहीं, मेरे भोग का बचा ही नहीं। मन भी नहीं जायेगा। ऐसी दृष्टि जिसकी बन गई है, उसका त्याग चलेगा परेशानी नहीं आयेगी। उसको जबरदस्ती रोकना नहीं पड़ेगा, संज्ञाओं को दबाना नहीं पड़ेगा। कषायों को दबाके बैठ जाना बहुत खतरनाक होता है। सहज उपशमन कराओ। विषय बदल दो। पढ़ने को मन नहीं कर रहा है तो कोई दूसरी वस्तु पढ़ने बैठ जाओ। उपयोग को परिवर्तित करो। उपयोग का विषय नहीं बदलोगे और इंद्रियों को वश में करना चाहते हो तो वो कभी नहीं होगा। इंद्रियों को ले जाने वाला उपयोग है। उपयोग की चंचलता रहेगी, तो इंद्रियाँ कभी वश में नहीं रहेंगी। उपयोग यदि चंचल नहीं है, तो इंद्रियाँ अपने आप भोग में नहीं जा पायेंगी। योगी इंद्रियों का दमन नहीं करता है, उपयोग को बदल लेता है तो इंद्रियों का दमन स्वयं हो जाता है।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ योगी, जो त्रस और स्थावर हिंसा के त्यागी हैं, ऐसे परमजिन मुनियों का अंत:करण हमेशा ही त्रसजीवों की हिंसा और स्थावर जीवों के वध से विमुक्त है और जो चरम सीमा को प्राप्त ऐसा निर्मल है, उस चैतन्य के परिणामरूप मन को मैं नमस्कार करता हूँ। किसलिये? कर्मों से मुक्ति पाने के लिये। उनका स्तवन करता हूँ और उसकी सम्यक् प्रकार भावना करता हूँ। 'मुनि' संज्ञा वाले को नमस्कार नहीं किया

है क्योंकि मुनि संज्ञा तो अन्य दर्शनों में भी है। ऋषि, मुनि यह संज्ञा अन्य जगह भी है। लेकिन उन मुनि को नमस्कार है, जिन मुनि के त्रस व स्थावर हिंसा का त्याग है। भो ज्ञानी! कषाय के अभाव को सर्वज्ञ ही जान सकते हैं, अवधिज्ञानी जान सकते हैं अथवा स्वयं की दशा का वेदन स्वयं करो। आप नमस्कार करने जायेंगे तो हिंसा-अहिंसा को देखकर ही करोगे, क्योंकि जिसका द्रव्यसंयम ही निर्मल नहीं है, उसका भावसंयम क्या होगा? इतनी दृष्टि रखना। कृषि आदि कर्म करा रहा है, छाल आदि को स्वीकार किये है, ऐसे मुनि को यहाँ नमस्कार नहीं किया है। जहाँ त्रस व स्थावर हिंसा का त्याग है वो दोनों त्याग तभी होंगे, जब धागे मात्र का त्याग होगा, अन्यथा संभव नहीं है। धागा मात्र भी रहेगा, वहाँ हिंसा का त्याग नहीं है। क्योंकि स्थावरहिंसा तो हो रही है। उसके धोने में जो जल का उपयोग हो रहा है, उसमें त्रसहिंसा भी हो जाती है। आप कहेंगे कि छानके उपयोग करते हैं। छानने में आरंभ होता है, ठीक है, तुम्हारी परिणति घात की नहीं है, लेकिन हिंसा तो होती है। इसलिए जब तक निरारंभ, निराम्बर अर्थात् वस्त्रविहीन अवस्था नहीं आयेगी, तब तक दिगम्बर नहीं और जब तक दिगम्बर नहीं, तब तक निर्ग्रन्थ दशा नहीं है। आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि यह तो हमने व्यवहार व निश्चय, दोनों चारित्र की चर्चा की, परन्तु उन दोनों से रहित को मानता हूँ।

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिद्द्वैतपथे स्थिताः।
द्वैताद्वैत विनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम्॥ कलश 205॥

यहाँ कह रहे हैं कि कुछ लोग अद्वैत मार्ग को मानते हैं, कुछ द्वैत में ही स्थित हैं, लेकिन आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि द्वैत व अद्वैत दोनों मार्गों से रहित जो अवस्था है, उसी में हम वर्तन करते हैं। जिसमें द्वैत नहीं, अद्वैत नहीं, तो क्या है? द्वैत का तात्पर्य सविकल्प ध्यान, अद्वैत का तात्पर्य निर्विकल्प ध्यान। द्वैत यानि दो का संबंध। प्रभु आराध्य और वह आराधक द्वैतभाव है। अद्वैतभाव में तो मैं ही आराध्य हूँ, मैं ही आराधक हूँ। यह अहंभाव है। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि यह द्वैत-अद्वैत का विकल्प जब तक रहेगा, तब तक तुम निर्विकल्प अद्वैत को प्राप्त नहीं कर पाओगे। आपकी भाषा में कोई कहे कि कोई निश्चयवादी है, कोई व्यवहारवादी है। निश्चय व व्यवहार दोनों के पक्ष जब तक हैं, तब तक तू समयसार नहीं है। समयसार निश्चय नहीं है, समयसार व्यवहार नहीं है। उभय नय से आत्मा की जो अवस्था है, वह समयसार है। लोक में द्वैत-अद्वैत भाव, यह दर्शन है। कोई द्वैत को मानता है, कोई अद्वैत को मानता है। व्यवहारदृष्टि से हम अरहंतदर्शन वाले द्वैत को मानने वाले हैं। आप किसे मानते हो? निश्चय को या व्यवहार को? मुक्ति उसी की होगी, जो दोनों से परे होगा।

कांक्षंत्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे।
द्वैताद्वैत विनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम्॥ कलश 206।।

पुनः आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि पहले मान्यता की बातें की, अब आकांक्षा की बात कर रहे हैं। कोई अद्वैत को चाहता है, कोई द्वैत को चाहता है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि मैं तो जो द्वैत-अद्वैत से विर्निमुक्त है, ऐसे महात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। मैं अद्वैत वादी को नमस्कार नहीं करता हूँ, मैं द्वैतवादी को नमस्कार नहीं करता हूँ। मैं तो द्वैत व अद्वैत से मुक्त को नमस्कार करता हूँ। ऐसा कौन है? जो परमसमाधि में लीन निर्ग्रन्थ योगी है। बहुत दर्शन है और बड़े-बड़े मठ बनाके रखे हैं। द्वैतवादी मठों में आँखें बंद कर बैठे हैं और अद्वैतवादी के मठों में दिनभर बाजे बज रहे हैं, घंटे बज रहे हैं, भक्ति चल रही है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मानने वाले लोग भी हैं, पर सम्यक्त्वविहीन हैं। उनकी बातों में प्राचीनता झलकती है। सांख्य दर्शन का प्रवर्तक भगवान् आदिनाथ का पौत्र मारीचि था। पहले वेश विकृत हुआ था, पर सिद्धान्त वो ही रहे थे। वेश विकृत हुआ, धीरे-धीरे सिद्धान्तों में भी विकार आ गया। प्रारंभ में मारीचि ने अपने गुरु का नाम पुरू ही बताया था शिष्यों को। पुरू यानि आदिनाथ, आदिपुरुष। वह उन्हीं की भक्ति-वंदना करता था। भेष बदला था, भक्ति के उपाय बदले थे। जो द्रव्य जंगल में उपलब्ध थे, उन्हीं को चढ़ाता था।

भो ज्ञानी! पंथ कैसे बनता है? पूर्व सिद्धान्तों को नहीं मानने से धीरे-धीरे दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। जब बहुत बढ़ जाती है, तो परिणाम निकलता है कि सिद्धान्त बदलने प्रारंभ हो जाते हैं। पहले वेश बदलता है, फिर सिद्धान्त बदलते हैं। दिगम्बर व श्वेताम्बर में विभाजन पहले सिद्धान्त से नहीं, वेश से हुआ था। जब वेश से विभाजन हो गया, तो उन्होंने सोचा कि मूल वेश वाले हमको स्वीकारेंगे नहीं, अनादर-ही-अनादर होगा, तो उन्होंने अपने सिद्धान्त बना लिये। सिद्धान्त तो वेश के समर्थन के लिये बनता है। धार्मिकक्रियाओं के समर्थन के लिये दर्शन बनाया जाता है। जब बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय बौद्ध नाम का कोई दर्शन नहीं था। उन्होंने मात्र सत्य, अहिंसा आदि का उपदेश दिया था। दार्शनिकता नहीं थी। उनके बाद जो आचार्य भिक्षु हुये, उन्होंने दर्शनपक्ष को बनाया। आचार्य समन्तभद्र, विद्यानंद, अकलंक देव इन तीनों आचार्यों का काल जैनदर्शन का दार्शनिक पक्ष का काल रहा है। न्यायशास्त्रों में दिगम्बर व श्वेताम्बर कोई विभाजन नहीं होता। न्यायशास्त्र तो जैनत्व की सिद्धि के लिये है। यापनीय संघ के एक आचार्य हुये हैं शाकटायन, वे एक प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य थे। उनके मन में विचार आया कि हम श्वेताम्बर व दिगम्बर में समझौता करा दें। वे शरीर से दिगम्बर रहते थे और श्रद्धा में श्वेताम्बर। उन्होंने स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति पर बेजोड़ तर्क दिये हैं

और सिद्ध भी किया है कि स्त्रीपर्याय से मोक्ष होता है। केवली के कवलाहार को भी सिद्ध किया है। कैसे? भगवान् समवसरण में आहार करते हैं, गणधर उनके लिये आहार लेने जाते हैं। आज भी श्वेताम्बर परम्परा में उनके गणी स्वयं चर्या को नहीं जाते हैं, उनके शिष्य लाते हैं। भगवान् समवसरण से नीचे उतरते हैं। जब वह भोजन करते हैं तो एक पर्दा लगा होता है। भगवान् किसी को भोजन करते नहीं दिखते हैं। मात्र उनकी अँगुलियाँ दिखती हैं, शेष शरीर नहीं। ऐसा 'कल्पसूत्र' में लिखा है। इस प्रकार से कवलाहार करते हैं। आज भी श्वेताम्बर साधु सब के सामने लायेंगे, परन्तु भोजन एकान्त में ही करते हैं। इसी प्रकार के तर्कों से केवली का कवलाहार सिद्ध किया है। आचार्य प्रभाचंद स्वामी ने 'प्रमेयकमलमार्तंड' में स्त्रीमुक्ति और केवलीभुक्ति का खंडन किया है।

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम्।
आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयानि मुहुर्मुहः॥ कलश 207॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव पुनः कह रहे हैं कि मैं तो मात्र अपनी निज आत्मा के सुख का आकांक्षी हूँ। मेरी जो स्वात्मा है, वह मरण से रहित है। आत्मा अमरणस्वभावी है। जन्म, जरा से रहित है। यही आत्मा का त्रैकालिक धर्म है। इसलिये आत्मा के द्वारा, आत्मा में स्थिर होकर मैं बार-बार उसी की भावना भाता हूँ। किसकी? ऐसी आत्माजो जन्म-मरण से रहित है।

विकल्पोपन्यासैरलममीभिर्भवकरैः
अखण्डानन्दात्मा निखिलनयरश्मेरविषयः।
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्।
तमेकं वन्देऽहं भवभय विनाशाय सततम्।। कलश 208 ।।

पुनः आचार्यश्री कह रहे हैं कि जो संपूर्ण विकल्पों के कथन से बस, अब रहने दो। अलम् यानि शान्त रहो। विकल्पों के उपन्यास से रहित हैं और ऐसे भव को नष्ट करने के लिये, भव को करने वाले इस विकल्प और कथन समाप्त कर दिये। अखंड-आनंद आत्मा। ऐसी अखंडआनंद स्वरूपी है वह आत्मा, जो संपूर्ण विकल्पों से रहित है। आत्मा कौन-से नय से है? समयसार कौन-सा नय है? आत्मा नय के पक्षपात से रहित है। वही चिन्मय चेतन समयसार है। निर्ग्रन्थ दशा को हमने ग्रन्थों में देखा, कहाँ मिलेगा? हम निर्ग्रन्थ दशा के समयसार की अनुभूति इन ग्रन्थों में देखना चाहते हैं, वो मिलने वाली नहीं है। आँखें गड़ा गड़ाकर देख लेना, पृष्ठ को पलट-पलट कर देख लेना, कागज के फूलों में पराग मिलने वाला नहीं है। हे श्रमणो! यदि पराग चखना चाहते हो तो चेतन के समयसार में प्रवेश कर

जाओ। शुष्कता में तुम खोजते हो, इसलिये परस्पर में शुष्क हो रहे हो कि मैं निश्चय, मैं व्यवहार। जबकि तुम्हारे पास न निश्चय है, न व्यवहार है। स्पष्ट समझना, जो द्रव्यसंयम का पालन करे, वो व्यवहार है और शुद्ध आत्मा में लीन हो, वह निश्चय है। आपमें एक भी नहीं दिख रहा है। वास्तव में यह समरसी भाव है, निजी भाव है, निर्मल भाव है और उसे हम कहाँ कागजों में खोज रहे हैं? वह तो कागज पर नहीं, अंत:करण में है। यह तो संकेतसूचक यंत्र है।

भो ज्ञानी! द्रव्यश्रुत साधन है, साध्य नहीं है। साध्य तो भावश्रुत ही है। कल्याण भावश्रुत से ही होगा। द्रव्यश्रुत धारी ग्यारह अंग का पाठी तो मिथ्यादृष्टि अभव्य भी हो जाता है, लेकिन भावश्रुत के अभाव में निर्वाण नहीं होता है। भावश्रुत के अभाव में सिद्धि संभव नहीं है। आचार्यभगवान् यही कह रहे हैं कि, जहाँ पर भव को बढ़ाने वाले उपन्यास अर्थात् विस्तार नहीं है। विस्तार समाप्त हो जाते हैं, बस, अब रहने दो। यह आत्मा तो अखंड-आनंदस्वरूप है, संपूर्ण नय की राशि का अविषय ही है। आत्मा नय का विषय नहीं है। आत्मा नयातीत है। यह नय मिश्रदशा में लगते हैं। यह जितने नय हैं, सब संसारदशा के हैं। क्योंकि वचन का विषय नय होता है। जो आत्मा वचनातीत है, वह नयातीत है। मैं उसकी वंदना करता हूँ, जो हमेशा भव के विनाश में लगा हुआ है। ऐसा अखंड, ध्रुव, टंकोत्कीर्ण, परमपारिणामिक स्वभाव की ओर जो गमन कर रहा है, ऐसा महायोगी ही मेरे द्वारा वंदनीय है, शेष की कोई वंदना नहीं। जिसने भव का विनाश कर दिया है, उनकी वंदना। जो भव का विनाश कर रहे हैं, उनकी वंदना। जो भव-विनाश करने का पुरुषार्थ कर रहे हैं, उनकी वंदना। बस, तीन के अतिरिक्त किसी की वंदना नहीं। पांचों परमेष्ठी इसमें आ गये।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

भो ज्ञानी! आचार्यभगवान् ने गाथा 126 में संकेत दिया कि, जब तक योगी संपूर्ण प्राणियों के प्रति साम्यभाव को प्राप्त नहीं होता है, त्रस व स्थावर हिंसा का परित्याग नहीं करता है, तब तक परमसमाधि संभव नहीं है। उस परमसमाधि की सिद्धि द्वैतभाव से नहीं, अद्वैत भाव से नहीं। जो द्वैत-अद्वैत भाव से परे है, ऐसे निर्ग्रन्थ योगी के ही संभव है। सराग अवस्था जब तक है, तब तक परमसमाधि नहीं। वीतराग अवस्था में ही परमसमाधि की सिद्धि है। इसको आचार्यमहाराज ने बार-बार कहा है और कहा है कि ऐसे आत्मस्वरूप में स्थित परमजिनयोगीश्वर को मेरा बारम्बार नमस्कार है। उसी की मैं सतत भावना भाता हूँ। कभी-कभी नहीं, किंचित-कदाचित भी नहीं, सतत्, बारम्बार भावना भाता हूँ। भोगों की अनुभूतियाँ तूने एक बार नहीं की है और संस्कार भी एक भव के नहीं हैं, अनंत भवों के संस्कार हैं। उन संस्कारों को एक भव में समाप्त करना चाहता है। तीर्थंकर बनने वाली आत्माओं को एक भव नहीं, दस भव लग गये, तब कहीं तीर्थंकरप्रकृति का उदय हुआ। कोई जीव चाहे कि मैं आज ही तपस्या करके आज ही मुक्ति को प्राप्त कर लूँ, तो ऐसा सम्भव नहीं है। प्रबल पुण्य के योग से अनंत भवों की साधना एक भव में सिद्धि कराती है।

भो ज्ञानी! पंचमकाल में मोक्ष नहीं है, इस बात को लेके मत बैठ जाना। मोक्ष नहीं है, पर मोक्षमार्ग का अभाव नहीं है। इसलिये संस्कार लेना आज से ही प्रारंभ करने होंगे। आप कहो कि मोक्ष तो होता ही नहीं है, तो उन्मार्ग में चल दो, शिथिलाचार में चल दो, ज्ञानी! ऐसा मत करना। यह संस्कार तुम्हारे अगले भव में भी चलेंगे। व्रत को छोड़ने के, व्रत को तोड़ने के यदि संस्कार पड़ गये, तो पता नहीं कितने भवों में तुम्हें क्या-क्या भोगना पड़ेगा। अब क्या करूँ, संस्कार ऐसा हो गया। उन अशुभ संस्कारों के त्याग करने के लिये ही तो साधना का मार्ग है और उन्हीं को दोहराते रहे, तो फिर साधना किस बात की? इसलिये पूर्व संस्कारों का परित्याग और साधना के संस्कारों का प्रादुर्भाव, इसी का नाम साधुस्वभाव है।

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं
शुभो भावो भूयोऽशुभपरिणातिर्वा न च न च।
यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो
य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम्।। कलश 209 ।।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि यहाँ सुख-दुःख योनिभूत है। जिससे सुख का उद्भव होता है, दुःख का उद्भव होता है, ऐसे सुकृत और दुष्कृत के समूह से उत्पन्न हुआ ऐसे शुभ का भाव, शुभ परिणाम अथवा अशुभ परिणाम मेरे न हो। दुनियाँ कहती है कि अशुभ न हो, परन्तु मुमुक्षु कहता है कि शुभ भी न हो। योगीन्द्र देव सूरि ने

'परमात्म-प्रकाश' में लिखा है अशुभ को अशुभ कहने वाले पंडित करोड़ों हैं, परन्तु शुभ को भी अशुभ कहने वाले पंडित हजारों हैं।

भो ज्ञानी! पंडित वही है, जिसने अशुभ को पूर्ण छोड़ दिया है और शुभ के विकल्पों से परे है और शुद्धोपयोग में लीन है। यहाँ अशुभोपयोग में लीन पंडित की व्याख्या नहीं है। परमसमाधि में लीन जो आत्मा है, उसी को पंडित यहाँ स्वीकार किया है। इसलिये कह रहे हैं कि शुभ भी न हो, अशुभ भी न हो। जो भववृद्धि का कारण है, वह न हो। इस संसार में इस एक आत्मा को भव का परिचय अत्यन्त रूप से बिल्कुल नहीं है। इस प्रकार से जो भव के गुणसमूह से मुक्त हो चुके हैं, जिन्होंने संन्यास ले लिया है। भव के गुणों से अर्थात् जिन-जिन परिणामों से, जिन-जिन चर्चाओं से, जिन-जिन क्रियाओं से भव की वृद्धि होती है, उससे वे मुक्त हैं। उन्होंने भव के हेतुओं का नाश कर दिया है, अभाव कर दिया है, वृद्ध हो गये हैं, वह भवगुण संन्यासी हैं। भवगुण का अभाव जिन्होंने कर दिया है, वह संन्यासी है।

भो ज्ञानी! जिन क्रियाओं से, जिन अशुभ भावों से, जिन असंयम भावों से, जिन मिथ्यात्व भावों से भव यानि संसार की वृद्धि होती है, ऐसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये बंध के जितने कारण हैं, उनका अभाव कर दिया है। जब तक बंध के कारणों से प्रेम नहीं होगा, तब तक भव की बेल नहीं बढ़ेगी। जिन-जिन मुमुक्षुओं को भव की बेल को बढ़ाना हो, उन्हें बंध के कारणों से तीव्र प्रेम करना चाहिये और जिनको संसार की लता का नाश करना हो, तो भवबंध के कारणों से राग करना छोड़ देना चाहिये। फिर उन्हें उससे विपरीत सम्यक्त्व, संयम, अकषायें, अयोग, अप्रमाद इन गुणों में अनुराग करना चाहिये। यह हो गई शुभोपयोग की दशा। जो परम शुद्धोपयोग की दशा में जा रहे हैं, उन्हें शुभ व अशुभ दोनों के विकल्पों से दूर रहना चाहिये। जो शुभ निदानसहित है, वह संसार बढ़ानेवाला है। जो शुभ सम्यक्त्व के साथ निदानरहित है, वह संसार की लता का नाश करने वाला है। चरम स्थिति में पहुँचने के लिये चरम पुण्य चाहिये। फिर उस चरम पुण्यप्रकृति का भी विनाश हो जाता है। इसलिये मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि जीव शुभ के लिये शुभ नहीं करता है। सम्यग्दृष्टि जीव शुभ व अशुभ दोनों से बचने के लिये शुभ करता है, क्योंकि एक ही उपाय है, बुद्धिपूर्वक आपके पास एक ही मार्ग है। जब आप अबुद्धि में चले जाओगे, तो दोनों विकल्प समाप्त हो जायेंगे।

भो ज्ञानी! आपको यह निर्देश है, आगम का आदेश है कि अशुभ हेतुओं से बुद्धिपूर्वक और पुरुषार्थपूर्वक ही बचना चाहिये। यदि नहीं बचोगे तो ज्ञानी आत्माओ! अशुभ उपयोग तो अपने स्वभाव में आयेगा और शुभ उपयोग को हम खो देंगे। यह यथार्थ है। आपकी भूमिका

शुभ की ओर तीव्रता से बढ़नी चाहिये। पुण्य के तीव्र सद्भाव में इंद्रियविषयों में प्रवृत्ति नहीं जाती है। जो जीव पुण्य-पाप से मिश्रित बैठे होते हैं, ऐसे जीवों की अति तीव्र लिप्सा होती है। लोकनीति के अनुसार हीन कौम के लोगों की संज्ञाओं की प्रवृत्ति अति तीव्र होती है। सिंह, पशुओं का सम्राट, उसे आगम में इंद्र कहा गया है। शत इंद्रों में तिर्यंचों का इन्द्र है। छोटा-सा सिंह हाथी को परास्त कर देता है। सिंह वर्ष में एक बार भोग करता है और एक शूकर, उसकी हालत देखो। जबकि सिंह तामसिक भोजन करता है और शूकर मल खाता है। पर इसकी इंद्रिय-लोलुपता, विषयों में प्रवृत्ति वह साल में एक बार करता है और शूकर की प्रवृति दिन प्रतिदिन जाती है। जिस जीव का वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम अल्प है, वह शरीर की धातुओं-उपधातुओं को सहन करने में समर्थ नहीं होता है। कमजोरी को भी सहन नहीं कर पाता है और ताकत को भी सहन नहीं कर पाता है।

भो ज्ञानी! संयम की साधना पापकर्म के उदय से नहीं होती। उत्तम संहनन जो होता है, उसी में मुक्ति मिलती है। संयम से मोक्ष मिलता है, यह सत्य है। आज भी तो संयम होता है, फिर मोक्ष क्यों नहीं मिल रहा है? संयम की साधना तो है, पर जिस साधना से मोक्ष मिलना चाहिये था, उस साधना के साधन तुम्हारे पास नहीं हैं। साधन यानि उत्कृष्ट संहनन। उत्कृष्ट संहनन पौद्गलिक है, वह पुण्यप्रकृति का उदय है। जैसे लोहे को लोहे से काटा जाता है, ऐसे ही पुण्यप्रकृति को पुण्य से ही आप नाश कर पायेंगे। पुण्यप्रकृति को आप पाप से नाश नहीं कर सकते हो। पापरूप संक्रमित तो कर सकते हो, बढ़ा सकते हो संसार को, लेकिन संसार के नाश हेतु जो पुण्यप्रकृति है, उसे आप पुण्य से ही दूर कर पाओगे। आचार्य देवसेन स्वामी 'भावसंग्रह' में कहते हैं

'सम्माइट्ठी पुण्यम् न होइ संसारकारणम् णियमा।'

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता, मोक्ष का ही हेतु है, यदि निदान नहीं करता है तो। सम्यक् प्रकृति का उदय आना ही आपके पुण्य को बढ़ाना है। कौन-सा पुण्य? संसार को नाश करने वाला। सम्यक्त्व प्रकट हुआ, कि तुम्हारा पुण्य बढ़ा। पहले आप सप्त व्यसन करते थे, उससे पाप का आस्रव हो रहा था, तो व्यक्ति ने, बिना पुण्य चाहे अपनी प्रज्ञा के बल से सप्तव्यसन का त्याग कर दिया तो आस्रव बंद हुआ क्या? नहीं लेकिन आस्रव परिवर्तित हो गया, अब शुभ आस्रव होगा। आपको बांधेगा कि नहीं? नियम से बांधेगा। अब बंधेगा तो उदय में आयेगा। अच्छा कि बुरा? अच्छा आयेगा। मुमुक्षुजीव पुण्य के लिये कभी तपस्या नहीं करता। तपस्वी के कभी पुण्य का आस्रव बंद नहीं होता, होता ही रहता है। वो पाप छोड़ रहा है, क्यों? मेरी पुण्य पाप दोनों प्रकृतियाँ नश जायें। पाप क्यों

छोड़ रहा है? क्योंकि उसे तो मोक्ष दिख रहा है। उसकी दृष्टि में तो दोनों प्रकृतियाँ हैं। उसको पुण्यप्रकृति भी दिख रही है, पापप्रकृति भी दिख रही है क्योंकि दोनों संसार है।

भो ज्ञानी! पाप को छोड़ोगे, तब ज्ञान की महिमा आपकी निर्मल दिखेगी। चतुर्थ गुणस्थान में उस जीव ने एक द्रव्य को छोड़ा, मिथ्यात्व प्रत्यय छूट गया, तो संसारसम्बन्धी पुण्य-आस्रव होगा। पाँचवे गुणस्थान में अथवा देशसंयम में अव्रत नाम का प्रत्यय छूट गया। तत् संबंधी पाप रुक गया। यह पाप क्यों छूटा? मोक्ष के लिये छूटा। आपने बस को छोड़ दिया, तो बस छूट गई। आप रेल में बैठ गये, तो गाड़ी को पटरी तो चाहिये पड़ेगी। मार्ग तय करना है, तो कुछ तो चाहिये पड़ेगा। बिना शरीर के मोक्ष तो क्या, मोक्ष-मार्ग भी नहीं होगा। इधर अव्रती को मिथ्यात्व संबंधी आस्रव रुक गया। छठवें से सातवें गुणस्थान में पहुँचा तो प्रमादसंबंधी आस्रव रुक गया और आगे चला। दसवें गुणस्थान के आगे पहुँचा तो कषायसंबंधी आस्रव रुक गया और जैसे ही तेरहवें गुणस्थान में पहुँचा, तो ईर्यापथयोग चल रहा है, सब अशुभ प्रकृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। अब योग से जो भी आस्रव हो रहा है, वह तीव्र पुण्यास्रव हो रहा है। अंतरंग शुद्धि बढ़े और बाहर की अशुद्धि न छूटे, यह नहीं होता।

भो ज्ञानी! आप कह रहे हो महाराज जी! हमारा अंतरंग शुद्ध हो रहा है, मिथ्यात्व विगलित हो रहा है और आप जाकर कुदेवों के यहाँ सिर पटक रहे हो, अगरबत्तियां लगा रहे हो। क्या हो रहा है? मिथ्यात्व विगलित होने पर भी मनौती और वरदान माँगता ही रहता है। मिथ्यात्व संकुचित होने पर अन्य को छोड़कर पारसनाथ स्वामी के पास वरदान माँगने आ गया। अभी मिथ्यात्व संकुचित हो रहा है, आकांक्षा तो सम्यक्त्व का दोष है। भो चेतन आत्मा! सिद्धान्त की सिद्धि तर्क से कर लोगे तो फिर कभी अश्रद्धान नहीं होगा।

तेरहवें गुणस्थान में जब पहुँचे तो मन की क्रियायें समाप्त, मन के विकल्प समाप्त, क्षायोपशमिक अवस्था समाप्त, क्षायिक अवस्था प्रारंभ हो गई है। कर्मबंध बंद हो रहा है, निर्बन्ध हो रहे हैं, कोई विकल्प नहीं है। जैसे ही तेरहवें गुणस्थान में पहुँचा जीव, पुण्यप्रकृति कहती है कि हम अपना उदय तो दिखायेंगे। उधर शुक्लध्यान कह रहा है कि हम तुमको जलायेंगे। एक-साथ क्रिया चल रही है। जैसे स्वर्णकार मंद धोकनी से धमन करके अल्प अग्नि के तेज से सोने को चमका रहा है, आभूषण बना रहा है, ऐसे ही कुंदकंद देव समयसार जी के पाप-पुण्य अधिकार में लिखते हैं कि भव्य सम्यग्दृष्टि मुमुक्षुजीव धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की उस धोकनी के द्वारा धीमे-धीमे कर्म क्षय करता है। एकसाथ अग्नि लगाने से काम बिगड़ जायेगा। शरीर को छोड़ना तो है, शत-प्रतिशत इससे रहित होना है, लेकिन शरीर का नाश करके इससे रहित नहीं हो पायेगा। शरीर को कुचल करके, नाश करके तुम

सिद्ध नहीं बन पाओगे। नोकर्म बाद में छूटेंगे, पहले कर्म छूटेंगे। चार घातिया कर्म पहले छूटेंगे। यदि नोकर्म नाश कर लिया होता, तो आज हमें देशना देने वाला कोई नहीं मिलता। आज हमारी हालत क्या होती? स्वयं समझो, नोकर्म यानि शरीर का नाश नहीं करा देना। मंद धोकनी चल रही है और ज्ञान से मोक्ष मत दिला देना। यदि आपने ज्ञान से मोक्ष कर दिया, तो सर्वज्ञ की वाणी आपको सुनने नहीं मिलेगी। वैशेषिक दर्शन और बौद्धदर्शन ज्ञान से मोक्ष मानता है। जब ज्ञान से मोक्ष हो ही गया, तो अब प्रश्न है कि जैसे ज्ञान हुआ तो फिर बुद्ध को बोधि किसने करायी? जो बोधि बौद्ध को प्रकट हुई और उनका मोक्ष हो गया, तो यह बताओ यह जो उनको बोधि की प्राप्ति हुई है, उसे किसने दिया? ऐसे ही सर्वज्ञ को कैवल्य प्रकट होते ही, यदि आप ज्ञान से मोक्ष मानते हो, तो जैसे ही केवलज्ञान होगा, उनका मोक्ष हो जायेगा, फिर केवली की वाणी खिरेगी नहीं। तो दिव्यध्वनि का निषेध, जिनशासन का समापन।

भैया! इसलिये ज्ञान से मोक्ष कभी नहीं कहना। मोक्ष तो संयम से ही होता है। इसलिये 14वें गुणस्थान की व्यवस्था स्वतंत्र रखी है। 13वें गुणस्थान में कैवल्य तो करा दिया, पर निर्वाण नहीं कराया। यदि 13वें गुणस्थान में मोक्ष करा दिया होता, तो आज जिनशासन नहीं होता। धर्म का उपदेश, दिव्यध्वनि 13वें गुणस्थान में होती है। 14वां गुणस्थान यह पाप के नाश के लिये नहीं, पुण्य के नाश के लिये है। इसलिये पहले केवली बन जाओ, फिर पुण्य के नाश के लिये सोचना। बस में सीट नहीं मिलती है तो जैसे डंडा पकड़े रहते हो, उसी तरह अभी पुण्य का डंडा पकड़े रहना सीट मिलने तक, अरिहन्त अवस्था तक।

जिन्होंने शीलरूपी हार को धारण कर लिया है और दु:शील के हार को उतार दिया है, ऐसे संपूर्ण साधु जयवन्त हों। आचार्यभगवान् वीरसेन स्वामी 'धवला' जी में निर्मल शुद्धता को प्राप्त करने वाले उन साधु को नमस्कार कर रहे हैं। तुमने दु:शील के हार को तो उतारा नहीं है और शील के हार की लड़ियाँ तुम तोड़-तोड़के फेंक रहे हो। जब तक दु:शील का हार नहीं हटाओगे और शील का हार धारण नहीं करोगे, तब तक 'साधु' संज्ञा नहीं आयेगी। श्रद्धा तुम्हारी निर्मल है, तो ज्ञान 'ज्ञान' है और श्रद्धा निर्मल नहीं है, तो ज्ञान 'अज्ञान' है। अज्ञान कभी चारित्र होता नहीं और अज्ञान वाला 13वें गुणस्थान में पहुँचता नहीं है। 13वें गुणस्थान में ज्ञान अज्ञान की आवश्यकता नहीं क्योंकि वहाँ केवलज्ञान बैठा हुआ है, यथाख्यात चारित्र बैठा हुआ है। यथाख्यात चारित्र में आप अज्ञान मानते हो क्या?

भो ज्ञानी! जब जीव चतुर्थ गुणस्थान में आया, तो उसका संपूर्ण अज्ञान ज्ञान हो गया और अब वह हल्ला नहीं करेगा। मेरी आत्मदृष्टि पर दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मदृष्टि है। आत्मदृष्टि नहीं, तो सम्यग्दृष्टि किस बात का है? आत्मदृष्टि जिसकी है, वो ही सम्यग्दृष्टि है। आत्मदृष्टि यानि छह: द्रव्य, पंचास्तिकाय, नौ पदार्थ, सात तत्त्व में उपादेयभूत यह एक

मेरी निज आत्मा है। ऐसी आत्मदृष्टि आगम में कही गई है। उसे आपने मान लिया शुद्धोपयोग, शुद्धदृष्टि पर दृष्टि। शुद्धदृष्टि तो शुद्ध दर्शन केवलदर्शन है। शुद्ध ज्ञान यानि केवलज्ञान। इसके पहले सभी दृष्टियाँ अशुद्ध दृष्टियाँ हैं, सभी ज्ञान अशुद्ध ज्ञान हैं। अध्यात्म की भाषा में सप्तम गुणस्थान से शुद्ध दृष्टि, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध संयम है। यहाँ सम्यग्दर्शन हो गया है, उस जीव के लिये व्यवहार शब्दों में उसको शुद्ध ही कहा है। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने स्पष्ट शब्दों में उसको शुद्ध ही कहा है। शुद्ध दृष्टि का तात्पर्य शुद्ध सम्यग्दृष्टि लगाना। स्नेह से, रागवश, प्रेमवश, लोभवश वह सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुआगम और कुलिंग को नमस्कार नहीं करता। क्षपणा की अपेक्षा चर्चा करेंगे तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि यानि क्षायिक सम्यग्दर्शन। उपशम की दृष्टि से उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षयोपशम की चर्चा करोगे तो 25 दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि। तीनों शुद्ध दृष्टियाँ हैं, लेकिन अपेक्षा लगाते रहना।

भो ज्ञानी! चौथे गुणस्थान में शुद्ध द्रव्यदृष्टि तो है, शुद्ध दृष्टि नहीं है। यदि शुद्ध द्रव्य-दृष्टि नहीं, तो आगम चौथा गुणस्थान नहीं मानता। सम्यक्त्व की अपेक्षा से शुद्ध दृष्टि है, चारित्र की अपेक्षा से शुद्ध दृष्टि नहीं है। सम्यक्त्वाचरण है उसके पास, संयमाचरण नहीं है। पं. दौलतराजी ने कहा "यो है सकल संयम, सुनिये स्वरूपाचरण अब"। वह शुद्ध दृष्टि है। स्वरूपदृष्टि है शुद्ध दृष्टि। अध्यात्मग्रन्थों का सामंजस्य व्यवहार श्रावक व्रत में जोड़ोगे तो कभी पार नहीं पाओगे। अध्यात्मग्रन्थों का जोड़ शुद्ध अध्यात्म तक ही छोड़ दो।

ज्ञानी! आगम की भाषा में सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य संसार का कारण नहीं है, परम्परा से मोक्ष का कारण है। मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्य नियम से संसार का कारण है। सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य इन्द्र आदि पद को देता है और मिथ्यादृष्टि का पुण्य भवनत्रिक में ले जाता है, असुरादि बनाता है। असुरादि की प्राप्ति भी बिना पुण्य के नहीं होती है। मिथ्यात्व के साथ अर्जित किया हुआ पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण होता है और शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्ष का कारण होता है। बिना परम्परा के साक्षात् आयेगा नहीं। परम्परा के साथ ही साक्षात् आयेगा। कारण-कार्य भाव लगाना पड़ेगा। कारण-कार्य के अभाव में कभी कार्य की सिद्धि नहीं होगी। गुणस्थान रहित व्याख्यान करोगे तो जैसी विडम्बना हो रही है, ऐसी होती रहेगी, कभी समाप्त नहीं होगी। अध्यात्म का कथन करें, पर गुणस्थान लेके चलें। गुणस्थान का कथन नहीं करोगे तो नियम से अध्यात्म के साथ खिलवाड़ होगा। गुणस्थान यथायोग्य लगाओ। गुणस्थान चौथे से शुरु नहीं होता, पहले से ही शुरू हो जाता है।

ज्ञानी! द्रव्यानुयोग के साथ व्याकरण समझने की आवश्यकता है। द्रव्यानुयोग में प्रवेश करने के लिये बहुत जानने की आवश्यकता नहीं है, पर व्याख्यान करने के लिये, समझने

के लिये बहुतकुछ जानना पड़ेगा। व्याकरण तो प्रथम आवश्यक है। उदाहरणार्थ आपको आत्मानुभूति किसने, किसके कराई? निज ने, निज को, निज के द्वारा, निज के लिये, निज से, निज में। अब जिसको व्याकरण का षट्कारक का ज्ञान नहीं है, वह समयसार कैसे समझेगा? आगे फिर न्याय और नय को पकड़ना। न्याय अलग है, नय अलग है। जिसे निश्चय-व्यवहार नय का ज्ञान नहीं है, वो समयसार क्या जानेगा? जिसको न्याय का ज्ञान नहीं है कि आत्मा शुद्ध-बुद्ध है त्रैकालिक। आपने कह तो दिया, लेकिन किस दृष्टि से कहा? कहीं 'सदाशिव' का दृष्टिकोण तो नहीं है कि हम संसार में आत्मा को मुक्त नहीं मानते? हम कर्मबद्ध आत्मा में स्वभावदृष्टि से निर्बंधता देख रहे हैं, इसलिये हमने शुद्ध-बुद्ध कहा है, न्याय आ गया। शब्दार्थ, आगमार्थ, भावार्थ, मतार्थ, नयार्थ इन पांच बातों का ध्यान देना अनिवार्य है ग्रन्थवाचक को, लेखक को और श्रोता को। जब तक पांच बातों का ध्यान नहीं है, सामान्य श्रोता तो कहला सकते हो, लेकिन जिनवाणी में जिसे श्रोता कहा है, वो नहीं हो। जैसे वक्ता को ज्ञानी होना चाहिये, वैसे श्रोता को भी। नहीं-तो वक्ता का वक्तव्य किसके लिये? इसलिये वक्ता श्रोताओं को देखकर वक्तव्य दे।

भो ज्ञानी! अध्यात्म को जानने के लिये करणानुयोग का ज्ञान अनिवार्य है। एक करण की परिणति का कथन करता है और एक आत्मा की स्थिरता का कथन करता है, पर बातें दोनों एक-सी हैं। एक करण यानि आत्मभाव, आत्मा के परिणाम और करण-परिणामों की हानि-वृद्धि का नाम ही गुणस्थान है। जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ेगा, नियम से विशुद्धि बढ़ेगी। उस विशुद्धि का नाम ही अध्यात्म है। क्योंकि विशुद्धि से स्थिरता आती है और स्थिरता का होना अध्यात्म है। विशुद्धि का होना ही भावश्रुत है। विशुद्धि नहीं है तो भावश्रुत नहीं है। द्रव्यश्रुत को मोक्ष का कारण मान लेना, यह तत्त्व की सबसे बडी भूल है। द्रव्यश्रुत मोक्ष का कारण नहीं है। द्रव्यश्रुत तो भावश्रुत का कारण है और भावश्रुत मोक्ष का कारण है। यदि द्रव्य-श्रुत मोक्ष का कारण होता, तो शिवभूति महाराज को केवलज्ञान नहीं होना चाहिये। लेकिन मात्र छः अक्षर "तुस मास भिन्नं " का ज्ञान था, लेकिन भावों की विशुद्धि थी। इसलिये कम-से-कम अष्ट-प्रवचन-मातृका का ज्ञान अनिवार्य है। पांच समिति, तीन गुप्ति। द्रव्यलिंग से भावलिंग का उद्भव होता है। यह ध्यान रखना कि पहले 7वां गुणस्थान बनता है, फिर 6वां गुणस्थान बनता है।

भो ज्ञानी! "पुण्य-पाप सब नाश कर ज्ञान भानु परकाश", जब तक पुण्य का नाश नहीं होगा, तब तक ज्ञानसूर्य प्रकट नहीं होगा। पर जब तक ज्ञान-भानु का उदय नहीं होगा, तब तक पुण्य-पाप का नाश होने वाला नहीं है। यह सद्सत्ता है। सत्ता अटल होती है। सत्ता में ही सब रस आते हैं। खट्टा भी होगा तो सत्ता में होगा, मीठा भी होगा तो सत्ता में ही होगा।

आप ज्ञान का मिठास और कड़वापन मत देखो। आप पहले आत्मा की सिद्धि कर लो, मोक्ष की सिद्धि बाद में करते रहना। आत्मा की सिद्धि हो गई, तो उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र सब सिद्ध हो जायेंगे और फिर मिठास भी आ जायेगी। पहले रूखी सत्ता तो मिल जाये। सत्ता इसलिये रूखी है कि उसमें सबकुछ मिठास भरी हुई है। अनंत धर्मों से युक्त जो सत्ता है, वो अनेक वक्तव्यों से युक्त होती है। सत्ता का इतना वक्तव्य होता है कि सर्वज्ञभगवान् ही कह पाते हैं। आप कितना ही व्याख्यान कर लो, लेकिन सत्ता का सत्य पूर्णरूप से नहीं कह सकते हो। सत्ता को कहने के लिये सर्वज्ञ बनना पड़ता है। सत्ता को सत्तारूप कहने में मात्र केवली भगवान् समर्थ हैं। देशना में जो भी खिरेगा, वह जानेंगे अभेद से ही प्रमाण से। "सम्यग्ज्ञान प्रमाणम्"। जो उनके प्रमाण में जाना जा रहा है और श्रुत नय के अनुसार चलता है। इसलिये ध्यान रखो, बिना नय के आपका कदम नहीं चल सकता है। समझने के लिये प्रमाण,नय,निक्षेप। निक्षेप यानि न्यास, ट्रस्ट । किसी व्यवस्थित वस्तु को स्थापित करके, निक्षेपित करके कि यह ट्रस्ट है, न्यास है, निक्षेप है। जैसे आपने चार व्यक्ति इक्ट्ठे किये और कहा अमुक समिति है, न्यास है, ट्रस्ट है। ऐसे ही नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव वह चार प्रकार से पदार्थों को जानने का न्यास किया जाता है, वह निक्षेप है। आप भाव से मनुष्य हो, कि द्रव्य से मनुष्य हो, कि नाम के मनुष्य हो, कि स्थापना के मनुष्य हो? कौन-सा-न्यास है आपका? लोकव्यवहार के लिये नाम रखा जाता है। किसी द्रव्य का नाम मनुष्य रखा जा सकता है, जो द्रव्य से मनुष्य नहीं है, तिर्यंच है। कोई जीव मनुष्य बनने वाला है और द्रव्य से मनुष्य व भाव से मनुष्य जो वास्तव में मनुष्यगति में है। जैसे किसी का नाम जिनेन्द्र रख दिया, वह नाम का जिन है। जिनेन्द्र की प्रतिमा स्थापना-जिन है। कोई जीव मुनिमुद्रा में बैठा है, एक मुहूर्त के बाद केवलज्ञान होने वाला है, वह द्रव्य-जिन है और जिनका समवसरण लगा है, वो भाव से जिन हैं, वास्तविक जिन हैं। जिनेन्द्र की प्रतिमा स्थापना-जिन है। स्थापना-जिन उपचार से जिनेन्द्र के समान पूज्य है। चारों निक्षेप अपनी व्यवस्था पर हैं। यदि आप जिनविम्ब को नहीं मानोगे, तो एक निक्षेप समाप्त हो जायेगा, 'तत्त्वार्थसूत्र' के सूत्र में आपकी भूल खड़ी हो जायेगी। "नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव-तस्-तन् न्यासः" यह निक्षेप है।

भैया! पुण्य को हेय मत कहना, उपादेय भी नहीं कहना, परन्तु पाप हेय है, पुण्य उपादेय है, और पाप-पुण्य से रहित अवस्था ही परम उपादेय है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

नियमदेशना

भो मनीषियो! परमसमाधि अधिकार में आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी ने निर्ग्रन्थ योगी की उस अनुपम वृत्ति का कथन किया जहाँ पर संपूर्ण विकल्पजाल से मुक्तता प्रारंभ हो जाती है। ऐसी अवस्था को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने नमस्कार किया है। जो संपूर्ण सुकृत और दुष्कृत के विकल्पों से रहित हो चुके हैं, ऐसे श्रेष्ठ चारित्र से युक्त उन यति को यहाँ नमस्कार किया है, जिन्होंने भव के कारणों से संन्यास ले लिया है। संन्यास तो बहुत लोग लेते हैं। लेकिन उनने उन भावों से भी संन्यास ले लिया है जो भव के कारण हैं। शरीर से संन्यास लेना, घर से संन्यास लेना, भोगों से संन्यास लेना, यह सब सरल है। उन भावों से मुक्त हो जाना कि हम ऐसे भाव भी नहीं लायेंगे, वही संन्यास है। जिनको ऐसा संन्यास समझ में नहीं आता, वे परम संन्यास को नहीं समझते। आडम्बर को ही संन्यास समझते हैं। वास्तव में जो संन्यास है, यथार्थ मार्ग है, वो उनको समझ में नहीं आता है, रुचता नहीं है। उनको समझ में यही आता है, कि जो यह संन्यास हम कर रहे हैं, रूढ़ियों में जी रहे हैं, वो ही संन्यास है। आचार्यमहाराज ने देह के संन्यास को संन्यास नहीं कहा, भावों के संन्यास को संन्यास कहा है। इसी को कलश में कह रह हैं।

इदमिदमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटित-सहजतेजःपुंजदूरीकृतांहः।
प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम्॥ कलश 210॥

वह चैतन्यचमत्कार मात्र ज्योति संसार में सदा जयवंत रहे जिसने कि पारूपी सेना की विजयपताका का हरण कर लिया है। जिसने ऐसे स्फुरायमान सहज तेजपुंज, ऐसे अघ को जिन्होंने दूर किया है। जो मिथ्यात्व का, अज्ञान का घोर अंधकार है, उसको उन्होंने अपने तेज से दूर किया है। कैसा है वह तेज? जो सदा शुद्ध-शुद्ध है, नित्य है। ऐसा चेतन-चमत्कार मात्र जो है, वह जगत में नित्य ही जयवन्त हो। कौन? ऐसा सहज तेज आत्मा का, जो पाप की ध्वजा को हरण करने वाला है, अंधकार को नाश करने वाला है, वह आत्मतत्त्व जगत में नित्य ही जयवंत हो। इसी को अगले कलश में कह रहे हैं।

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम्।
विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम्॥ कलश 211 ॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि सदा जयवन्त हो। क्या? पापी आत्मा नहीं, जो निर्दोष, पाप से रहित आत्मतत्त्व है, वह जयवन्त हो, जय हो। जो संसार का अस्त कर चुका है। महामुनियों के गण के अधिनाथ, ऐसे गणधरदेव के हृदयकमल में विराजमान है, भवों के कारणों से मुक्त है, प्रकटरूप से शुद्ध है और एकांत से सदा अपनी महिमा में लीन होते हुये भी सम्यग्दृष्टियों का गोचर है।

भो ज्ञानी! विहार एकल ही होता है, परन्तु चरणानुयोग की व्यवस्था को भंग करके नहीं हेाता है। समवसरण में विराजे चौदह हजार मुनियों के साथ वह वर्द्धमान महावीर स्वामी, फिर भी एकलविहारी थे। निज में विहार एकल ही होता है। दो का विकल्प रखोगे तो कभी भी निज में विहार नहीं कर सकोगे। मेरा संघ, मेरे शिष्य, मेरा गुरु यह विकल्प जब तक जयवन्त रहेंगे, तब तक "जयति जयवन्त नित्यम्" आत्मा नहीं होगी। इसलिये संघ तो बनाके चलना, पर संग नहीं बनाना। संघ से तात्पर्य चतुर्विध मुनिसंघ और संग का अर्थ होता है परिग्रह। उसको मुनिसंघ बनाके चलना, पर उसे परिग्रह मान कर नहीं चलना। यदि ममत्वदृष्टि से देखोगे तो संघ नहीं बचेगा, संग हो जायेगा। इसलिये निसंग योगी। निसंग स्वरूपोऽहम् मेरी दृष्टि है।

भो ज्ञानी! एकलविहार निज का करो। चरणानुयोग की व्यवस्था को भंग करके एकलविहारी तो हो जाओगे, पर एकलविहार नहीं कर पाओगे। आप संघ छोड़कर चले गये तब जब तुम परिचित स्थान में पहुँचोगे, तो लोग पूछेंगे कि महाराज! संघ कहाँ है? किस-किस को क्या उत्तर दोगे? एकल होकर भी एकल नहीं रह पाओगे। यहाँ जो चर्चा चल रही है, एकल चित्त की चर्चा चल रही है एकलविहारी मृगाचारी की चर्चा नहीं है। जो एकलविहार करता है, आगम उसे मृगाचारी कहता है कि जैसे मृग जंगल में स्वच्छन्द विचरण करता है, वैसे वह चरणानुयोग में स्वच्छद विचरण करता है। चतुर्विध संघ के साथ रहना, पर ममत्व नहीं रखना, लेकिन वात्सल्य रखना, उसको मत सुखा देना। आपने कहा कि मुझे एकान्त में साधना करना है। आप साधुओं से तो दूर हट गये, श्रावकों से तो मिलोगे, कहीं तो बैठोगे। एकान्त बचा कहाँ? भैया! एकान्त के अर्थ का लोगों ने दुरुपयोग कर लिया है। एकान्त का वास्तविक अर्थ है कि एक कमरे में बीस साधु भी रहें, फिर भी आप अपने में रहो। एकान्त है। आगम में सब क्रियायें सामूहिक लिखी हैं। पूरे 'मूलाचार' में कहीं नहीं लिखा कि अकेले सामायिक करो, प्रतिक्रमण करो अकेले कमरे में बैठ करके। पूरे ग्रन्थ में लिखा है कि सामूहिक बैठके करो। सामूहिक क्यों कहा? अकेले में हो सकता है नींद आ जाये, प्रमाद आ जाये। संघ में रहकर अकेले रह सकते हो, पर अकेले रहकर अकेले नहीं रह पाओगे। देह से अकेले भटकोगे तो मृगाचारी हो जाओगे। विकल्पों से अकेले होना एकलविहार है।

देह के एकलविहारी वही हो सकते हैं, जो वज्रवृषभनाराच संहननधारी हैं।

भो ज्ञानी! एकलविहारी के अर्थ का अनर्थ मत करना। आचार्यमहाराज के कलशों को लेकर अपने ख्याति के कलश का पोषण मत करना। कुछ लोगों की नहीं बनी तो उन्होंने अपनी ख्याति का पोषण कर लिया, कलशों को लेकर, कि हम अकेले भले। पंचमकाल में किसी भी परिस्थिति में अकेले भले नहीं हैं। एकान्त का अर्थ है प्रपंचों से परे रहना।कहीं बाजे बज रहे हैं, कहीं शोर हो रहा है, तो कहाँ-कहाँ बन्द करवाओगे? चारित्रचक्रवर्ती ग्रन्थ में उल्लेख है, किसी ने कहा महाराज! आप जब सामायिक करते हो, तब बहुत हल्ला हेाता है। आचार्यमहाराज बोले, 'जब मैं सामायिक करता हूँ, तो सामने बाजे भी बजें तो पता नहीं चलता है।' अतः आप यह कभी मत सोचना कि पहले मैं निमित्तों का नाश कर दूँ, फिर संयमी बनूँ। फिर तो इंद्रियाँ कुचलनी पड़ेंगी, आँखें फोड़ना पड़ेंगी, तब संयमी बनोगे। फिर संयम का पालन कैसे करोगे? निमित्त को नाश करके साधु नहीं बना जाता, उपादान को संभालकर साधु बना जाता है।

भो ज्ञानी! कोई कहे कि शहर में बहुत ज्यादा भोगसामग्रियाँ होती हैं। वास्तव में जंगल में शहर से ज्यादा भोगसामग्रियाँ होती हैं। भोग भोगने के लिये भोगी एकान्त में ही जाता है। जंगल-जैसा एकान्त कहाँ मिलेगा आपको? निज का भोग भी एकान्त में होगा, पर का भोग भी एकान्त में होगा। इसलिये आगम कहता है कि जंगल और शहर के विकल्प में मत जाओ। जंगल में भी आप निज भवन में हो तो श्रेष्ठ है जंगल और जंगल में आपको घर की चिन्ता है, तो जंगल भी तुम्हारे लिये जंगल नहीं है, वो भी शहर ही है। तीर्थ में रहकर भी चिंता है कि वो बहुत दिनों से नहीं आये, तो हम तीर्थ में रहकर भी तीर्थ में नहीं हैं। जंगल में रहकर आप फोन करते हैं कि हम यहाँ हैं, ऐसे हैं, तो जंगलवास नहीं है। इसलिये स्पष्ट लिखा है कि पंचमकाल में तुम्हारी सामर्थ्य परिणामों को संभालने की नहीं है, तो शहर में ही रहो। वनवास कोई मूलगुण नहीं है। चतुर्थकाल में भी साधुओं ने नगरों में चातुर्मास किये हैं।

भो ज्ञानी! चातुर्मास इसलिये किया जाता है कि जीवहिंसा न हो। जो ऋद्धिधारी मुनिराज हैं, आकाशगमन करते हैं, उन्हें चातुर्मास की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान में कोई महाराज जंगल में चातुर्मास करने लगे, तो श्रावक गाड़ियाँ लेकर वहाँ जायेंगे, चौका लगायेगे। आने जाने में गाड़ियों से कितनी हिंसा होगी? पहले मुनिराज जो जंगल में वास करते थे, चातुर्मास करते थे, वे आहार के लिये नगर में आते थे। कोई गाड़ी लेकर चौका लगाने नहीं जाता था। अतः जंगल में चातुर्मास का निषेध है। जंगल में भवन बनाकर रहना जंगलवास नहीं है। जंगलवास तो वृक्ष के नीचे बैठना है। निर्विकल्प बैठे हैं। जब क्षुधा सताई, तो आहारचर्या के

लिये नगर की ओर आ गये और चर्या करके पुनः वहीं पहुँच गये। हम स्वाधीन हैं, आपके आधीन नहीं हैं। यह राजमार्ग है, यथार्थ मार्ग है।

भो ज्ञानी! आप युवा हो, शरीर काम कर रहा है, तो लगातार उपवास करने की आज्ञा आगम नहीं देता है। क्योंकि जो असमय में मरना चाहता है, वह समाधि नहीं कर रहा है। उनसे आगम पूछ रहा है, क्या तुमको संयम भाररूप लग रहा है? जिस समय श्रवणवेलगोल में आचार्य भद्रबाहु स्वामी की सल्लेखना-समाधि चल रही थी, उस समय चन्द्रगुप्त मुनिराज की सेवा में थे। उनसे भद्रबाहु स्वामी ने कहा, बेटा! तुम्हारी समाधि नहीं चल रही है, तुम चर्या को उठो। उस समय चन्द्रगुप्त मुनिराज ने कहा, प्रभु! यहाँ कहाँ चर्या करेंगे? बोले, चर्या को उठो, विधि नहीं मिले तो तुम्हारा भाग्य। लेकिन तुमको चर्या को निकलना होगा। निकले थे, चार दिन परीक्षा भी हुई, फिर आहार भी हुये थे। वहाँ आहार भी हुये थे, बाद में प्रायश्चित भी किया था। देवों से आहार नहीं ले सकते, क्योंकि वे असंयमी होते हैं। आहार का प्रायश्चित क्यों लिया? क्योंकि विक्रिया का भोजन था। देवता के निमित्त से बनाया गया भोजन, चढ़ाने के उद्देश्य से चढ़ाया गया भोजन, ज्योंनार के हेतु बनाया गया शुद्ध भोजन, पात्रदान नहीं है, वो बलि नाम का दोष है। भो ज्ञानी! आपने निर्वाण हेतु लाडू बनाये, शुद्ध थे। उसमें से महाराज को आहार में मत देना, क्योंकि अरिहन्त देव के निमित्त से बनाये थे। किसी देवता आदि के निमित्त से बनाये हों तो भी मत देना। बलि नाम का दोष है।

भैया! किसी ने कहा कि समवसरण में एकेंद्रिय जीव नहीं होते हैं। समवसरण क्या ऐसा आकाश का प्रदेश नहीं है जहाँ एकेन्द्रिय जीव ठसाठस न भरे हो? निगोदिया जीव तो सिद्धालय में भी हैं। मात्र आठ स्थान ऐसे हैं जहाँ निगोदिया जीव नहीं हैं, पर एकेन्द्रिय तो सर्वत्र हैं। केवली, नारकी, देव, पृथ्वीकाय, अग्निकाय, वायुकाय और आहारक शरीर, इनमें निगोदिया जीव नहीं होते हैं। बाकी के तीनों लोकों में ठसाठस भरे हैं।

भो ज्ञानी! अहिंसा भावों पर निर्भर है। "प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा।" प्रमाद के कारण जीव वध के भाव से तुमने मारा है, वह हिंसा है। तीर्थंकर मुनिराज भी विहार करते हैं, श्वास लेते हैं, तो किसी ने कहा कि अहिंसा महाव्रत तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि जमीन पर चलेंगे। इसका उत्तर है कि प्रमाद के योग से किसी जीव का वध करना हिंसा है। वे देखकर चल रहे हैं, किसी जीव की हिंसा का भाव नहीं है, प्रमाद नहीं है। यह सूत्र पाँचों पाप में लगाना पड़ेगा। स्त्री पुरुष के स्पर्श को मैथुन कहते हैं। किसी महिला का स्वपति-संतोष व्रत है, शीलवती है और पुरुष के छूने से अब्रह्म होता है, यह सत्य है। उसका शिशु है, बालक है, वो परपुरुष है कि नहीं? परपुरुष है, तो अब्रह्म हो गया। बोले कि नहीं

हुआ। क्यों? क्योंकि वहाँ रमण का भाव नहीं था, वहाँ बालक को आंचलपान कराने की दृष्टि थी। जब वही बड़ा हो जाता है, तो माँ से दूर रहता है ब्रह्मचर्य पालन की दृष्टि से। इसी प्रकार पाँचों पाप में लगाना। किसी का चश्मा छूट गया, आपने उठा लिया कि मैं उनको दे दूँगा, तो चोरी हुई क्या? सिद्धान्त से किसी की गिरी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु को उठाना चोरी है। परिभाषा को समझना बहुत जरूरी है। यदि चोरी की दृष्टि से उठाया है, तो चोरी है, अन्यथा नहीं। यदि आपको कहीं जिनप्रतिमा दिख गई पड़ी हुई, तो आप उठाओगे कि नहीं? वह चोरी नहीं है, क्योंकि परद्रव्य हरण का भाव तुम्हारा नहीं है, आपका विनय का अभिप्राय था।

भो ज्ञानी! इसी तरह सत्य का कथन है। कोई किसी को मारने जा रहा है, आपसे पूछा 'वह इधर गया है क्या?' यदि आपने कहा 'हाँ, इधर गया है,' तो आचार्य समंतभद्र स्वामी कहेंगे कि आपने सत्य नहीं कहा, झूठ कहा, क्योंकि उसको विपत्ति में डाल दिया। ऐसा सत्य नहीं कहना। 'सर्वार्थसिद्धि' में प्रत्येक पाप के साथ 'प्रमत्त' शब्द जोड़ा है।जब भी आप प्रवचन की गद्दी पर बैठो तो कहना वही, जो आगम कह रहा है। परन्तु कहीं की व्यवस्था में उलझना मत। जहाँ की जैसी व्यवस्था है, चलने दो, लेकिन तत्त्व की बात वही कहना, जो आगम में लिखी है। हर क्षेत्र की व्यवस्था होती है, हर समाज की व्यवस्था होती है, उसको आप रहने दो। लेकिन जिनवाणी की जो व्यवस्था है, जैसी है वैसी कहना।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो अंतर आत्मा है, वो जयवन्त हो। जो निर्दोष आत्मा है, वो जयवन्त हो। जिन्होंने यहाँ पर संसार का अस्त कर दिया है यानि संसार का नाश कर दिया है। ऐसे कौन? संसार का नाश राग से नहीं होगा, वीतरागता से होगा। उस वीतरागता का हेतु विराग है। वैराग्य हुआ नहीं और उसे चारित्र हो जाये और वीतरागता प्रकट हो जाये, यह त्रैकालिक असंभव है। जो महामुनियों के समूह के नाथ हैं, गणधर परमेष्ठी, उनके हृदयरूपी कमल में जो विराजमान है, वे भव के कारणों से रहित, निर्मल स्फुरमान, शुद्ध, एकान्त से सदा अपने निज-आत्मा की महिमा में लीन होते हैं। जो सम्यग्दृष्टियों के ही गोचर है, वह शुद्धात्मतत्त्व वीतराग सम्यग्दृष्टि। वीतराग सम्यग्दृष्टि क्यों कह दिया? क्योंकि सम्यक्त्व तो चौथे गुणस्थान से शुरू हो जाता है, पर वीतरागता सप्तम गुणस्थान से ही शुरू होती है। आचार्यभगवान् ने जहाँ वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा है, वहाँ अभिप्राय है सप्तम गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के अविनाभावीभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि से। यह शुद्धात्मा पाप से रहित वीतराग सम्यग्दृष्टि के गोचर है।

भो ज्ञानी! अनेक के बीच में, नाना विकल्पों में बैठकर कभी शुद्धात्मा नहीं दिखती। जब निज में अकेला होगा, तभी निज शुद्धात्मप्रभु को जानेगा। इसलिये 'एकान्त' शब्द दिया है। एकान्त से कोई पक्ष नहीं लेना। एक निजस्वभाव में एक ही मुख्य होना, उसका नाम एकान्त है। जब तक निजस्वभाव में एक नहीं होगे, अकेले विहार नहीं करोगे, तब तक आप अनंत से नहीं मिल पाओगे। अकेले विहार करना पड़ेगा, तभी अनंतों से मिलोगे। समझना, रकल विहारी नहीं हो जाना। अकेले विहार करोगे यानि निज आत्मविहार में अकेले ही विचरण होगा, तभी अनंतों से मिलोगे अर्थात् अनंतज्ञानादि गुणों से मिलन करोगे। जब तक अकेले विचरण नहीं करोगे, तब तक अनंतज्ञानादि गुणों से मिलन नहीं होगा।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 127

नियमसार

उत्थानिका : आत्मा ही उपादेय है, ऐसा कहते हैं—

गाथा : जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥127॥

संस्कृत छाया : यस्य सनिन्नहितः आत्मा संयमे नियमे तपसि।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने॥127॥

अन्वयार्थः (यस्य आत्मा) जिसकी आत्मा (संयमे) संयम में (नियम) नियम में और (तपसि) तप में (सन्निहितः) निकट है (तस्य) उसके (सामायिकं) सामायिक व्रत (स्थायी) स्थायी है (इति केवलिशासने) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा संख्या 127 में कह रहे हैं कि परिचय कब होगा? श्रद्धा कब आयेगी? जब निकट आओगे। जो संयम से दूर है, तप से दूर है, त्याग से दूर है, तो आत्मा के पास कैसे पहुँचेगा? जब तक तुम चारित्र से भयभीत रहोगे, तब तक चारित्र से डर ही लगता रहेगा और संयमी आपको दुःखी नजर आयेंगे। होंगे नहीं, पर आपको नजर आयेंगे। जब आप संयम के नजदीक आओगे, तो महसूस करोगे कि आनंद है। संयम के पास आना और कहीं नहीं जाना। उतना ही प्रयोजन रखना, तो आनंद आयेगा। दर्पण को देखते हो? दर्पण को देखने में आनंद नहीं है। दर्पण में गौर से देखने पर अच्छा लगता है। दर्पण में चेहरा देखनेवाला कब कहता है अंतरंग से कि मैं दर्पण देख रहा हूँ? आप दर्पण देखते हो, दर्पण में चेहरा देखा जाता है। इसी प्रकार से संयमी संयम को नहीं देखता, संयम में अपने स्वभाव को देखता है। क्योंकि जो किया जा रहा है, वो क्रिया है और जो देखा जा रहा है, वह संयम है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब देखते हुये तन्मय हो जाता है, ऐसे ही निज बिम्ब में निज चेतन को देखता है तो तन्मय हो जाता है। वही संयम के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर पाता है। इसलिये आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि दूरियाँ मत बनाओ, पास में आओ। जितनी दूरियाँ बनाओगे, उतने भ्रम उत्पन्न होते हैं। लोक में जितने भ्रम हुये हैं, हो रहे हैं, होंगे, सब दूरियों से होते हैं। हमने आपको नहीं समझा, आपने हमको नहीं समझा, समझाने वाले बीच में आ गये। परिणाम यह निकला कि जिसे हमें समझना चाहिये था, वो तो गौण हो गया और समझानेवाले की बातों में हम इतना समझ गये कि मालूम चला कि उसी के समझौते में पूरा जीवन निकल गया।

भो ज्ञानी! यदि सुखमय जीवन जीना चाहते हो, प्रसन्नता से रहना चाहते हो, अपने संयम को स्थिर रखना चाहते हो, तो हर व्यक्ति को खुश करने का विचार मत लाना। आप संसार की बात छोड़ो, घर के हर व्यक्ति को खुश नहीं रख सकते। यदि अपनी खुशी को नष्ट करना चाहते हो तो पुर, समाज, देश को खुश करने का विचार करो। जिस दिन आप अपने आप में प्रसन्न हो जाओगे, तो सारा विश्व आपसे प्रसन्न हो जायेगा। केवली ने यह देखा होता कि दीक्षा लेने के पूर्व सबको खुश कर लूँ, फिर संयम स्वीकार करूँगा, तो वह कभी दीक्षा नहीं ले सकते थे, न केवली बन सकते थे। जब सबकी खुशी व नाराजगी छोड़ दी और केवली भगवान् बन गये, तो उनकी केवलज्ञानकल्याणक की पूजा के लिये, जो शत्रु थे वह भी प्रसन्न हो गये, खुश हो गये। जिस कपिल ने अग्नि लगाई थी, जिस कमठ ने उपसर्ग किया था, केवलज्ञान होने के पश्चात चरणों में बैठा था।

भो मुमुक्षु! दूसरों को खुश रखना चाहते हो तो तुम अपने को खुश रखना सीखो। आप कभी किसी को खुश नहीं रख पाओगे और न किसी के अनुसार चल पाओगे।कर्तृत्व भाव आपको अकर्त्ता नहीं बनने दे रहा है। आप यह सोचते हो कि मैं नहीं करूँगा तो शायद कुछ नहीं होगा। आप यात्रा पर चले जाओ, फिर देखो कि घर चल रहा है या नहीं। आप सदैव के लिये भी चले जाओगे, तो भी चलता रहेगा। तो फिर कर्त्ता किस बात के हो? 'होता स्वयं जगत परिणाम।'

भो ज्ञानी! फिर भी काम कर रहा है। बोला, महाराजश्री! क्या करूँ? काम करना पड़ता है, उस काम ने कब कहा कि मुझे करो? काम को दोष मत दो, अपनी करतूत को दोष दो, अपनी प्रवृत्ति को दोष दो। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि निकट आओ। किसके? आत्मा के निकट आने के पहले संयम के नहीं, संयमियों के सन्निकट आओगे, तब संयम के निकट आओगे। जब संयमी नहीं, तो संयम कहाँ देखोगे? धर्म धर्मात्मा के पास मिलेगा। फल वृक्ष के पास मिलेगा। आकाश में फल को मत चाहना। फल चाहते हो तो वृक्ष के पास जाओ। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि निकट आओ। किसके? आत्मा के संयम, तप, नियम के। सब में शक्ति, मुक्ति लगी हुई है। जब संयम, नियम, तप इन तीन के पास जाओगे, तब सामायिक स्थान होगा, ऐसा केवलिभगवान् ने कहा है। जो तप के पास होगा, संयम के पास होगा, नियम के पास होगा, उसी की समाधि होगी। जो संयम, नियम, तप के पास नहीं है, वह समाधि के पास भी नहीं हैं। यह तीनों किसमें होंगे? क्योंकि प्रत्यक्ष मात्र प्रत्यक्ष को कह पाता है, परोक्ष मात्र परोक्ष को जान पाता है। प्रत्यक्ष भी प्रमाण है और परोक्ष भी प्रमाण है। पर बीच में तर्क ऐसी वस्तु है जो प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों को जानता है। प्रत्यक्ष, यह लौकिक प्रत्यक्ष है, इंद्रियप्रत्यक्ष की बात है।

भो ज्ञानी! पेन को मैं प्रत्यक्ष जान रहा हूँ, देख रहा हूँ। किससे? आँखों से। पेन को जाना किससे? स्मृति से परोक्ष को जाना। स्मृति किसको बता रही है? परोक्ष को। जो प्रत्यक्ष भी नहीं है, परोक्ष भी नहीं है, उसे कैसे जानोगे? प्रत्यक्ष यहाँ है नहीं, परोक्ष स्मृति से जानना नहीं है। दोनों को पकड़े, वो कौन-सी वस्तु है? वो तर्क है। व्याप्ति का ज्ञान तर्क है। साधन से साध्य को जानना, यह अनुमान है। व्याप्ति क्या कहती है? होने पर होना, नहीं होने पर नहीं होना। अन्वय व्यक्ति के होने पर ही होगा, यह व्याप्ति कह रही है। धूम दिख रहा है, अग्नि नहीं दिख रही है, प्रत्यक्ष में अग्नि नहीं है। जहाँ तुम धूम देख रहे हो, वहाँ कभी पहले अग्नि देखी नहीं थी, इसलिये प्रत्यभिज्ञान नहीं लगेगा, स्मृति नहीं लगेगी। आप अपरिचित स्थान से जा रहे हो, वहाँ आपको धुआँ दिखा। आपने अग्नि को कैसे जाना? तर्क कहेगा कि यहाँ धूम है, इसलिये यहाँ अग्नि निश्चित है। क्यों निश्चित है? क्योंकि अन्यथा धूमोत्पत्ति नहीं होती। जहाँ-जहाँ अग्नि होती है, वही-वहीं धूम होता है। यह किसने कहा? तर्क ने कहा। साध्य की सिद्धि जिससे सुनिश्चित हो, उसका नाम तर्क है। असत्ता में तर्क नहीं लगेगा। जो असत्ता में तर्क लगायेगा, वो आकाश के फूल खिलायेगा।

भो ज्ञानी! जैनन्याय फिर वो नहीं देखता। हमें तो अपने साध्य की सिद्धि करना है।आप हमारे पूज्य हो, इष्ट हो, क्या हो, उस समय नहीं देखा जाता। यह सम्मान, बहुमान पूजा तक है। तर्क पर बात आयेगी तो फिर तर्क की भाषा में चर्चा होगी। फिर आपके सम्मान की दृष्टि वहाँ नहीं रखी जायेगी। तर्क/चर्चा समाप्त हो जायेगी, फिर हम आपका सम्मान कर लेंगे। यदि ज्येष्ठ के द्वारा तत्त्व की कोई भूल हो रही है, आप लघु हो, आपको मालूम है कि यह जिनवाणी के अनुसार कथन नहीं है जिसे यह कह रहे हैं, उस समय आप ज्येष्ठ का अभाव नहीं करोगे, लेकिन यह दृष्टि रखोगे कि सिद्धांत के अनुसार कथन नहीं है। हम अपने साध्य की सिद्धि में आपका ज्येष्ठत्व भाव तो यहाँ नहीं ला पायेंगे। क्योंकि ज्येष्ठत्व भाव लाओगे, तो वहाँ साध्य की सिद्धि नही कर पाआगे, क्योंकि तनक-सा भी राग आ गया तो साध्य की सिद्धि नहीं। द्रोणाचार्य से युद्ध कैसे जीता गया? युद्ध के बीच में राग उत्पन्न कराया गया, "अश्वत्थामा हतो " तो जोर से बोला गया, " नरौ वा कुंजरो वा " धीरे से बोला गया।

भो ज्ञानी! यदि शत्रु प्रबल है और हम जीतने में समर्थ नहीं हैं और जीतने का पूरा इरादा है, तो वहाँ तर्क बल, बुद्धि बल ही काम करता है। कर्मशत्रु प्रबल है और तुम्हारी संयम सेना कमजोर है, तो तुम कैसे विजय प्राप्त करोगे? उस समय जिनवाणी कहती है कि तुम युक्ति से काम करो। बहेलिया धैर्य से, झाड़ी में बैठकर, बाण छोड़ता है। ऐसे ही आप श्रुतस्कंध की ओट ले लो और ध्यान की प्रत्यंचा बढ़ा करके, धीरे से शुद्धोपयोग के बाण को छोड़कर

शुद्धोपयोग पर चढ़ जाओ। पंचमकाल में भी आप उसी कर्मनिर्जरा को प्राप्त कर लोगे। जो चतुर्थकाल का मुनि एक हजार वर्ष की साधना कर प्राप्त करता है, उतनी निर्जरा एक साल की साधना में होती है वर्तमान काल के मुनि को। लेकिन युक्ति से काम करना पड़ेगा। घर में कम सामग्री होती है तो कितने विवेक से काम करते हो? श्रेणिक की परीक्षा के लिये नंदश्री ने एक बूंद तेल भेजा था और कहा था कि पूरे शरीर में लगा लेना। एक चुल्लू पानी भेजा था, उससे आपको पैर धोना है। घर के द्वार पर कीचड़ करवा दिया जिससे पैर और छप जायें। उन्होंने एक बूंद तेल को पानी में डाल दिया, तो शरीर पर लगाने लायक हो गया। कीचड़ से सने पैर को लकड़ी से साफ किया, फिर उस पर सूखी मिट्टी रगड़कर पोछ दी, तो पैर एकदम साफ हो गया। फिर आधे चुल्लू पानी से पैर धो लिया और आधा वापस भेज दिया। ऐसे ही आपके पास पुण्य का तेल, पुण्य का पानी कम है, तो प्रज्ञा से काम करो। एक बूंद तेल है और एक चुल्लू पानी है और वो भी आपने बिना विवेक के खर्च कर दिया, तो फिर दुबारा कब मिलेगा?

भो ज्ञानी! जब ज्यादा ठंडी लगती है तो चार आदमी पास-पास बैठ जाते हैं। उससे एक दूसरे की ठंडी कम हो जाती है। ऐसे ही आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि नजदीक आ जाओ, आपकी ठंडी भग जायेगी। यदि नजदीक नहीं आओगे, तो कुछ नहीं होगा। किसके नजदीक? आत्मा के। कैसे आओगे? संयम, नियम, तप के पास आओगे, तब आत्मा के पास आ पाओगे। संयम, नियम, तप चौथे व पाँचवें काल में अलग-अलग नहीं है, परन्तु संहनन अलग-अलग है। जो तेरह प्रकार का चारित्र चतुर्थकाल में था, वो ही वर्त्तमान पंचमकाल में है। तुम्हारी सामर्थ्य कैसी है, वैसा पालन कर रहे हो, वैसी कर्म की निर्जरा हो रही है। उसी संहनन के साथ नरक की भूमिका बनती है और उसी संहनन से सिद्धशिला की भूमिका बनती है।

भैया! बिना युक्ति के निर्दोष संयम का पालन संभव नहीं है। क्योंकि बिना तर्क के आगम सिद्ध नहीं होता, सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता, सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती। युक्ति तो सर्वत्र है। विवेकबुद्धि प्रज्ञा का अविषय है। एक भूमि पर वनस्पति थी। व्यक्ति को पता था कि महाराज घास पर नहीं चलते। उसने पत्थर रख दिया। अब बताओ, संयम पला कि रूढ़ि पली? रूढ़ि पल गई, संयम नहीं पला। बढ़िया आराम से पाँव रखकर निकल गये। जिनकी रक्षा के भाव थे, वह तो गये। यह तो हो गया कि महाराज घास पर नहीं चले। घास है और चलना है, तो युक्ति लगाओ। यदि अँगूठा रखने का स्थान है, तो अँगूठे के बल धीरे-से निकल गये। युक्ति ने क्या किया? जीव भी बच गये, संयम भी बच गया और निकल भी गये। जा रहे

थे मार्ग में, नदी आ गई। यदि घुटनें तक पानी है, तो निकल जायेंगे। पहले वो खड़े होकर पूरे शरीर का मार्जन करेंगे, फिर कायोत्सर्ग करेंगे, सिद्धभक्ति पढ़ेंगे, समाधि लेंगे। इसके बाद वो जल में प्रवेश करके निकलेंगे, क्योंकि इस बीच में कोई घटना घट जाये, तो सल्लेखना सहित जायेंगे। कितने विवेक और जागृति की आवश्यकता है? फिर ऐसा नहीं कि निकल गये सो निकल गये। फिर उस पार जाकर खड़े होंगे, फिर से मार्जन करेंगे, फिर कायोत्सर्ग और भक्ति करेंगे। गीले पाँव जायेंगे तो सामने की सूखी मिट्टी के जीव चिपक जायेंगे। इतना विवेक नहीं रखोगे, तो संयम का पालन कैसे होगा? मुनि का अस्नान नामक मूलगुण होता है। साधु जब शुद्धि करते हैं तो मात्र घुटनों तक, कोहनी तक, पूरे शरीर की नहीं करते हैं। इसलिये घुटने तक ही पानी में जाते हैं, ऐसा आगम का विधान है। यदि अधिक पानी है, तो नौका में भी जा सकते हैं, परन्तु क्रिया वही रहेगी। मार्जन, कायोत्सर्ग, भक्ति, समाधि। बाद में प्रायश्चित लेंगे गुरुमहाराज से। ऐणिक नाम के मुनिराज को नौका में बैठे-बैठे कैवल्य हुआ है, ऐसा 'मरणकंडिका', 'भगवती आराधना' में उल्लेख आया है। नौका में वो ध्यान में लीन थे। बाकी के किसी यान का उपयोग नहीं करेंगे, ऐसा आगम का विधान है। नहीं तो जहाज में विदेश चले जायें।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि आत्मा ही उपादेय है। जब आत्मा उपादेय है, तो पर में क्यों लगे हो? सब चिल्ला रहे हैं कि पानी पीना है, पर बर्तन कोई नहीं ला रहा है कि इसमें भरके पी लो। आत्मा की उपादेयता प्राप्त कैसे करोगे? संयम का पात्र चाहिये, नियम का पात्र चाहिये, तप का पात्र चाहिये, तब आपकी आत्मा उपादेय बनेगी। आप साध्य की तो बात कर रहे हो, पर साधन के अभाव में साध्य कैसा? जब तक पात्रता नहीं आयेगी, तब तक वो शुद्ध चिद्रूप आत्मा प्रकट नहीं होगी।

भो ज्ञानी! कभी-कभी द्रव्य दिखता है, उससे हमारी क्षुधा शांत हो जायेगी, परन्तु प्रक्रिया के अभाव में भूखा बैठा रहता है। निश्चयदृष्टि से अभिन्न में और व्यवहारदृष्टि से भिन्न में। भैया! आप साधु क्यों नहीं बन जाते हो? अनादि की वासना और अनादि के राग-मोह के संस्कार बार-बार धक्का देते हैं और फिर जनसंपर्क। साधु की साधना का परम शत्रु जनसंपर्क है। जनसंपर्क बात को बढ़ाता है और वचनप्रवृत्ति योगों को स्पंदित करती है। चिन्तन करने को प्रेरित करती है। नये-नये चिन्तन दौड़ते हैं कि ऐसा कहूँ, वैसा कहूँ। हे योगी! जब तुझे राग सताये, मोह सताये, नींद नहीं आ रही हो, तो स्वस्थ आत्मा का चिन्तन करो। स्वस्थ आत्मा विश्व में कोई है तो एकमात्र सिद्ध आत्मा है, बाकी सब अस्वस्थ आत्मा हैं। एक-मात्र शुद्धआत्मा ही स्वस्थ आत्मा है। अरहंत की आत्मा भी पूर्ण स्वस्थ नहीं है। अभी चार रोग उसके अंदर हैं।

भो ज्ञानी! भगवान् जो कह रहे हैं, वो दुनियाँ में खिर रहा है। पर जो उनका अनुभवन चल रहा है, वो सब नहीं खिर रहा है, जितना केवली जानते हैं, वो कभी पूर्ण नहीं आता है वाणी में। जितना केवली की वाणी में आता है, उतना पूरा गणधर परमेष्ठी झेल नहीं पाते। जितना गणधर परमेष्ठी ने स्वीकारा है, उतना लिपिबद्ध नहीं कर पाते। जितना लिपिबद्ध है, अपन उतना समझ नहीं पाते हैं। अपने को वैसा बनना चाहिये, लेकिन नहीं बन पा रहे हो, यह इस विद्या का दोष नहीं है, तुम्हारी अविद्या का दोष है। अविद्या का नहीं, आपके राग और मोह का दोष है, अध्यात्मशास्त्र का दोष नहीं है। जब ऐसा बनने का विचार रखोगे, तभी कुछ बन पाओगे। पहले ही सोच लिया कि जैसे बनते आये हैं वो ठीक है, तो नया कुछ बनने वाले नहीं हो।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि जिन्होंने संपूर्ण इंद्रियों के व्यापार को जीत लिया है, ऐसे भावी-भगवान् आप हो। हे निर्ग्रन्थ योगी! तुम तो मेरे भगवान् हो, भावी जिन हो। भावी जिन कौन? जिन्होंने संपूर्ण इंद्रियों को जीत लिया है, पापक्रियाओं से निवृत्त हैं, बाह्य संयम है। मन, वचन, काय त्रिगुप्ति से युक्त हैं। संपूर्ण इंद्रियों के व्यापार से रहित हैं। ऐसे परम जिन अपने निजस्वरूप में अविचल स्थित हैं। व्यवहारनय से विस्तरित, प्रपंच से रहित, ऐसा पंचाचार पंचमगति का हेतुभूत है। वह किंचित मात्र रागभाव प्रपंच से रहित, संपूर्ण दु:राचार की निवृत्ति है। ऐसे परमगुरु के प्रसाद से, वह ऐसे निरंजन निज कारणपरमात्मा के सन्निकट होता है, परम वीतरागी सम्यग्दृष्टि जो वीतरागचारित्र को भजता है। चौथे गुणस्थान के सम्यग्दृष्टि को वीतराग संज्ञा 'नियमसार' ग्रन्थ में नहीं दी जा रही है। जो वीतराग चारित्र में पारंगत हैं, उसमें लीन हैं, युक्त हैं, ऐसे योगी के ही सामायिक व्रत स्थाई होता है। जिनके सामायिक ही नहीं है, उनको स्वरूप का आनंद कैसे संभव है? 'यो है सकल संयम, सुनिये स्वरूपाचरण अब।' भैया! अविरत सम्यग्दृष्टि जीव वीतराग चारित्र का श्रद्धानी होता है और वीतराग चारित्र से युक्त जीव वीतराग सम्यक्त्व से युक्त होता है। जिस समय वह वीतराग स्वरूप में लीन होगा, उसे कोई विकल्प नहीं होगा। अश्रद्धान नहीं होगा, पर श्रद्धा का विकल्प भी नहीं आयेगा। वह तो निजस्वरूप में लीन है, समाधि में लीन है। भो चेतन आत्मा! निश्चय से निज आत्म-गुरु ही शरण है और व्यवहार से पंचपरमगुरु हैं। दोनों शरण हैं, वे ही तारणहार हैं। एक शरण कभी तार नहीं पायेगी।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 128, 129 **नियमसार** **कलश 212, 213**

उत्थानिका : रागद्वेष के अभाव में परिस्पंद रहित अवस्था होती है। आर्त्त-रौद्र ध्यान के परित्याग से सनातन सामायिक व्रत होता है

गाथा : जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेइ दु।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥ 128॥

संस्कृत छाया : यस्स रागस्तु द्वेषस्तु विकृतिं न जनयति तु।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने॥ 128॥

अन्वयार्थ : (यस्य) जिनके (रागः तु द्वैषः तु) राग और द्वेष (विकृतिं तु न जनयति) विकृति को उत्पन्न नहीं करते हैं (तस्य) उनके (सामायिकं स्थायि) सामायिकव्रत स्थायी है (इति) ऐसा (केवलि शासने) केवली भगवान् के शासन में कहा है।

गाथा : जो दु अट्टं च रुद्दं च, झाणं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स समाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥129॥

संस्कृत छाया : यस्त्वार्त्तं च रौद्रं च ध्यानं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलि शासने॥129॥

अन्वयार्थ : (यः तु आर्तं च रौद्र ध्यानं) जो आर्त्त तथा रौद्र ध्यान को (नित्यशः वर्जयति) नित्य ही छोड़ देते हैं (तस्य) उनके (सामायिकं स्थायि) सामायिक स्थायी है (इति) ऐसा (केवलि शासने) केवली भगवान् के शासन में कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! नियमसार जी में परमसमाधि अधिकार के अंतर्गत 127वीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने यह संकेत दिया कि जो योगी संयम, तप और नियम के सन्निकट है, वही सामायिक को प्राप्त होता है। यदि संयम, तप आदि के निकट नहीं है, तो सामायिक स्थान नहीं बनता। सामायिक का अर्थ है समाधि। सामायिक यानि ध्यान। सामायिक यानि समता। सामायिक यानि स्वरूप निश्छलता, स्वरूपलीनता है, सामायिक का अर्थ है निज का निज में जोड़ हो जाना। अध्यात्म कहता है कि जहाँ दो की एकता हो जाती है, वहाँ सामायिक प्रारंभ होती है। एकीभाव का अर्थ सामायिक है। आत्मोन्मुखी परिणति का नाम सामायिक है। अद्वैत भाव की प्राप्ति का नाम सामायिक है। जहाँ दोपना है, वहाँ सामायिक नहीं है। दो में सामायिक नहीं होती है, भक्ति होती है। जहाँ द्वैतभाव है, वहाँ भक्तिभाव है। जहाँ अद्वैतभाव है, वो सामायिकभाव है यानि परतत्त्व से प्रवृत्ति हट चुकी है। निज-तत्त्व पर ही

दृष्टि जिसकी रुकी है, उस दृष्टि का नाम सामायिक है। जो आत्मा तप, संयम के निकट नहीं है, उसे अरिहन्त शासन में सामायिक संयम नहीं कहा है।

भो ज्ञानी! श्रावकों के शिक्षाव्रत तो होते हैं, परन्तु सामायिक-संयम महाव्रती के ही होता है। निश्चय सामायिक सप्तम गुणस्थान से प्रारंभ होती है और व्यवहार सामायिक छठवें गुणस्थान से प्रारंभ होती है। सामायिक संयम नवें गुणस्थान तक चलता है। इसके बाद परिहारविशुद्धि संयम होता है। 10वें गुणस्थान में सूक्ष्म साम्पराय संयम होता है। परिहार-विशुद्धि का गुणस्थान **6-7** वां होता है। जिस गुणस्थान का जो नाम है, वही उसका संयम है। ग्यारहवें गुणस्थान से यथाख्यात शुद्धि संयम प्रारंभ होता है। ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने के दो कारण हैं। भव क्षय, काल क्षय। एक गुणस्थान का समय अंतर्मुहूर्त होता है।

भो ज्ञानी! इतना पुरुषार्थ किया जीव ने, अब कर्मों का उपशमन नहीं करना, क्षय ही कराना। कषायों को दबा लिया, पुनः प्रकट हो गई। फिर भी मुनिराज से कहना कि आप पूजनीय हो, वंदनीय हो, आराधनीय हो। आपका मोक्ष का टिकट तो बन चुका है। उपशम श्रेणी से गया जीव पुनः वेदक और ज्यादा-से-ज्यादा अर्द्धपुद्गल-परावर्तन तक मोक्ष प्राप्त कर लेगा।सीमा तो बन गई। परन्तु अभ्यास आज से करना।

भैया! किसी ने पूछा, आप कौन हो? ठीक तो है। यदि उससे परिचय होता, तो क्यों पूछता? साम्यता लाने के अनेक हेतु हैं। क्रोध के लिये तो एक ही हेतु ने काम कर दिया था। इसलिये विषमताओं को बदलो। विषमता आने पर समता की छतरी तुम्हारे पास है तो गीले नहीं होगे, अन्यथा कर्मों के नीर से गीले हो जाओगे और फिसल जाओगे। जो जितने ऊँचे से फिसलता है, वो उतना गहरा जाता है। इसलिये जितने ऊँचे गुणस्थान को छू रहे हो अथवा जितनी ऊँची मनुष्यपर्याय को तुमने प्राप्त किया है, यहाँ से फिसल गये तो, दो हजार सागर की त्रस पर्याय मिली थी, आपको पुनः निगोद में स्थान तो निश्चित है। वहाँ कोई मना कर ही नहीं सकता। इसलिये भो ज्ञानी! सामायिक स्थान को प्राप्त करो। सामायिक स्थान को प्राप्त नहीं कर सके तो जप, तप कुछ भी कर लेना, अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर लेना, पर 'मैं भिन्न हूँ और ग्रन्थ भिन्न हैं,' इतनी-सी बात नहीं सीख पाया, बाकि सब सीख लिया। इस बात को आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश में कह रहे हैं।

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनःशुद्धदृष्टेर्मनश्चेत्।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे॥ कलश 212 ॥

जो आत्मा श्रेष्ठ तप में, नियम में और सम्यक्चारित्र में नित्य ही ठहरती है, ऐसे परम मुनि शुद्ध सम्यग्दृष्टि के चित्त में नित्य ही नियम, तप विराजता है। नियम से भव का भय हरने वाले हैं निर्ग्रन्थ तपोधन। भविष्य के तीर्थनाथ! तुम्हारे चरणों में मेरी वंदना। अनंत पापों, कर्मों को हरने वाले! आपकी वंदना है। क्या उत्तम शब्द रखा है 'भावी तीर्थनाथ'। हे धरती के देवता, भविष्य के भगवान्! आपके चरणों में ही मेरी वंदना है। विशुद्धों से राग मत करो, सिद्धों से द्वेष मत करो। किसी में न तोष करो, न रोष। इस सबमें तुम संतुष्ठ होकर संतहृदय से देखो, सब सिद्ध विराजे हैं।

भो ज्ञानी! आपने किसी नग्न व्यक्ति को देखा तो आप दौड़ पड़े। जब पास जाकर देखा तो पिच्छि-कमंडलु नहीं थी, कोई नागा साधु थे। वीतराग मुद्रा को देखकर लगा कि मुनिराज आ रहे हैं और जैसे ही वेश देखा तो भाव बदल गये। क्यों बदल गये? क्योंकि वहाँ संयम, तप, नियम में स्थिरता नहीं थी। जब तक संयम, नियम, तप में स्थिरता नहीं होगी, तब तक वेश वंदनीय नहीं होगा। लेकिन बिना वेश के संयम, तप, नियम के भाव आयेंगे नहीं। नहीं तो आप सोचो कि पहले भावों को लायें, फिर वेश को बुलायें। ऐसा नहीं होता। जब दीक्षा के संस्कार होते हैं तो सीधा सप्तम गुणस्थान बनता है। प्रमत्त में नहीं आते, सीधे अप्रमत्त में आते हैं। लेकिन गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है। गिरने का छठवां है, चढ़ने का सातवां है। पंचमकाल में इससे आगे नहीं है। वो भी सातवां गुणस्थान सातिशय नहीं है। सातिशय सप्तम गुणस्थान श्रेणी सम्मुख होता है। पंचमकाल में श्रेणी नहीं होती, ऋद्धियाँ नहीं होती है। केवल, अवधि, मन:पर्यय ज्ञान नहीं है। धर्म का साक्षात् फल नहीं दिखता है, फिर भी पंचमकाल के लोगों की श्रद्धा वंदनीय है। कुछ भी नहीं दिख रहा है, फिर भी धर्म में लगे हुये हैं।

भो ज्ञानी! दर्शन आत्मप्रकाशी होता है और ज्ञान स्व-पर प्रकाशी होता है। ज्ञान के दो भेद किये हैं। परमार्थ ज्ञान और स्वार्थ ज्ञान। श्रुतज्ञान स्वार्थ भी होता है, परमार्थ भी होता है। मतिज्ञान स्वार्थ है। कैवल्य में पदार्थ अपने आप दर्पणवत् झलकते हैं। निर्मलता है। पाँचों ज्ञान परमार्थ ही नहीं हैं, स्वार्थ भी हैं, परमार्थ भी है, प्रदीपवत्। जिसे आप परमार्थ कह रहे हो, उस परमार्थ पर भी तेरा पुरुषार्थ चल रहा है। वो पुरुषार्थ इतना कार्यकारी है कि सातवें नरक तक भेज देता है, लेकिन परमार्थ पुरुषार्थ नहीं है।

भो ज्ञानी! विषयों में जो प्रवृत्ति जाती है, यह भूल के भी नहीं कहना कि वो अज्ञानता में चली गई। आपने भोजन अज्ञानता में किया, कि ज्ञान से किया? जो भोजन होता है, वह अज्ञानता में नहीं होता है, वो ज्ञान से होता है। लेकिन परमार्थ उस ज्ञान को ज्ञान नहीं कहता, अज्ञान कहता है। आप जो विषयों का सेवन कर रहे हो, अज्ञानता में नहीं, जानके/बुद्धिपूर्वक

कर रहे हो। कौन जीव नहीं जानता कि विषयों में जाने से कर्मबंध होता है? जानकर अग्नि में हाथ डालना, यह कौन-सी विज्ञता है। फिर भी देखो जीव के राग और मोह की दशा, सब जान रहे हैं, फिर भी कर रहे हैं। कुछ भी जहाँ न करना पड़े, उसका नाम संयम है। आपको सामायिक करने नहीं कहूँगा। आप उपवास कर लो, नहीं कहूँगा। आप प्रतिक्रमण कर लो, ध्यान में लवलीन हो जाओ, कुछ मत करो, सबकुछ होगा। लेकिन ध्यान रखना, जैसी व्यवस्था है, वैसी अवस्था करना। नहीं तो अंदर से पता नहीं कहाँ-कहाँ घूमो और बाहर से आँखें बन्द कर लो।

भो ज्ञानी! यह उपयोग की निर्मल दशा है। यहाँ कह रहे हैं कि भावी तीर्थनाथ कौन? जिनका अंतर-बाहर निर्ग्रन्थ है। उनके सहज समता, प्रशस्त राग के अविराम में निश्चल समता का उद्भव हो रहा है। ऐसी परम सूखी समता को लेके कहीं भी चले जाओ। यहाँ तक कि शत्रु के घर में चले जाना समता सखी के साथ, आपका सम्मान होगा, आरती उतारी जायेगी। राजा मधु तो शत्रुघन का शत्रु था। जब मुनिराज बन गये, तो शत्रुघन ने नमस्कार किया था कि नहीं? वो शत्रु कहाँ था? व्यक्ति शत्रु नहीं होता, वासना शत्रु होती है। जो निज में वास न करने दे, उसका नाम है वासना। आप अपने घर कब जाओगे? इन वासनाओं के घर में आप अनंत बार बस चुके हो। ध्यान रखो, ये नियम से जलायेगी और जला रही है। आपकी जितनी व्यथा है, उसका लेशमात्र भी नहीं सुना पाते हो। जिस दिन वेदना सुना देगा, आप विश्वास रखो, वो घर छोड़कर चला जायेगा। अपनी वेदना जिस दिन सुना देगा, वो जीव इतना हल्का हो जायेगा, उसको घर अच्छा नहीं लगेगा। वेदना सुनने वाला कोई मिल नहीं रहा है। मौका मिल नहीं रहा। भाव नहीं बन रहे। हर व्यक्ति की अपनी वेदना है।

भो ज्ञानी! आप तो कालदोष कहते जाना और काल के गाल की ओर बढ़ते जाना। कालदोष इतना है कि मोक्ष नहीं होता। पर कालदोष इतना नहीं है कि मुनि नहीं बन सकते। आचार्य गुणभद्रस्वामी ने 'आत्मानुशासन' में लिखा है कि एक भोगों की ओर दौड़ रहा है, दूसरा भोगों को छोड़के भाग रहा है और कुछ ऐसे भी हैं कि यह छोड़ो नहीं, पकड़ो। अहो तू दूसरे के वमन को चाटने के लिये दौड़ रहा है। वे धन्य हैं, उन्हें नमस्कार हो, जिन्होंने भोगों में अपने पैरों को रखा ही नहीं। यही भावी तीर्थनाथ हैं।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द गाथा संख्या 128 में कह रहे हैं कि दूध का भरा हुआ घट कितना मधुर है, कितना निर्मल है? शरीर में तेज देता है, शरीर में शक्ति देता है, शरीर में वीर्य बढ़ाता है, शरीर में ओज देता है, लेकिन एक बूँद नीबू पड़ जाये, तो फट जाता है। यह मेरा भगवान्-आत्मा जो अनंतसुखस्वभावी, अनंतवीर्य स्वभावी, अनंतदर्शन स्वभावी, अनंतज्ञान

स्वभावी, टंकोत्कीर्ण है, परन्तु भोग की एक बूँद ने पूरे अशन, मधुर स्वभाव को विकृत कर दिया। किशोर अवस्था में तुम्हारे गाल कितने फूले थे, पर वास्तव में आनंद नहीं है। सुख नहीं है, सुखाभास है। संयम में शांति-सुख नहीं होता, तो चक्रवर्ती वैभव छोड़कर भिक्षु नहीं बनते। स्वतंत्र जीवन में आनंद-ही-आनंद है। जैसे कोई व्यक्ति नीबू चूस रहा है, उसके दाँतों में खट्टापन की विकृति आ रही है उसके अम्ल के प्रभाव से। इसी तरह हमारे अंतस् का विकार मेरे चेतन द्रव्य को ऐसे छार-छार कर रहा है, जैसे नीबू की बूँद दूध को छार-छार कर रही है।

भो ज्ञानी! जिसके राग-द्वेष नहीं, उसके विकृति उत्पन्न नहीं होती है, उसीके सामायिक स्थान होता है, ऐसा केवली के शासन में कहा है। जब तक राग होगा, द्वेष होगा, तब तक सामायिक नहीं होगी। अनुभव कर लो, जब से दो दुकानें हो गई तो क्या हुआ? शांति कहाँ गई? पहले नहीं थी तो भगवान् के मंदिर में बैठता था, गुरुओं के चरणों में बैठता था, जिनवाणी सुनता था, पढ़ता था। अब तो महाराज! समय नहीं मिलता है। ऐसे धन के लिये धिक्कार हो, जिसने प्रभु के द्वारे से भगा दिया। एक व्यक्ति प्रवचन सुन रहा था, उस समय प्रशस्त आयु का बंध होता, लेकिन फोन की घंटी बजी, तू कितना दुर्भाग्यशाली था कि फोन सुनके आ रहा हूँ कह कर प्रवचन से उठ गया। समाचार था कि तुम्हारे दादाजी की मृत्यु हो गई आर्त्त-रौद्रध्यान से आयु का बन्ध कर लिया। घड़ी और मोबाइल लेकर आओगे तो उपयोग स्थिर नहीं रहेगा।

भो ज्ञानी! स्वरूप में जाने की क्षमता कितनी घट चुकी है। सब बाहर-बाहर में ऊपर-ऊपर का आनंद है। अंदर का आनंद नहीं है। ऐसा जीव सामायिक स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता है। राग-द्वेष भाव ही परिस्पंदन को उत्पन्न करते हैं। पापरूपी अटवी की अग्नि है राग और द्वेष। परन्तु जो निर्ग्रन्थ परम-संयम-स्वभाव में लीन है, उनको राग-द्वेष विकार को उत्पन्न नहीं करता है। ऐसे महान आनंद के अभिलाषी, पाँच इंद्रियों के विषयों से रहित शुद्धात्मा में प्रवेश नहीं हो पा रहा है आपको। क्यों? यहाँ शर्त रख दी कि पंचइंद्रिय के प्रसंग से रहित हैं और परिग्रह के नाम पर जिनके पास शरीर मात्र है, उनके ही सामायिक व्रत साक्षात् होगा, ऐसा केवली के शासन में प्रसिद्ध है। जब तक धन व धरती पर राग लगा है, तब तक शुद्धात्मा धरती पर उतरने वाला नहीं है। शुद्धात्मा उतरने के पहले धन व धरती का राग छोड़ना होगा। पत्थर पर बीज डाल देना, खाद भी डालना, पानी भी देना, लेकिन फूल आने वाले नहीं हैं। इसलिये जब तक भव्यता की उर्वरा भूमि और संयम का सत्संग आपको प्राप्त नहीं होगा, तब तक शुद्धात्मा की धरती में चारित्र और ज्ञान के वृक्ष लहलहाने वाले नहीं हैं, मोक्ष का फल लगने वाला नहीं है।

भो ज्ञानी! पत्थर पर जरा-सी मिट्टी डाल दो, बीज तो उग जाते हैं, ऊपर जाते हैं और गिर जाते हैं। नीचे मिट्टी रहेगी, तभी तो जड़ फैलेगी। इसी तरह अभव्य जीव भी निर्ग्रन्थ मुनिपने का बीज डाल देता है, बिना भावलिंग के वह पत्थर पर थोड़ी मिट्टी के वृक्ष के समान है। वह इतना उगता है कि ग्रैवेयक तक चला जाता है और फिर पूरा वृक्ष नीचे गिर जाता है। फल उसी वृक्ष में आते हैं, जो जमीन से ऊपर जाता है। जो वृक्ष जितना ऊपर होता है, उतना ही नीचे जाता है। अभव्य तो अभव्य ही है, और भव्य तो भव्य ही है। भव्य को पत्थर नहीं कहा, मिथ्यात्व को पत्थर कहा है। जो बीज मिट्टी में डाला जाता है, वो दिखता नहीं है। पहले अंदर ही फूटता है, पकता है, फिर ऊपर आता है। ऐसे ही भव्यजीव पहले मिथ्यात्व के तीन टुकड़े करता है। जैसे बीज को जमीन में डालते हैं तो पहले बीज तीन टुकड़े करता है। बीच वाले में पौधा निकलता है। ऐसे ही मिथ्यात्व के दो टुकड़ों के बीच में सम्यक्त्व-प्रकृति उत्पन्न करता है। फिर देशनालब्धि का पानी काम करता है और करणलब्धि के आने पर ही फलित होता है। चार लब्धियाँ तो स्वर्ग में हो जायेंगी, पर करणलब्धि भव्य के नहीं होगी अभव्य के नहीं होगी, सम्यक्त्व होने पर ही होगी। इस प्रकार से भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं कि ऐसा केवली भगवान् का उपदेश है। जब तक मिथ्यात्व, राग, द्वेष की परिणति नहीं हटेगी, तब तक सामायिक-चारित्र नहीं होगा और सामायिक-चारित्र के अभाव में यथाख्यात और स्वरूपाचरण संभव नहीं होगा।

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नेव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिः प्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे।
आरातीये सहज परमानन्दपीयूषपूरे
तस्मन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः॥ कलश 213 ॥

इस कलश में आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव निर्ग्रन्थ दशा के सहज दशा का वर्ण कर रहे हैं। जिन्होंने ज्ञान की ज्योति से पापों के समूह की सेना रूपी घोर अंधकार को नष्ट कर दिया है, वर्तमान में सहज परमानंद के पीयूष से जो पूर्ण युक्त हैं, ऐसे नित्य समृद्धि स्वभाव में लीन, उनको किसकी विधि, किसका निषेध? जो निज शुद्धात्मस्वरूप में लीन हैं, उनको न कोई विधि का कथन करने की आवश्यकता है, न निषेध के कथन करने की आवश्यकता है। वह न विधि में है, न निषेध में हैं। वह तो अपने स्वभाव में हैं। पर वीतरागी को किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं है, वह तो अपने सहजस्वरूप में लीन है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 129वीं गाथा में कह रहे हैं। बड़ी सहजता से समझना, शुद्धोपयोग भी समझना। शुभ और अशुभ को समझ लो। 'प्रवचनसार' में कुन्दकुन्द स्वामी

कह रहे हैं कि जिसके भावों में दुष्टता है, दुष्टों की गोष्ठी में बैठना जिसको पसंद हो, उग्र स्वभावी है, नेत्र लाल हो रहे हैं, दाँत पीस रहा है, भुजायें फड़क रही हैं, भौहें तिरछी हो रही हैं, ओठ चबा रहा है, अब और क्या पूछना है? यह सब रौद्रध्यान का लक्षण है। हम कितना धर्म्यध्यान कर पाते हैं? धर्म्यध्यान के स्वरूप में नहीं पहुँच पा रहे हैं, कितना बड़ा दुर्भाग्य है? सामायिक की बात कर रहे हैं और सविकल्प स्वभाव शुभोपयोग भी नहीं बन पा रहा है। यथार्थ में धर्म्यध्यान सातवें गुणस्थान से स्वीकारा है।

देवसेन स्वामी ने छठवें गुणस्थान में धर्म्यध्यान को उपचार संज्ञा दी है। मुख्य धर्म्यध्यान सप्तम से शुरू हो रहा है। चौथे, पाँचवें गुणस्थान में सब उपचार ध्यान है। सातवें गुणस्थान में आर्त्त होते हैं इसलिये धर्म्यध्यान तो अंश रूप में है कहीं कदाचित्। छठवें गुणस्थान में आर्त्तध्यान के चारों पाये होते हैं। इसलिये शुद्धधर्म्यध्यान नहीं कहा। शुद्धधर्म्यध्यान तो सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। धर्म्यध्यान के दो भेद हैं। सविकल्प और निर्विकल्प धर्म्यध्यान। छठवें गुणस्थान तक विकल्प और सप्तम गुणस्थान से निर्विकल्प।

भो ज्ञानी! जो तू धवल वस्त्र धारण किये है, इनको धोने में जो पावडर लगा था, वो पानी बहके नाली में जा रहा था। धवल वस्त्रों में जो आनंद मना रहा था, वो कौन-सा ध्यान चल रहा था? हिंसानंदी रौद्रध्यान। अपने आप से पूछो, चौबीस घण्टे क्या करते हो? मंदिर में कितने घण्टे रहते हो, फिर अन्दर कितने घण्टे रहते हो? पहले धर्म्यध्यान में आने का पुरुषार्थ करो, आर्त्त-रौद्र को छोड़ो। चार साल पहले किसी ने कुछ कह दिया था, वो सामने दिख गया, बोले, आ गया मेरा शत्रु। माँ पुत्र से नहीं बोलती, माँ से पुत्र नहीं बोल रहा, भाई-भाई से नहीं बोल रहा, पिता पुत्र से नहीं बोल रहा और कह रहा है कि मैं धर्म्यध्यान में बैठा हूँ। काहे का धर्म्यध्यान तेरा चल रहा है जब तुझे एक आत्मा में आत्मा नहीं झलक रही है? राग-द्वेष के संबंध नहीं छूट रहे हैं। कितनी भी मायाचारी का धर्म्यध्यान कर लो, लेकिन वीतरागवाणी कहेगी कि अभी तुम्हारे पास कुछ नहीं है। मुमुक्षु जीव के अंदर भेदभावना नहीं होती, तेरा-मेरा भाव नहीं होता। इसलिये न तुम मेरे हो, न हम तुम्हारे हैं। परन्तु मैत्रीभाव सबसे है। मुमुक्षुजीव तेरा-मेरा नहीं करता है, परन्तु मैत्रीभाव प्राणीमात्र से रखता है। मेरे कहोगे तो राग होगा, तेरे कहोगे तो द्वेष होगा। ज्ञानी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, माध्यस्थ भाव रखता है। रौद्रध्यान के चार भेद हैं। हिंसानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी, मृषानंदी। रौद्र यानि क्रूर परिणाम। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग में आर्त्त परिणाम होना आर्त्तध्यान है।

भो ज्ञानी! जब संयम की बात करें तो काललब्धि को बिठाल लेता है और जब पैर या घुटने दर्द करते हैं तो डाक्टर और दवा की बात करता है। उस समय ये नहीं कहता कि

काललब्धि आयेगी तो दर्द ठीक हो जायेगा। ठीक तो तभी होगा, जब भवितव्यता होगी। दवाई सुख नहीं देती, दवाई दुःख नहीं देती। वो तो मन की भूल है। साता के उदय में दवाई दवा का काम करती है और असाता के उदय में दवाई भी रिएक्शन कर जाती है। वर्त्तमान में हमारे पास सब सुखसुविधायें हैं। पता नहीं अगली पर्याय में क्या होगा? वर्त्तमान का सुख खो गया, भविष्य में ये हो नहीं रहा है और भूत की यादें सता रही हैं तो बताओ, धर्म्यध्यान कितना किया? इसलिये इन ध्यानों का विशेष ध्यान रखो। धर्म्यध्यान तुम कर पाओ, या नहीं कर पाओ, पर इतना विवेक रखना कि आर्त्त-रौद्र ध्यान न बन पाये और आर्त-रौद्रध्यान नहीं बन पायेगा, तो धर्म्यध्यान अपने आप आ जायेगा।

भो ज्ञानी! गुणस्थान संज्ञा से परिणति नहीं बनती, परिणति से गुणस्थान बनता है। इसलिये गुणस्थान को मत सुधारो, परिणति को सुधारो, तो गुणस्थान बन जायेगा। अध्यात्मशास्त्र में गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि यह सब अशुद्धदशा है। इसलिये गुणस्थान को लेके मत बैठो। गुणस्थान को संभालने का विचार करो, क्योंकि इससे आप संतुष्ट हो जाओगे। बोले, हमारा तो यह गुणस्थान ही ऐसा है, उसका तो ऐसा धर्म है। बोले, कषायें तो हमें आयेंगी क्योंकि हमारा चौथा, पाँचवाँ गुणस्थान ही है, हम कौन महाव्रती हैं? इसका तात्पर्य तुम्हारे गुणस्थानों की इतिश्री यहीं तक होगी। उस गुणस्थान संबंधी भाव आयेंगे, परन्तु गुणस्थान की वृद्धि तो हम ही करेंगे।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 130 **नियमसार** कलश 214

उत्थानिका : शुभ-अशुभ परिणाम से उत्पन्न होने वाले पुण्य और पाप रूप कर्मों के त्याग का विधान

गाथा : जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥130॥

संस्कृत छाया : यस्तु पुण्यं च पापं च भावं वर्जयति नित्यशः।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने॥130॥

अन्वयार्थः (यः तु) जो (पुण्यं च पापं च भावं) पुण्यरूप और पापरूप भाव को (नित्यशः वर्जयति) नित्य ही छोड़ देता है (तस्य सामायिकं स्थायि) उसके सामायिक स्थायी है (इति केवलिशासने) ऐसा केवली भगवान् के शासन में कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 129वीं गाथा में संकेत दिया कि आर्त्त-रौद्रध्यान का जब तक परित्याग नहीं करेगा योगी, तब तक समाधि संभव नहीं है। आर्त्त-रौद्रध्यान के सद्भाव में सामायिक नहीं होती है, आर्त्त-रौद्र ध्यान के अभाव में समाधि होती है, ऐसा भगवान् केवली के शासन में कहा है। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव इन दुर्ध्यानों के त्याग की प्रेरणा देते हुये कह रहे हैं–

इति जिशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति।
यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम्॥ कलश 214॥

आर्त्त-रौद्र ध्यान के त्याग करने से सामायिक सनातन है, शाश्वत है। ऐसे सम्यक् सामायिक स्वरूप का यहाँ व्याख्यान करते हैं। जब तक उभय ध्यान चलेंगे, आर्त्त और रौद्र, तब तक धर्म्यध्यान का उद्भव नहीं होगा और धर्म्यध्यान के अभाव में सामायिक नहीं होगी। यदि कोई जीव आर्त्तध्यान में बैठ जायेगा, नेत्र भी बंद हो जायेंगे, जाप भी चलेगी, परन्तु सामायिक नहीं कहलायेगी। सामायिक नहीं है, क्योंकि साम्यता नहीं है। परिणाम में चाहे क्रूरता हो चाहे आर्त्तता हो, वहाँ रौद्र-आर्त्तध्यान है और मन में कोई विकल्प चल रहा है तो समय अर्थात् काल नष्ट हो रहा है और दूसरी ओर समय यानि आत्मा नष्ट हो रही है, विकल्प से आत्मा की शांति भंग हो रही है। तीसरे, धर्म्यध्यान का अभाव चल रहा है। चौथे, जिनशासन की आज्ञा की अवहेलना चल रही है। जिनदेव ने कहा है धर्म्यध्यान का वेश धर्म्यध्यान के साथ नहीं है तो यह भी छल है। इसलिये आचार्यभगवान् कह रहे हैं, कि आर्त्त-रौद्रध्यान का जहाँ त्याग है, वहीं सामायिक है।

भो ज्ञानी! निज कारणसमयसार नित्य है, निरंजन है। ऐसा मेरा कारणसमयसार स्वयम् नियत यानि निश्चित शुद्ध निश्चय परम वीतराग सुखामृत के पान से युक्त है, उससे पतित हुआ, ऐसा जीव आर्त्त-रौद्रध्यान के, कषाय के कारण तिर्यंच योनि में जायेगा। यदि आपने देव-आयु का बंध कर लिया, फिर आर्त्त-रौद्रध्यान प्रारंभ हो गया, तो भूत, प्रेत, व्यंतर आदि बनेगा। जिन्हें अपनी देवदुर्गति कराना हो, तो आर्त्त-रौद्रध्यान में बैठो। जैनधर्म बड़ा सहज और सुलभ है। अन्य धर्मों में तो धर्म का वेश बनाना पड़ता है। जैनधर्म में जो खोटे वेश बना लिये हैं, उनको हटा दो। जन्मजात रूप है। न यहाँ तिलक लगाया जाता है, न कंठी पहनी जाती है, कुछ भी नहीं होता है। सहज रूप है, कोई वेश नहीं। ऐसे सहज वेश में यदि विकार आता है, तो जिनवाणी कह रही है कि आपको तिर्यंच अथवा प्रेतयोनि में जाना पड़ेगा और रौद्रध्यान रहा तो नरकादि में भी वास करना पड़ सकता है। इनके प्रयोग का कोई निमित्त है तो आर्त्त-रौद्रध्यान। वह सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक नहीं जा रहा है, तिर्यंच गति में नहीं जा रहा है। यदि आर्त्त-रौद्रध्यान की तीव्रता बढ़ गई और अनंतानुबंधी कषाय बन गई, तो नियम से नरक एवं तिर्यंच में ही जाना पड़ेगा, यह कहा जाता है। सम्यग्दृष्टि को, संयमी को नरक, तिर्यंच गति नहीं होती। इसको समझना। भावसंयमी को नरक, तिर्यंच गति नहीं होती और भावसंयम नष्ट हो गया तो द्रव्यसंयम में भी मात्र वेश भर है और द्रव्यसंयम भी नष्ट हो गया तो इस वेश में नरक, तिर्यंच जा सकते हो।

भैया! आपने रात्रिभोजन त्याग का व्रत ले लिया। रात्रि में भूख लगी और अब आर्त्त-ध्यान चल रहा है। आर्त्तध्यान ऐसा चला कि खाया तो नहीं, पर पूरी रात्रि भर रोटी पर बैठा रहा। उस आर्त्तध्यान में तुमने अशुभ आयु का बंध कर लिया। सेठ ने नियम लिया कि जब तक दीपक जलेगा, तब तक सामायिक करूँगा। सेठानी ने सोचा कि अंधेरा न हो जाये, वो दीपक में घी डालती रही। सेठ को प्यास लग रही थी। ऐसी परिणति से उनकी मृत्यु हुई, लेकिन नियम नहीं तोड़ा। बाबड़ी में मेढ़क बन गये, परंतु संस्कार काम आये, वही मेढ़क भगवान् महावीर के समवसरण में पुष्पपाखुड़ी को लेकर जा रहा था। भो ज्ञानी! वह सेठ आर्त्तध्यान में मरण के कारण मेढ़क हुआ। सम्यक्त्व छूट भी जाता है। सम्यक्त्व छूट गया। सम्यग्दृष्टि जीव नरक और तिर्यंच अवस्था को प्राप्त नहीं करता। यदि पूर्व में नरकायु का बंध भी कर लिया, तो प्रथम नरक के नीचे नहीं जायेगा और मनुष्य या तिर्यंच होगा तो भोगभूमिया होगा।

भो ज्ञानी! आपने रात्रिभोजन त्याग का नियम लिया। एकान्त में जाके भोजन करके आप बैठ गये। लोगों की दृष्टि में रात्रिभोजन त्यागी ही है। अब द्रव्यसंयम क्या बचा? पर माया का संयम चल रहा है। ऐसी मायाचारीसंयमी को जिनवाणी कहेगी कि तुमको नरक भी हो

सकता है, तिर्यंच भी हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसी समय बंध हो रहा हो। ऐसा जीवन भर आपने किया। जिस काल में आयुबन्ध होना था, इतना आस्रव कर चुके हो कि वैसे परिणाम हो गये। 'भगवती आराधना' में, आप तो सम्यग्दृष्टि की बात कर रहे हो, वहाँ मुनिराज तक को समझाया है कि हे योगी! संभलके चलो, अन्यथा गति विचित्र हो सकती है। आर्त्तध्यान कहीं भी किसी भी अवस्था में होंगे, हितकारी नहीं होंगे। यह कथन जैनदर्शन मात्र में ही मिलेगा। सर्वत्र पाँच पापों की बात तो मिल जायेगी। हिंसा आदि के भाव मत करो, ऐसा भी सुनने को मिल जायेगा, लेकिन नहीं करने पर भी हो रहा है, ऐसा कहनेवाला जैनदर्शन मात्र है।

भो ज्ञानी! सामने का द्रव्य नहीं दिखता जब आर्त्तध्यान में बैठा होता है। रौद्रध्यान में उस विषय में इतना निमग्न हो जाता है कि उसको लगता है कि, बस, मैंने हिंसा कर ही दिया। इतनी क्रूरता भावों में होती है। पर ऐसे क्रूर परिणामों से जीव स्वर्ग चला जाएगा, असुर बन सकता है, लेकिन देव नहीं बन पायेगा। असुर बन जायेगा, नरकों में जाकर झगड़ा करेगा, लेकिन वैमानिक देव नहीं बन सकता। वैमानिक देव वही बनेगा, जिसका निर्दोष संयम और चारित्र हो। फिर गिरता क्यों है? क्योंकि मिथ्यात्व से युक्त संयम भी निर्दोष होता है। कषायें मंद होती हैं, शुक्ल लेश्या होती है। जो जीव, ग्रैवेयक जा रहा है, वो कृष्ण लेश्या वाला नहीं है। बोले, मिथ्यादृष्टि है। हाँ मिथ्यात्व में भी कृष्ण, शुक्ल लेश्या होती है। मिथ्यादृष्टि अभव्य भी क्यों न हो, ग्रैवेयक जो जायेगा वो शुक्ल लेश्या के अंशों से ही जायेगा। कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओं के अंश से नहीं जायेगा। अनंतानुबंधी कषाय की मंदता में भी शुक्ललेश्या बनती है।

हे योगी! अब यह नहीं सोच लेना कि हम व्रती बन गये हैं, धर्म के वेश में आ गये हैं, धर्मक्षेत्र में बैठे हैं, अब हमें भाव सुधारने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में अब हमें भाव सुधारने की आवश्यकता है। आप द्रव्य से तो हट चुके हो, अब कलुषता तुम्हारी भावों से ही ज्यादा चलती है। द्रव्य से हिंसा नहीं कर पा रहे हो, क्योंकि लोग क्या कहेंगे? लोकाचार में द्रव्य से हिंसा तुम नहीं कर पा रहे हो, लेकिन भावहिंसा पता नहीं द्रव्यहिंसा वाले से भी ज्यादा कर लो। इतनी कलुषता बढ़ सकती है। जो पुतला निकलता है, वह कैसे निकल पड़ा? कषाय की तीव्रता में ही निकला है। वो भी संज्वलन थी, उसमें भावलिंग था। संज्वलन की तीव्रता ने इतना काम कर दिया कि बारह योजन की नगरी को जला दिया। इसलिये यह कभी मत सोचके बैठ जाना कि हमने तो दान दे दिया है, उपवास कर लिया है, पूजा कर ली है, जाप कर ली है, तो अब हमारी सल्लेखना-समाधि सबकुछ निश्चित हो गया है। यदि

आर्त्त-रौद्रध्यान पर ध्यान नहीं, तो सब गड़बड़ हो जायेगा। जब पुतला निकला, तब मिथ्यात्व में नहीं आये। नगरी जलाकर आया, स्वयं को तब तक नहीं जलाया। जब तक भावलिंग ही रहा। क्योंकि तेजस पुतला ऋद्धि है और वो मिथ्यात्व में प्रकट नहीं होती है, असंयम में नहीं होती है। ऋद्धियाँ जो होती हैं, सच्चे भावलिंगी तपस्वी मुनि के ही होती हैं। ठीक है अशुभ प्रकट हुआ होगा। कषाय के कारण नगरी को नष्ट किया, स्वयं को जलाया, तब वो गुणस्थान गिरा। यदि क्रोध आते ही गुणस्थान गिर जाता तो पुतला नहीं निकल पाता। छठवें गुणस्थान में ही निकलता है, ऋद्धि उसी में प्रकट होती है। विक्रिया ऋद्धि, तेजस पुतला, आहारक शरीर यह सब छठवें गुणस्थान में होते हैं। मुनियों के जो ऋद्धियाँ होती हैं, वह सब छठवें-सातवे गुणस्थान में ही प्रकट होती हैं। बिना भावलिंग के प्रकट नहीं होगी। बाद में गुणस्थान गिर गया। इस प्रकार का नियम है।

भो ज्ञानी! जब पुतला निकला था, उस समय गुणस्थान नहीं गिरा। निकलने के बाद नगरी को जला दिया, स्वयं को भी जला दिया, तब गुणस्थान गिरा। 'उत्तरपुराण' में कुछ अलग घटना लिखी है। उसके अनुसार पुतले ने नगरी नहीं जलाई। उनको कोप उत्पन्न हुआ, उनकी मृत्यु हो गई और तेजस् जाति के अग्निकुमार देव हुये और अग्निकुमार देव ने आकर द्वारिका जलाई। 'वृहद् द्रव्यसंग्रह' एवं अन्य ग्रथों में तेजस पुतला की चर्चा है। उसने जाकर द्वारका को जलाया। ऐसी एक घटना और है। दंडक राजा ने अभिनंदन आदि पाँच सौ मुनिराजों को घानी में पेल दिया था। उस समय एक मुनिराज उधर जा रहे थे तो श्रावकों ने कहा, प्रभु! आप इधर मत जाओ। पूछने पर पूरा समाचार बताया कि राजा ने ऐसा किया। सुनकर मुनिराज को क्रोध उत्पन्न हो गया। उनके शरीर से तेजस पुतला निकला, जिसने दंडकनगरी को जला दिया और मुनिराज को भी जला दिया। इसलिये ध्यान रखो, भैया! क्रोध चाहे धर्म के नाते हो, चाहे कर्म के नाते हो, नुकसान तुम्हारा ही होगा।

भो ज्ञानी! ऐसे घनघोर तपस्वी, जिनको तेजस ऋद्धि प्रकट हुई हो, ऐसी तपस्या क्षणमात्र में नष्ट हो गई। तेजस पुतला बारह योजन की नगरी जला सकता है और बारह योजन के जीवों की रक्षा भी कर सकता है। तेजस शरीर के दो भेद होते हैं। शुभ तेजस और अशुभ तेजस। शुभ तेजस दायें कंधे से निकलता है वह सफेद वर्ण का होता है। अशुभ तेजस बायें कंधे से निकलता है, वह सिन्दूर वर्ण का होता है, विलाव के आकार का होता है। शुभ तेजस, अशुभ तेजस और आहारक शरीर, इन तीनों में अंतर है। आहारक शरीर मस्तिष्क से निकलता है और धवल वर्ण का होता है, शुभ होता है, विशुद्ध होता है, अव्याघात होता है। वह न किसी का घात करता है, न किसी से विघात को प्राप्त होता है। जब भावलिंगी मुनि के मन

में कोई जिज्ञासा प्रकट होती है, तो उस समय आहारक पुतला निकलता है। या तीर्थंकर की वंदना के भाव हों, पंचकल्याणक देखने के भाव हों, जिनमंदिर दर्शन के भाव हों। जिस क्षेत्र में मुनिराज विराजमान हैं, उस क्षेत्र में केवली/श्रुतकेवली न हों और उनके मन में किसी विषय की जिज्ञासा, शंका हो तो उसके समाधान के लिये, वंदना के लिये आहारक शरीर निकलता है, ऐसा 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में लिखा है।

भो ज्ञानी! यदि मुनिराज को पता चला कि अमुक जगह दुर्भिक्ष पड़ा है और उनको लगे कि इतने सारे जीव नष्ट हो जायेंगे, सो दयायुक्त होने से शुभ तेजस पुतला निकलता है। जो उस क्षेत्र में जाकर बारह योजन में सुभिक्ष करके आ जायेगा। इतनी शक्ति उसमें होती है। यह जितने भी शरीर हैं तेजस, आहारक अथवा समुद्घात, यह कभी मूल शरीर को नहीं छोड़ते हैं, आत्मा के प्रदेश बाहर जाते हैं। मूल शरीर जहाँ है, वहीं रहेगा।

भो ज्ञानी! आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो मुनि नित्य ही आर्त्त व रौद्र इन दो ध्यानों को छोड़ देता है, उनको निश्चय सामायिक होती है। जहाँ रौद्रध्यान है, वहाँ मुनि नाम की कोई वस्तु नहीं है। मुनिवेश में रहकर कदाचित् आर्त्त-रौद्रध्यान बन गया है, तो मुनि नहीं है। आर्त्तध्यान के मात्र तीन पाये होते हैं। निदान नाम का आर्त्तध्यान छठवें गुणस्थान में नहीं होता है और रौद्रध्यान तो होता ही नहीं है, कदाचित् ऐसा कोई घोर उपसर्ग/परीषह भी आ जाये तो भी।

भैया! जब तुम्हारे ऊपर घोर उपसर्ग हो, कोई तीव्र संतापित करने वाला अपवाद करदे, गलत प्रचार हो जाये, तो भी समता रखना। आप पर कोई गुस्सा करे, गाली दे तो आप उसकी गाली को स्वीकार ही नहीं करना, सहजता में टाल देना। आप कुछ नहीं कहोगे तो उसको और गुस्सा आयेगा। थोड़ी देर बाद वो दूसरे को भेजेगा और वो दूसरे मजा लेने वाले आयेंगे। वे कहेंगे कि उन्होंने आपसे ऐसा कहा। फिर भी आपने कुछ नहीं कहा, तो वे भी परेशान होके चले जायेंगे। हो सकता है कि फिर तीसरा आये। वो फिर वही कहे तो कहना कि ऐसा होता रहता है। मुस्करा कर टाल देना। यह कौन आज की बातें हैं? वह तो पुरानी हो गई। आपको अपने को संभालना है। भैया! हड़िया पर पारा रखा जाता है, संसार के मुखों पर पारे नहीं रखे जाते। लोगों ने राम-जैसे महापुरुष को नहीं छोड़ा। भगवान् महावीर, भगवान् आदिनाथ के काल में सब उनको मानते थे क्या? यदि सभी मानते होते, तो भगवान् आदिनाथ के काल में 363 मत क्यों पनपे? चतुर्थ काल में भी ऐसा होता था। यह संसार है, आप निमित्तों को नहीं सुधार सकते हो। अपना कल्याण तो उपादान को सुधारने से ही होगा। निमित्तों को आप कभी नष्ट नहीं कर पाओगे, न निमित्त कभी नष्ट हुये हैं।

भो ज्ञानी! आप ही विचार करो, अकंपनाचार्य महाराज सोच लेते कि यदि इस बलि ने इतना उपसर्ग कर डाला, क्या करें, क्या कर सकते थे? वो तो आपका पुण्य का योग था कि उपसर्ग दूर हो गया। कुछ ऐसे भी हैं जिनके उपसर्ग दूर नहीं हुये और मोक्ष चले गये। प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में ऐसे दस मुनिराज होते हैं, जो घोर उपसर्ग को सहन कर मोक्ष जाते हैं अथवा स्वर्ग जाते हैं। जो ग्यारह अंग चौदह पूर्व हैं, उनमें इन मुनियों का भी कथन है। अनुत्तर दशांग। जो मुनिराज घोर उपसर्ग सहन करके अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुये, उनका भी कथन होता है। गुरुदत्त महाराज सोच लेते कि कपिल ने ठीक नहीं किया और गुस्सा करते, आर्त्त-रौद्रध्यान करते, तो प्रभु! शरीर तो तुम्हारा जल ही गया और साधना आपने अपने आप में जला ली। मुमुक्षु यह सोचता है कि उपसर्ग इस तन पर किया है, लेकिन हम चेतनधर्म पर उपसर्ग न करें। शरीर पर उपसर्ग चार प्रकार का होता है। देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंच कृत और अचेतन कृत। लेकिन जो चेतनधर्म पर उपसर्ग होता है, वह तेरी परिणति के द्वारा ही होता है। उसे दूसरा नहीं संभालेगा। उपसर्गकर्त्ता का रत्नत्रय धर्म नहीं था, आपका था। समता उपसर्गकर्त्ता की नहीं थी, आपकी थी। सामायिक, संयम उपसर्गकर्त्ता का नहीं था, आपका था। अब रक्षा किसको करना है? मूलतः साधना बचती है परिणामों पर। तन की साधना की सभी क्रियायें गौण। अशन, ऊनोदर, सारे तप, व्रत परिसंख्यान सब गौण हैं। यह गौण साधना है, यह समता के लिये की जाती है। समता बाह्य तप नहीं है।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जो मुनि आर्त्त-रौद्रध्यान को नित्य ही छोड़ता है, उसके भगवान् जिनेन्द्र के शासन में अणुव्रत नामक सामायिक होती है। महाव्रती की सामायिक को अणुव्रत क्यों कहा? क्योंकि सामायिक की पूर्ण सिद्धि बारहवें गुणस्थान में होती है, जहाँ मोह का अभाव हो जाता है। ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशम भाव था, वहाँ कषाय का अभाव नहीं था, इसलिये अणुव्रत कहा है, कषाय के पूर्ण अभाव को महाव्रत में लिया है। बारहवें गुणस्थान में सामायिक अपेक्षा कथन करना, व्रतों की अपेक्षा से नहीं। यह समता की दृष्टि से है। रात्रिभोजन त्याग नामक अणुव्रत होता है। मुनियों के पाँच महाव्रत होते हैं। परन्तु रात्रिभुक्ति त्याग नामक अणुव्रत होता है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि अणुव्रत का अर्थ है एकदेश, महाव्रत का अर्थ है सकलदेश। पांच पापों में ऐसा कोई पाप है जो दिन में न किया जाय, रात में कर सकते हो या रात में न किया जाय, दिन में कर सकते हो? नहीं है। परन्तु आहार का त्याग रात्रि में किया जाता है। रात्रिभुक्ति त्याग। दिन में तो आहार करने जाते हैं, एक बार चर्या को जाते हैं, इसलिये पूर्णरूप से त्याग नहीं है। एकदेशरूप से आहार का त्याग है। इसलिये अणुव्रत कहा है। पूर्ण समता बारहवें गुणस्थान में आती है, इसलिये इसके पूर्व

अणुव्रत सामायिक कहा है। यह श्रावक के व्रतों वाला अणुव्रत नहीं है।

भो ज्ञानी! वह परम वीतरागी शुद्धोपयोगी निर्ग्रन्थयोगी, अभीतक तो पाप के त्याग की बात थी, यहाँ पर अब उसको पुण्य का भी विकल्प नहीं है। योगीन्दुदेव कहते हैं कि पुण्य, पाप दोनों प्रकृतियाँ विकल्परूप हैं और जहाँ विकल्प है, वहाँ निर्विकल्प दशा कहाँ? और निर्विकल्पदशा के अभाव में वीतरागता कहाँ? और वीतरागता के अभाव में सिद्धत्व की प्राप्ति कहाँ? इसलिये, मैं पुण्यकर्म करूँ, ऐसा विकल्प भी निर्ग्रन्थ नहीं लाता, पाप से बचता है, उससे पुण्यास्रव होता है। लेकिन पुण्य करने के लिये कभी पुण्य नहीं करते हैं। वो पापों से बचने के लिये ही पुण्य करते हैं। पुण्य के फल की आकांक्षा कभी नहीं रखते। पुण्य संसार का हेतु नहीं है। पुण्य के फल की जो आकांक्षा है, वह संसार का हेतु है। पुण्य तो नियम से, परम्परा से मोक्ष का हेतु है और वही पुण्य 'पुण्य' है। "पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेतिवा पुण्यम्" जो आत्मा को पवित्र करे, वह पुण्य है। पांच महाव्रत, पांच अणुव्रत का पालन करने से ही आत्मा पवित्र होगी। पालन करने के जो भाव आ रहे हैं, वे पुण्यभाव आ रहे हैं।

रत्नत्रय तो मोक्ष का हेतु है, फिर रत्नत्रयधारी स्वर्ग क्यों जाते हैं? महाव्रत मोक्ष के ही हेतु हैं। उन महाव्रतों के पालन में जो पुण्यास्रव चल रहा है, शुभोपयोग चल रहा है, उससे जो जीव स्वर्ग जा रहा है, यह रत्नत्रय का दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का ही कारण है। परन्तु उस रत्नत्रय की साधना में जो शुभोपयोग चल रहा है, वो उसका अपराध है। ऐसा अमृतचंद्रस्वामी ने 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' में लिखा है। ज्ञानीजीव अशुभ से बचने के लिये शुभ करता है। इसलिये रत्नत्रय की साधना तो धर्म ही है अन्यथा धर्म नाम की वस्तु कोई है ही नहीं। लेकिन आपके रत्नत्रय में उतनी विशुद्धता नहीं आ पा रही है, जिससे कि अभी आप वर्त्तमान में शुभास्रव का नाश कर सकें। जीव जब तेरहवें गुणस्थान में जाता है और रत्नत्रय की पूर्णता होती है, उस रत्नत्रय में आप फिर पुण्य का भी निरोध करते हो, वहाँ सम्पूर्ण आस्रव का निरोध होता है। इसके पहले आप चाहोगे कि अशुभ का, शुभ का संवर कर दूँ, तो तेरहवें गुणस्थान तक शुभ का संवर नहीं होता, अशुभ का संवर चल रहा है। अशुभ प्रकृतियों का संवर है। शुभ प्रकृतियों का संवर तो पूर्णतः चौदहवें गुणस्थान में ही होता है। इस लिये भाव लाने की आवश्यकता ही नहीं है। मोक्ष के भाव लाने से मोक्ष नहीं होता, रत्नत्रय धर्म के पालन से मोक्ष होता है। रत्नत्रय धर्म का पालन करेगा, जब शुभोपयोग में होगा, उसके मोक्ष के भाव नियम से आयेंगे। और वह भाव भी रोकने को आगम नहीं कह रहा है। प्रशस्त निदान कर रहा है, प्रशस्त भावना कर रहा है। क्योंकि जब आप सरागता में होगे तो भाव तो आयेंगे। आप कहें कि मेरा अशुभ रुक जाये, ठीक है। आप कहें, भगवान्! मेरा शुभ रुक जाय।

तो वो नहीं रुक रहा है। तुमने संकल्प-विकल्प किया कि मेरा शुभ रुक जाये, मैं शुभ नहीं चाहता हूँ। तो अशुभ जारी हो जायेगा और शुद्ध को नहीं पाओगे। इसलिये विवेक से चिंतन किया करो।

'परमात्मप्रकाश' में योगीन्दुदेव सूरि ने लिखा है कि सम्यग्दृष्टि जीव शुभक्रियायें अशुभ से बचने के लिये करता है। औषधि का सेवन औषधि के लिये नहीं किया जाता। औषधि का सेवन इसलिये किया जाता है कि रोग न बढ़ जाये। लेकिन उद्देश्य यही रहता है कि भगवान्! ऐसा क्षण कब आये जब औषधि न खाना पड़े। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव शुभ करने के लिये शुभ करना ही पड़े, इसलिये शुभ नहीं करता। भगवान्! मेरी अशुभ से निवृति हो जाये। इसलिये शुभकर्म नियम से करता है और वह शुभकर्म परम्परा से मोक्ष का हेतु है, सम्यग्दृष्टि का। मिथ्यादृष्टि जीव का शुभकर्म परम्परा से भी मोक्ष का हेतु नहीं है। इसलिये ज्ञानी आत्माओ! अभी सुकृत को मत छोड़ना, बुद्धिपूर्वक आपको दुष्कृत को ही छोड़ना है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी 'नियमसार' जी की 130 वीं गाथा में कह रहे हैं, हे योगी! आप कुछ भी नहीं करोगे तो भी पुण्य तो आ ही रहा है। यह मत सोचो कि मेरा पुण्य बढ़ जाये, मेरी ख्याति फैल जाये, मेरा यश फैल जाये। यह भावना मत लाओ। पुण्य के फल में भी विकल्प मत करो और पाप के फल में भी विकल्प मत करो। तुम्हारा पुण्यास्रव कोई रोक नहीं रहा, वो तो आपकी निर्मल साधना से ही रुक पायेगा। वो चौदहवें गुणस्थान में रुकेगा। तेरहवें में शुभ आस्रव चलता है। जो पुण्य-पाप दोनों के परिणामों को छोड़ देता है, आत्मध्यान में बैठा वो कहाँ चिन्ता करेगा? जब आप अध्यापन कराते हो, उस समय आपको वेतन का ध्यान नहीं रहता। वेतन का ध्यान रखोगे तो पढ़ाई नहीं करा पाओगे। इतना ही नहीं, यह भी ध्यान नहीं रखते कि कौन-सी जाति के हैं, छोटे हैं कि बड़े हैं? तुम्हारा लक्ष्य अध्यापन मात्र का रहता है। डाक्टर जब नाड़ी देखता है, उस समय स्त्री, पुरुष का ध्यान नहीं रखता है। स्त्री पुरुष पकड़ोगे तो रोग पकड़ में नहीं आयेगा और उस समय फीस लेने की भी दृष्टि नहीं रहती है। वेतन या फीस तो तुम्हें मिलेगी ही। ऐसे ही योगी जिस समय निर्विकल्प ध्यान में जाता है, उस समय वह पुण्य-पाप दोनों की परिणति से शून्य होता है, लेकिन वेतन के रूप में पुण्यास्रव तो जारी है। जिस समय डाक्टर को आप घर ले जाते हो रोगी को दिखाने, तो आप रास्ते में उसकी सुरक्षा करते हो, लेकिन डाक्टर को भान नहीं है कि मेरी रक्षा कोई करेगा। ऐसे ही जब योगी निर्विकल्प ध्यान में होता है, उस समय संपूर्ण पुण्यप्रकृतियाँ सुरक्षा कर रही हैं, फिर भी सुरक्षा की दृष्टि नहीं है। जिस समय श्रुतसागर महाराज पर बलि आदि मंत्रियों ने तलवार से प्रहार किया था, उस समय महाराज ने लोगों से या देव से नहीं कहा

था कि मेरी रक्षा करो। सम्यग्दृष्टि कभी नहीं कहता कि देवी-देवताओ! आओ, मेरी रक्षा करो। सीता को जब अग्नि में प्रवेश कराया गया था, तो सीता ने कब कहा था देवो मेरी रक्षा करो? सीता ने पंचपरमेष्ठी का स्मरण मात्र किया था, लेकिन पुण्य सामने खड़ा था।

भो ज्ञानी! कोई सोचे कि आस्रव चलेगा तो शुद्धोपयोग कैसे बनेगा? शुद्धोपयोगी मुनि के भी पुण्यास्रव ही चलता है। जिस पुण्य को हम यहाँ कह रहे हैं, वह पुण्य की आकांक्षा चल रही है। लेकिन पुण्यास्रव जो चल रहा है, वो ही तुम्हारे गुणस्थान को बढ़वा रहा है। लेकिन ध्यान रखना, वहाँ बुद्धि नहीं है अर्थात् पुण्य पर बुद्धि नहीं जा रही है। बुद्धि तो है, तभी तो ध्यान चल रहा है। बुद्धि के अभाव में ध्यान कैसे? लेकिन वो बुद्धि परद्रव्य में नहीं है, निज द्रव्य में है, इसलिये अबुद्धि शब्द का उपयोग होता है। एक बोले, शुद्धोपयोग शुरू हुआ कि शुभास्रव समाप्त हुआ। ज्ञानी! पुण्य की भावना का अभाव होता है, पुण्यास्रव का अभाव नहीं होता है। सप्तम गुणस्थान में शुद्धोपयोगी मुनिराज के कौन-से आस्रव का निरोध हुआ है? अशुभ आस्रव का! शुभ आस्रव का नहीं हुआ है, क्योंकि पुण्य ही तो धीरे-धीरे ऊपर उठा रहा है। गुणस्थान जो बन रहे हैं, परिणति से बन रहे हैं, परन्तु मेरी पुण्यसत्ता काम कर रही है, नहीं-तो तुम्हारे संयम के भाव च्युत हो जायेंगे। पुण्य के योग में कामनायें, वासनायें तीव्र सताती हैं।

भो ज्ञानी! आप कहो कि भिखारी को मोक्ष हो जाये और चक्रवर्ती नरक चला जाय, ऐसा नहीं होता। ऐसा मत कहना कि जिसके घर में कुछ नहीं वह आरंभ-परिग्रह से मुक्त हो गया। आपके दस मकान हैं तो दस मकान के परिग्रह का दोष लग रहा है, पर भिखारी को अनगिनत मकानों के परिग्रह का दोष लगता है। क्योंकि जिस मकान के सामने से निकलता है, सोचता है कि मेरा हो जाता। उत्कृष्ट यह है कि आपको बालब्रह्मचारी बनके जीना चाहिये। यदि आपकी सामर्थ्य नहीं है, तो आपको विधिपूर्वक, समाज और धर्म की मर्यादापूर्वक, स्वदार संतोषव्रत ले लेना चाहिये। उसको भी जिनवाणी में ब्रह्मचारी कहा है। जिसने स्वदार-संतोषव्रत लिया है, उसको एक ही स्त्री का दोष लग रहा है, परन्तु जिसने शादी नहीं की और ब्रह्मचर्य व्रत भी नहीं लिया है, जिस स्त्री पर दृष्टि डालता है, उसकी भोगभावना हो जाती है, उसने संसार भर के अब्रह्म का सेवन किया है।

भो ज्ञानी! कोई जीव सुन्दर बड़े भवन में रह रहा है, परन्तु फिर भी आस्रव नहीं हो रहा है, क्योंकि उसकी श्रद्धा में बैठा है कि यह भवन मेरा नहीं है। जैसे दुकान में बैठा मुनीम नोटों की गड्डियों को गिनते हुये भी सोचता है कि घाटा या मुनाफा सब सेठजी का। हमारा तो उतना ही राग है जितना हमें हर महीना पगार मिलना है। आगम कहता है कि मुनि की वृत्ति

साँप के समान होती है। साँप कभी अपना घर नहीं बनाता। दीमक जो वामी बनाती है, उसमें रहता है। जिस प्रकार से साँप का कोई भवन नहीं होता, मठ नहीं होता, ऐसे ही निर्ग्रन्थ साधु का कोई मठ, मंदिर, भवन नहीं होता। जहाँ उनको बिल मिला, वहाँ बिल में आ गये और समय पाके निकल गये। लगाव नहीं है, इसलिये आस्रव नहीं है। 'धवला' जी पहली पुस्तक में लिखा है कि दिगम्बर साधु अहि (सर्प) तुल्य होता है।

भो ज्ञानी! जहाँ पुण्य-पाप दोनों से रहित परिणति है, वहाँ सामायिक होती है। जहाँ पाप तो छूटा नहीं और पुण्य कर नहीं रहा है, अब बताओ सामायिक कैसे होगी? ऐसा जिनशासन में कहा है, कुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं। शुभ-अशुभ परिणामों से उत्पन्न हुआ शुभ-अशुभ कर्म के संन्यास का विधान यहाँ पर व्याख्यान किनके? जिसे अंतरंग-वहिरंग परिग्रह का त्याग है। ऐसे लक्षण से लक्षित परमयोगी जिनेश्वर क्या कह रहे हैं? चरणकमल। कितनी सुन्दर उपमा दी है? कमल नहीं कहा, चरणकमल कहा। ऐसे परमजिन योगीश्वरों के चरणों का प्रक्षालन करना और सम्वाहन अर्थात् पैर दबाना आदि वैय्यावृत्तिकरणजनित ऐसी शुभ परिणति विशेष से उपार्जित किया पुण्यकर्म प्रकट होता है। पापकर्म तो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह के परिणाम से उत्पन्न होता है। योगीश्वर की वैय्यावृत्ति करने से शुभ आस्रव होता है, शुभकर्म कहलाता है। पांच पापों में लीन होना, यह अशुभ कर्म है।

आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जो सहज वैराग्य के भवन के शिखर के शिखामणि हैं ऐसे मुनि के लिये संसार रूपी स्त्री के विलास की, विभ्रम की जन्मभूमिस्थान यह दोनों पुण्य-पाप कर्म हैं। ये संसार की विलासता को उत्पन्न करने वाली जो स्त्री है, उसकी जन्मभूमि है पुण्य और पाप और मुक्ति की जन्मभूमि पुण्य-पाप से रहित शुद्ध आत्मस्वरूप है। जो दोनों पुण्य-पापरूप कर्मों को छोड़ देते हैं, उनके नित्य ही केवलीभगवान् के मत में सामायिक व्रत होता है।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 131, 132 **नियमसार** **कलश 215-217**

उत्थानिका : सामायिक-चारित्र के स्वरूप का कथन

गाथा : **जो दु हस्सं रई सोगं, अरदिं वज्जेदि णिच्चसा।**
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।131।।

जो दुगुंछा भयं वेदं, सव्वं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे।।132।।

संस्कृत छाया : **यस्तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं वर्जयति नित्यशः।**
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।131।।
यः जुगुप्सां भयं वेदं सर्व वर्जयति नित्यशः ।
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने।।132।।

अन्वयार्थ : (यः तु हास्यं रतिं शोकं अरतिं) जो हास्य, रति, शोक और अरति को (नित्यशः वर्जयति) नित्य ही छोड़ देता है (तस्य सामायिकं स्थायि) उसके स्थायी सामायिक होता है (इति केवलिशासने) ऐसा केवलीभगवान् के शासन में कहा है। (यः) जो (जुगुप्सां, भयं सर्व वेदं) जुगुप्सा, भय और सभी वेद को (नित्यशः वर्जयति) नित्य ही छोड़ देता है (तस्य) उसके (सामायिकं स्थायि) सामायिक-व्रत स्थायी है (इति केवलिशासने) ऐसा केवलीभगवान् के शासन में कहा है।

नियमदेशना

आचार्यभगवान् कुंदकुंदस्वामी ने पूर्व गाथा 130 में यह संकेत दिया था कि आर्त्त-रौद्रध्यान से रहित अवस्था ही सामायिक है और जहाँ आर्त्त-रौद्रध्यान की अवस्था है वहाँ क्रिया करने पर भी चारित्र नहीं है। क्रिया तो है, पर चर्या नहीं है। ऐसे शुभोपयोग में रत जिनयतियों के चरणकमल का जिसने प्रक्षालन किया है और चरणों का संवाहन किया है, यह शुभोपयोग की वृद्धि है। इससे विपरीत विषयों में प्रवृत्ति अशुभोपयोग की वृत्ति है। जहाँ शुभ व अशुभ दोनों का अभाव है, वो शुद्धोपयोग की वृत्ति है। इसको आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कलश के माध्यम से समझा रहे हैं—

त्यक्त्वा सर्वं सुकृतदुरितं संसृतेर्मूलभूतं
नित्यानंदं व्रजति सहजं शुद्धचैतन्यरूपम्।
तस्मिन सद्दृग विहरति सदा शुद्ध जीवास्तिकाये
पश्चादुच्चैः त्रिभुवनजनैरर्चितः सन् जिनःस्यात्।। कलश 215 ।।

सुकृत और दुष्कृत, यह दोनों ही संसार के मूल हैं।

पुण्य और पाप, जो सहज चेतनरूप स्वरूप है, उसमें नित्य ही निज के आनंद में जो सहज गमन करते हैं, ऐसे वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीवास्तिकाय में यानि शुद्ध चिद्रूप आत्मा में विहार करते हैं। सिद्धस्वभावी आत्मा स्वयं में हो, इसलिये निज आत्मा में विहार करते हैं। इसके उपरान्त उत्कृष्ट रूप तीनलोक के लोगों से अर्चित होता हुआ वह जीव 'जिन' हो जाता है। जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अपने चेतन भवन में विहार करता है, शुद्ध जीवास्तिकाय का अनुभवन करता है, ऐसा जीव तीनलोक में पूज्य होता हुआ जिनत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध सत्ता में विचरण करता है। चल, मल, अगाढ़ यह तीन दोष जिसमें लग रहे हैं, वह अशुद्ध सम्यग्दृष्टि है। इस अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। चल दोष, मल दोष, अगाढ़ दोष। उपशम में यह दोष है, क्षयोपशम में ही नहीं होते हैं। अपना जो सम्यक्त्व है, वह शुद्ध नहीं है, इस अपेक्षा से। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में नियम से भाव आयेंगे ही, फिर भी दोष आने पर भी कर्मक्षय के हेतु हैं।

भो ज्ञानी! मेरी वेदी, मेरे भगवान्, मेरा मंदिर, मेरे महाराज, मेरे शास्त्र। जबकि भगवान् सबके हैं। यह वेदी उनकी है, यह भाव आ रहे हैं, तो दोष है। शांतिनाथ शांति देते हैं, पारसनाथ संकटों का हरण कर लेते हैं, शीतलनाथ शीतलता देते हैं, जबकि चौबीसों तीर्थंकर भगवान् समान हैं। हमें समयसार पसंद है क्योंकि उसमें शुद्धत्व की बात है। हमें प्रथमानुयोग पसंद है, क्योंकि मेरी समझ में आता है। हमें करणानुयोग पसंद है, क्योंकि मैं गणित जानता हूँ। जबकि चारों अनुयोग जिनवाणी ही है। यह ग्रन्थ हमारा है, यह ग्रन्थ आपका है, हम अपने ग्रन्थ की अच्छी तरह रक्षा करेंगे, जबकि जिनवाणी सभी की थी। यह हमारे मुनिराज हैं, हमारे गुरु हैं। जबकि जितने निर्ग्रन्थ हैं, वह सब हमारे गुरु हैं। जो 28 मूलगुणों का पालन करते हैं, वह सभी हमारे गुरु हैं। यह छोटे महाराज, यह बड़े महाराज! ऐसे मन में विकल्प आते हैं, यह भी सम्यक्त्व में दोष है, पर मिथ्यात्व नहीं है।

भैया! अपन कुण्डलपुर जाते हैं तो पहले बड़े बाबा के दर्शन के भाव आते हैं, जबकि बगल में दो भगवान् हैं उनपर दृष्टि नहीं जाती। जब हम किसी मुनिसंघ में जाते हैं, तो लगता है कि कब आचार्यमहाराज से मिल लूँ। बड़ा संघ हुआ तो अन्य को नमोस्तु कभी नहीं करते। ऐसा होता है। ये भाव क्षायिक सम्यक्त्व में, उपशम में नहीं आयेंगे। यह क्षयोपशम में आते हैं। सब प्रतिमाजी के बराबर से दर्शन करो। सभी वेदियों की वंदना करो। उसके लिये 'मूलाचार' में अंधघोटक न्याय कहा है। मुनिराज जब प्रतिक्रमण करते हैं, तो एक-एक विषय

को छह बार पढ़ते हैं। छह बार पढ़ने की क्या आवश्यकता है? एक भी अक्षर इधर-उधर नहीं, पूरा दंडक पढ़ो। उन्होंने उदाहरण दिया। किसी गरीब के पास एक घोड़ा था। उसको दिखना बन्द हो गया। वो वैद्य के पास पहुँचा। लेकिन वैद्य बाहर गया हुआ था। वहाँ वैद्य का बेटा था। वह कहता है कि इसी घोड़े से हमारी रोजी-रोटी चलती है, इसको दिख नहीं रहा है, तो हम व्यापार करने कैसे जायेंगे? अतः आप दवाई दो। लड़का बोला, पिताजी नहीं हैं तो कौन-सी दवाई दें? गरीब कहता है कि वो अलमारी खोलो, जिसमें आँखों के अंजन रखे हैं और आप एक शलाका लेकर प्रत्येक शीशी से घोड़े की आँख पर लगाते जाओ। उस बालक ने ऐसा ही किया। एक-एक शीशी से अंजन लगाना प्रारंभ किया। जैसे ही एक शलाका लगाई, नियोग ऐसा बैठा कि घोड़े की आँख ठीक हो गई। आचार्य बट्टकेर स्वामी कहते हैं, हे मुनिराज! आप प्रत्येक दंडक को पढ़ो। एक में मन नहीं लगा, दूसरे में भी नहीं लगा, छह में से किसी में भी मन लग गया, तो तुम्हारी अंदर की आँख खुल जायेगी। मंदिर में जितनी वेदियाँ/प्रतिमायें हैं, सबके दर्शन करो। हो सकता है कि किसी प्रतिमा के सामने भाव लग जायें, मन लग जाय।

भैया! आप किसी मंदिर में पहुँचे। 'ओहो! प्राचीन भगवान् हैं' ऐसे भाव मन में आये और परिणाम निर्मल हुये। घनघोर रूप से कर्मों की निर्जरा हो गई वहाँ। इसलिये कभी यह नहीं सोचना कि हमसे चढ़ते नहीं बनता, सो यहीं से कर लें। वो विषय अलग है कि तुम्हारा स्वास्थ्य खराब है। लेकिन जब तक बनता है, तुम वंदना करते रहना। इसका नाम है अंधघोटक न्याय। भो ज्ञानी! वंदना करते समय विवेक से वंदना करना, जिससे किसी को बाधा भी न हो। उत्कृष्ट मार्ग ये है कि प्रत्येक श्रीजी के सामने एक-एक कायोत्सर्ग कृतिकर्म-पूर्वक फिर नमस्कार करें। समय आपका विषय है और नहीं कर पा रहे हो तो कम- से-कम सब भगवानों को एक-एक बार भावों से नमस्कार तो कर ही लेना जितने भगवान् विराजमान हैं।

स्वतः सिद्धं ज्ञानं दुरघसुकृतारण्य दहनं
महामोहध्वान्तप्रबलतर तेजोमयमिदम्।
विनिर्मुक्तेर्मूलं निरुपधिमहानंद सुखदं
यजाम्येतन्नित्यं भवपरिभवध्वंसनिपुणम्॥ कलश 216॥

यहाँ आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव कह रहे हैं कि जो स्वतःसिद्ध है, जो पुण्य-पाप रूपी अरण्य को जलाने में अग्नि है, महा मोह-अंधकार के लिये प्रबलतर तेजमय अग्नि है, जो मुक्ति का मूल है, निर्वाण का मूल है, पर उपाधि से रहित महानंद सुखरूप है, ऐसे परभव के नाश करने में जो निपुण है, उनकी मैं नित्य ही पूजा करता हूँ। ऐसे ज्ञान के लिये और ऐसे ज्ञानधारी के लिये मैं नित्य ही पूजा करता हूँ।

अयं जीवो जीवत्यघकुलवशात् संसृतिवधू
धवत्वं संप्राप्य स्मरजनित सौख्याकुलमतिः।
क्वचिद् भव्यत्वेन व्रजति तरसा निर्वृतिसुखं
तदेकं संत्यक्त्वा पुनरपि स सिद्धो न चलति॥ कलश 217॥

यहाँ आचार्यमहाराज संसार की दशा का कितना सुन्दर चित्रण कर रहे हैं। यह जीव पापसमूह के वश होने से संसाररूपी वधु का पति होकर काम से जनित सुख से आकुल-बुद्धिवाला होता हुआ जी रहा है। परन्तु उनमें से कुछ भव्यजीव शीघ्र ही पुरुषार्थ करके निर्वाणसुख की ओर गमन करते हैं। वह बहुत नहीं होते बहुत कम होते हैं। जैसे भाड़ में बहुत सारे चने सिकते हैं, परन्तु उचटते कोई-कोई हैं। ऐसे ही संसार में बहुत सारे जीव होते हैं, परन्तु मोक्षमार्ग पर बहुत कम चलते हैं।

भो ज्ञानी! जो तीर्थंकरों के शासनकाल में टोंक से मोक्ष जाने की संख्या लिखी है, वह उन तीर्थंकरों के पूर्ण शासनकाल की है। सिद्धान्त की यह बात कि छह महीना आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष जायेंगे, यह सही है। सिद्धान्त में अपवाद नहीं होता। सिद्धान्त तो सिद्धान्त रहता है। आप वंदना में पढ़ते हो कि इन तीर्थंकरों के साथ इतने मोक्ष गये या इस कूट से इतने सिद्ध भये। यह तीर्थंकर शासनकाल की संख्या है। आज जितने मुनिराज हो रहे हैं, किसके शासनकाल में? भगवान् महावीर के। लेकिन शासनकाल को सरलता में ही मानके चलना, नहीं तो यह भी बड़ा घातक होता है। उनका शासन तो ठीक है, पर आत्मानुशासन भंग हो जाता है। भगवान् महावीर के समवसरण में पारसनाथ स्वामी के चेले बैठे थे। उनके मन में भाव आ गया कि हम तो पारसनाथ स्वामी के चेले हैं, हम ज्येष्ठ गुरु के चेले हैं, यह तो दूसरे का शासन है। ऐसा विचार कर वह समवसरण से उठकर चले गये। उन्होंने अपना पंथ चला लिया। गौतमबुद्ध भी पारसनाथ भगवान् के चेले थे। ऐसा भाव उनके लिये खतरनाक हो गया, आत्मानुशासन को भंग कर दिया।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो भव्य पुरुषार्थ करके निर्वाण-सुख को प्राप्त हुये हैं, वो सिद्धभगवान् उस सुख से चलायमान नहीं होते हैं, अचल रहते हैं। उस सिद्ध-सुख को जिस आत्मा ने प्राप्त कर लिया है, वो आत्मा अब संसार में नहीं आयेगी। अचल, निरूपम हैं। कृतकृत्य हो चुके हैं।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 131, 132 में कह रहे हैं कि जो हास्य, रति, शोक और अरति को नित्य ही छोड़ देता है, उसके सामायिक स्थायी होता है। ऐसा केवलीभगवान् के शासन में कहा है। कुछ लोग इनको कषाय नहीं मानते हैं। बोले यह सामान्य बातें हैं। पान की गुमटी पर आप रोज उधार पान खाने लगो। जब भी गुजरो, पान खा लो। आप

सोचोगे कि सामान्य-सी बात है, एक, दो रुपये का ही तो आता है, अपन दे देंगे। आप कई बार रोज खाते रहे। वह सामान्य वस्तु बड़ा ऋण बन गई। अब दुकानदार ने हिसाब जोड़कर बताया तो आपकी आँखें खुली अरे ऐसा भी होता है? जबकि आपकी दृष्टि में क्या था? बोले, सामान्य वस्तु मानते हैं, हँसी-मजाक सामान्य बात है। आप नोकाषाय को भी अभावरूप मत मानो। जब चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव को जोड़ा जाता है, तो नोकाषायें पीछे नहीं रहती हैं।

भो ज्ञानी! जो योगों की तुम्हारी चंचलता हुई है, उसका द्रव्य आपको मिलेगा। कर्मसिद्धान्त बड़ा विचित्र है। प्रतिसमय सात कर्मों का आस्रव होता रहता है, आयु बंध को छोड़कर। जब आयुबंध काल आता है, तब आठ कर्मों का आस्रव होता है। हाँ, प्रधानता उसकी रहती है। जैसे भोजन का ग्रास पिण्ड मुख से स्वीकार किया जाता है, लेकिन वह सप्तधातु के रूप में परिवर्तित होता है। कोई पानी पी रहा है तो यह मत समझना कि वह लघुशंका रूप है। वह भी सप्तधातु में परिवर्तित होता है। बच्चे को पतला दूध पिलाने पर वह भी सप्तधातु रूप परिवर्तित होता है। इस ही प्रकार से हास्य कषाय, नो कषाय पतली कषाय हैं, लेकिन फिर भी सात कर्मों का आस्रव करायेगी। आयुकर्म के समय आठों का करायेगी। वहाँ प्रमाद अवस्था में भी आस्रव तो होगा, पर प्रधानता आपकी परिणति की रहेगी।

भो ज्ञानी! हँसी के साथ अह्लाद है अह्लादगुण सम्यग्दृष्टि के नियम से होगा। यदि अह्लाद नहीं आता, तो सम्यक्त्व किस विषय का? धर्म, धर्मात्मा को देखकर, धर्म, धर्म के फल को लेकर हर्षित होना इसको संवेग कहा है, जो सम्यक्त्व का अंग है और सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अह्लाद और हँसने में अंतर है। प्रमोदभाव यानि चेहरे पर दमक आ जाना और हँसना यानि चेहरे का बिगड़ जाना। क्रोध में भी चेहरा बिगड़ जाता है। जैसे क्रोध में चेहरा लाल हो जाता है, वैसे ही व्यक्ति ज्यादा हँसे तो चेहरा लाल हो जाता है। जैसे क्रोध में उपादेय भूल जाता है, वैसे ही हास्य में उपादेय भूल जाता है कि क्या बोलना चाहिये, क्या नहीं बोलना चाहिये, क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये? जब हास्य कषाय का उद्वेग बढ़ जाये, तो आप हँसी रोक नहीं पाते हो, चाहे पूजा कर रहे हो, प्रवचन सुन रहे हो, भगवान् के सामने बैठे हो। हँसी जब भी आयेगी तो दूसरे को देखकर ही आ रही है। वहाँ भी आपकी दृष्टि पर पर गई है। इसलिये कुलमिलाकर कषाय तो कषाय हैं।

भैया! हँसी और सामायिक में समझौता कैसा? समाधि में हँसी नहीं, हँसी में समाधि नहीं। रति कितनी विचित्र होती है, कि मेरा क्षेत्र, मेरा गाँव। उस क्षेत्र से, गाँव से कोई आ जाय तो आपको गद्गद्पना होता है। वो रतिभाव है। इससे चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। इष्ट के वियोग में शोक करने से असातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है। शोक करने

से इष्ट आयेगा तो नहीं, लेकिन मोहनीय कर्म का आस्रव होगा, उससे आपको दु:ख का वेदन होगा। विपाक अंतर्मुहूर्त के बाद भी आ सकता है। जो तुम्हारे इष्ट नहीं हैं, उनको देखकर अरति भाव आता है। जिनसे तुम्हारा प्रेम नहीं है, प्रयोजन नहीं है, अरे! यह क्यों आ गये? मुख न बोले, पर चेहरा बता देता है। वो तो आ ही गये, लेकिन आपने कर्मों को और बढ़ा लिया। अंतरंग कषाय चल रही है।

भो ज्ञानी! जो हास्य, रति, शोक इनको नित्य ही छोड़ता है, उसके सामायिक स्थायी होता है। ऐसा केवलीभगवान् के शासन में कहा है। जो यह कथन चल रहा है, वो उसे भी नहीं स्वीकारेगा, क्योंकि यह परमसमाधि अधिकार और शुद्धोपयोग की दशा है। व्यवहारदृष्टि से भी सामायिक पाठ करना चंचलता है और सामायिक में स्थिरता नहीं है। जितने समय तक पाठ है, वो पाठ ही योग की एकाग्रता है। किसी का मन नहीं लग रहा है, तो पाठ कर लो, कम-से-कम अशुभ से तो बचोगे। भैया! जैसे कर्म का बंध करोगे, वैसा विपाक तो आयेगा। किसी को देखकर आप कहते हो कि आओ, बैठ जाओ। किसी को जगह रहने पर भी आप उठा रहे हो। पर दोनों के कर्म-ग्रह चल रहे हैं। जिसको उठाया जा रहा है, अनादेय कर्म उसके साथ बैठा हुआ है। दुर्भग नामकर्म से क्या होता है? आदमी कितना भी सुन्दर हो, फिर भी किसी को अच्छा नहीं लगता है और सुभग नामकर्म के उदय में चाहे गोरा हो, काला हो, बेढंगा भी हो, तो भी देखकर प्रसन्नता होती है, उसको पास में बैठाते हैं। दु:स्वर नामकर्म के उदय में वाणी कितनी भी मधुर हो, किसी को अच्छी नहीं लगती है। वो कितना भी अच्छा बोले, आप कहोगे कि बनके बोल रहा है। जिसका सुस्वर नामकर्म का उदय है, वो कैसा भी बोले, अच्छा लगता है। यह कर्मों की विचित्रता है।

भो ज्ञानी! लोक में कहते हैं कि लक्ष्मण जी को शक्ति लगने पर हनुमान जी पहाड़ उठा लाये, तो किसी ने गिरधर नहीं कहा, और नारायण कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया, तो गिरधर कहलाने लगे। यह संसार की विचित्रता है। काम करते मजदूर हैं और कहा जाता है कि अमुक नेता जी सड़क बनवा गये। महाराज जी का चातुर्मास हुआ, समाज ने कमरे बनवाये। लोग कहते हैं कि महाराज जी आये तो ऐसा काम हो गया। सैनिक युद्ध करता है और विजय मिलती है राजा को। सेना हार गई तो राजा हार गया। यश:कीर्ति, अयश:कीर्ति के उदय के कारण यश-अपयश होता है।

भो ज्ञानी! किसी को पसीना ऐसा आता है जो सुगंधित लगता है। किसी को पसीना ऐसा आता है कि दुर्गंधित लगता है। कुछ से बोलते कि यहाँ क्यों बैठ गये? कुछ को बैठा लेते हैं। पद्मिनी स्त्री जहाँ बैठी हो, वहाँ उसके पसीने की सुगंध के कारण भौंरे मँड़राने लगते हैं। उसके सुगंधित नामकर्म का उदय है।

आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि जो जुगुप्सा, भय और सभी वेद को नित्य छोड़ देता है, उसके स्थायी सामायिक होती है। ऐसा केवलीभगवान् ने कहा है। जब तक यह नोकषायें चलेंगी, वेग चलेंगे, तब तक यह सामायिक नहीं होगी। स्थूलरूप से तो व्यवहार-सामायिक भी नहीं होती। कर्मोदय तो हो रहा है, परन्तु उदय में शामिल नहीं होगा। यदि उदय में शामिल होगे, तो फिर सामायिक कहाँ? कर्म तो अपने समय में उदय में आयेंगे, परन्तु आपका कर्म (कर्तव्य)है कि उन कर्मों को भी कर्म स्वीकार नहीं करो, अपना काम करते जाओ। कुछ ऐसे उद्योग होते हैं जिनका उद्देश्य हँसना और हँसाना होता है। उसको कुछ लोग ध्यान कहते हैं, साधना कहते हैं। जबकि जिनवाणी कहती है कि कषाय कर रहे हो। कषाय को आत्मध्यान कैसे कहा जाये? कहीं-न-कहीं तो लोग भटके हैं।

आचार्यमहाराज सामायिक-चारित्र के स्वरूप को कह रहे हैं। मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद, नोकषाय के समूह से युक्त, ऐसे कलंकरूपी कीचड़ से संपूर्ण विकार-जाल को परमसमाधि के बल से, निश्चय रत्नत्रय आराधक ऐसे परम तपोधन, अच्छी तरह से छोड़ देते हैं। 'भट्टारक' यह जैनदर्शन का महान शब्द है। भट्टारक से तात्पर्य वर्तमान के लाल कपड़े वालों से नहीं है। जो कर्मकलंक को भट्ट कर रहे हैं, नष्ट कर रहे हैं, वे भट्टारक कहलाते हैं। भट्ट महावीर, भट्ट अकलंक देव। तीर्थंकर, आचार्यभगवन्तों को 'भट्टारक' शब्द से संबोधित किया जाता है।

भो ज्ञानी! परमसमाधि के बल से अर्थात् धर्म्यध्यान के बल से समाधि यानि ध्यान और परमसमाधि, जहाँ कषाय समाप्त है। गुणस्थान की दृष्टि से बारहवें गुणस्थान में घटित होगी। समाधि सप्तम गुणस्थान से परमसमाधि बारहवें गुणस्थान से, सामान्य समाधि यानि ध्यान छठवें गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है। नोकषायें धीरे-धीरे क्रम से अभाव को प्राप्त होती हैं और बारहवें में पूरी तरह छूट पायेंगी। दसवें गुणस्थान तक कषाय-नोकषाय समाप्त, परन्तु सूक्ष्म लोभ चलता है दसवें गुणस्थान तक। वेद आदि नौवें गुणस्थान में समाप्त। भय आदि संज्ञा आठवें गुणस्थान में समाप्त हो जाती है। मोहनीयकर्मजनित कषाय का अभाव होने पर परमसमाधि होगी। दूसरी दृष्टि से मोहनीयकर्म के उदयजनित जो कषाय है, इन पर जो नियंत्रण कर रहा है, उसकी समाधि है। आपको वेद तो सता रहा है, लेकिन आप सामायिक में बैठे हो, व्यवहार से। जब आप सामायिक करने बैठे, तो पाँचों पापों का त्याग करके बैठे। तो वो जो पाप उदय में आ रहा था, मोहनीयकर्मजनित था, फिर भी आपने पुरुषार्थ से उस काल में उसको रोककर रखा है, उसके परमसमाधि होगी और जब तक यह कषाय चलती रहेगी, जब तक परमसमाधि नहीं होगी।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।

गाथा 133 **नियमसार** **कलश 218, 219**

उत्थानिका : परमसमाधि अधिकार का उपसंहार

गाथा : **जो दु धम्मं सुक्कं च, झाणं झाएदि णिच्चसा।**
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥ 133॥

संस्कृत छाया : **यस्तु धर्म्यं च शुक्लं च ध्यानं ध्यायति नित्यशः।**
तस्य सामायिकं स्थायि इति केवलिशासने॥133॥

अन्वयार्थ : (यः तु) जो साधु (धर्मं च शुक्लं च) धर्म और शुक्ल (ध्यानं) ध्यान को (नित्यशः ध्यायति) नित्य ही ध्याता है (तस्य सामायिकं स्थायि) उसके सामायिक स्थायी होता है (इति केवलिशासने) ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है।

नियमदेशना

भो मनीषियो! आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 132वीं गाथा में यह संकेत दिया कि नोकषाय परिणाम जब तक जीव के हैं, तब तक सामायिक नहीं बनती। रति-अरति, हँसी-मजाक ये सारी-की-सारी कषायपरिणतियाँ हैं और इन सब के माध्यम से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है, ऐसा भगवान् केवली के शासन में कहा है।

त्यजाम्ये तत्सर्वं ननु नवकषायात्मकमहं
मुदा संसारस्त्रीजनित सुखदुःखावलिकरम्।
महामोहान्धानां सततसुलभं दुर्लभतरं
समाधौ निष्ठानामनवरतमानन्दमनसाम्॥ कलश 218॥

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव उपर्युक्त बात को समझाते हुये कलश कह रहे हैं। मैं निश्चय से संपूर्ण नोकषायों को छोड़ता हूँ। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये जितनी कषाय की परिणतियाँ हैं, इन सबका मैं त्याग करता हूँ। मुधा और विशोकित होकरके नहीं, प्रमुदित भाव से जो कषाय संसाररूपी स्त्री को उत्पन्न करने वाली सुख-दुःखरूप आवलियों यानि समूह से युक्त है, ऐसे महामोह से अंधे हुये जो व्यक्ति हैं, उनके लिये ये नोकषाय सुलभ है। जो जीव मोह से युक्त हैं, राग से युक्त हैं, उनके लिये नोकषाय सुलभ है। जिन योगियों का मन निज समाधि में निष्ठ है, अनवरत तल्लीन हैं, उनके लिये यह कषाय दुर्लभ है। रागियों के लिये कषाय सुलभ है। समाधि में विराजे त्यागियों के लिये कषाय बहुत दुर्लभ है। कितनी दुर्लभ है? जितनी रागियों के लिये समता दुर्लभ है।

आचार्यभगवान् कुन्दकुन्द स्वामी गाथा 133 में कह रहे हैं कि जो जीव धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को नित्य ही ध्याता है, उनके ही स्थायी सामायिक होता है। ऐसा केवलीभगवान् के शासन में कहा है। धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान नहीं बनता, तो वहाँ सामायिकस्थान नहीं होता है। परमसमाधि अधिकार के उपसंहार का यह कथन है। जो सकल-विमल केवलज्ञान और केवलदर्शन के लोलुपी हैं। कितना सुन्दर शब्द कह रहे हैं, 'लोलुपी'। जैसे दरिद्री, लोभी धन का लोलुपी होता है, भोगी भोगों का लोलुपी होता है, इसी प्रकार से परमजिनयोगीश्वर सकल-विमल केवलज्ञान-केवलदर्शन के लोलुपी होते हैं। ऐसे परमजिनयोगीश्वर अपनी आत्मा के आश्रित निश्चय धर्म्यध्यान से और निखिल विकल्पजालों से रहित, निश्चय शुक्लध्यान के द्वारा, निरन्तर ही अखंड, अद्वैत, सहज चैतन्य के विलासरूप अक्षय आनंद रूपी समुद्र में निमग्न रहते हैं। वे सभी प्रकार की बाह्य क्रिया से रहित रहते हैं। सदैव अभ्यन्तर क्रिया के आधारभूत सदाशिव रूप आत्मा का ध्यान करते हैं। जो अंत:करण में लीन, अपने में निष्ठ निर्विकल्प परमसमाधि संपत्ति एक कारण है जिसका, उनसे युक्त धर्म्य और शुक्लध्यान से अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं, उनको निश्चय से भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन में कहे हुये नित्य, शुद्ध, तीन गुप्तियों से युक्त परम समाधि लक्षण है जिसका, ऐसा शाश्वत सामायिक व्रत होता है। इसके अभाव मे सामायिक व्रत नहीं होता है। धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान वो भी कैसा? निर्विकल्प। बाहरी आडम्बरों से परे। ऐसा धर्म्यध्यान होगा, तभी निश्चय सामायिकव्रत होगा।

आचार्य पद्मप्रभलधारिदेव इस अधिकार को पूर्ण करते हुये परम समाधि के फल को बताते हुये कलश कहते हैं।

शुक्लध्याने परिणतमतिः शुद्धरत्नत्रयात्मा
धर्म्यध्यानेऽप्यनघपरमानन्दतत्त्वाश्रितेऽस्मिन्।
प्राप्नोत्युच्चैरपगतमहद्दुःखजालं विशालं
भेदाभावात् किमपि भविनां वाङ्मनोमार्गदूरम्॥ कलश 219॥

यहाँ आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि शुक्लध्यान में परिणत है मति जिनकी, किनकी? शुद्ध रत्नत्रय युक्त आत्मा है, वो शुक्लध्यान में परिणत अथवा धर्म्यध्यान आदि में भी निर्दोष परमानंद तत्त्व का आश्रय लिया है। जिनके विशाल कर्मों के दु:ख का जाल निकल चुका है। जहाँ भेद का अभाव हो चुका है। संसारी जीवों के वचनमार्ग और मनोमार्ग से दूर है। वो किसी के मन में नहीं सोचा जा सकता और वचन से कहा नहीं जाता है। ऐसा परमसमाधि से युक्त परिणाम है, यही जिनेन्द्रदेव के शासन में परमसामायिक है। इस प्रकार से सुख कवियों में सूर्यकमलों के मित्र के समान, पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रसार से रहित, गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा विरचित 'नियमसार' की तात्पर्यवृति नामक टीका में परमसमाधि नाम का नवम अधिकार पूर्ण हुआ।

भगवान् महावीर स्वामी की जय।
नमोस्तु शासन जयवन्त हो।

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति ट्रस्टीगण एवं सदस्य

शिरोमणि संरक्षक

श्री सुन्दरलालजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर, **श्री महावीरजी पाटनी**, भिलाई
श्री आजादकुमारजी जैन (बीड़ीवाले), इंदौर

परम संरक्षक

श्री नेमीचंदजी बड़कुल, इंदौर
श्री राजेशजी जैन (ब्रॉरेक्स), इंदौर
श्री कमलकुमारजी अग्रवाल, इंदौर
श्री संतोषकुमारजी जैन (पटनावाले), सागर
श्री माँगीलालजी रमेशकुमारजी पहाड़िया, हैदराबाद
श्री टी.के.वेद, इंदौर
श्री विजयकुमारजी रामनारयणजी, नागपुर

संरक्षक

श्री सचिनकुमारजी जैन (उद्योगरत्न), इंदौर
श्री अनिलकुमारजी जैन (जैनको, समाजसेवी), इंदौर
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बड़कुल), इंदौर
श्री शैलेन्द्रकुमारजी सोनी, इंदौर
डॉ. श्री जैनेन्द्रकुमार जैन, छत्रपति नगर, इंदौर
श्री मानिकचंदजी नायक, (परिवार) छत्रपति नगर, इंदौर
श्री पी.सी. जैन सा., बैंकवाले, इंदौर
श्री प्रमोदकुमारजी जैन (बारदाना),सागर
श्री संतोषकुमारजी सोनू जैन (सिहोरा), सागर
श्री जैन राजेशजी कानूगो, इंदौर
श्री पं. कमलकुमारजी कमलाकर, भोपाल
श्रीमती कुसुमजी प्रकाशचंदजी, सुखलिया, इंदौर
श्री कमलेशकुमारजी पहाड़िया, इंदौर
इंजी. श्री पंकजकुमारजी जैन, भोपाल
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री राकेशकुमारजी पाटनी, नागपुर
श्री निर्मलकुमारजी जैन, गोंदिया

ग्रंथ प्रकाशन विशेष सहयोगी

श्री वीरेन्द्रकुमारजी चंदादेवी रावत, इंदौर
श्रीमती राजलताजी धरणेन्द्रजी जैन, भोपाल
श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन (बीडीवाले), इंदौर
श्री अशोकजी कन्हैयालालजी खासगीवाला, इंदौर
श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन (हीरू), इंदौर
श्री स्वतंत्रकुमारजी बाबूलालजी जैन, बालसमुद
श्री विजयकुमारजी जैन, छतरपुर
श्री कैलाशचंदजी जैन (नेताजी), इंदौर
श्री पुष्पाजी निर्मलजी काला, रायपुर
श्री रतनचंदजी अशोककुमारजी, दुर्ग
श्री वीरेन्द्र कुमारजी जैन (सुपारी वाले), सागर

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति सदस्य

इंदौर...
श्री सुनीलकुमारजी गोधा
प्रो. श्री शांतिलालजी बड़जात्या
श्री महेशकुमारजी जैन (फूफा)
श्री जयकुमारजी जैन (रिंकू)
श्री विपुलजी बांझल (बंटी)
श्री संतोष गरूजी (परवार ग्रुप)
श्री कोमलचंदजी जैन (दद्दा)
श्री राकेशकुमारजी रसिया
श्री अरूणकुमारजी (मऊरानीपुर)
श्री विजयकुमारजी जैन (हवलदार)
श्री एन.के. जैन (रोडवेज)
श्री प्रकाशकुमारजी तरूणकुमारजी (आरोन वाले)
श्री जयकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
श्री नवीनकुमारजी सुनीलकुमारजी जैन
श्री राकेशकुमार राजकुमारजी जैन
श्री संतोषकुमारजी जैन
श्री महावीरप्रसादजी चाँदमलजी गोधा
श्री संजयजी मोदी (अनंतपुरा)
श्री भागचंदजी पाटनी (सेन्ट परसेन्ट)

उज्जैन...
श्री जीवनलालजी जैन
श्री विजेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन
श्री सुनीलकुमारजी हीरालालजी सोगानी
श्री मोतीलालजी जैन छाबड़ा
श्री कमलकुमारजी सुरेशचंदजी जैन
श्री देवेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन (तलाटी)
श्री रुपेन्द्रकुमारजी विजेन्द्रकुमारजी जैन

ललितपुर...
श्री रामप्रकाशजी जैन,
श्री शीलचंदजी नन्हेलालजी जैन
श्री शिखरचंदजी जैन सर्राफ
श्री अखिलेशजी राजमलजी जैन
श्री सिंघई धन्यकुमारजी जैन
श्री सुंदरलालजी मथुराप्रसादजी जैन
श्री नरेन्द्रकुमारजी राजीवकुमारजी जैन
श्री जयकुमारजी मोतीलालजी जैन
श्री कमलकुमारजी खेमचंदजी जैन

सागर...
श्री सुरेशकुमार हुकुमचंदजी जैन
श्रीमती पुष्पादेवी संतोषकुमारजी जैन
डॉ. सुनीलकुमार राजेशकुमारजी जैन
श्री नेमीचंदजी जैन (सुरखी वाले)
श्री भरतकुमारजी ताराचंदजी पाटोदी
श्री ऋषभकुमारजी लखमीचंदजी गोयल
श्री वेदप्रकाशजी ताराचंदजी भाईजी
श्री कन्छेदीलालजी जैन (दाऊ)
श्री कोमलचंदजी ऋषभकुमार जैन (लालू साड़ी)
श्री ज्ञानचंदजी सुरेन्द्रकुमार जैन
श्री वैभवजी बाबुलालजी जैन
श्री ऋषभकुमारजी स्वरुपचंदजी सिंघई
श्री राजेन्द्रकुमारजी गुलाबचंदजी जैन
श्री सिंघई ऋषभकुमारजी मंडावरा वाले
श्री सेठ इंदरचंदजी दीपककुमारजी जैन (सन्मति)
श्री मुकेशकुमारजी भागचंदजी जैन
श्री राजेशकुमारजी जैन (जैन रोड़ लाईनस)
श्रीमती सुगंधीजी जैन (निहारिका)
श्री नितिनकुमारजी कोमलचंदजी सर्राफ
श्री सुनीलकुमारजी के.सी. जैन
श्री हेमचंदजी जिनेन्द्रकुमारजी निलेशकुमारजी जैन

छतरपुर...
चौधरी श्री ज्ञानचंदजी जैन (दादा)
श्री ओलियाजी कोमलचंदजी, छतरपुर
श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन सेठ
श्री राजकुमारजी जैन
श्री आनंदकुमारजी जैन (लोहेवाले)
श्रीमती श्रीबहनजी
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बडकुल)
श्री मुकेशजी जैन (ग्रेनाईट इंडिया)
आचार्य श्री तारणतरण लोकन्यास
डॉ. सुरेशचंदजी बजाज
श्री श्रीपालजी बडकुल
श्री प्रमोदजी बिजावर

अन्य शहर :
श्री संजयकुमारजी निर्मलकुमारजी जैन
(नवापारा राजिम), रायपुर
श्री पन्नालालजी धन्नालालजी जैन, कलकत्ता
श्रीमती अलका अशोककुमारजी जैन, दिल्ली
श्रीमती उर्मिलाजी शीलकुमारजी जैन, हिसार (हरि.)
श्री निर्मल कुमारजी जैन, दिल्ली
श्री अनुरागजी मोदी (मोदी ट्रेडर्स), तेंदूखेड़ा
श्री प्रमोदजी चौधरी (जैन नगर), भोपाल
श्री पीयूषजी जैन, सोनीपत (हरियाणा)
डॉ. त्रिशलादेवी जैन, कानपुर
श्रीमती सुमनजी जैन (अरोरा), बरेली